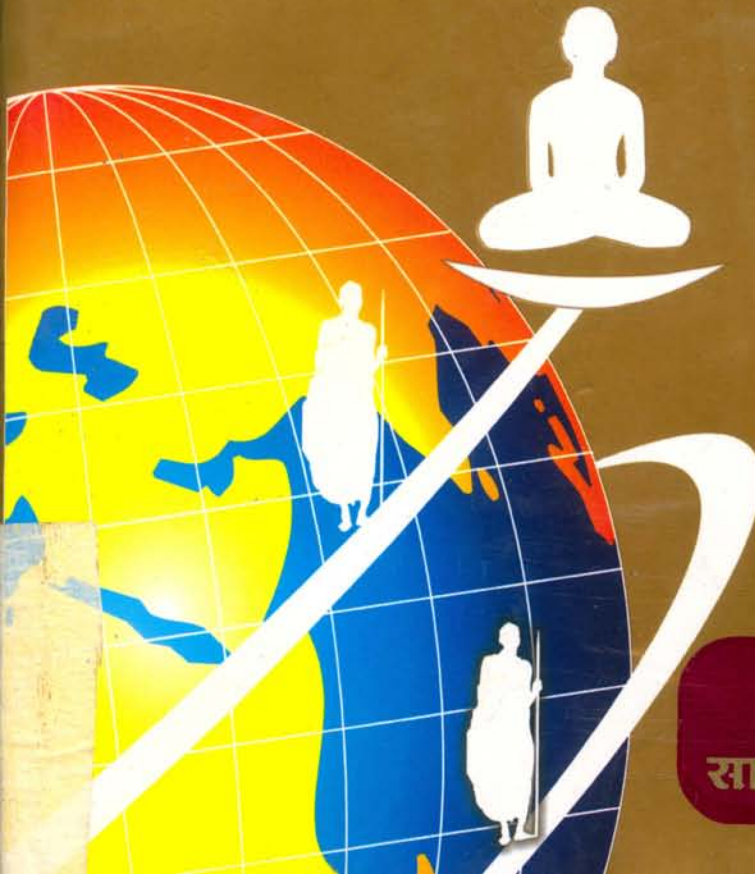


आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के

दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य



शोधार्थी
साध्वी डॉ. अनेकान्तलताश्री

गुरु कृपा



शून्य में से सर्जन !

इसके पीछे बल है गुरु कृपा !!

क्या कहूँ और कहाँ से प्राक्मभ करूँ गुरुकृपा की महिमा क्योंकि वह अनिर्वचनीय अवर्णनीय है। उसके शब्दों की पंक्तियों में बांधना शक्य नहीं है। फिर भी जीवन में साक्षात् अनुभूति हुई है उसको साकार रूप दे रही हूँ।

जब से मेरे जीवन का दौब प्राक्मभ हुआ तब से गुरु कृपा मेरे पव बरकती रही और गुरुदेवी श्री के प्रति मैं आस्थावान् बनी, वही आस्था हिमालय की भाँति अविचल अटूट बनती रही।

गुरुदेव श्री का दिव्यभाल कौम्य मुक्त कमल को जब-जब निहावती तब-तब मुझे मानो मूक रूप में दिव्य प्रेवणा मिलती रहती।

उत्तिष्ठ वत्स ! आगे बढ़ो, जीवन को उच्च साधना की ऊँचाईयों से तप की तेजबिता से, ज्ञान की गविमा से, समर्पण की भावना से, आस्था के दीपकों से जालवलयमान बनाओ! इस प्रेवणा ने मेरी सुषुप्त आत्मा को झकझोव दिया और अर्न्तवात्मा में नूतन साधना पथ पव प्रवृत्त होने का वणकाव झंकृत हुआ। तन-मन-जीवन को गुरु को समर्पित किया, चिन्तन मनन की धावा प्रवाहित हुई और यह विशाल ग्रन्थ लिखने का कामधर्त्य प्राप्त हुआ।

गुरुदेव श्री के प्रति सावी की सावी रही हुई भक्ति आस्था, समर्पण वपरूप प्राप्त गुरुकृपा का ही फल है यह प्रकृत शोध-प्रबन्ध-ग्रन्थ!



श्री हरिभद्रसूरी के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ
पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त

दिव्याशीष-

विश्वपूज्य अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता
श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

अंतराशीष-

राष्ट्रसंत संयम दानेश्वरी जैनाचार्य
श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा.

मंगलाशीष-

विदुषी गुरुणीजी श्री लावण्य श्रीजी म.सा.

पावन प्रेरणा-

सरलस्वभावी मातृहृदया
साध्वीवर्य श्री कोमललता श्रीजी म.सा.

शोधार्थी-

साध्वी डॉ. अनेकान्तलताश्री

प्रकाशक-

राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद

ग्रन्थ

आचार्य हरिभद्र सूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य



शोधार्थी

साध्वी डॉ. अनेकान्तलता श्री



शोध निर्देशक

डॉ. आनंद प्रकाश त्रिपाठी



प्रकाशक

श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद



वीर सं.

वि. सं.

ई.सं.

राजेन्द्र सं.

२५३५

२०६५

२००८

१०२



मूल्य : पठन-पाठन



मुद्रण

ह्रींकार प्रिन्टर्स, विजयवाडा



प्राप्ति स्थान

जयन्तसेन म्यूजियम

मोहनखेडा तीर्थ

राजगढ

जिला - धार (म.प्र.)

राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट

श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मंदिर

शेखनोपाडो, रिलिफ रोड,

अहमदाबाद

अल्का सेल्स एजेन्सी

स्टेशन रोड,

भीनमाल

जिला - जालोर (राज.)

शादर शर्मर्पण



ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति, पूजामूलं गुरोर्पदं ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्य, मोक्षमूलं गुरोर्कृपा ॥

जिनकी कृपा का दिव्याशीष सदैव मुझे मिलता रहा ऐसे
परमपूज्य गुरुदेव सुविशाल गच्छाधिपति शासन सम्राट
राष्ट्रसंत वर्तमानाचार्यदिवेश श्रीमद्विजय
जयन्तसेन सूरिश्वरजी म.सा.

के आचार्यपद पाटोत्सव

के रजत महोत्सव पर

सादर समर्पित.....

साहित्य सर्जक सत्य अन्वेषक तत्त्व शोधक आप हैं ।
तीर्थ प्रभावक आत्म गवेषक भव्य उद्धारक आप हैं ।
रत्नत्रयी साधक ज्ञान बोधक तत्त्व देशक आप हैं ।
अर्पण गुरु के चरण में 'अनेकान्त' का आलाप है ।
ओ ! रत्नत्रयी रंजन, समकित सम्यक् ओ शुभम् !
प्राची प्रस्थित पद्मम्, प्रजा प्रचूर प्रवरम् ।
वाणी तव कल्याणी, जन-मन आतम रंजन ।
'अनेकान्त' करे अर्पण, हो सार्थक समर्पण !!



सादर समर्पण

सुकृत सहयोगी



स्व. श्री टीलचंदजी कावेडी



स्व. श्रीमती सुन्दरबाई कावेडी

पुत्र-पुत्रवधु-

किशोरमल-पवनीदेवी, पृथ्वीराज-मंजुलाबेन

मूलचन्द-कंचनबेन, मुकेश-शीलाबेन

पंकज-पुनमबेन, अश्विन-अंजलीबेन

पुत्री-दामाद-सीतादेवी-शंवरलालजी, मोहिनीदेवी-कांतिलालजी

पौत्री-दामाद-अल्का-महेन्द्रजी, विनीता-हेमन्तजी

पौत्र-अमित, दिलीप, दीक्षित

पौत्री-सोनल, रुचीता, पूजा, अक्षिता

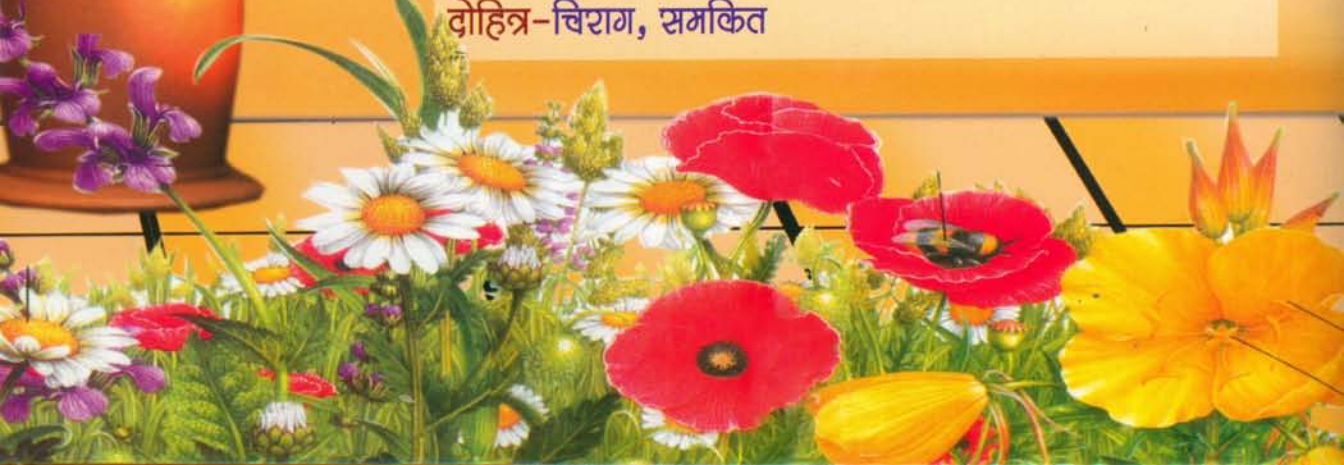
प्रपौत्री-विधि, क्रिया, ध्रुवी

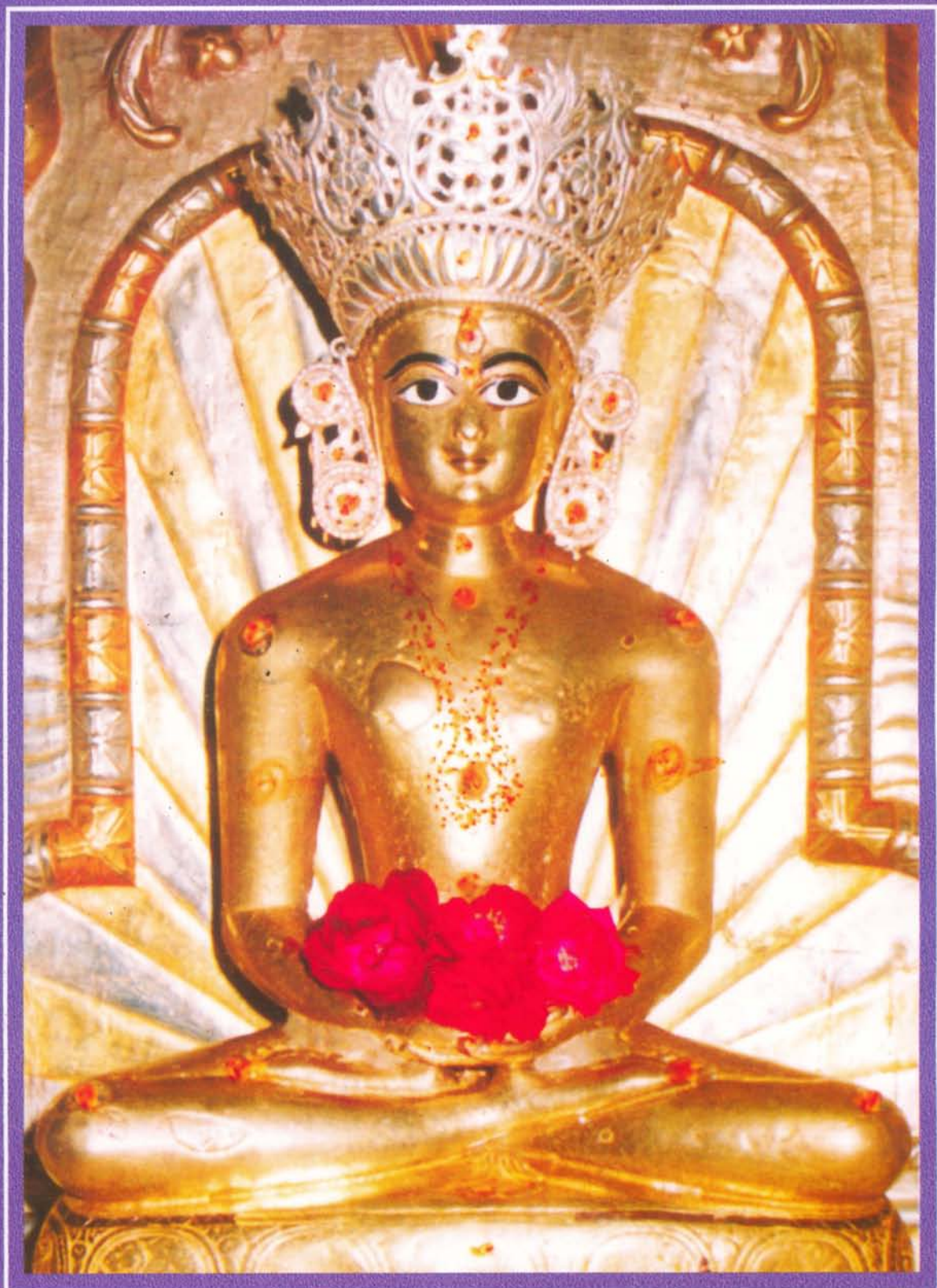
दोहित्र-दोहित्रवधु-

दिनेश-गुणीबेन, विकेश-संगीता

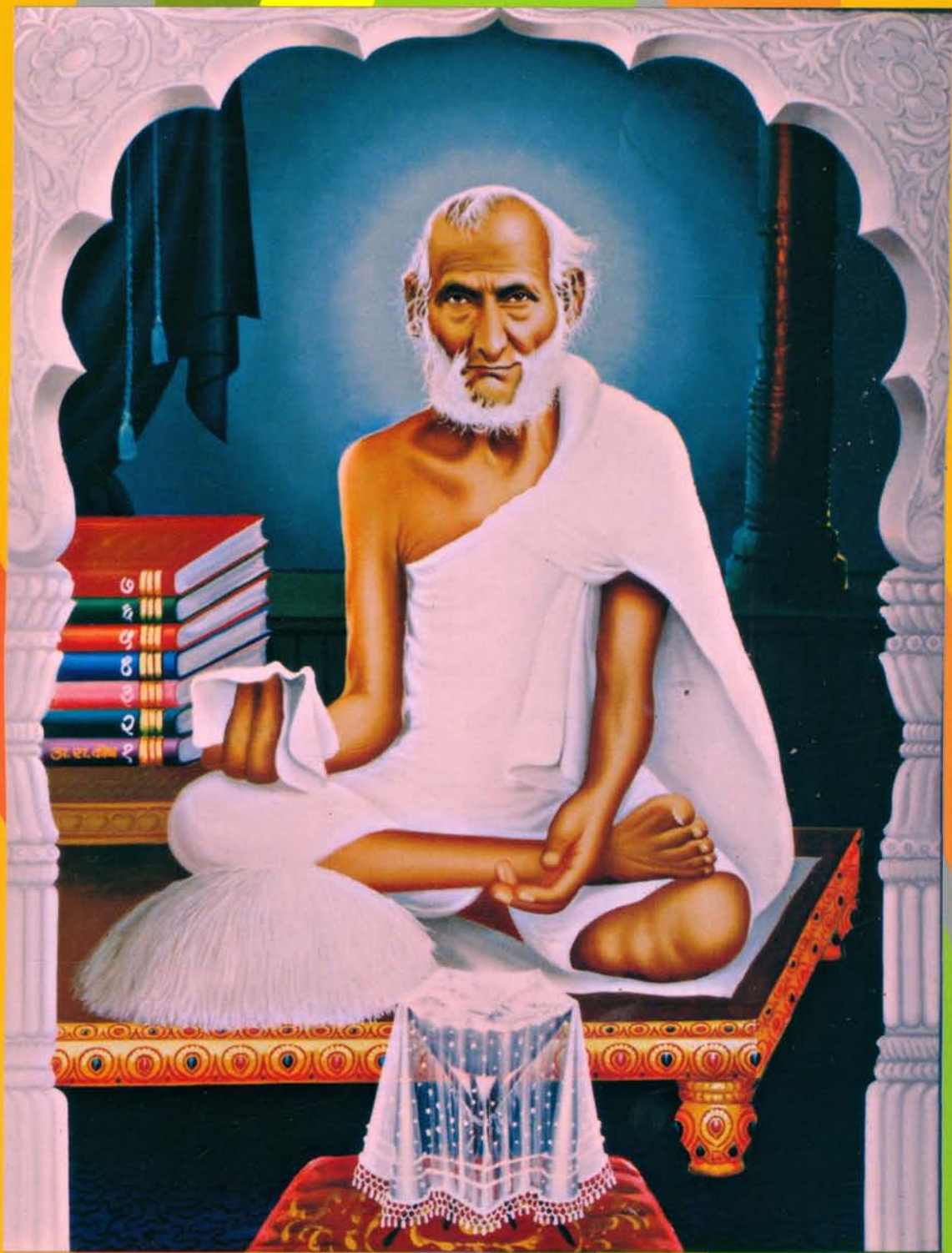
दोहित्री-दामाद-संगीता-दिलीपजी

दोहित्र-चिराग, समकित





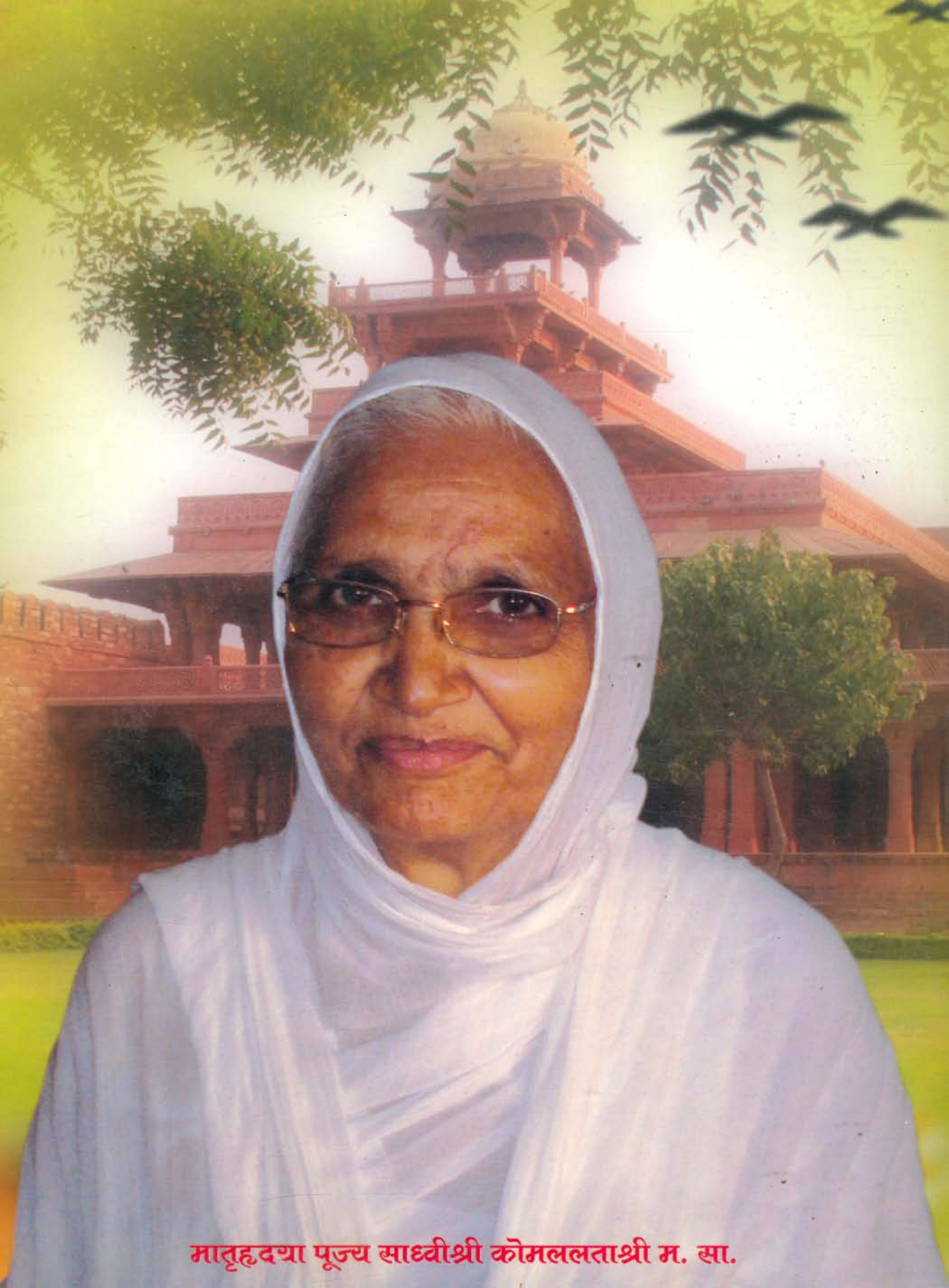
भयभंजन प्रभु पार्श्वनाथ भगवान्, भीनमाल



प्रातः स्मरणीय प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीं म.सा.



वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूर्येश्वरजी म.सा.



मातृहृदया पूज्य साध्वीश्री कोमललताश्री म. सा.

ममाशीर्वचनम्

इस विश्व प्रांगण में जिन शासन सदा जयवंत रहा है। जिसमें प्राणीमात्र के हित एवं कल्याण की उदात्त भावना की प्रधानता है। उसी के साथ जिनवाणी अपनी वैजयन्ति से अनादि से विश्व व्यापित्व से समृद्ध रही है। उस वाणी के प्रवक्ता चरम तीर्थपति परम पद प्रतिष्ठाता श्रमण भगवंत महावीर का प्रवचन सापेक्षवाद से सन्नद्ध एवं समृद्ध रहा है। उसकी अपनी दिव्यता से दिमीवंत, प्रवाह से प्रपूरित प्रवचन गंगा ने अनेक आत्माओं को निर्मलतम स्थिति से संपन्न करने का असाधारण प्रयास किया है।

महावीर की वाणी आत्मा की अपनी योग्यता अनुसार ही उसे प्रकाशमान करती रही है। अनन्तज्ञानमयी वाणी में अलौकिक शक्ति के दर्शन होते हैं।

ऐसे अनेकानेक आत्माओं में आचार्य श्रीमद् हरिभद्र सूरि अपने आप में ज्योतिर्मय नक्षत्र बनकर जैनाकाश में प्रकाशमान हुए हैं। मेवाड़ देशीय चित्तौड़ नगर के विद्वान् पंडितवर्य विप्रवर श्री हरिभद्र अपनी प्रतिज्ञा के सम्पूर्ण निर्वाहक थे। जिसकी बात में समझ न सकूं उसका शिष्य बन जाऊंगा। दिग्विजयी विद्वान् होते हुए भी एक जैन श्रमणी याकिनी महत्तरा के शब्दों ने उनकी अपनी अपूर्णता का भान कराया। वस्तु स्वरूप को समझने की जिज्ञासा के कारण पंडित प्रवर ने जैन धर्म में दीक्षित होकर अपनी प्रज्ञा को अत्यधिक विकसित किया और दर्शन शास्त्र के उद्भूत विद्वान् बने। योग ग्रन्थों के निर्माता के रूप में उन्होंने जिनवाणी को और विराट् स्थिति में जन साधारण तक पहुंचाने एवं समझाने में सफलता प्राप्त की। योग निष्ठ प्रज्ञा-पुरुष के रूप में उनका चिन्तन विभिन्न विषयों जैसे धर्म, योग, ज्योतिष, शिल्प, क्रिया, विधान, व्याकरण, छंद, काव्य, अलंकार में प्रवाहित हुआ जो अपने आप में उनकी भव्य जीवन चिन्तन में दक्ष स्थिति का आज भी दर्शन करा रहा है। उनका दार्शनिक वैशिष्ट्य दृष्टव्य एवं उनकी अद्भुतता का दर्शन करा रहा है।

हमारी समुदायवर्तिनी शान्त स्वभावी, सरलमूर्ति साध्वीजी कोमललता श्रीजी की सुशिष्या प्रतिभा सम्पन्न साध्वीजी श्री अनेकान्तलता श्रीजी ने आचार्य हरिभद्र एवं उनके दार्शनिक वैशिष्ट्य पर यह शोध प्रबंध लिखकर निश्चित ही उन पुनीत आत्मा के प्रति अपनी भावांजलि को प्रस्तुत करने के साथ जिनवाणी की संस्तवना का अनुपम कार्य किया है। दार्शनिक स्वरूप को ज्ञात करके उसे प्रस्तुत करने का यह दुःसाध्य कार्य किया है। मैं श्रमणीवर्या के अध्ययन, स्वाध्याय एवं वैशिष्ट्य चिन्तन का अभिनन्दन करता हूँ एवं अन्तर से आशीर्वचन प्रदान कर प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ।

शुभम्।

-आचार्य जयन्तसेन सूरि

गुन्दूर,

दि. १५-७-२००८

आशीर्वचनम्

अनंत पुण्योदय से दुर्लभतम मानव भव, जैन शासन, सुगुरु एवं परम उपकारी संयम जीवन मिलता है। जहाँ आत्मिक विकास के सौपानिक संवर्धन के साथ ज्ञान के क्षयोपशम के भरपूर अवसर उपलब्ध होते हैं। मैंने अपनी संयम यात्रा प्रभु महावीर के शासन के पंचम गणधर पू. सुधर्मास्वामी के पाटपरंपरा के ६८ वे आचार्य सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय, त्रिस्तुतिक परंपरा के कर्णधार महान् योगी श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. के पंचम पट्टधर कविरत्न आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. तत्पट्टधर राष्ट्रसंत श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी पूज्या गुरुणीजी श्री लावण्य श्रीजी म.सा. की पावन निश्रा में प्रारंभ की। तब कल्पना भी नहीं थी कि मेरी अपनी शिष्याएँ होंगी, जो निरंतर आध्यात्मिक विकास के साथ ज्ञान पथ पर प्रवृत्त होकर, अपना लक्ष्य सिद्ध कर जैन शासन को, गुरु गच्छ को तथा मुझे गौरवान्वित करेंगी।

अनुकूलताओं में अग्रसर होना आसान है परन्तु प्रतिकूलताओं में प्रबल पुरुषार्थ कर प्रखरता पाना एवं स्वयं को निखारना कठिन है। वैसे तो मेरे साथ रही समस्त श्रमणियां अप्रमत्त हैं, तत्त्व निष्णाता हैं, समर्पण भाव से समृद्ध हैं तथा आपसी सौहार्दता एवं समन्वय की जागृत मिसाल हैं। किन्तु उनमें श्रमणीरत्ना प्रखर प्रज्ञावती, अनेकान्त शब्द को सार्थक करती हुई 'अनेकान्तलताश्री' ने विशिष्ट विषय पर विशिष्ट ज्ञान अर्जित कर "आचार्य हरिभद्र के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य" पर जो शोध-प्रबन्ध तैयार किया है वह अनुमोदनीय है।

जो निरंतर श्रम में हो वह श्रमण है। जैन शासन के इसी व्यवस्था को साकार करते हुए साध्वी ने निरंतर विहार एवं श्रमण जीवन की दैनिक प्रत्येक क्रिया एवं शासन के कार्यों को प्राथमिकता देते हुए दीक्षा के ठीक बाद से ही, आध्यात्मिक ज्ञानार्जन के साथ व्यवहारिक अध्ययन कर, मेट्रीक से लगाकर बी.ए., एम.ए. एवं अब डॉ. ओफ फिलोसोफी की उपाधि हासिल कर अपने कुल को, गुरु गच्छ को, जैन शासन को एवं मुझे भी गौरवान्वित किया है।

सरलता और सौहार्दता की प्रतिमूर्ति अनेकान्तलता ने मुझे सदैव 'माँ' के रूप में देखा तथा विनय वैयावच एवं सम्पूर्ण समर्पण एवं सेवा में सदैव तत्पर रही।

"दृढ संकल्प ही तो हिमालय भी झुक जाता है।" अनेकानेक साध्वोचित प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होकर भी आचार्य हरिभद्र सूरी जैसे महान् दार्शनिक, समन्वय प्रणेता के दार्शनिक चिन्तन पर, अत्यंत कठोर पुरुषार्थ किया तथा अपनी प्रज्ञा शक्ति से अपने शोध-प्रबन्ध को अनुपम भाषाकीय सौष्ठव एवं अपूर्व शब्द संकलना के साथ सर्व देशीय एवं सर्वहितकारी चिंतन की ओर गतिशील किया तथा इस विराट शोध-प्रबन्ध को तैयार कर युगो-युगों तक श्री हरिभद्र सूरी के दार्शनिक चिन्तन को अमर कर दिया।

मैं अपने हृदय के हार्द से इस अनूठे अप्रतिम ग्रंथ की प्रणेता साध्वी अनेकान्तलता को मंगल आशीर्वाद देती हूँ तथा कामना करती हूँ कि यह शोध-प्रबन्ध अनेक शोध-अध्येताओं का प्रेरणा प्रदीप बने। इसी तरह वे उत्तरोत्तर ज्ञान वर्धन कर गुरु गच्छ की कीर्ति पताका फहराती रहे ऐसी मंगल कामना।

-साध्वी कोमललताश्री

शुभ कामना संदेश

पूर्व पुण्योदय से अनन्तगुणी आत्मा के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होकर ज्ञानार्जन की ललक, ज्ञेय को जानने की चाह एवं नया कुछ मानवता को समर्पित करवाने की चाह जागृत होती है। और तब यह जीव अपना लक्ष्य बनाकर उत्कृष्ट दिशा की ओर अग्रसर होता है। ऐसी ही ज्ञान के प्रति तड़प, मैंने दीक्षा के समय, मेरे गुरु गच्छ की समुदायवर्तिनी साध्वीजी अनेकान्तलताश्री में देखी थी। तब उन्हें तत्त्वार्थ एवं अमरकोष का सांगोपांग अध्ययन करने का सुझाव दिया था। दीक्षा के तुरन्त बाद से साध्वीजी ने अध्ययन के प्रति आग्रह दिखाया तथा अब वर्तमान में निरन्तर प्रगति करते हुए बी. ए., एम. ए. और अब पी. एच. डी. के शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत कर गुरु गच्छ की प्रसाति कर रही है।

मैं इस उत्कृष्ट उपलब्धि के लिए साध्वीजी की अनुमोदना करता हूँ एवं शुभ कामना करता हूँ कि निरन्तर इसी तरह जीवन में प्रगति करे तथा जिनशासन एवं गुरु गच्छ की शोभा बढ़ावे।

-नित्यानंद विजय

भगन्याभिनान्दनम्

आचार की पृष्ठभूमि है - ज्ञान। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है - 'पढमं नाणं तओ दया' - पहले जानो, फिर उसका आचरण करो। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक कर सकता है। अनाचार को छोड़कर आचार का पालन कर सकता है।

धर्म-अधर्म, नैतिक-अनैतिक, श्रेय अश्रेय के बीच भेदरेखा खींचने वाला तत्त्व है - ज्ञान। भगवान महावीर ने ज्ञान पर ही बल नहीं दिया, अपितु ज्ञान के सार की खोज की। 'गाणरस्स सारमायारो' - ज्ञान का सार आचार है।

कहा भी है - 'ज्ञानी सर्वत्र पूज्यते' - ज्ञानी यत्र-तत्र-सर्वत्र पूजा जाता है। इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए, आचार की पृष्ठ भूमि को मजबूत बनाने हेतु, हमारी गुरु भगिनी, सरलमना साध्वीजी श्री अनेकान्तलताश्रीजी म. सा. ने १४४४ ग्रन्थों के निर्माता, प्रकाण्ड एवं प्रख्यात विद्वान् आचार्य श्रीमद्विजय हरिभद्र सूरिजी के 'व्यक्तित्व एवं कृतित्व' के विषय पर गहन अध्ययन कर शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

आत्मा को झंकृत कर दे, अपनी सुप्त चेतना को जाग्रत कर दे, ऐसे सारभूत अनेक तत्त्व इस ग्रन्थ में संपृक्त हैं। यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं के लिए निश्चित ही, बोधदायक, ज्ञानदायक एवं आत्मोत्थान के मार्ग में सहायक रूप सिद्ध होगा।

शास्त्रकार भगवन्तों ने कहा है कि श्रमणों को संयम जीवन के अन्दर अनेक प्रकार के योग साधने होते हैं लेकिन स्वाध्याय एक ऐसा योग है जिसमें तल्लीन होकर ही मन को स्थिर बनाया जा सकता है। शुभ ध्यान में रहा जा सकता है एवं श्रुतगंगा में अवगाहन किया जा सकता है। जिनागमों का अध्ययन करके ही हम हमारे पूर्वजों की धर्म धरोहर को अविच्छिन्न रूप से, अखंड रूप से, अक्षय रख कर जिन शासन की रक्षा के आंशिक भागीदार हो सकते हैं। पूज्य साध्वीजी भगवंत ने “हा अणाहा कह हुंतो जइ न हुंतो जिणागमो” - हरिभद्र सूरिजी की इस पंक्ति को आत्मसात् कर जीवन को अध्ययन रत बना दिया। “मुझे जिनशासन मिला है तो इसके परमार्थ एवं सत्यार्थ को जन-जन तक पहुंचाना है।” इस उद्देश्य को ध्यान में रखते, तभी हरिभद्र सूरि का विशाल साहित्य इनके दृष्टिपथ में आया और शोध प्रबन्ध का विषय चुना गया। ‘श्रेयांसि बहुविघ्नानि’ श्रेष्ठ कार्य में अनेक विघ्न आते हैं। दक्षिण भारत का विहार, पुस्तकों की अनुपलब्धि, कठिन ग्रन्थ, पढाने वाले पण्डितों का अभाव, फिर भी ‘उत्साहो प्रथमं मुहूर्त’ - इस कहावत को चरितार्थ कर एवं आपश्री की ज्ञान के प्रति अत्यंत निष्ठा होने के कारण इधर-उधर-पाटण-कोबा-आहोर जहाँ से जो पुस्तकें उपलब्ध थी मंगवाइ। इसके उपरांत भी चातुर्मास में व्याख्या की जवाबदारी, अनेक शासन प्रभावना के कार्यक्रम होने से समय का अभाव रहता था। स्वयं का अध्ययन करना, गुरु बहिनों को पढाना तो भी “समयं गोयम मा पमायए” पलभर का समय भी बरबाद किये बिना अपने लेखन-वाचन-अध्ययन में मशगुल बन जाते थे। हरिभद्र सूरि के ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भाषा में हैं। किसी-किसी ग्रन्थ के तो भाषान्तर भी उपलब्ध नहीं हैं फिर भी सभी ग्रन्थों का इन्होंने सांगोपांग अध्ययन किया है। पी.एच.डी. तो मात्र उपाधि है लेकिन जैन शास्त्रों को आत्मसात् करना ही आपका मुख्य लक्ष्य था। “भक्ति-विभक्ति” पहले वैवाचक फिर अध्ययन - इस बात को दिल में धारण कर गुरु मैया की सेवा में हर पल, हर क्षण तैयार रहते हैं। एक भी काम में विलम्ब नहीं। जिस काम के लिए बोले ‘तहत्ति’ के सिवाय इनके मुंह से दूसरी कोई दलिल निकलती ही नहीं है। कभी-कभी तो अध्ययन में इतने मशगुल बन जाते थे कि जोचरी-पानी भी याद नहीं आता था। निद्रा, प्रमाद, वार्तालाप सभी को एक तरफ रखकर, जो कठोर परिश्रम किया उसका सुन्दर फल स्वरूप यह परिणाम आया है। वास्तव में आपश्री ने जन्म लेकर माता-पिता को धन्य बनाया है। दीक्षा लेकर गुरुं को धन्य बनाया एवं अब संयम का सुविशुद्ध पालन कर स्वयं धन्य बन रहे हैं। इनकी भावना हमेशा एक ही रहती है कि “सभी जीवों को जिन शासन रूप अमृत पान करवाउं” धन्य है ऐसी भावना।

“संयम पालन में दृढता एवं अध्ययन-अध्यापन में तल्लीनता” यही आपश्री के जीवन का मूल मन्त्र रहा है।

आपश्री की ज्ञान गंगोत्री हमेशा दीर्घ, दीर्घतर बने एवं जिन शासन में चार चांद लगाए यही मन की मनीषा, अंतर की अभिलाषा, हृदय की झंखना....

हमें भी ऐसी शक्ति एवं आशीष दे, जिससे हमें भी श्रुतगंगा में स्नान कर, जीवन को समुज्वल बना सके। इन्हीं आकांक्षाओं के साथ.....

**शासनलताश्री, यशोलताश्री, कोविदलताश्री, अतिशयलताश्री,
कारुण्यलताश्री, समर्पणलताश्री, वीतरागलताश्री, श्रेयसलताश्री**

भूमिका

संकल्प के धनी आचार्य हरिभद्रसूरि :-

देवाधिदेव श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ने अपूर्व साधना पश्चात् केवलज्ञान की दिव्य ज्योति प्राप्त की तथा देवों द्वारा रचित समवसरण में विराजमान होकर चतुर्विध संघ की स्थापना की। जिसमें ग्यारह व्यक्तियों को दीक्षा देकर गणधर पद से विभूषित किया। महावीर परमात्मा के निर्वाण होने के बाद सुधर्मास्वामी की पाठ परम्परा चली, जिसमें अनेक प्रज्ञावान् आचारशील महर्षि हुए, जिन्होंने मुमुक्षु आत्माओं को सदुपदेश देकर मोक्षमार्ग की यात्रा अखण्ड एवं अविच्छिन्न रखी। इसी पुनीत परम्परा में बहुश्रुत चतुरस्र प्रतिभा संपन्न महर्षि प्रादूर्भूत हुए जिनका नाम था आचार्य हरिभद्रसूरि।

आचार्य हरिभद्रसूरि महाराज का जीवन परिचय :-

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जैन तथा जैनेतर दोनों ही परम्पराओं में उच्चकोटि के उद्भूत विद्वान हुए हैं।

उनके वैचारिक मंथन से तत्त्वविद्या का वाङ्मय सदैव परिष्कृत और विकसित रहा है। पुरोहित हरिभद्र अपने समय के जैनेतर विद्वानों में अग्रगण्य ब्राह्मण पण्डित थे।

मेवाड़ मेदिनी का मुकुटमणि उस समय चित्रकूट था। उसी के अंचल में पियंगुवड़ नाम की ब्रह्मपुरी के निवासी पिता शंकरभट्ट व गंगामाता के ये सुपुत्र थे।

उनके जीवन में महापरिवर्तन योग विद्या की सुरुचि ने करवाया और श्रमण संस्कृति से सहसा संयोजित होने का सुअवसर समुपस्थित हो गया।

वे प्रतिज्ञाबद्ध प्राज्ञ पुरुष थे। उन्होंने अपने जीवन में यह एक संकल्प सुघटित किया था, कि अगर मैं अज्ञात तत्त्व का श्रवण कर ज्ञातवान् नहीं बना तो स्वयं चलकर सश्रद्ध बनकर उनके चरणों में पूर्ण समर्पित होकर उस तत्त्व को अपनी मानस मेधा से समझकर हृदयग्राही बनाऊंगा।

एक दिन राजपालकी में बैठकर हरिभद्र राजद्वार की ओर प्रस्थान कर रहे थे। उस समय उपाश्रय में स्थित श्रमणीवर्या याकिनी महतरा अध्ययन में तल्लीन इस गाथा को कंठस्थ कर रही थी।

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।

केसव चक्की केसव दु चक्की केसी य चक्की य ॥

इस गाथा को सुनते ही वे स्तब्ध हो गये। स्वयं स्वात्म वैदुष्य में डूब गये, परन्तु गाथा के रहस्य को

हृदयंग नहीं कर सके । अतः त्वरित राजकीय पालकी के पदोन्नत भाव से विरक्त होकर विनय साध्य विद्या हैं इस विनिश्चय को लेकर आर्या की शरण स्वीकार की और श्रमण वाङ्मय के समाराधना में महाश्रमण बने ।

इस महापरिवर्तन में आचार्य जिनभद्रसूरि के अन्तेवासी होकर याकिनी महत्तरा के सूनु बन शास्त्रों के पारगामी पारदर्शी परमपुरुष हो गये ।

उन्होंने हंस परमहंस को अपने अन्तेवासी बनाये । वे दोनों शास्त्रों के ज्ञाता बने, लेकिन फिर भी उनकी इच्छा बौद्धदर्शन का भी ज्ञान प्राप्त करने की थी । अतः गुर्वाज्ञा से प्रस्थान किया । बौद्ध भिक्षु बनकर अध्ययन करने लगे फिर भी अज्ञात नहीं रह सके । अतः बौद्धाचार्य ने छद्मस्थ वेश में बौद्ध भिक्षुओं को जानकर निर्ममत्व निर्दयत्व से उन्हें निष्प्राण करवा दिये । यह ज्ञात कर हरिभद्र क्षणभर के लिए हतप्रभ बन गये और उन्होंने प्रतिशोध का परम प्राणबल उजागर किया और १४४४ बौद्धों को तप्त तेल कडाह में मृत्यु के मुख में पहुँचाने का संकल्प किया । लेकिन याकिनी महत्तरा ने अपने महोपदेश से उनके अन्तर्मानस को अहिंसा से आद्रित बनाया और सदा के लिए वैर-विपाक की वृत्तियों को विद्यामय बना दी ।

हरिभद्र के हृदय को निर्वैर बनने हेतु तथा अनर्थ को रोकने के लिए आचार्य ने हरिभद्र के पास तीन प्राकृत गाथायें लिख भेजी ।

जिसमें गुणसेन तथा अग्निशर्मा के प्रथमभव से समरादित्य केवली तथा गुणसेन नाम के नवमे भव तक के नामों का उल्लेख था और अन्त में लिख था “एकस्स तओ मोक्खो वीअस्स अणंत संसारो”

इन गाथाओं ने आचार्य के क्रोधतप्त हृदय पर शीतल जल की मूसलाधार वर्षा का काम किया । उनका हृदय शान्त हो गया । उन्होंने बौद्धों को प्राणदान दिया और स्वयं अपने गुरुदेव के पास जाकर उनके चरणों में सिर रख कर अपने क्रोध के लिए प्रायश्चित्त की मांग की तथा अपनी ओर से आत्म विशुद्धि के लिए १४४४ ग्रन्थों की रचना करने की भीष्म प्रतिज्ञा की जिसके परिपालन में पहली फलश्रुति “समराइच्चकहा” की रचना हुई ।

ग्रन्थ रचना में मतभेद :-

मुनिवर रत्नसूरि ने “अममस्वामि चरित्र में इस प्रकार इनकी स्तुति कर १४४० ग्रन्थों के रचयिता बताये हैं ।

स्तौमि श्री हरिभद्रं तं येनहि द्वी महतरा ।

चतुर्दश प्रकरण शत्या गोप्यत मातृवत् ॥ ९९ ॥

“प्रभावक चरित” के कर्ता प्रभाचन्दसूरि आदि ने आचार्य हरिभद्र को १४०० ग्रन्थों का कर्ता कहा ।

अंचलगच्छ की पट्टावलि में १४४४ ग्रन्थों के कर्ता कहा है। विजयलक्ष्मी सूरि ने “उपदेश प्रासाद” में १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता कहा हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि का समय :-

जिन विजयजी ने हरिभद्रसूरि को ८वीं शताब्दी के विद्वान् माने है और ८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेषतः उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए “कुवलयमाला” के प्रशस्ति पथ भी साक्षी है-

आयरियवीरभद्रो अहावरो कप्परुक्खेव्व
सो सिद्धन्तेण गुरू जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्रो ।
बहुगंथ स्थवित्थरपत्थारियपयडसव्वत्थो ।

आचार्य हरिभद्र का वैशिष्ट्य :-

आर्यदेश में अहिंसा की आधारशिला पर सामाजिक चारित्रप्रसाद के निर्माण में यदि किसी के महत्वपूर्ण सहयोग का उल्लेख करना हो तो वह भगवान की परंपरा में होने वाले जैनाचार्य श्रमणवर्ग का हो सकता है ऐसे ही श्रमणवर्य आचार्य श्री हरिभद्र के जीवन का विविध वैशिष्ट्य हमारे सामने अनेक रूपों में प्रस्तुत होता है।

क्रान्तिकारी आचार्य हरिभद्र :-

न मे वीरे पक्षपातो न द्वेष कपिलादिषु ।

युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रहः ॥

विश्व के प्रांगण में अनेक दर्शनकार अपनी-अपनी मान्यताओं को लेकर अनेक प्रकार के विवादों में विचलित बन रहे थे ऐसे समय में आचार्य श्री हरिभद्र ने जगत के समक्ष उन दार्शनिक सम्प्रदायगत विवादों को सुलझाने हेतु अपनी दार्शनिक सीमा का अतिक्रमण कर विवादों को समाहित किया।

अनेकान्तवाद के माध्यम से उन्हें अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दर्शन जगत में अपनी सीमा से ऊपर उठकर चिन्तन देने के कारण उन्हें क्रान्तिकारी आचार्य के रूप में देखा जाता है।

समन्वय परख दार्शनिक :-

आचार्य हरिभद्र ने समन्वयवादी बनकर अपने ग्रन्थों में अन्यदर्शन के मत को भी बड़े ही आदर से समुल्लेखित किया, उन्होंने “योगशतक” में योग की व्याख्या करते हुए कहा है कि -

तल्लक्खणयोगाओ चित्तवित्तीणिरोहओ चेव ।
तह कुसलपवितीए मोक्खेण य जोयणाओ ति ॥

चित्तवृत्तियों का निरोध योग - पातंजलीकृत योगसूत्र

कर्म में कुशलता योग - बौद्धदर्शन

मोक्ष के साथ युंजन योग - जैन दर्शन

आचार्य हरिभद्र एक जैन दर्शन के समर्थक महायोगी होते हुए भी पक्षपात विरहित बनकर जहाँ सत्य उनको देखने में आया उन्होंने उसे उजागर किया अर्थात् परगतदर्शन योगी पुरुषों के प्रति भी योगदशा के कारण जिनके अन्तःकरण में अतिशय अनुराग बहुमान भाव था । अतः आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थ में महर्षि पतंजलि को “महामति” विशेषण से सम्बोधित किया है। उन्होंने सामान्य ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर सभी को आंशिक रूप से सर्वज्ञ के उपासक स्वीकारे हैं तथा उन्होंने इस तथ्य को साबित किया है कि ह्यामभेद होने पर भी सर्वज्ञ एक ही है - जैसे योगदृष्टि समुच्चय में कहा है।

सदाशिवः पर बह्य सिद्धात्मा तथातेतिच ।

शब्देस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥

नूतन योगदृष्टियों के प्रणेता आचार्य हरिभद्र :-

योग विषयक ग्रन्थों पर अनेक जैन आचार्य एवं अन्यदर्शनकारों ने विशद विशाल वाङ्मय की रचना की, लेकिन आचार्यश्री ने अपने “योगदृष्टि समुच्चय” में एक अलौकिक अद्भूत अनूठी आठ दृष्टियों का विवरण देकर जगत के सामने योग-सम्बन्धी एक नवीन अवधारणा प्रस्तुत की।

आचार्यश्री ने अपने मति-वैभव से ही इस नवनीत को अपने ग्रन्थों में आख्यायित किया-

“मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कांता प्रभा परा”

आचार्य हरिभद्र अपनी उपर्युक्त योगदृष्टियों जैसे योग सम्बन्धी अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण जगत प्रसिद्ध है।

चार्वाक दर्शन को सभी दर्शनकारों ने दर्शन के रूप में अमान्य किया जबकि आचार्य हरिभद्र ने चार्वाक को भी दर्शन रूप में मानकर चार्वाक के प्रति भी समत्वभाव को अपनाया जो उल्लेखनीय है।

इस प्रकार अपने आत्म वैदुष्य को वैशिष्ट्य से विख्यात आचार्य हरिभद्र का दर्शनजगत में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

समस्या :-

अनेक दर्शनकारों ने अपने-अपने मत को लेकर प्रतिस्पर्धात्मक पल खड़ा कर दिया, ऐसे पलों में पूर्ण प्रजा योग के महा साधक दार्शनिक आचार्य हरिभद्र ने अपनी निरहंकारिता से, निर्मलता से निश्चयता को प्रदर्शित किया। अपनी निराभिमानता का जगत को संदेश दिया।

खंडन मंडन के कीचड में कमल बनकर, निर्मल रहकर निगमागमों के निरूपणों से अपने आपको निस्संग, निरासक्त, निर्ग्रन्थ नय का निरूपक बना दिया। उन्होंने अपने चिंतन में खण्डन को विकास रूप में विकसित किया, आक्षेप रूप में नहीं। जब दार्शनिक क्षेत्र मत-मतान्तरों से संतंत्र हो रहा था। उन्मादित बना हुआ था और यह उन्माद उच्छृंखलता का रूप ले रहा था। सभी दर्शनकार स्वमत को हठाग्रही कदाग्रही बनाकर अन्यमत पर कुठाराघात कर रहे थे। ऐसे समय में अपरिग्रही अणुकार वर आचार्य हरिभद्र समवतरित हुए जिन्होंने समन्वयवाद की दृष्टि को उजागर कर सभी दर्शनों को समादृत करते हुए दर्शन की विकास भूमिका को प्रशस्त किया।

दर्शन की यह मूलभूत समस्या है, कि “अपना दर्शन चिंतन श्रेष्ठ है, और दूसरों का दर्शन एवं चिंतन निस्सार है” इसका आचार्य हरिभद्र के दर्शन में निस्सन्देह समाधान मिलता है। इसी समस्या को केन्द्र में रखकर उसे यहाँ समाहित करने का प्रयास होगा तथा इस तथ्य की सिद्धि भी होगी कि दूसरों के मतों, तर्कों एवं विचारों को सम्मान देते हुए भी अपने प्रतिपाद्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

उद्देश्य :-

महामनीषी आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित योगदृष्टि समुच्चय और योग शतक आदि ग्रन्थों का जब मैं अध्ययन कर रही थी उस समय मेरे मानस मेधा में अपूर्व जिज्ञासा जागृत हुई कि उन प्रोन्नत प्रज्ञावान् पुरुष द्वारा रचित साहित्य की गंहराई तक आकंठ निमग्ना बनकर श्रुतसाधना की साधिका बनूं? यद्यपि जैन शासन के गगनतल पर अनेक आचार्यों ने समवतरित होकर श्रुत साधना को साकार किया है फिर भी मैंने अनेक महामहिम विद्वद्भर्य पण्डित के मुखारविंद से यह श्रवण किया की समन्वयवादी आचार्य हरिभद्र का सम्पूर्ण वाङ्मय श्रुत सागर को अवगाहित कर एक बार जीवन में आत्मग्राही बनाने योग्य है, संयोगों की प्रतीक्षा में थी वही प्रतीक्षा शोध कार्य निमित्त पाकर प्रयोगों में मूर्तिमान बनी। उन्हीं के विद्यामय वाङ्मय पर दृष्टि डालती हुई बोध को बुद्धि गम्य बनाती हुई अपने शोध का विषय बनाया “आचार्य हरिभद्र सूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य” इस विषय को केन्द्र में रखकर मेरा उद्देश्य होगा कि मैं ऐसे समदर्शी आचार्य के विशाल वाङ्मय में निमज्जित होकर उनके सम्पूर्ण दार्शनिक चिंतन की विवेचना करूँ।

सर्वेक्षण :-

परम प्रतिभावान् आचार्य हरिभद्र के साहित्य और दर्शन पर अनेकानेक विद्वानों ने अपनी लेखनी चला कर अपने को धन्य किया। श्रुत-साधना के अपूर्व साधक महोपाध्याय यशोविजयजी एवं आर्य मलयगिरिजी भाष्य एवं टीका-लिखकर समादृत हुए वर्तमान समय में ऐसे मनीषी आचार्य पर कुछ महत्वपूर्ण शोध कार्य भी सम्पन्न हुए।

श्रीमति संगीता झा ने जैन साहित्य में हरिभद्र का योगदान के विषय पर।

स्व. श्री नेमीचन्द्र शास्त्री ने हरिभद्र की प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन विषय पर शोध कार्य सम्पन्न कर उनके साहित्य गांभीर्य को चित्रित किया है।

साध्वी श्री दर्शनप्रभा ने “जैन दर्शन को आचार्य हरिभद्र का योगदान” विषय पर अपने शोध कार्य की इति श्री करके उनके दर्शन सम्बन्धी अवदानों को प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

इसके अतिरिक्त कुछ फुटकर लेख, शोधलेख भी समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलते हैं किन्तु मेरी जानकारी में अभी तक कोई ऐसा कार्य नहीं हुआ जो ऐसे मनस्वी एवं समदर्शी आचार्य के सम्पूर्ण दर्शन का अनुशीलन करा सके। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मैं ज्ञान-यज्ञ के इस अनुष्ठान को करने की इच्छा में संकल्पित हुई हूँ।

महत्त्व :-

किसी भी कार्य की निष्पत्ति यदि उस कार्य के हार्द को अभिव्यक्त तथा उस कार्य की जनोपयोगिता एवं पाठोपयोगिता के आधार पर उसका महत्त्व आकलित होता है। “आचार्य हरिभद्र का दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य” इस विषय का महत्त्व कुछ विशेष कारणों से अत्यधिक प्रतीत होता है। मेरे इस कार्य में जहाँ आचार्य हरिभद्र के समन्वय परक चिन्तन को उभारा जायेगा वही योग के सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिक चिन्तनों की समतुल्यता को प्रगट किया जायेगा, जिसके कारण आचार्य हरिभद्र का दर्शन निःसंदेह समस्त भारतीय चिन्तन परंपरा का आकर माना जा सकता है। मेरे इस कार्य का महत्त्व इसलिए भी होगा कि एक जैनाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी आचार्य हरिभद्र ने भारतीय संस्कृति की विशाल धरोहर सहृदयता एवं सामंजस्य का अपने दार्शनिक चिन्तन में बखूबी निर्वाह किया है।

भगवान महावीर के आराधक होते हुए भी जो आचार्य यह कह सकते हो कि मेरा महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं और कपिल, कणाद, अक्षपात के प्रति कोई वैर नहीं अपितु सत्य को कहने में जो सजग समर्पित रहता है मेरे लिए वही श्रेष्ठ है, ऐसे क्रान्तिकारी आचार्य के इस प्रकार के क्रान्तिकारी चिन्तन को अपने शोध कार्य में प्रतिष्ठित करने से उसका महत्त्व स्वतः उजागर होगा।



प्राक्कथन

दर्शन सत्य के साक्षात्कार का एक माध्यम है। सत्य क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है। दर्शन जगत में सत्य को लेकर काफी बौद्धिक व्यावाम हुए हैं। आमतौर पर यह मान्यता है कि, 'जो जैसा है वैसा उद्गरित होना ही सत्य है।' 'वेदान्त दर्शन में एकमेव परमार्थ सत् अद्वयम् ब्रह्म' कहा गया है। अर्थात् वेदान्त दर्शन के अनुसार एकमात्र पारमार्थिक सत्य ब्रह्म है जो एक है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् वेदान्त के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है तथा आत्मा और ब्रह्म एक है। जैन दर्शन के अनुसार, 'उत्पादव्ययध्रौव्य लक्षणं सत्' - अर्थात् जिसमें उत्पत्ति विनाश एवं नित्यता निहित है वह सत्य है। जैन दर्शन षड्द्रव्यों को सत्य मानता और आत्मसाक्षात्कार को परम सत्य मानता है। मूल रूप से यह कहना उचित होगा कि दर्शन जगत में आत्मा या ब्रह्म का साक्षात्कार ही सत्य है और इसी सत्य को जो उद्गरित करता है, वही दर्शन है। उपनिषद् में कहा गया है -

हिरण्यमयेव पात्रेण सत्यस्यापहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषनपावृषु सत्य धर्मार्थं दृष्ये ॥

अर्थात् सत्य का मुख सोने के पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! सत्य धर्म को प्रकाशित करने के लिए उस पात्र को हटा दीजिए।

अस्तु यह कहना उचित है कि दर्शन सत्य को उद्घाटित करता है। जैन दर्शन इसी सत्य की मीमांसा करता है। समय-समय पर अनेक जैनाचार्य ने अपने-अपने योगदानों से जैन-दर्शन को समृद्ध किया है। इन्हीं आचार्यों में एक प्रकृष्ट नाम है - आचार्य हरिभद्र का। आचार्य हरिभद्र ने जैन दर्शन के प्रायः प्रत्येक पक्ष को अपनी लेखनी से समृद्ध किया है। संक्षेप में उनके दर्शन के वैशिष्ट्य के संदर्भ में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१. उन्होंने दर्शन को आत्मसाक्षात्कार का एक प्रमुख माध्यम माना है।
२. दर्शन को दायरे से मुक्त किया तथा उसको असीम बनाने की कोशिश की।
३. दर्शन को हठवाद और आग्रहवाद से मुक्त किया।
४. मेरा दर्शन ही उच्च है और अन्य दर्शन निम्न है, - इस प्रकार के विचारों के स्थान पर तार्किकता को महत्त्व दिया है।
५. उनके अनुसार दर्शन मानसिक जिज्ञासा की निवृत्तिमात्र नहीं है अपितु दर्शन मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।
६. दर्शन में मतवाद के स्थान पर 'वास्तविकतावाद' या सत्यवाद को प्रतिष्ठित किया।

७. दर्शन में समन्वयवाद को महत्त्व दिया।

जैनाचार्य होते हुए भी उन्होंने जैन-दर्शन को आस्था या श्रद्धा के आधार पर महत्त्व नहीं दिया। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं -

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यं परिग्रहः ॥

अर्थात् महावीर से मेरा कोई पक्षपात नहीं है और कपिल आदि से कोई द्वेष नहीं है अपितु जिनके विचार तर्कयुक्त हैं उनको ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार के विचार हरिभद्र जैसा क्रान्तिकारी आचार्य ही दे सकता है। यह एक आह्वान था सभी दार्शनिकों से कि वे सभी दार्शनिक विचारों का स्वागत करे उन्हें तर्क की कसौटी पर कसे और जो खरा उतरे उसे स्वीकार करे।

ऐसे महामनीषी आचार्य हरिभद्र के 'दार्शनिक वैशिष्ट्य' पर साध्वीजी अनेकान्तलताश्री ने जहन शोध किया है। उन्होंने आचार्यश्री के दर्शनरूपी वारिधि में निमज्जित होकर अनेक महार्थ मणिकाओं को ढूँढ निकाला है जिसका दर्शन-जगत में स्वागत होना स्वाभाविक है। साध्वीश्री ने लगभग दो वर्षों में श्रमनिष्ठा और आत्मनिष्ठा से इस शोध-कार्य को सम्पन्न कर डॉ. की उपाधि हासिल की है। उन्होंने अपने कार्य में आचार्य हरिभद्र के मूलग्रन्थों का तो रसास्वादन किया ही साथ ही साथ आगमों में उसके आधार भी खोजने की कोशिश की। इस दौरान उन्होंने प्रायः सभी आगमों का भी अध्ययन किया। आचार्य हरिभद्र के मूलग्रन्थों के साथ उन पर लिखे गये व्याख्या ग्रन्थों का भी पारायण किया। अध्ययन और शोध के बाद जो नवनीत निर्मल हुआ उसे आचार्य हरिभद्र के दार्शनिक वैशिष्ट्य के रूप में प्रस्तुत किया है। यह शोध पुस्तकाकार रूप जन-सन्मुख प्रस्तुत कर अपनी उपादेयता सिद्ध करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

चूँकि मेरे निर्वेशन में इस कार्य की पूर्णहृति हुई। अतः मेरी प्रसन्नता अवक्तव्य है। इस अनूठे एवं उपयोगी कार्य के लिए साध्वी अनेकान्तलताश्री को बधाई देता हूँ और भावी जीवन के प्रति मंगल भावना व्यक्त करता हूँ।



डॉ. आनंद प्रकाश त्रिपाठी

उपनिदेशक दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

जैन विश्व भारती विश्व विद्यालय

लाडनूँ - ३४१ ३०६.

नागौर - राजस्थान



साध्वी डॉ. अनेकान्तलता श्री

परिचय

- संसारिक नाम : अंजना कावेडि मुथा
- पिताजी : शा टीलचन्दजी कावेडि मुथा
- माताजी : श्रीमती सुन्दरबाई
- जन्म स्थान : श्रीनमाल (राजस्थान)
- जन्म : चैत्र सुद ४, दि. १४-४-१९६७
- दीक्षा : वि.सं. २०४५ द्वि. जेठ सुद १०, दि. २५-६-१९८८, शनिवार
- दीक्षा दाता : संयम दानेश्वरी राष्ट्रसंत गच्छाधिपति वर्तमानाचार्य
श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.
- गुरुणीजी : पूज्या विदुषी गुरुणीजी श्री लावण्यश्रीजी म.सा. की सुशिष्या
सरल हृदया साध्वीवर्या श्री कोमललताश्रीजी म.सा.
- अध्ययन : आध्यात्मिक एवं व्यवहारिक शिक्षण एम.ए., पी.एच.डी.

समदर्शी - आचार्य हरिभद्र

भारत की पुरातनी, पुनीता भाषाओं के भव्य समाराधक, सक्षम, श्रुतधर, समदर्शी, आचार्य हरिभद्र थे।

इनका स्वोपज्ञ साहित्य, विपुल-विरल रहा है। समय-समय पर संस्कृत-प्राकृत भाषा की प्रांजलता को श्रमण संस्कृत साहित्य की धरोहर सिद्ध करने में, सिद्धहस्त लेखक के रूप में अवतरित हुए।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र का वाङ्मय दार्शनिकता का दिव्यावदान है। प्राग्-ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि रहा है।

वैदिक संस्कृति की छाया से इनकी देववाणी दर्शनीया एवं चेतोहरा रही है। वैदिक काल की अनुभूतियों को आविष्कृत करते हुए, विप्रत्व के वैदुष्य में विपुल नहीं रह सके।

वैदिक बौद्ध संस्कृति के प्रखर विज्ञान को, शास्त्रवार्ता समुच्चय में समुचित समुल्लिखित करने का श्रेयस्कर सौभाग्य अर्जित करने का अधिकार हरिभद्र का हृदयंगम रहा है।

धर्मसंग्रहणी में जैन दर्शन का वास्तविक विशद रूप व्याख्यायित करने का वैदुष्य निराला मिलता है।

बौद्ध ग्रन्थ पर टीका लिखने का अदम्य साहस हरिभद्र ने दर्शितकर, समदर्शी स्वरूप को श्रेय सिद्ध कर दिया।

भवविरही बनने का संकल्प समुदघोषित करनेवाले हरिभद्र का जीवन वीतराजविहित व्यक्तित्व का प्रतीक था। वीततृष्णासाधित चारित्र का साकार स्वरूप था। अनासक्तयोग के अत्यार्यत्व का उदाहरण था।

याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र होने की प्रशस्ति को प्रत्येक ग्रन्थ की पूर्णाहुति में प्रस्तुत करके हरिभद्र ने आर्याओं का श्रद्धास्पदेय संस्मरण सजीव रखा।

समराइच्चकहा, धूत्तस्थान जैसे ग्रन्थों को गुन्फित कर, जन्म जन्मान्तरीय संस्कारों की छवि को दृश्य-दर्शित करने में वे दक्ष रहे हैं।

अद्यावधि; ऐसे इस प्रकार के ग्रन्थकार रूप में कोई कोविद नहीं जन्मा; जिसने १४४४ ग्रन्थों की रचना की हो। धन्य है, राजस्थान की चित्तौड़ भूमि, जिसने हरिभद्र जैसे विद्याधर, वरेण्य सपूत को जन्म दिया। उन्हीं के दिव्य दार्शनिक पक्ष को, शोध प्रबन्ध स्वरूप देने में;

श्रीपाल धरा की शीलवती विद्यावती महार्या अनेकान्तलताश्रीजी म. का प्रतिभामय प्रकर्ष प्रादुर्भूत हुआ।

इसी श्रीपाल धरा पर महाकवि माघ, ब्रह्मगुप्त, सिद्धर्षि जैसे महापूज्यों का आविर्भाव हुआ था।

प्राज्ञानपृथ्वी की सन्तति ही, प्राज्ञों की वाङ्मयी सपर्या कर सफल बनती है।

आचार्य हरिभद्र राजस्थान की राजवंती धरा के सपूत रहे हैं। उनके दार्शनिक तथ्य को जीवन का प्रपेयपथ्य स्वीकारनेवाली आर्या अनेकान्तलताश्रीजी भी राजस्थानी ही हैं, फिर भी आर्याएँ अखिल आर्यावर्त की आर्या हैं।

आचार्य हरिभद्र का दिव्य दयित दार्शनिक दृष्टिकोण, सोपज्ञ 'तलित विस्तरा' में अनेकान्तजय पताका में, सर्वज्ञसिद्धि में, जो वर्णित मिला है, वह उनके संबोधश्रेय का अनेकान्तमय चिरन्तन-ध्वज है।

योजविद्या के महाप्राज्ञ महापुरुष होकर वाङ्मयी वसुमती के किर्ती कल्पतरु रहे। धर्मीबिन्दु जैसे ग्रन्थों के सूत्रकार, षोडशक जैसे प्रकरण प्रबन्धों के रम्य रचनाकार बनकर, अजर अमर हो गए।

अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों को निर्वैर निराक्षेप लक्ष्य से सापेक्षभाव से सम्मान देने में दूरदर्शिता का परिचय देने में प्राथमिकता निभाई-उपजाई।

ऐसे हरिभद्र के हार्द का सौहार्द का मैं सदा अभिलाषी रहा हूँ। तथा अनेकान्तलताश्रीजी को भी हितकारिणी हरिभद्र की पर्युपासना का निमन्त्रण देता रहा हूँ और आजीवन देता रहूँगा।

वि.सं. २०६५

भाद्रपद कृष्ण, वत्स द्वादशी
गुरुवार, २८ अगस्त २००८

पं. गोविन्दराम व्यास

हरजी

जि. जालोर (राजस्थान)



समदर्शी आचार्य हरिभद्र सूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य साध्वी अनेकान्तलताश्रीजी की शोध कृति पर संक्षिप्त अभिमत

समदर्शी आचार्य हरिभद्र सूरि जैन परम्परा के अप्रतिम आचार्य थे। उन्होंने विविध विधाओं के माध्यम से जैन साहित्य की सेवा की है। आगमिक व्याख्या साहित्य, दर्शन, काव्य, कथा, योग विषयक रचनाएँ लिखकर उन्होंने मध्यकालीन संस्कृत, प्राकृत एवं जैन साहित्य की श्रीवृद्धि की है। दर्शन युग की परम्परा में आचार्य हरिभद्र सूरि ने जैन योग को अत्यधिक समृद्ध किया। जैन परम्परा के दार्शनिक चिन्तन की कड़ी को व्याख्यायित करते हुए उन्होंने अनेकान्त, नय, स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों को और तत्त्वविवेचन, ज्ञानविश्लेषण एवं योगपरक चिन्तन पर भी अपनी दृष्टि स्पष्ट की है।

साध्वी अनेकान्तलताश्री ने "आचार्य हरिभद्रसूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य" नामक शोध प्रबन्ध में जैन दर्शन के साथ-साथ भारतीय चिन्तन को भी बड़ी कुशलता से उजागर किया है। प्रस्तुत कृति में साध्वीजी ने तत्त्वमीमांसा का विश्लेषण करते हुए जो सत् की व्याख्या की है, वह वास्तव में विषय को सहज एवं सरल बना देती है, यह साध्वीजी की अपनी विवेचनशैली का परिणाम है। वस्तु-जगत् का सम्बन्ध दार्शनिक चिन्तन तथा वचन-सामर्थ्य से वस्तु-तत्त्व का विवेचन साध्वीजी ने जिस-रूप में किया है वह उनका अपना वैदुष्य एवं पाण्डित्य का प्रतीक है। आचार्य हरिभद्रसूरि की ज्ञान एवं योग परक दृष्टि को भी साध्वीजी ने बड़ी गम्भीरता से इस कृति में विवेचित किया है। साध्वीजी ने इन विषयों के विवेचन में अपनी सरस और सरलशैली अपनाकर विषय को बखूबी स्पष्ट किया है।

भारतीय दर्शन की चिन्तनात्मक परम्परा में, जिन तुलनात्मक बिन्दुओं को साध्वीजी ने उठाया है, उससे सिद्धान्तों की व्याख्या तो हुई ही है साथ ही साथ आत्मा, जगत, ईश्वर, कर्म, योग, इन्द्रियविषय एवं उससे प्राप्त होनेवाले सुख-दुख आदि विभिन्न विषयों पर भी चिन्तन उजागर हुआ है। साध्वीजी की यह कृति वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक उपयोगी है। आज के अनेक विद्वानों एवं अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए भी उनकी यह कृति मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए प्रेरणास्रोत सिद्ध होगी, ऐसी कामना है। अस्तु, साध्वीश्रीजी को इस हेतु कोटि-कोटि साधुवाद।

इति शुभम् भवतु !



-डॉ. जिनेन्द्र जैन

एसोसिएट प्रोफेसर

संस्कृत एवं प्राकृत विभाग

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनू - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

शिव संकल्पम्

-पं. हीरालाल शास्त्री

जालोर

जागरह ! परा गिच्चं जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
नि. भा.

जिनश्रोता तिन पाइया, गहरे पानी पेट ॥

व्यक्ति की निरन्तर ज्ञान मार्ग में, कर्म क्षेत्र में या आध्यात्मिक साधना में यदि दृढ़ निश्चय इच्छा शक्ति हो तो वह अपने समग्र शिवसंकल्प पूर्ण कर लेता है।

इच्छा शक्ति की प्रबलता सभी अन्तरायों को नष्ट कर अपने गन्तव्य का लक्ष्य पूर्ण कर लेती है। जो जागृत है उसकी सम्यक् साधना सफलता का प्रतिवचन है।

ऐसी ही एक विलक्षण प्रतिभा जो जिनशासन में दीक्षार्थी के स्वरूप में उदीयमान हुई।

साध्वी प्रवरा कोमललताश्रीजी के पावन सान्निध्य में दीक्षा ग्रहण कर अनेकान्तलताश्रीजी अंपने अध्ययन क्षेत्र में दृढ़ इच्छा से तपस्या करती हुई एम. ए. संस्कृत में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर पी. एच. डी. की तैयारी में साधनायुक्त कर्मयोगी बनी।

में तो आपके मार्गदर्शन में निमित्त मात्र बना हूँ। निमित्त बनना भी मेरे किसी पुण्य का ही प्रतिफल है।

हायर सेकण्डरी से एम. ए. तक मेरा मार्गदर्शन रहा, यह मेरे लिए भी सौभाग्य ही है।

आपने अन्ततोगत्वा पी. एच. डी. का संकल्प पूर्ण कर ही लिया इसके लिये आप अभिनन्दन के योग्य हैं।

आपने पी. एच. डी. का विषय भी प्रतिभा के योग्य ही चयन किया।

‘आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य’ जिसमें प्रथम अध्याय में आचार्यश्री का व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गवेषणा पूर्वक अपने विचारों को प्रगट किया है। आपने आचार्यश्री की दार्शनिकता, आत्मवाद पर, लोकचिन्तन, अनेकान्तवाद, जैन दर्शन एवं आगमों के तात्त्विक चिन्तन पर गहनता से विचार कर अभिव्यक्ति की है।

द्वितीय अध्याय में तत्त्व मीमांसा को सरल भावों में अभिव्यक्त किया है। सत्तावधारणा, लोकवाद, द्रव्यवाद, नैयायिक, तत्त्वचिन्तन, वैशेषिक तत्त्वचिन्तन का अनेकान्त के साथ सामंजस्य बड़ी अनूठी युक्तियों से अभिव्यक्त किया है।

तृतीय अध्याय ज्ञान मीमांसा मति श्रुत का साधर्म्य पदार्थों की ज्ञेयता का आधार आदि पर अतीत का नवनीत प्रस्तुत किया है।

संपूर्ण ग्रन्थ के सात अध्याय विशेषता के पर्याय हैं।

जैन दर्शन के जिज्ञासु एवं श्रमणोपासना में यह ग्रन्थ कौमुदी के समान ज्ञानमार्ग को प्रकाशित करने जैसा है।

आपके निरन्तर परिश्रम का परिपाक यह ज्ञान ग्रन्थ अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी होगा। इन्हीं शुभ कामनाओं के साथ....

शुभ कामना सन्देश

-डॉ. श्रीमती कोकिला भारतीय

खाचरौद

भारतीय संस्कृति संतों की संस्कृति है, ऋषि-मुनियों और मनीषियों की संस्कृति है, प्रज्ञ पुरुषों के प्रज्ञाविस्तार की संस्कृति है, सत्यान्वेषण की ओर प्रशस्त मुमुक्षुओं की संस्कृति है, जिन्होंने अपनी प्रखरता से इसे प्रखर बनाया, विज्ञापित किया तथा निर्विकृत कर जीव मात्र के लिए बोधगम्य, आचरणगम्य एवं अन्त में निर्वाण गम्य भी बनाया।

जैन संस्कृति तीर्थंकर परमात्माओं की संस्कृति है। जो कुछ तीर्थंकर देशना देते हैं, उसे शब्दों में पिरोकर गणधर सर्व सुलभ सदैव सुलभ या यूँ कहे शाश्वत सुलभ बना देते हैं। चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के पश्चात् सुधर्मास्वामी की पाट परम्परा चली, जिसमें वर्तमान तक अनेक उद्भट विद्वानों एवं आत्मतत्त्व वेत्ता आचार्य भगवन्त हुए जिन्होंने जैन संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया।

ऐसे ही महायोगी महामनीषी, महादर्शनवेत्ता एवं महान् साहित्यकार आचार्य हरिभद्र सूरि हुए जिन्होंने आध्यात्म के तल तक जाकर योग और दर्शन के मार्ग को अपने मनन और चिन्तन के द्वारा प्रकाशितकर समन्वयवादी सिद्धान्तों की प्ररूपणा की।

“ऐसे लेखनी के धनी आचार्य हरिभद्रसूरि पर ऐसा शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करना - जो उनके विचारों के साथ, उनके साहित्य के साथ, उनके अध्यात्म के साथ न्याय कर सके - एक दुष्कर तम कार्य था। जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी होती है। परम पूज्य राष्ट्रसंत श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरिश्वरजी म. सा. की समुदायवर्तिनी एवं सरलमूर्ति साध्वीजी श्री कोमललताश्रीजी की सुशिष्या - प्रखर प्रज्ञा प्रवरा साध्वीजी श्री अनेकान्तलताश्रीजी ने “आचार्य हरिभद्रसूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य”- विषय पर अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर जहाँ अनुमोदनीय एवं अभिनन्दनीय कार्य किया है, वहीं शोध अध्येताओं के लिए गागर में सागर की तरह अभूतपूर्व पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है। जैन दर्शन - उसका इतिहास, नव तत्त्व, षड्द्रव्य, निर्वाण, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, कर्मवाद, आचार, पंचज्ञान, योग, तप, व्रत, संयम, चारित्र, जन्म और पुनर्जन्म एवं अन्य दर्शनों की विस्तृत अवधारणाओं का वर्णन कर विशालकाय शोध प्रबन्ध जो समग्रता संपन्न है - प्रस्तुत किया है।

संयम जीवन और तप करते हुए भी आपश्रीने जो सफलता प्राप्त की है वह प्रशंसनीय है, अनुमोदनीय है, अनुकरणीय है। इसी तरह कर्मठतापूर्वक अपनी पावन प्रज्ञा से गुरुगच्छ की प्रभावना करें तथा आपका यह चिन्तन जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो - इसी मंगल कामना के साथ.....

शुभ संदेश

-डॉ. अरुणकुमार दवे

साध्वी अनेकान्तलता श्रीजी के शोध ग्रंथ “आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य” के समग्र अध्ययन का सुअवसर मुझे मिला। उक्त शोध ग्रंथ को साध्वीश्री ने जिस तन्मयता एवं गहन अध्ययनसहित पूर्ण किया है उसके लिए शत शत बधाई एवं साधुवाद।

दर्शन सरीखे दुरूह विषय को गहराई में उतर कर समझना तथा उसका विश्लेषण-विवेचन करना खासकर श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी सरीखे प्रखर मनीषि के चिन्तन की थाह पाना बहुत कठिन एवं कष्ट साध्य है। मगर साध्वी डॉ. अनेकान्तलताश्रीजी ने अदभुत निष्ठा एवं संकल्पसहित इसमें सफलता प्राप्त की। कष्ट कष्टकों पर अनवरत चलते हुए, संयम सदाचार एवं अहिंसा पथ की राही डॉ. अनेकान्तलताश्रीजी ने आचार्य प्रवर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अनुशीलन तपस्या समझकर किया।

निस्संदेह यह शोध ग्रंथ दर्शन के अध्येताओं को कदम कदम पर प्रकाशपुंज बन राह दिखायेगा। इस शोध ग्रंथ को पढ़कर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी के दार्शनिक चिन्तन की थाह पाना बहुत कुछ संभव हो जायेगा।

शोध निर्देशक डॉ. आनन्द प्रकाशजी त्रिपाठी एवं साध्वीश्री को मार्गदर्शन देनेवाले सभी विद्वज्जनों को अपने प्रयासों की सार्थकता पर गर्व होना स्वाभाविक है। आशा करता हूँ कि साध्वीश्री अपने अध्ययन एवं लेखन को निरन्तर उच्च आयाम देती रहेगी।

एक सफल एवं सार्थक शोध प्रबन्ध के लिए साध्वीश्री को कोटि कोटि शुभकामनाएँ, इस अपेक्षा के साथ कि-

दो कदम हमने भरे तो क्या किया

है पडा मैदान कोसों का अभी....



अभिनन्दन

-पं. जयनन्दन झा.

'न विना गुरु सम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।' - अर्थात् सद्गुरु सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इन्हीं सद्गुरुओं की परम्परा ने विरन्तन काल से भारत की वसुन्धरा पर आत्मविद्या एवं तत्त्वज्ञान की उदात्त दृष्टि से मूल्यवान् विचारों को पतनीन्मुखी होने से बचाया है। इस देश में एक के पश्चात् एक प्राणवान् विद्वान् प्रकट होते रहे हैं। इस प्राणवान्, मूल्यवान् प्रवाह की गति की अविरलता में साधु-संतों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारत वर्ष के अनेकानेक महापुरुषों व ऋषि-मुनियों की शृंखला में १४४४ ग्रन्थों के रचयिता समर्थ उदारवादी समन्वयवाद के पुरोधे आचार्य हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराजा साहित्य जगत में चमकते हुए सितारे की भाँति देविष्यमान हैं। उनके विशालतम साहित्य पर शोध-कार्य करना एक विचक्षण कार्य है जिसे अनुसंधानित किया है, साध्वीजी अनेकान्तलता श्रीजी ने।

प्रेरक उदात्त विचारों के संग्रह से अभिभूत होने के कारण आपकी सफलता असीम ज्ञान निधि की ओर सतत उन्मुख होती रही, फलस्वरूप यह शोध ग्रन्थ सामने है।

प्रेरणा सदैव बहते हुए जलस्रोत की भाँति है, जो बाधाओं को धकेलती हुई सदैव अग्रगामिनी रहती है। प्रेरित छोटी-छोटी नदियों की भाँति उससे यत्र-तत्र मिलती रहती है। अन्त में असीम ज्ञानरूपी जलराशि में मिलकर एकत्व या समत्व का आभास कर एकत्व में बदल जाती है। वही विराट है जहाँ अनवरत प्रक्रिया चलती रहती है, जहाँ न प्रेरक है और न प्रेरित है।

आचार्य हरिभद्र सूरी के इसी एकत्व और समत्व भावों का निचोड़ रूप आपका यह शोध-प्रबन्ध ग्रन्थ निश्चित रूप से जन-जन के लिए उपकारी बनेगा ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है और इस दुष्कर कार्य को सफल बनाने में जो कठोर परिश्रम किया उसका मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।



અભ્યર્થના

-નવીનભાઈ દેસાઈ

થરાદ, ઉત્તર ગુજરાત

વર્તમાન આચાર્યદેવ શ્રીમદ્વિજય જયન્તસેન સૂરીશ્વરજી મ.સા. ના આજ્ઞાનુવર્તિની સાદવીજી શ્રી કોમલલતાશ્રી મ.સા. ની સુશિષ્યા સાદવીજી શ્રી અનેકાન્તલતાશ્રીજી મ.સા.ને પી.એચ.ડી. ની ડિગ્રીથી સન્માનિત થતાં આનંદ અને ગૌરવ અનુભવીએ છીએ.

જૈન શાસનમાં સ્વાધ્યાયનું મહત્વ સર્વોત્તમ. એમાંય શ્રમાણ જીવન અને સ્વાધ્યાય એક સીકકાની બે બાજુ સમાન છે. વર્તમાન યુગમાં આપશ્રીએ ઉચ્ચત્તમ સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરીને ગુરુ ગરહણને દીપાલ્યો છે.

આપની ઘમસ, ઉત્સાહ, નિષ્ઠા અને વિદ્યાનુરાગ પ્રશંસનીય છે. આપના દ્વારા આચાર્ય હરિભદ્રસૂરિ જેવા મૂર્ધન્ય મેઘાવી અને સારસ્વત મહામાનવના જીવન અને ગ્રન્થોનું સંશોધન કરી આપે 'આચાર્ય હરિભદ્રસૂરિજીનું દાર્શનિક ચિંતન' ગ્રન્થ તૈયાર કરી જૈન શાસનને નવી દિશા આપી છે.

થરાદના ચાતુર્માસ સમયે જ આ મહાન સિદ્ધિ હાંસલ કરવા માટે, આપના પ્રયત્નો, આપની મહત્વાકાંક્ષા, હૈયાસૂજ લગનની જાંખી થઈ જ હતી. ચાતુર્માસની અનેક જવાબદારીઓ અને પ્રવૃત્તિઓ વચ્ચે પણ આપ હંમેશાં ઉચ્ચવળ સફળતા માટે અવિરત ચિંતન કરતાં હતાં. એજ આપની સફળતાનું પરિણામ છે.

રાષ્ટ્રસંત પ.પૂ. આચાર્યદેવ શ્રીમદ્વિજય જયન્તસેન સૂરીશ્વરજી મ.સા. ના આશિર્વાદ અને પરમ પૂજ્ય સાદવીજીરત્ના શ્રી કોમલલતાશ્રીજી મ.સા. ના અમીત વાત્સલ્યથી આ મહાન સિદ્ધિ હાંસલ કરવાને ભાગ્યશાળી બન્યાં છો.

આપના દ્વારા તૈયાર થયેલ આ મહાનગ્રન્થ ભાવિ પેઢી માટે ખૂબજ ઉપયોગી, માર્ગદર્શક અને સંદર્ભગ્રન્થ તરીકે ઉપયોગી રહેશે. આપના દ્વારા ધર્મ અને સમાજ ઉપયોગી અનેક ગ્રન્થોની રચના થાય એજ અભ્યર્થના. આપ ત્રિસ્તુતિક સંઘનું ગૌરવ છો. આપનો જેટલો ઉપકાર માનીએ એ અલ્પ જ છે.



शुभाकांक्षा

जैन शासन के सौर मण्डल में अनेकों उदीयमान प्रदीप्त सितारे अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रकाशित हो रहे हैं। परम पूज्य आचार्य हरिभद्रसूरिजी आठवीं सदी के प्रदीप्तवान् सितारे हुए। जिन्होंने स्वरचित १४४४ ग्रन्थों द्वारा जिन शासन को अमूल्य ज्ञान प्रभावना से अलंकृत किया। उस महान् साहित्य एवं साहित्यकार मनीषी के जीवन पर शोध, उसके कृतित्व का नवनीत, समाज के सामने प्रस्तुत करने का भागीरथ कार्य विदुषी लेखिका सा. अनेकान्तलता ने किया है जो वंदनीय एवं स्तुत्य है।

हम सभी भीनमान श्री संघ के समस्त श्रावक गण मंगलकामना करते हैं कि पूज्य साध्वीश्री इसी तरह निरन्तर अपनी प्रज्ञा का विस्तार कर जिन शासन की शोभा एवं गरिमा में वृद्धि करें।

इसी शुभ कामना के साथ.....

श्री भीनमाल जैन संघ की तरफ से
कौलचंदजी गांधी मेहता
घेवरचन्द सेठ

अनुमोदना एवं हार्दिक बधाई

साध्वीश्री अनेकान्तलताश्रीजी को पी.एच.डी. से सम्मानित किया गया। ऐसी खुश खबर से मन अत्यधिक प्रसन्न हुआ। देवी सरस्वती की साध्वीजी पर महती कृपा है। आपने ठाणा-गच्छ-शासन को उज्वल किया है।

आपका संयमी जीवन-जिन शासन की अनुपम सेवा में सदैव समर्पित हो - आप दीर्घायु-मोक्षगामी बने ऐसी प्रभु महावीर से प्रार्थना करते हैं।

आपकी पी.एच.डी. की पढाई हैदराबाद चातुर्मास के समय से ही चल रही थी थीसीज पूरी भी वहीं पर हुई। यह भी हमारे लिये गौरव की बात है।

मेरे जीवन पर आप सब साध्वीजी का जो उपकार है वो मैं जीवन पर्यन्त न भूला पाऊंगा।

साध्वीश्री अनेकान्तलताश्रीजी की जन्म भूमि भीनमाल है हम सब भीनमालवासी अपने आप को सौभाग्यशाली मानते हैं। अनन्त अनन्त नमन के साथ

आपका श्रद्धानिष्ठ श्रावक
गणपतराज भण्डारी
सामाजिक कार्यकर्ता-हैदराबाद

શુભ સંદેશ

સાધવીજી શ્રી કોમલલતા શ્રીજી મ.સા. પરિવાર
સાધવીજી શ્રી અનેકાન્તલતાશ્રીજી મ.સા.

આપત્રીને વિશ્વ ભારતી વિશ્વ વિદ્યાલય, લાડનું દ્વારા આચાર્ય શ્રી હરિભદ્ર સૂરિજી ના દાર્શનિક ચિંતન ના વૈશિષ્ટ્ય વિષય પર શોધ નિબંધ પર પી.એચ.ડી. ની ડિગ્રી થી સન્માનિત થયા તે બદલ આપત્રીને ખુબ-ખુબ ધન્યવાદ-આભિનંદન.

અમારો સૂરતનો આખો શ્રીસંઘ આપત્રીને ખુબ-ખુબ અભિનંદન પાઠવે છે.

લિ.

પ્રમુખ શ્રી નીતીનભાઈ ચુનીલાલ અદાણી
તથા ટ્રસ્ટ મંડળ
સૌધર્મ બૃહત્પાગચઘીય ત્રીસ્તુતિક જૈન સંઘ
સુરત

શુભ સંદેશ

સાધવીજી શ્રી કોમલલતા શ્રીજી મ.સા. પરિવાર
સાધવીજી શ્રી અનેકાન્તલતાશ્રીજી મ.સા.

આપત્રીને વિશ્વ ભારતી વિશ્વ વિદ્યાલય, લાડનું દ્વારા આચાર્ય શ્રી હરિભદ્ર સૂરિજી ના દાર્શનિક ચિંતન ના વૈશિષ્ટ્ય વિષય પર શોધ નિબંધ પર પી.એચ.ડી. ની ડિગ્રી થી સન્માનિત થયા તે બદલ આપત્રીને ખુબ-ખુબ ધન્યવાદ-આભિનંદન.

અમારો મુંબઈનો આખો શ્રીસંઘ આપત્રીને ખુબ-ખુબ અભિનંદન પાઠવે છે.

લિ.

પ્રમુખ શ્રી સેવંતીલાલ મણીલાલ મોરખીયા
તથા ટ્રસ્ટ મંડળ
સૌધર્મ બૃહત્પાગચઘીય ત્રીસ્તુતિક જૈન સંઘ
મુંબઈ

शुभकामना

भारत वर्ष के अनेकानेक महापुरुषों, ऋषि-मुनियों की जन्म भूमि एवं तीर्थकरों की कल्याणक भूमि की पैदल स्पर्शना करते हुए विभिन्न तपस्याओं के साथ मासक्षमण (एक मास के निराहारी उपवास) वर्षीतप जैसी कठिन तपस्याओं से जीवन को सुगंधित बनाकर, गुरु आज्ञा को शिरोधार्य मानकर, गुरु शिष्याओं को अपनी बहन जैसा स्नेह देकर, संस्कृत प्राकृत भाषाओं का अध्ययन करते-करवाते हुए, चारित्र्य जीवन के सुंदर स्वरूप को समझते हुए, अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन करते हुए, परम पूज्या साध्वीजी श्री अनेकान्तलताश्रीजी ने पुरोहित समाज में जन्मे १४४४ ग्रन्थों के रचयिता प. पू. श्रीमद्विजय हरिभद्र सूरेश्वरजी की जीवन गाथा को अनुसंधानित किया है।

परम पूज्या साध्वीजी द्वारा पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की जीवन गाथा एवं पावन कृतित्व पर किया गया अद्वितीय शोधकार्य जाति धर्म से ऊपर उठकर सभी धर्मावलंबियों के लिए हितोपदेशक रहेगा। जन-जन के लिए मोक्ष की राह बनेगा।

हम ऋणी हैं परम पूज्य राष्ट्रसंत शिरोमणि, सुविशाल गच्छाधिपति, उग्रविहारी, संयमदानेश्वरी, वचनसिद्ध, आचार्य भगवंत श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरेश्वरजी के जिन्होंने पी. एच. डी. करने की आज्ञा प्रदान की। हम ऋणी हैं गुरु दादी विदुषी साध्वीजी श्री लावण्यश्रीजी के जिनकी सदैव हम पर कृपा रही है। हम ऋणी हैं हमारी परम उपकारी गुरुगुण गुणी गुरु माता साध्वीजी श्री कोमललताश्रीजी के जिन्होंने माँ का वात्सल्य प्रदान किया।

हम ऋणी हैं गुरु शिष्याओं के जिन्होंने वैद्यावच में बहनों जैसा स्नेह दिया।

जालोर निवासी पंडितजी श्री हीरालालजी शास्त्रीजी, जिन्होंने आपको पी. एच. डी. हेतु मार्गदर्शन दिया।

हरजी निवासी पंडितजी श्री गोविन्दरामजी, जिन्होंने विहार में साध्वीजी की अनुकूलता को ध्यान में रखकर अपना घर छोड़कर हजारों किलोमीटर दूर जाकर अध्ययन करवाया। इन दोनों विद्वद्वर्ष के हम ऋणी हैं।

हम ऋणी हैं श्री आनन्द प्रकाशजी त्रिपाठीजी, प्रोफेसर श्री विश्वविद्यालय लाडनू, के जिन्होंने मार्गदर्शन देकर कंटीले मार्ग को गुलाब के फूल की तरह कोमल, सुगम व सुगंधित बनाया।

हम ऋणी हैं उन सभी संघों का, ज्ञान भंडारों का, युवाओं एवं युवतियों का जिन्होंने अनेकानेक ग्रन्थों को अनेकानेक वाचनालयों में से खोज-खोज कर विहार में जगह-जगह पहुंचाया। जहाँ धन की जरूरत पड़ी वहाँ उदार दिल से उदारता का परिचय दिया। प्रोफेसर डॉ. अरुणजी दवे भीनमाल ने विशेष रूप से अशुद्धि संशोधन में व शैक्षणिक संस्थाओं से पत्र व्यवहार के कठिन कार्य में सहायता की है।

हम ऋणी हैं उस प्रेस के जिन्होंने पुस्तक को इतने सुन्दर स्वरूप में प्रस्तुत किया।

पूज्य साध्वीजी श्री अनेकान्तलता श्रीजी म. सा. ने इस ग्रन्थ को लिखकर भीनमाल (राज.) का ही नहीं बल्कि सभी संघों का, सभी धर्मों का एवं हमारे कावेडी परिवार का गौरव बढ़ाया है।

अन्त में भगवान से प्रार्थना करते हैं कि दिवंगत सांसारिक माता-पिता की आचार्य देवेश की, गुरु दादी की, गुरु मैया की, सभी साधु-साध्वियों की, महापुरुषों की ऐसे आशीष मिले कि आप मोक्ष गामी बने।

असीम शुभकामनाओं के साथ...

किशोरमल, पृथ्वीराज, मूलचंद, मुकेश, पंकज, अमीत, अश्विन,
दिलीप, दीक्षित बेटा पोता टीलचंदजी गेलाजी कावेडी परिवार,
भीनमाल।

शुभकामना

-सुरेश एन. बल्लु

जैन जगत में प्रभु महावीर के शासन में उनकी कृपा से, विश्व पूज्य प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजा की दिव्य कृपा से वर्तमानाचार्य देवेश श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के आज्ञानुवर्तिनी सरल स्वभावी कोमलहृदया परम पूज्य साध्वीजी श्री कोमललताश्रीजी म.सा. की सुशिष्या साध्वीजी श्री अनेकान्तलता श्री म.सा. को जैन विश्व भारती-लाडनू द्वारा 'आचार्य हरिभद्रसूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य' पर पी.एच.डी. डिग्री से राजमहेन्द्र (आ,प्र) में सम्मानित किया गया। यह सुनकर हमें अत्यंत आनंद की अनुभूति हुई।

दक्षिण भारत का उग्र विहार होते हुए भी सच्ची लगन, साहित्यिक प्रेम व पठन-पाठन ही मुख्य कर्तव्य के कारण ही पी.एच.डी. का सन्मान प्राप्त किया है। परम पूज्य मातृहृदया गुरुजी श्री कोमललता श्रीजी म.सा. की अनुपम कृपा एवं गुरु बहिनों का प्रेम आपके उपर हमेशा रहा है।

हमें गौरव है कि पी.एच.डी. प्रथम अध्याय आपने थराद से प्रारम्भ किया और चातुर्मास दरम्यान दो अध्याय आपने कठोर परिश्रम करके पूर्ण किये। तत्पश्चात् दक्षिण की तरफ विहार किया। हम थराद की ओर से बहुत-बहुत बधाई देते हैं। परमात्मा के शासन को, दादा गुरुदेव के समुदाय को, आपकी जन्मभूमि भीनमाल को, अपने गुरुदेव राष्ट्रसंत आचार्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी को आपकी गुरुणीजी श्री कोमललताश्रीजी को, अपने सांसारिक परिवारजनों को गौरवान्वित कर सब का नाम आपने रोशन किया है। हमें बहुत खुशी एवं गर्व है।

भविष्य में उत्तरोत्तर अभ्यास करके शासन को नयी दिशा देंगे और शासन का नाम रोशन करेंगे - इसी शुभ कामना एवं शुभेच्छा के साथ अभिनन्दन।

पू. आचार्यदेवेश श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म. सा. के आज्ञानुवर्तिनी पू. गुरुणीजी श्री कोमललताश्रीजी म. सा. की सुशिष्या साध्वीजी श्री अनेकान्तलताश्रीजी म. सा. की 'श्री हरिभद्रसूरीश्वरी म. सा.' के विषय पर रीसर्च कर परीक्षा देने के बाद पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त के शुभ अवसर पर महावीरकुमार मोहनलालजी संघवी की ओर से.....

हार्दिक अभिनन्दन

विशेष साध्वीजी श्री अनेकान्तलता श्रीजी म. सा. की शोध-ग्रन्थ की तैयारी दो-तीन साल से चल रही थी। २००७ के वर्ष में श्री कान्तिलालजी भगुजी परिवार द्वारा राजमहेन्द्री में पूज्यश्री का चातुर्मास आयोजित किया गया।

हमारे श्रीसंघ के प्रबल पुण्योदय से साध्वीजी की पुस्तक के प्रूफ देखने का, पुस्तक की अंतिम तैयारी का तथा उपाधि प्राप्ति के पूर्व की अंतिम मौखिक परीक्षा आदि का सभी लाभ राजमहेन्द्री संघ को मिला। लाडनू विश्व विद्यालय के मुख्य अधिकारी डॉ. श्री जितेन्द्रजी जैन राजमहेन्द्री पधारे एवं पूज्याश्री की अंतिम मौखिक परीक्षा लेकर उन्हें उत्तीर्ण घोषित कर 'पी. एच. डी.' की पदवी से सम्मानित किया। इस अवसर पर राजमहेन्द्री के सकल श्री संघ में हर्ष का कोई पार न रहा। इस शुभ अवसर पर श्री राजमहेन्द्री सकल संघ ने, महोत्सव आयोजित कर पूज्याश्री को पी. एच. डी. की उपाधि को ग्रहण करने की विनंती की। लेकिन पूज्याश्री की आत्मीय इच्छा पूज्य आचार्यदेव राष्ट्रसंत श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म. सा. की पावन निश्चय में ही उपाधि ग्रहण करने की थी। पूज्या साध्वीजीश्री का गुरु के प्रति समर्पण भाव देखकर, हमें बड़ी प्रसन्नता हुई।

चातुर्मास दरम्यान पूज्या साध्वीजी प्रत्येक कार्य में पूज्य आचार्यश्री को वन्दन करने के बाद ही प्रारम्भ करती थी और अपनी गुरु मैया पू. साध्वीजी श्री कोमललताश्रीजी म. सा. से हर कार्य की आज्ञा लेकर ही कर रही थी। आपश्री ने सदैव दादा गुरुदेवश्री के प्रति, पू. आचार्यश्री के प्रति तथा गुरुमैया के प्रति समर्पण भाव रखा है। इसी गुण की वजह से आपश्री ने इतनी लघु वय में ही इतने परिश्रम का काम बड़ी सरलता से पूर्ण कर पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है।

चातुर्मास में आपके निकट रहने का, काम करने का तथा आपकी सेवा करने का जो अवसर प्राप्त हुआ, वे सभी पल हमारे लिए सदैव अविस्मरणीय रहेंगे। आप इसी तरह स्वाध्याय में दिन दुगुनी और रात चौगुनी तरक्की करे तथा जगत के सभी जीवों को प्रतिबोध कर उन्हें भवपार करें। इसी आशा के साथ.....

राजमहेन्द्री (आ.प्र)

०७-९-२००८

महावीरकुमार मोहनलालजी संघवी

(सियाणा)

स्वकीयम्

जैन शासन अगाध ज्ञानराशि का गहनतम सागर है। जो इस विराट् सागर में गोते लगाते हैं, वे सिद्धान्तरूपी गुप्त रत्नों को प्राप्त करते हैं एवं स्वयं के जीवन को सम्यग् ज्ञानमय बनाकर अक्षय अनुपम सुख की अनुभूति के साथ आत्मानन्द को प्राप्त करते हैं। उस प्रकृष्ट सुख की अनुभूति चारित्रवान् एवं श्रद्धावान् आत्माओं को विशेष रूप से होती है क्योंकि चारित्रवान् आत्माएँ विषयों से विरक्त बनकर ज्ञान की ओर विशेष आकर्षित होते हुए श्रद्धा से प्रत्येक पदार्थ के परमार्थ को ज्ञात कर जीवन पर्यन्त उसको हृदय में स्थिर करते हैं। यही वास्तविक स्थिति आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व में उपलब्ध होती है। गृहस्थ जीवन में यद्यपि वे विद्वान् थे किन्तु तब वे वीतराग प्रवचन के प्रति श्रद्धासम्पन्न नहीं थे एवं सम्यग् चारित्र से विरहित थे जब उनको चारित्रवान् याकिनी महत्तरा श्रमणीवृन्द का योग मिला तब उनके जीवन में भारी परिवर्तन आया। श्रद्धा, स्वाध्याय एवं चारित्र की पराकाष्ठा से युक्त याकिनी महत्तरा ने जैन शासन के प्रतिपक्षी पण्डित प्रवर "हरिभद्र" के जीवन को अंधकार से प्रकाशमय बनाया, अश्रद्धा रूपी कंटकाकीर्ण जीवन उपवन को श्रद्धा विरति के सुमन से सुरभित कर दिया एवं स्वयं हरिभद्र ने याकिनी महत्तरा के प्रति कृतज्ञभाव धर्ममाता के रूप में प्रकट किया। सुप्रवृत्तिमय भावों से ओतप्रोत होते हुए वे 'धर्मसूनु' बन गये। तत्काल ज्ञानार्जन हेतु आचार्यश्री के समीप गये और चारित्र सम्पन्न बन गये। जैन आगमों के अध्ययन के महायज्ञ को प्रारम्भ कर आगमों के विशेष विज्ञाता बने। जैन शासन के प्रति एवं परमात्मा की द्वादशांगी के प्रति पूर्णतः समर्पित हो गये। तब उनकी अन्तरात्मा में आनन्द की तरंगे उछलने लगी, आँखों में से हर्षाश्रु की धारा बहने लगी और मुख से सहसा उद्गार निकल पड़े -

“अहो ! मुझे जिनागम प्राप्त नहीं होते तो मेरी क्या अवदशा होती ? आगमों के अध्ययन के साथ साहित्य जगत का एक भी पक्ष उनसे अछूता नहीं रहा। इत्थं प्रकारेण अपने जीवन को श्रुत साधना से सुसज्जित कर लिया। जिस समय दार्शनिकों का परस्पर मत-मतान्तर रूपी ताण्डव नृत्य मचा हुआ था सभी अपने अपने पक्ष को स्थापित करते हुए एक दूसरे का खण्डन मण्डन कर रहे थे ऐसे समय में समन्वयवाद के शंख को बजाते हुए, साहित्य जगत में समावतरित "श्रीमद् हरिभद्रसूरि" ने सभी दार्शनिकों को समन्वयवाद का शिक्षा-बोध देकर, वैर-वैमनस्य से विरक्त बनाया। ऐसे समन्वयवाद के पुरोधा समर्थ

तार्किक शिरोमणि आचार्य श्री हरिभद्रसूरि की कृतियों का संयम जीवन में अध्ययन करते हुए उनकी समन्वयवादिता एवं दार्शनिकता मेरे दृष्टिपथ में आयी, साथ ही उन कृतियों का अर्थ चिन्तन करते हुए मेरी मानस मेधा में एक स्फुरणा प्रस्फुरित हुई, कि क्यों न विद्वजनों एवं साहित्य-शोधकों के समक्ष उनके साहित्य का निचोड़ रूप दार्शनिकता का नवनीत रखा जाय, जो जिज्ञासुओं के लिए सुलभ बन सके। आचार्य देवेश राष्ट्रसंत श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म. एवं मुनि भगवंतों के साथ वार्तालाप करते हुए साथ ही विद्वानों के मुखकमल से हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों की महानता के उद्गार से प्रेरणा मिलती रही। उसी प्रेरणा एवं प्रज्ञा प्रसाति का फलस्वरूप प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ग्रन्थ है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की, लेकिन सम्पूर्ण साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। कालक्रम में कितना ही साहित्य विनष्ट हो चुका है। अत्यधिक पुरुषार्थ करने पर भी बड़ी कठिनाई से ७०-८० ग्रन्थ उपलब्ध हुए। उन ग्रन्थों में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने दार्शनिक विचारों को जिस ढंग से विवेचित किया है उन सभी को प्रस्तुत करना मेरे लिए शक्य नहीं है, फिर भी अधिक से अधिक दार्शनिक वैशिष्ट्य को व्याख्यात करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है, जिस के प्रथम अध्याय में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विचार विमर्श प्रस्तुत है। प्रतिज्ञाबद्ध, उदारवादी, निरभिमानी, समन्वयवादी आदि विशेषताओं से विशिष्ट व्यक्तित्व बनाकर वाङ्मयी वसुन्धरा पर कल्पवृक्ष बनकर, सभी की जिज्ञासा की पूर्ति करने में समर्थ बने है। उनका कृतित्व ही उनके व्यक्तित्व को उजागर करता हुआ उन्हें अक्षय बना गया है।

द्वितीय अध्याय में उनके व्यक्तित्व को आलोकित करने वाली कृतियों में अवगाहित दार्शनिक तत्त्व, सत्पद प्ररुपणा, लोकवाद, अस्तिवाद, अनेकान्तवाद, सर्वज्ञता आदि को समन्वयवाद के तराजू से तोलकर अनेकान्तवाद की कसौटी पर कसकर विपक्षियों के वैर-वैमनस्य को मिटाकर अज्ञ जीवों को युक्तियुक्त बोध देने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय में श्री हरिभद्रसूरि के ज्ञान की अनुपमेयता, विशिष्टता, ज्ञान के भेद प्रभेदों का दिग्दर्शन किया गया है। ज्ञान सहित जीवन स्व-पर कल्याणकारी बनता है। ज्ञानी अपने कर्मों को क्षण भर में क्षय कर लेते हैं, जबकि अज्ञानी आत्मा उन्हीं कर्मों को करोड़ों भवों में भी नष्ट नहीं कर सकते हैं, अतः जीवन में प्रतिपल ज्ञान प्राप्ति का पुरुषार्थ

करना चाहिए। ज्ञानाभ्यास करती हुई आत्मा लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त करके शाश्वत सुख का उपभोक्ता बन जाती है।

ज्ञानवान् आत्मा ही आचारवान् होकर आत्मश्रेय के पथ का पथिक बनती हैं। आचारों की पवित्रता से विचारों की विशुद्धता एवं मानसिक निर्मलता प्रवर्तमान होती है। धर्म का मूल है आचरण। उससे उच्चारणा एवं उकृष्टता का सौभाग्य उद्घाटित होता है। अतः श्रमण धर्म प्रधान आचार एवं श्रावक धर्म प्रधान आचारों की व्याख्या चतुर्थ अध्याय में की गई है।

पंचम अध्याय में कर्मों का स्वरूप, कर्मों का स्वभाव, कर्म की पौद्गलिकता, कर्म के भेद, प्रभेद, कर्म का अमूर्त पर प्रभाव, आत्मा का उपघात, कर्म विपाक तथा कर्म से सर्वथा मुक्त होकर आत्मा उर्ध्वगमन किस प्रकार करती है इत्यादि विवेचन किया गया है।

षष्ठम अध्याय में आचार्य हरिभद्रसूरि की योग प्रक्रिया का चित्रण सर्वथा निराला एवं निरुपमेय है। योग की व्युत्पत्ति, योग की परिलब्धियां एवं योग की आठ दृष्टियों का जैसा वर्णन उनके योग ग्रन्थों में वर्णित है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आपने योग को कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणी सदृश निरूपित करके, योग की महत्ता को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि साहित्य गगन मण्डल में सूर्य की भाँति देदीप्यमान हुए। समस्त दर्शन के दार्शनिकों रूपी नक्षत्रों को अपने साहित्य में उन्होंने किस प्रकार अवकाश दिया ? अन्य दर्शन की अवधारणाओं का उल्लेख एवं उनके उन्नायकों को आदर सूचक वचनों से सम्बोधित कर किस प्रकार उदारशय प्रगट किया ? एवं आत्मा, कर्म, मोक्ष, योग, प्रमाण, सर्वज्ञ आदि समस्त दार्शनिक तत्त्वों का किस प्रकार विश्लेषण किया ? उनके इस दार्शनिक चिन्तन के वैशिष्ट्य विशेष रूप को सप्तम अध्याय में संकलित करने का प्रयास मैंने किया है।

इस शोध-प्रबन्ध रूपी महायज्ञ का प्रारम्भ पौराणिक इतिहास को उजागर करती महाकवि माघ एवं सिद्धर्षिगणि की जन्मस्थली भीनमाल से हुआ। मैं अपने आपको गौरवशास्त्री मानती हूँ कि उन महाकवि महापुरुषों के ज्ञान पुंज एवं तपोपुंज के पावन परमाणु मुझे जन्म से ही मिले, मेरे स्वयं का यह जन्म सिद्ध अधिकार था, जो मुझे प्रतिपल विद्यासाधन एवं तपोमय जीवन जीने के लिए प्रेरित करता रहा। अतः प्रारम्भ से ही व्यवहारिक एवं आध्यात्मिक शिक्षण में मैं उत्तरोत्तर बढ़ती रही। व्यवहारिक शिक्षण दसवीं परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् विद्यालय में विदाई समारोह का कार्यक्रम रखा गया जिसमें दसवीं उत्तीर्ण

करनेवाली सभी छात्राओं का सन्मान किया गया साथ ही टाईटल दिया गया। मुझे “राही थक न जाना मञ्जिल दूर नहीं है” टाईटल मिला। यह टाईटल मेरे जीवन की उन्नति का एक संबल बना। यद्यपि उस समय मुझे इस स्तर तक पहुंचने की किंचित् भी संभावना नहीं थी क्योंकि जब मैं ९ वीं कक्षा में पढ़ रही थी तब पूज्य गुरुणीजी श्री लावण्यश्रीजी म. सा. एवं पू. कोमललताश्रीजी म. सा. का सान्निध्य प्राप्त हुआ। मेरी रुचि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए उत्कंठित हुई। अतः उस समय आध्यात्मिक शिक्षण यात्रा का दौर प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे संयम भावना से ओत-प्रोत बनकर मैंने संयम मार्ग पर जाने का दृढ़ संकल्प बना लिया और संयम जीवन स्वीकार करके अपने आपको धन्य मानने लगी। संयम ग्रहण करने के पश्चात् मुझे सभी की प्रेरणा मिली और शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में अपने कदम आगे बढ़ाती रही।

जिनशासन के शणगार, अवनि के अणगार, श्रमण भजवंत महावीर परमात्मा एवं उनके शासन की मैं ऋणी हूं कि उनके पावन शासन में मुझे जन्म मिला।

मेरे इस अध्ययन क्षेत्र में विश्व पूज्य प्रातः स्मरणीय कलिकाल कल्पतरु अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. की दिव्यकृपा भी सदैव रही है। उनका नाम स्मरण ही मेरी इस सफलता का सोपान रहा है।

मुझे इस स्तर तक पहुंचाने में मेरी आस्था के केन्द्र, बहुमुखी प्रतिभाशाली, संयमदानेश्वरी, साहित्य मनीषी राष्ट्रसंत सुविशाल गच्छाधिपति वर्तमानाचार्य देवेश श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म. सा. का असीम आशीर्वाद रहा है। आपश्री समय-समय मुझे अध्ययन के लिए उत्साहित करते रहे। मैं आजीवन मेरे उपकारी श्रद्धेय गुरुदेवश्री की ऋणी रहूंगी।

परम पूजनीया सरलमना विदुषी गुरुणीजी श्री लावण्य श्रीजी म. सा. एवं उनकी सुशिष्या सरल स्वभावी, मातृहृदया, प्रेरणादात्री गुरुमैया श्री कोमललता श्रीजी म. सा. के उपकारों की झड़ी आजीवन कैसे भूल सकती हूं? जिन्होंने संयम जीवन के प्रथम दिन से मुझे अध्ययन के लिए प्रेरित किया साथ ही अध्ययन के लिए पूर्ण सुविधाएँ उपलब्ध करवाई। आपके वात्सल्य एवं प्रेरणा के ऋण से कभी भी मैं उऋण नहीं हो सकूंगी।

मेरे शोध प्रबन्ध में मेरी गुरु भगिनीयां सा. श्री शासनलता श्रीजी, सा. श्री यशोलता श्रीजी, सा. श्री कोविदलता श्रीजी, सा. श्री अतिशयलता श्रीजी, सा. श्री कारुण्यलता श्रीजी,

सा. श्री समर्पणलताश्रीजी, सा. श्री वीतराजलता श्रीजी, सा. श्री श्रेयसलताश्रीजी आदि ने सभी प्रकार से अनुकूलताएँ एवं सहयोग दिया उसी का यह परिणाम है कि यह शोध प्रबन्ध शीघ्र पूर्ण हुआ। इन सभी की मैं विशेष कृतज्ञ हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य श्रेय प्राप्त होता है जैन विश्व भारती संस्थान-लाडनू के कुलपति डॉ. श्रीमान् संबरी मंगल प्रज्ञाजी एवं कुलसचिव प्रोफेसर जगताराम भट्टाचार्यजी को जिन्होंने मुझे यह शोध प्रबन्ध लिखने की स्वीकृति प्रदान की। अतः मैं उनकी आभारी हूँ, साथ ही उपनिदेशक श्री आनंद प्रकाशजी त्रिपाठी जो मेरे शोध-प्रबन्ध को सकारात्मक रूप प्रदान करने में प्रमुख मार्गदर्शक रहे। अतः उनका आभार सदा के लिए अविस्मरणीय रहेगा।

इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य आधार स्तम्भ है माननीय महोदय विद्वद्गुरु 'पंडितजी श्री गोविंदरामजी व्यास' जो मात्र मेरे शोध प्रबन्ध के दिशा-निर्देशक ही नहीं बल्कि इसको दिव्याकृति प्रदान करने में प्रतिष्ठाता भी हैं। अतः इस समय उनका स्मरण करना मेरा उत्तरदायित्व है।

माननीय ज्योतिषज्ञ विद्वद्गुरु पंडितजी श्री हीरालालजी शास्त्री जिन्होंने मुझे १२ वीं से लेकर एम.ए. तक के अध्ययन में अपना पूरा समय देकर अध्यापन करवाया। और पी.एच.डी. के लिए हमेशा प्रेरणा देते रहे साथ ही माननीय विद्वद्गुरु पंडितजी श्री जयनंदन झा की प्रेरणा मिलती रही। अतः आदरणीय द्रव्यों के प्रति मैं हृदय से अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मेरे इस शोध प्रबन्ध की मुख्य आधार शिला मेरे संसारी माता-पिता हैं जिन्होंने मुझे जन्म से ही व्यवहारिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के संस्कारों से आप्लावित किया। संयम के पश्चात् जब भी मिलन होता तब यही कहते गुरु वैयावच्च एवं अध्ययन में पीछे कदम मत हटाना। उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद ही इस शोध-प्रबन्ध की सफलता के सौपान हैं। साथ ही संसारी भ्राता-भाभीयाँ, जीजाजी-भजिनियाँ आदि सभी की पूर्ण इच्छा थी कि आप कैसे भी पुरुषार्थ करके पी.एच.डी. करो, आपको हम तन-मन-धन से किसी भी समय सहयोग करने के लिए तैयार हैं। अतः इस समय सभी को याद करना मेरा कर्तव्य है।

यह शोध-प्रबन्ध कार्य भीनमाल की पावन धरा से प्रारम्भ हुआ एवं हैदराबाद की धन्यधरा पर शताब्दी वर्ष में पूर्ण हुआ। जो मेरे लिए गौरव का विषय है। इस विशाल शोध-

प्रबन्ध की सम्पूर्णता के लिए भीनमाल सकल श्री संघ, थराद सकल श्री संघ, हैदराबाद सकल श्री संघ एवं राजमहेन्द्री सकल श्री संघ के द्वारा उदारता पूर्वक जो सहयोग एवं अध्ययन हेतु अनुकूलताएँ प्रदान की गईं, उसे ज्ञापित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है, मैं हृदय से इन सभी संघों की आभारी हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध को शास्त्र सम्मत, तत्त्व-सम्मत एवं सप्रमाण निर्मित करने में मुझे श्री धनचंद्र सूरि ज्ञान भण्डार थराद, श्री भूपेन्द्रसूरि ज्ञान भण्डार-आहोर, श्री विद्याचन्द्रसूरि ज्ञान भण्डार-भीनमाल, श्री हेमचन्द्रसूरि ज्ञान भण्डार-पाटण, श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान भण्डार-कोबा, विश्व संस्थान भारती-लाडनूँ आदि से समय-समय पर सन्दर्भ ग्रन्थ उपलब्ध होते रहे। मैं इन सभी संस्थाओं के व्यवस्थापकों एवं कार्यकर्ताओं के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध प्रबन्ध में श्री घेवरचंदजी सेठ, श्री कोलचंदजी मुथा, श्री प्रवीणभाई भंसात्ती, श्री नवीनभाई देसाई, श्री गणपतराजजी भंडारी, श्री सुजीतभाई सोलंकी, श्री छगनराजजी, श्री भरतभाई, अमृतभाई, प्रकाशभाई, विनोदभाई, आनंदभाई, कान्तीलालजी, श्री महावीरभाई, डॉ. श्रीमती कोकिलाजी भारतीय आदि सभी महानुभावों ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मेरे शोध कार्य में सहयोग प्रदान किया। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ. श्री अरुणजी दवे के द्वारा शोध-प्रबन्ध में दिया गया सहयोग अविस्मरणीय है।

प्रस्तुत ग्रंथ को जन-जन तक पहुँचाने में अपने धन का सदुपयोग कर पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन किया है भीनमाल निवासी स्व. शा टीलचंदजी धर्मपत्नी स्व. श्री सुंदरबाई के सुपुत्रो शा किशोरमलजी, पृथ्वीराजजी, मूलचंद, मुकेश, अश्विन, पंकज, अमित, दीपक, दीक्षित बेटा पोता शा टीलचंदजी जेलाजी कावेडी मेहता परिवार।

हींकार प्रिंटेर्स-विजयवाडा के श्री हेमलभाई ने कम्प्यूटर कृत टंकन के द्वारा इस शोध-प्रबन्ध को साकार रूप दिया। अतः मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध को प्रमाणिकता पूर्वक करने का सम्पूर्ण पुरुषार्थ मैंने किया है फिर भी अनजाने में कुछ शास्त्र-विरुद्ध हो अथवा प्रूफ संशोधन की त्रुटि हो तो... मिच्छामि दुक्कडम्।

- सा. अनेकान्तलता... ❧

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

आचार्य हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व

1-80

| | |
|---|----|
| १. जन्मस्थान | 1 |
| २. शिक्षा | 1 |
| ३. समय | 2 |
| ४. प्रतिज्ञाबद्ध प्रोन्नत महापुरुष | 2 |
| ५. दीक्षा | 4 |
| ६. आचार्य | 5 |
| ७. पश्चाताप के रूप में १४४४ ग्रन्थों की रचना | 5 |
| ८. याकिनी महत्तरा के उपकारों को धर्मपुत्र बनकर ग्रन्थों से चिरस्मरणीय बनाना | 18 |
| ९. कृतित्व में व्यक्तित्व | 19 |
| १०. दार्शनिक दृष्टिकोण | 23 |
| ११. एकान्त का समादर अनेकान्त का स्वीकार | 26 |
| १२. विद्या वाङ्मय का कर्मठ कौशल | 28 |
| १३. समन्वयवादी | 30 |
| १४. वैदिक संस्कृति से श्रामण्य संस्कृति की सजीवता | 32 |
| १५. अन्यदर्शनकारों के प्रति सम्माननीय शब्दों का संयोजन | 33 |
| १६. उदारशय बनकर अन्यदर्शनों का अपने ग्रन्थ में समुल्लेख | 35 |

| | |
|--|----|
| १७. सम्पूर्ण वाङ्मय के विषय से अवगत | 37 |
| १८. योग के विषय में अभूतपूर्व संकलन | 41 |
| १९. संस्कृत के साथ प्राकृत को प्राथमिकता | 43 |
| २०. श्रुतों का समदर्शित्वरूप से संदोहन | 44 |

कृतित्व :-

| | |
|-----------------------------------|----|
| १. सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियाँ | 46 |
| २. अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ | 47 |
| ३. दार्शनिक कृतियों का विवेचन | 48 |
| १. शास्त्रवार्ता समुच्चय | 48 |
| २. धर्म संग्रहणी | 51 |
| ३. षड्दर्शन समुच्चय | 54 |
| ४. अनेकान्त जय पताका | 56 |
| ५. न्याय प्रवेश वृत्ति | 57 |
| ६. न्यायावतारवृत्ति | 59 |
| ७. न्याय विनिश्चय | 59 |
| ८. ललित विस्तरावृत्ति | 59 |
| ९. सर्वज्ञ सिद्धि | 61 |
| १०. योग त्रिशिका | 65 |
| ११. योग शतक | 66 |
| १२. योगदृष्टि समुच्चय | 68 |
| १३. योगबन्धि | 71 |
| १४. लोकतत्त्व निर्णय | 73 |
| १५. अनेकान्तवाद प्रवेश | 75 |

द्वितीय अध्याय

तत्त्व मीमांसा

81-200

| | |
|----------------------------|-----|
| १. सत् की अवधारणा | 81 |
| २. लोकवाद | 93 |
| ३. द्रव्यवाद | 107 |
| ४. अस्तिकाय द्रव्य | 115 |
| धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय | 122 |
| आकाशास्तिकाय | 127 |
| जीवास्तिकाय | 132 |
| पुद्गलास्तिकाय | 137 |
| ५) अनास्तिकाय द्रव्य (काल) | 147 |
| ६) तत्त्व विचार | 158 |
| ७) सर्वज्ञवाद | 167 |
| ८) अनेकान्तवाद | 175 |

तृतीय अध्याय

ज्ञान मीमांसा

201-240

| | |
|--|-----|
| १) ज्ञान की व्युत्पत्ति | 202 |
| २) ज्ञान के भेद | 204 |
| ३) ज्ञान के प्रभेद | 211 |
| ४) पांचज्ञान की सिद्धि | 217 |
| ५) लक्षणादि सातभेद से मतिश्रुत का भेद | 219 |
| ६) पांच प्रकार से मतिश्रुत का साधर्म्य | 220 |
| ७) अवधि मनपर्यवज्ञान के क्रम में प्रयोजन | 222 |
| ८) केवलज्ञान अन्तिम क्यों? | 223 |
| ९) ज्ञान की प्रकाशक सीमा कहाँ तक | 226 |

| | |
|---|-----|
| १०) प्रकृष्ट ज्ञान में सभी पदार्थ ज्ञेय | 227 |
| ११) ज्ञान स्वपरप्रकाशक | 228 |
| १२) सिद्ध जीवों में ज्ञान का सद्भाव | 232 |
| १३) ज्ञान का वैशिष्ट्य | 233 |

चतुर्थ अध्याय

| | |
|---------------------------|---------|
| आचार मिमांसा | 241-320 |
| १) आचार की परिभाषा | 241 |
| २) आचार का स्वरूप | 242 |
| ३) आचार का आधार आत्मज्ञान | 243 |
| ४) आचार के भेद | 244 |
| अ) ज्ञानाचार | 245 |
| ब) दर्शनाचार | 246 |
| स) चारित्राचार | 246 |
| द) तपाचार | 246 |
| इ) वीर्याचार | 247 |
| ५) श्रावकाचार | 248 |
| पाँच अणुव्रत | 255 |
| तीन गुणव्रत | 266 |
| चार शिक्षाव्रत | 269 |
| ६) श्रमणाचार | 278 |
| पाँच महाव्रत | 283 |
| सत्रह संयम | 299 |
| पाँच चारित्र | 301 |
| बावीस परिषह | 304 |
| आचार का वैशिष्ट्य | 307 |

पंचम अध्याय

कर्म मिमांसा

321-388

| | |
|--|-----|
| १) कर्म की परिभाषा | 321 |
| २) कर्म का स्वरूप | 324 |
| ३) कर्म की पौद्गलिकता | 325 |
| ४) कर्म बन्ध की प्रक्रिया | 325 |
| ५) कर्मों के भेद-प्रभेद | 331 |
| ६) कर्मों का स्वभाव | 336 |
| ७) मूर्त का अमूर्त पर उपघात | 364 |
| ८) कर्तृभाव कर्मभाव परस्पर सापेक्ष | 365 |
| ९) कर्म और पुनर्जन्म | 366 |
| १०) कर्म और जीव का अनादि सम्बन्ध | 366 |
| ११) कर्म के विपाक | 368 |
| १२) कर्म बंध के हेतुओं के प्रतिपक्ष उपाय | 370 |
| १३) कर्म का सर्वथा नाश कैसे | 371 |
| १४) गुणस्थान में कर्म का विचार | 372 |
| १५) कर्म की स्थिति | 375 |
| १६) कर्म के स्वामी | 377 |
| १७) कर्म का वैशिष्ट्य | 378 |

छठा अध्याय

योग दर्शन

389-438

| | |
|-----------------------|-----|
| १) योग की व्युत्पत्ति | 389 |
| २) योग की परिभाषा | 390 |
| योग का लक्षण | |
| अ) निश्चयनय से | 393 |

| | |
|---|-----|
| ब) व्यवहारनय से | 394 |
| ३) योग के अधिकारी | 395 |
| ४) योग के भेद प्रभेद | 401 |
| ५) योगशुद्धि के कारण | 407 |
| ६) योग में साधकतत्व | 409 |
| ७) योग में बाधकतत्व | 409 |
| ८) योग की विधि | 410 |
| ९) सद्नुष्ठान में योग | 410 |
| १०) असद्नुष्ठान में तीर्थ-विच्छेद | 416 |
| ११) आशयशुद्धि में योग | 418 |
| १२) योग की दृष्टियाँ | 421 |
| १३) योग की परिलब्धियाँ | 430 |
| १४) आचार्य हरिभद्रसूरि का योग वैशिष्ट्य | 432 |

सप्तम अध्याय

| | |
|---|---------|
| आचार्य हरिभद्र के दर्शन में अन्य दर्शनों की अवधारणाएँ | 439-471 |
|---|---------|

| | |
|---------------------------|-----|
| १) सत् के सन्दर्भ में | 439 |
| २) आत्मा के सन्दर्भ में | 440 |
| ३) योग के सन्दर्भ में | 446 |
| ४) मोक्ष के सन्दर्भ में | 448 |
| ५) कर्म के सन्दर्भ में | 452 |
| ६) प्रमाण के सन्दर्भ में | 455 |
| ७) सर्वज्ञ के सन्दर्भ में | 464 |
| ८) अन्य सन्दर्भ में | 465 |

I प्रथम अध्याय

आचार्य हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व

- * सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियाँ
- * उपलब्ध कृतियाँ
- * दार्शनिक कृतियों का विवेचन
- * शास्त्रवार्ता समुच्चय
- * धर्म संग्रहणी
- * षड्दर्शन समुच्चय
- * अनेकान्त जय पताका
- * न्याय प्रवेश टीका
- * न्यायावतारवृत्ति
- * न्याय विनिश्चय
- * ललित विस्तरावृत्ति
- * सर्वज्ञ सिद्धि
- * योग विंशिका
- * योग शतक
- * योगदृष्टि समुच्चय
- * योगबिन्दु
- * लोकतत्त्व निर्णय



प्रथम अध्याय

आचार्य हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्य हरिभद्रसूरि महाप्रभावक, महान् ग्रंथकार समदर्शी, समन्वयवादी, दार्शनिक के रूप में विश्व विश्रुत रहे हैं। उनकी संस्कृत एवं प्राकृत ग्रंथराशि विपुल मात्रा में हैं। उनकी प्रकांड विद्वत्ता, अपूर्व ज्ञानगारिमा, निष्पक्ष आलोचना और भाषा प्रभुत्व भारतीय इतिहास में सुवर्णाक्षरों से अंकित है।

१. जन्म :- वर्तमान का चित्तौड़^१ आचार्य हरिभद्र का जन्म स्थल है जो राजस्थान का मेदिनीपाठ (मेवाड) का मुख्य धरातल है भारत देश की धरा अनेक वीरवर, विद्वद्वर वीरांगनाओ से विभूषित रही हैं, और अनेक सत्कार्यों से पूजनीय, प्रशंसनीय रही है। इस धरा के कण-कण तपस्वियों के तेज से, विद्वानों की विद्वत्ता से, योगियों के योग से, दार्शनिकों के दर्शनीय भावों से, सतियों की सतीत्व उर्जा से आप्लावित रहे हैं।

राजस्थान की गौरवशाली धरा का इतिहास इस तथ्य को उजागर करता है कि यहाँ जैन एवं जैनेतर दोनों परम्परा में उच्चकोटि के दिग्गज विद्वान् हुए हैं और उनके वैचारिक संघर्ष से तत्त्वविद्या का वाङ्मय सदैव विकस्वर होता रहा है। जिस महापुरुष का स्मरण करने जा रहे हैं, वे प्रारम्भ में जैनेतर परम्परा से सम्बद्ध थे। यह प्रामाणिक अनुसंधानों पर आधारित है कि हरिभद्र अपने समय के जैनेतर विद्वानों में विद्वत् शिरोमणि माने जाते थे। वे चित्रकूट के राजा जितारी के राजपण्डित तथा अग्निहोत्री बाह्यण थे।

हरिभद्र के जन्मस्थान^२ के रूप में चित्तौड़ चित्रकूट का प्राचीन गन्थों में भी उल्लेख मिलता है। वे इस प्रकार है - १) उपदेशपद २) गणधरसार्धशतक ३) प्रबन्धकोष अपर नाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध और नानाविध पट्टावलि।

२. शिक्षा :- हरिभद्रसूरि के उत्तरकालीन “प्रभावक चरित्रकार”, “कथावल्लिका”, “प्रबन्धकोशकार”, हरिभद्र को शिक्षित रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि उनको वंश परम्परा से विद्या क्षेत्र का वैशिष्ट्य उपलब्ध हुआ, ब्राह्मण परम्परा में यज्ञोपवीत के समय ही विद्याभ्यास का प्रारम्भ एक मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। उन्होंने वह प्रारम्भ अपने कुटुम्ब में ही किया हो या आसपास के किसी योग्य स्थान में, परन्तु इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विद्याभ्यास का प्रारम्भ प्राचीन परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा से किया होगा। उनका किसी न किसी ब्राह्मण विद्यागुरुओं के पास व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, संस्कृत प्रधान विद्याओं का और षड्दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर एवं चौदह वेद विद्याओं में पारंगत पारदर्शी होना प्रतीत होता है। इनकी शिक्षा स्वयं में एक शक्तिशाली एवं शुभ भाववर्धक थी, इनके आस-पास रहे पंडितवर्ग भी इनके पाण्डित्य का लोहा मानते थे।

शिक्षा स्वयं में स्वावलम्बी रहने की प्रकृतिवाली है, इस शिक्षा को जो आत्मसात् कर लेता है उसके जीवन की परवशता सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है।

हरिभद्र ने स्वाधीन श्रेष्ठतम सुधियों में अपना स्थान रखने का अधिकार शिक्षा के बल पर उपार्जित कर लिया था। राजकीय परम्परा से मण्डित एक महामनीषी हरिभद्र का कथाकारों ने स्वीकृत किया है, उनकी भारतीय वाद-विजेता के रूप में अपूर्व प्रख्याति थी।

ज्ञान-सम्मान और सत्ता इन त्रिवेणी योग का संगम उनके जीवन में था, उनकी बुद्धि तर्क से कुशाग्र होने के कारण वे तार्किकों में अग्रगण्य माने जाते थे अतः पृथ्वी, पानी तथा आकाश में निवास करने वाले सभी विद्वानों को परास्त करने के महामोहाभिमान से कुदाली, जाल तथा निसेनी रखते थे तथा विद्यामद से विदीर्ण न हो जाए अतः पेट पर सोने का पट्टा बांधते थे, तथा जम्बूद्वीप में मेरे समान अद्वितीय कोई नहीं है यह बताने हेतु हाथ में जम्बू की डाली लेकर घूमते थे जिसका पाठ इस प्रकार है।

परिभवनमतिर्महावलोपात् क्षितिसलिलाम्बरवासिनां बुधानाम्।

अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी ॥

स्फुटति जठरमत्र शास्त्र शास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम् ।^३

मम सममतिरस्ति नैव जम्बूक्षितिवलये वहते लतां स जम्बवाः ॥

इस प्रकार वे अपने आपको कलिकाल सर्वज्ञ मानते थे।

३. प्रतिज्ञाबद्ध प्रोन्नत पुरुष :- अपने आपको सर्वज्ञ मानते हुए भी वे सरलता की प्रतिकृति थे। अतः इससे भी परे कोई विशिष्ट तत्त्व, जिज्ञासा उनके अंतः स्थल में मानो तरंगित होकर उनको प्रतिज्ञा के लिए प्रेरित कर रही थी। इस हेतु उन्होंने अपने मानसमेधा में यह दुस्तर प्रतिज्ञा करली कि मेरे मति-वैभव से यदि कोई अज्ञात तत्त्व रह जाय तो उसका सुबोध प्राप्त करने हेतु स्वयं चरणों में अपना जीवन समर्पित करके शिष्यत्व स्वीकार कर लूंगा ! महापुरुष हमेशा सत्य प्रतिज्ञा के पालक होते हैं कहा भी गया है -

“ रघुकुल रीति सदा चलि आई ।

प्राण जाय पर वचन न जाई ॥ ”

अपने आपको सर्ववेत्ता मानते हुए भी वे सरलता की प्रतिकृति थे। भवितव्यता भाग्य को भव्य बना देती है और एक दिन उनके जीवन का महापरिवर्तन योग उस प्रतिज्ञा के बल से आ गया। ऐसा हुआ कि एकबार अनेक पाठकगणों से युक्त साथ ही विरुदावलियों के गुंजारव से वातावरण को गुंजित करते हुए सुखासन पालखी में आसनस्थ होकर राजदरबार की तरफ प्रयाण कर रहे थे। उस समय एक मदोन्मत्त हाथी दुकानों और मकानों को छिन्न-छिन्न करता लोगों को अत्यंत शोक से व्याकुल करता, पशु-पक्षियों को भयभीत करता, अपने सिर को त्वरितता से हिलाता सामने आता हुआ देखकर ऊँचे वृक्ष ऊपर से पुष्प के समूह को लेकर बंदर जिस प्रकार चंचल स्वभाव से सूर्य की तरफ फेंकता है उसी प्रकार वे विप्र भी सहसा जिनमंदिर में गये और ऊँची दृष्टि करने

पर परमात्मा को देखा, तत्त्वार्थ को नहीं जाननेवाले विप्र ने उपहास वचन बोले।

“वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टमिष्टान्नभोजनम्।

न हि कोटर संस्थेऽग्रौ तरुर्भवति शाद्वलः ॥”^x

आपका शरीर ही मिष्टान्न भोजन की साक्षी रूप में है। यदि कोटर में अग्नि हो तो वृक्ष हरा-भरा नहीं रह सकता है। उनको यह कहाँ मालूम था कि उनके कथित ये वचन ही भविष्य में बदलने पड़ेंगे। भवितव्यता की बलिहारी है हाथी की इस घटना ने उनको विरोधभाव से भी वीतराग का परिचय करवाया।

दूसरे तीसरे दिन राजमहल के राजकीय मंत्र-विवेचनों को परिपूर्ण करके अपने घर की ओर रात्रि काल में जा रहे थे। जैन उपाश्रय के पास से गुजर रहे थे उस समय एक साध्वी के मधुर स्वर को उन्होंने सुना जो इस प्रकार था।

चक्किदुगं हरिपणगं चक्कीण केसवो चक्की।

केसव चक्की केसव दुचक्की केसी य चक्की य ॥”

श्री आवश्यक निर्युक्ति के इस गाथा को सुनकर प्रस्फुरित प्रज्ञावाले, स्थिरप्रतिज्ञावाले नीरव शान्ति युक्त वातावरण में विचारवान् बने हुए उन्होंने चिन्तन किया, लेकिन उसके गहन रहस्य को जान नहीं सके, तब स्वयं विनम्र बनकर उस आर्या की शरण में चल पड़े। यद्यपि प्रतिज्ञा का साक्षीभूत कोई नहीं था फिर भी अन्तःकरण संकेत कर रहा था कि मैं प्रतिज्ञा से पतित न बनू अतः उसका परिपालन करने हेतु अहंकारी, अभिमानी मन को सुमन बनाना यद्यपि अत्यंत दुष्कर था फिर भी प्रतिज्ञा भंग में स्वयं मन को साक्षीभूत मानकर स्वयं ने ही पराजय स्वीकार करली यह उनकी महानता थी। यह प्रतिज्ञा उनके जीवन में गर्व का कारण न बनकर तत्त्वजिज्ञासा की प्रतीक बनी और उन्होंने आर्या को कहा-कि हे माँ ! “आप बार-बार क्या चक-चक कर रही हो” इसका मुझे समुचित उत्तर दो। याकिनी महत्तरा बहुत ही विचारशील विदुषी थी, समयदर्शी थी। उन्होंने मधुरवाणी में कहा - हे वत्स ! “यह गीले गोबर से लीपा नहीं है जो शीघ्र समझ में आ जाये।” यह सुनकर आश्चर्य से चमत्कृत होते हुए उन्होंने सोचा कि एक तो यह गाथा समझ में नहीं आयी और दूसरा उनके द्वारा दिया हुआ उत्तर भी मेरे पाण्डित्य को पिघलाने जैसा है। अतः वे कहते हैं कि हे माँ ! तुम्हारे अर्थ को मैं नहीं जान पाया हूँ। अतः मुझे समझाओ। आर्या याकिनी महत्तरा कहती है, ऐसे महान् जैनागमों के अध्ययन की अनुमति गुरुओं से हमें मिली है लेकिन विवेचन करने की नहीं। यदि आप इसका विस्तृत अर्थ जानना चाहते हो तो मेरे गुरुदेव के पास जाओ। हरिभद्र आर्या की विनम्रता, सौहार्दता, प्रशान्तमुद्रा, पवित्र जीवन चर्या आदि देखकर अत्यंत प्रभावित हो गये। आर्या की बात सुनकर विप्र हरिभद्र घर गये, किन्तु उनके मानस मेधा में अनवरत “याकिनी महत्तरा एवं साध्वीगण का जीवन कितना स्वच्छ एवं सुंदर है,” यह चिन्तन चलता रहा तथा मेरे लिए यह अत्यंत लाभदायक बनेगा इस प्रकार के चिन्तन में निद्रा रहित सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत की।

प्रातः काल की शुभ बेला में एकाग्रचित्त होकर जिनालय में आये और हृदय में समाविष्ट जिनबिम्ब को

देखकर प्रसन्नता से स्तुति करने लगे...

वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम् ।

न ही कोटरसंस्थेऽग्रौ तरुर्भवति शाद्वलः ॥^६

हे भगवान् आपका शरीर ही वीतरागता को कह रहा है क्योंकि कोटर में अग्नि यदि हो तो वृक्ष हरा-भरा कदापि नहीं रह सकता। इस प्रकार प्रसन्नता से परमात्मा की स्तुति करके, देवताओं के स्वामी इन्द्रों के समूह से पूजित विष्णु के समान समता निधि, साधुओं से सेवित मण्डप में स्थित जिनभट्टसूरि को देखा, देखते ही उनकी कुवासनाओं ने विराम ले लिया। क्षणभर के लिए हतप्रभ बन गये। गुरु ने प्रज्ञा चक्षु से विचार किया कि यह तो वही विप्र है जिनकी शास्त्रों में निपुण मति है, तथा राजमान्य यशस्वी राजपण्डित है जिसने मदोन्मत्त हाथी से राजमार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण जिनमन्दिर में आये और जिनपति को देखकर मद से निन्दनीय चित्तवाले उपहास युक्त वचन बोले थे और आज जिनबिम्ब को आदर युक्त देखकर अतिशय भक्ति से रंजित बने हुए पुराने वचनों को परावर्तित कर बोले है ! उसको ऐसी स्थितिमें अपने आगे देखकर आचार्य श्री ने उसको बुलाया - हे द्विजेश ! हे अनुपमबुद्धि के निधान ! कहो, आपके यहाँ आगमन का हेतु क्या है ? अत्यंत व्यवहार कुशल एवं उच्चकोटि के शास्त्रवेत्ता आचार्य प्रवर ने एक ही दृष्टि में हरिभद्र की प्रखर प्रज्ञा को परख ली। हरिभद्र ने बड़ी विनम्रता से कहा कि हे गुरुदेव आप मुझे जिन विशेषणों से पुकार रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ, क्योंकि आर्या से सुना गया जिनवचन उसका भी अर्थ मैं समझ नहीं पाया, तो विपुल जिनशास्त्रों की राशि की तो बात ही क्या ? अतः अब आप मेरे पर कृपा करके मुझे अर्थ प्रकाशित करें ।

पुरोहित हरिभद्र की बातें सुनकर गुरुदेवने कहा कि - हे विप्र ! यदि आपको इसे समझना है तो इस श्रमण परम्परा से सम्बद्ध होकर तप अनुष्ठान पूर्वक क्रमिक रूप से अध्ययन करना होगा, अन्यथा अध्ययन संभव नहीं है। आपको जैसा उचित लगे वैसा करें, किन्तु शीघ्रता न करें। लेकिन तत्त्वविद्या की जिज्ञासा ने उनके जीवन को ब्राह्मण संस्कृति से श्रमण संस्कृति की ओर आकर्षित कर लिया।

दीक्षा :- प्रकाण्ड विद्वान् हरिभद्र मानसिक प्रतिज्ञा का परिपालन करने के लिए तैयार हो गये और गुरु के चरणों में समर्पित होकर श्रामण्य जीवन स्वीकार कर लिया। आचार्य श्री ने संयमव्रत आदि प्रदान कर गाथार्थ बताकर उनकी जिज्ञासा पूर्ण की।

एक दिन गुरुदेव हरिभद्र को याकिनी महत्तरा का परिचय देते हुए कहते हैं कि आगम प्रवीण, यम नियमों की पालक, साध्वी समुदाय की मुकुट शिरोमणि, जगत विख्यात, “याकिनी महत्तरा” मेरे गुरु की बहन है, तब हरिभद्र कहते हैं कि अनेक शास्त्रों में पारंगत होते हुए भी इन महत्तरा साध्वीजी ने मुझे मर्यादा में बांध दिया, फिर भी मैं तो अपना अत्यंत पुण्य का योग समझता हूँ कि यह मेरी कुलदेवी के समान माता बनकर मुझे ज्ञानयोग में जोडा।

सम्पूर्ण महाव्रत की धुरी को धारण करने में समर्थ ऐसे उन्होंने धर्म का सार इस साधु धर्म को अच्छी तरह

ज्ञान लिया तब गुरु ने कहा अब तुम विशेष आगमों के सार को सूक्ष्मबुद्धि से निरीक्षण करने में प्रवर्तमान बन जाओ।

गुरु की आज्ञानुसार, श्रुतसागर में निमग्न बन गये। श्रुतसाधना से उन्होंने अदृष्ट कर्म, जीवस्थान, जीव के भेद-प्रभेद, गति-आगति, गुणस्थान की प्रक्रिया, अनेकान्तवाद, सप्तभंगी आदि विषयों का जो अन्य सम्प्रदाय में अलभ्य है, वैसा ज्ञान प्राप्त कर लिया और आत्मा में संवेग वैराग्य की भावना तीव्रतम बनती गई साथ ही उनको यह भी स्पष्ट बोध हो गया कि जैनेतर शास्त्र और सिद्धान्त अपने आप में कितने अपूर्ण है और अपरिपक्व है। कितने ही ऐसे अंश है जो प्रमाण की कसौटी पर प्रामाणिक नहीं है। जैनशास्त्रों और सिद्धान्तों में जो तार्किकता, निर्दोषता, श्रेष्ठता, महत्ता है उनका भी उन्हें स्पष्ट ज्ञान हो गया तथा उन सिद्धान्तों पर अत्यंत अहोभाव अन्तःकरण में प्रगट हुआ; एक दिन उनके मुख से यह उद्गार सहसा निकल पडे, “हा अणाहा कहं हुंता जइ न हुंतो जिणागमो” हमारे जैसे अज्ञानी अनाथों की क्या स्थिति होती जो आज वर्तमान विश्व में जैनागमों का अस्तित्व नहीं होता। परिश्रम, श्रद्धा, निष्ठा, विनय एवं गुरुभक्ति के साथ अध्ययन के फलस्वरूप अल्प समय में ही हरिभद्रमुनि ने जैनागमों में सूक्ष्मतम सिद्धान्तों का रहस्यात्मक, तलस्पर्शी ज्ञान समुपार्जित कर लिया।

आचार्य पदाभिषेक :- इन्होंने जैनागमों का विशिष्ट कोटि का ज्ञान पाण्डित्य प्रदर्शन, जन-मनोरंजन, शास्त्रीय विवाद एवं कीर्तिलाभ के लिए अर्जित नहीं किया परन्तु रत्नत्रयी की आराधना द्वारा अपने जीवन को परिशुद्ध एवं आत्मिक उत्थान के लिए किया था, इसलिए उनका पवित्र यतिजीवन, परिपूर्ण योग्यता, दीर्घदर्शिता, वाङ्मय की पराकाष्ठा को देखकर गुरुदेवने उन्हें जिनशासन के उत्तरदायित्वपूर्ण गच्छनायक महान् आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

पश्चात्ताप के रूप में १४४४ ग्रन्थों की रचना :- एक दिन आचार्य हरिभद्रसूरि के संसारी भगिनी के पुत्र हंस और परमहंस जो रणवीर, शूरवीर साथ ही युद्धकला में भी पारंगत थे फिर भी निमित्तवश संसार से विरक्त बने हुए अपने मामा हरिभद्र के पास आये, उन्होंने आचार्य श्री को कहा- गुरुदेव हम दोनों गृहवास से विरक्त बने है। गुरुदेव ने कहा - “यदि तुम्हें मेरे प्रति श्रद्धा हो तो विधिपूर्वक दीक्षा ले लो।” हंस और परमहंस ने दीक्षा ले ली। दोनो प्रज्ञावंत शिष्यों को आचार्यदेवने जैनागम पढ़ाये। न्यायदर्शन और वैदिकदर्शन का भी अध्ययन करवाया। बौद्ध दर्शन का अध्ययन करते-करते हंस और परमहंस के मन में विचार आया कि बौद्धशास्त्रों का बोध प्राप्त करने हेतु बौद्ध आश्रम में जाकर बौद्धाचार्य के सानिध्य में अध्ययन करें। दोनों ने अपनी इच्छा गुरुदेव के सामने व्यक्त की। गुरुदेव ने शिष्यों की इच्छा जानने के बाद अपने ज्ञान के आलोक में दोनो शिष्यों का भविष्य देखा और उन्होंने कहा-वत्स ! वहाँ बौद्ध मठ में मुझे तुम्हारा भविष्य अच्छा नहीं लगता, इसलिए तुम वहाँ जाने का विचार छोड़ दो। यहाँ दूसरे भी अपने आचार्य है, विद्वान् है, बौद्ध दर्शन के ज्ञाता है, तुम उनके पास अध्ययन कर सकते हो। हंस ने कहा-गुरुदेव हमारी इच्छा तो बौद्ध आचार्य से ही

बौद्धमत का अध्ययन करने की है।

गुरुदेव ने कहा - जो कुलीन शिष्य होता है वह गुरु को छोड़कर निरूपद्रव्य मार्ग पर भी नहीं जाता है, तो फिर जिस मार्ग में उपद्रव हो, उस मार्ग पर कैसे जाया जा सकता है ? मैं तुम्हें बौद्धमठ में जाने की आज्ञा नहीं दे सकता।

हंस ने कहा-गुरुदेव ! हम दोनों पर आपका अति वात्सल्य है, इसलिए आप इस प्रकार कहते हैं। परन्तु गुरुदेव आपका नाम ही मंत्र है, उस मंत्र के प्रभाव से हमारा कुछ भी अहित नहीं होगा। आपकी दिव्य कृपा हमारी रक्षा करेगी। वैसे भी आप हमारी शूरवीरता और युद्ध कौशलता जानते हो समर्थ पुरुषों का दुर्निमित्त क्या बिगाड सकता है। गुरुदेव कृपा करें, और बौद्ध मठ में जाने की अनुज्ञा प्रदान करें।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि उदास हो गये। उन्होंने कहा-वत्स ! तुम्हें हितकारी बात कहना निरर्थक है। तुम्हें जैसा योग्य लगे वैसा करें, “जहा सुखं देवाणुष्पिया।”

हंस और परमहंस ने गुरुदेव की बात नहीं मानी, हितकारी वचनों की उपेक्षा की। उन्होंने वेश-परिवर्तन किया और “सुगतपुर” की ओर प्रस्थान किया। सुगतपुर पर उस समय बौद्ध राजा का शासन था, वहाँ अनेक बौद्धों की विद्यापीठे थी। हंस और परमहंस ने एक विद्यापीठमें प्रवेश लिया, और बौद्ध आचार्य के पास रहकर बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने लगे।

जैनमत के शास्त्रों के प्रति बौद्धाचार्य अल्पबुद्धि से जो-जो दूषण बताते उन सभी दूषणों को अपने आगम प्रमाणों को लेकर सूक्ष्मदृष्टि से तुलना करके उनका त्याग कर और जैन तर्क की कुशलता से बौद्धागम का खंडन करने वाले हेतु वे दूसरे पत्रों पर एकांत में लिख रहे थे उसी समय प्रचंड वायु के वेग से पत्र उड़कर शाला में चले गये। बौद्ध छात्रों ने वे पत्र बौद्धाचार्य को दे दिये। उस पत्र पर अपने तर्क में उदग्र दूषण और जैन संबंधी दूषणों के पक्ष में अजेय ऐसे अकाट्य हेतु देखकर उनके मनमें भ्रम पैदा हुआ और सोचा यहाँ जिनमत का उपासक कोई पढ़ने आया है, वह कौन है, परीक्षा करके उसको जानना होगा, पकड़ना होगा।

एक दिन आचार्य ने कुछ छात्रों को अपने पास बुलाकर कहा - भोजनगृह के द्वार पर जिनप्रतिमा का आलेखन करो और उस प्रतिमा के मस्तक पर पाँव रखकर भोजनगृह में प्रवेश करना, जो मेरी आज्ञा को न स्वीकारें वह मेरे पास अध्ययन करने न आये। बौद्धाचार्य की इस आज्ञा से हंस और परमहंस के मनमें आघात लगा और विचार किया कि यह तो स्पष्ट संकट की घडी है। गुरुदेव की अनिच्छा का कारण अब उनके ख्याल में आया, परन्तु अब तो दो ही मार्ग है या तो जिनेन्द्र के उपर पाँव देकर रौरव नरक में जाना या जैन रूप में प्रकट होकर बौद्धों से मरना, इसके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं है। उन्होंने शीघ्र निश्चित किया कि गुरुदेव का अविनय किया है। अतः फल रूप में मरना श्रेयस्कर है, किन्तु देवाधिदेव के मस्तक पर पाँव रखकर नरक के भयंकर फल को प्राप्त नहीं करना।

नरकफलमिदं न कुर्वहे श्रीजिनपतिमूर्द्धनि पादयोर्निवेश।”

हंस परमहंस को छोड़कर सभी छात्रों ने वैसा किया। उनके हृदय में जैनधर्म के प्रति अपार श्रद्धा थी, उन्होंने उस जिनप्रतिमा के ऊपर खड़ी से जनोई का चिन्ह किया उस पर पैर रखकर चल दिये। कुछ बौद्ध छात्रों ने उनकी यह प्रक्रिया देख ली और आचार्य को कह दिया। आचार्य ने कहा-प्रज्ञावंत पुरुष देव के मस्तक पर पाँव नहीं रखते, इसलिए उन दो छात्रों ने जनोई का चिन्ह किया वह उचित है। वे दोनों परदेशी है, तुम धैर्य रखो, मैं दूसरे प्रकार से परीक्षा लूंगा।

रात्रि के समय में जिस कमरे में हंस, परमहंस दूसरे छात्रों के साथ सोये हुए थे उसके ऊपरी भाग में आचार्य ने मिट्टी के घड़े रखवाये और उन घड़ों को नीचे गिरवाये। घड़े एक के बाद एक फूटने लगे घड़े की खट्-खट आवाज से सभी छात्र जग गये और अपने-अपने इष्टदेव के नाम लेने लगे। हंस परमहंस के मुँह से “**नमो अरिहंताणं**” सहसा निकल गया। अतः बौद्ध गुप्तचरों ने निर्णय लिया कि ये दोनों जैन है। वे दोनों सावधान हो गये, अविलम्ब विद्यापीठ एवं नगर को छोड़कर भागने लगे। आचार्य ने नगर के बौद्ध राजा को सारी बात बता दी और हंस - परमहंस को पकड़कर लाने को कहा। राजा ने सैनिकों को दौड़ाया। उन दोनों ने घुड़स्वार सैनिकों को अपने निकट आते देखा, तब हंस ने परमहंस को कहा-तुम अपने गुरुदेव के पास पहुँच जाना और उनकी आज्ञा का पालन नहीं कर सके उसका “**मिच्छामि दुक्कडम्**” कहना। हंस के इस वाक्य से हमें यह बोध मिलता है कि आज्ञा की महत्ता कितनी है, स्वयं हरिभद्रसूरि ने पंचसूत्र की टीका में कहा है-“**आज्ञा आगम उच्यते।**” “**आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्र**”, जलं द्वेषादिज्वलनस्य। कर्मव्याधि चिकित्साशास्त्रं। कल्पपादपः शिवफलस्थ, तदवन्ध्यसाद्यकत्वेन ॥”

तथा पंचसूत्र के मूल में भी चिरन्तनाचार्य ने आज्ञा का महत्त्व बताया - ‘**आणा हि मोहविस-परममंतो जलं रोसाइजलणस्स कम्मवाहितिगिच्छासत्थं कप्पपायवो सिवफलस्स।**’”

अर्थात् आज्ञा को आगम कहा है तथा आज्ञा मोहविष विनाशक परममंत्र है, द्वेषादि आग को शान्त करने में जल है, कर्म रोगकी चिकित्सा है, मोक्ष फल देने में कल्पवृक्ष है। इसीसे आज्ञा की विराधना से आत्मा में दोषों की वृद्धि होती है। गुण दूर रहते हैं और भवांतर में दुर्गति होती है।

लेकिन हंसने कहा अभी तुम क्षत्रिय राजा “**सूरपाल**” के पास जाना। वह राजा शरणागत की रक्ष करेगा। मैं यहाँ खड़ा रहूँगा। बौद्ध सैनिकों को यहाँ रोकूँगा उनसे युद्ध करूँगा। तू राजा के पास जाना। परमहंस रो पड़ा। हंस के चरणों में प्रणाम कर चल पड़ा, हंस ने बौद्ध राजा के सैनिकों के साथ युद्ध करना शुरु किया। तब तक युद्ध जारी रखना था जब तक परहंस राजा सूरपाल के पास पहुँच न जाय। युद्ध में हंस की मृत्यु हो गई। जैनशासन की वेदी पर अपना बलिदान दे दिया। परमहंस राजा सूरपाल की शरण में पहुँच गया। सूरपाल ने शरण दी। बौद्ध सैनिक भी तब तक सूरपाल के पास आ गये, और बोले परमहंस को हमें सौंप दो। राजा ने कहा - यह मेरा शरणागत है। मैं उसे सौंप नहीं सकता, कुछ भी हो जाए।

बौद्ध सुभटों के बहुत आग्रह करने पर राजा ने परमहंस से परामर्श करके कहा-‘तुम्हारे बौद्धाचार्य और

परमहंस का यहाँ मेरी राजसभा में वाद-विवाद हो । यदि परमहंस हार जाये तो उसको आप ले जा सकते हो अन्यथा वह अपने स्थान पर चला जायेगा ।

बौद्धाचार्य के साथ परमहंस का वाद-विवाद प्रारंभ हुआ । वाद-विवाद बहुत दिन तक चलता रहा । परमहंस को कुछ शंका हुई । उसने जैन धर्म की अधिष्ठात्री अंबिकादेवी का स्मरण किया । अंबिकादेवी ने कहा- हे परमहंस ! परदे के पीछे घड़े में मुँह रखकर, बौद्धमत की अधिष्ठात्री तारादेवी बात कर रही है, इसलिए तू परदा हटाकर प्रतिवादी को कह दे कि वह तेरे सामने आकर वाद करें ।

दूसरे दिन ही परमहंस ने अंबिकादेवी के कथनानुसार बौद्धाचार्य को ललकारा, “यदि तेरे में शक्ति हो तो अब परदा हटाकर मेरे सामने आकर वाद कर”, परन्तु आचार्य मौन रहा । परमहंस ने परदा हटा दिया और लात मारकर उस घड़े को फोड़ दिया । बौद्धाचार्य का तिरस्कार करके कहा-तुम अधम पंडित हो, अब मेरे साथ वाद करो ।

परमहंस ने आचार्य को पराजित कर दिया । राजा सुरपाल ने घोषणा की कि वाद-विवाद में परमहंस की विजय हुई ।

परमहंस निर्भय होकर चित्रकूट पहुँच गया । गुरुदेव के चरणों में वंदना की, घटित वृत्तान्त सुनाया और वह फूट-फूट कर रो पड़ा । रोते-रोते उसने हंस के मृत्यु की बात सुनायी... बात कहते-कहते उसका हृदय रुक गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई ।

हंस, परमहंस हरिभद्रसूरि के प्रिय शिष्य थे । दोनों की इस प्रकार अकाल मृत्यु से वे अति उद्विग्न, दुःखी और संतप्त हुए । बौद्धाचार्य के प्रति उनके मन में प्रचंड रोष पैदा हुआ । बदला लेने की अदम्य इच्छा पैदा हुई । गुरुदेव की आज्ञा लेकर वे सुरपाल राजा के नगर में पहुंचे ।

राजा ने हरिभद्र का स्वागत किया । आचार्य श्री ने राजा को कहा - हे राजेश्वर ! तुमने मेरे शिष्य परमहंस को शरण देकर उसकी रक्षा की, इसलिए मैं तुम्हें लाख-लाख धन्यवाद और धर्मलाभ देता हूँ । तुम शरणागत वत्सल हो । तुमने क्षत्रियकुल की शोभा बढ़ायी है । राजा सुरपाल ने परमहंस की अद्भुत वादशक्ति की प्रशंसा की तब आचार्यश्री की आँखों में आँसू भर आये, उन्होंने कहा - वह मेरा प्रिय शिष्य था उसने बात करते-करते मौत को गले लगा दिया यह कहते हुए आचार्य रो पड़े । राजा सुरपाल भी परमहंस की मृत्यु की बात सुनकर स्तब्ध हो गया और बोला ‘बहुत बुरी बात हुई...’

राजन् ! मैं उन दुष्ट बौद्ध भिक्षुओं से वाद-विवाद करूँगा, पराजित करूँगा और मौत का बदला मौत से लूँगा । राजा ने कहा - गुरुदेव ! वे बौद्ध भिक्षु एक दो या सौ नहीं है, वे शत, सहस्र है । उन पर विजय पाना सरल नहीं है । हाँ, यदि आपके पास कोई दिव्य अजेय शक्ति हो तो सोचे ।

आचार्यश्री ने कहा - राजन् ! जिनशासन की अधिष्ठात्री देवी अंबिका मेरे पर प्रसन्न है तुम निश्चित रहो, मैं अकेला उन हजारों को पराजित कर सकता हूँ । उन्होंने राजा सुरपाल को कहा - राजन् ! उन दुष्ट बौद्ध

भिक्षुओं को यहाँ बुलाकर कहना कि तुम्हें जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के साथ वाद-विवाद करना है। जो हारेगा उसको गरमगरम तेल के कुंड में गिरना होगा।

लिखित वच इदं पणे जितो यःस विशतु तप्तवरिष्टतैलकुण्डे^{१०}

राजा ने बौद्ध आचार्य को बुलाकर सारी बात बता दी। वाद-विवाद निश्चित हो गया। वाद का प्रारंभ हुआ। दूसरी ओर कुंड में गरमगरम तेल भर दिया गया। बाद में आचार्य हरिभद्र ने स्याद्वाद के अभेद्य कवच का आश्रय लेकर अपने सिद्धांतों की रक्षा करते हुए अपने अकाट्य सिद्धान्तों से बौद्ध आचार्य को पराजित किया और बौद्ध सिद्धान्तों को धराशयी कर दिया। हारे हुए बौद्धाचार्य को तेल के कुंड में डाल दिया गया। तत्पश्चात् एक के बाद एक ऐसे पाँच छः बौद्ध भिक्षु हार गये, सभी तेल के कुण्ड में डाल दिये गये। वे सभी मृत्यु की गोद में समा गये।

समगतं च तथैव पञ्चषास्ते निधनमवापुरनेन निर्जिताश्च।^{११}

बौद्ध भिक्षुओं में ऐसी मृत्यु से हाहाकार मच गया। लोग बौद्ध देवी तारा को कठोर वचनों से उपालम्भ देने लगे कि - हे देवी तारा ! भिक्षु कुमरण विधि से मारे जा रहे है। इस समय तू कहाँ गई? तारादेवी ने उन सभी को कहा कि यह नयपथ का पथिक मुनि है। तुम इनके साथ वाद-विवाद मत करो और अपने-अपने स्थान पर चले जाओ। इतना कहकर देवी तिरोहित हो जाती है और देवी के वचनानुसार सभी अपने-अपने देश चले जाते है। दूसरे वृद्ध भी उपशान्त हो जाते है।

इस विषय में अलग-अलग मन्तव्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलते है। प्रभावक चरित्र में इस प्रकार है-

इह किल कथयन्ति केचिदित्थं गुरुतरमन्त्रजाप प्रभावतोऽत्र।

सुगतमतबुधान् विकृष्य तप्ते ननु हरिभद्रविभुर्जुहाव तैले ॥^{१२}

अर्थात् अपने दो शिष्यों की मृत्यु से क्रुद्ध हुए हरिभद्रसूरि ने महामंत्र के प्रभाव से भिक्षुओं को आकर्षित कर आकाशमार्ग से ला-लाकर गरम-गरम तेल के कुण्ड में डाल दिया।

“पुरातन प्रबंध संग्रह”^{१३} नाम के ग्रन्थ में कहा गया है कि बौद्ध भिक्षुओं के प्रति प्रचंड क्रोध पैदा होने पर हरिभद्रसूरि ने उपाश्रय के पीछे गरम-गरम तेल का बहुत बड़ा भाजन तैयार करवाया और मंत्र प्रभाव से बौद्ध भिक्षु आकाशमार्ग में आकर गिरने लगे। ७०० बौद्ध भिक्षु इस प्रकार मर गये।

उधर चित्रकूट में गुरुदेव जिनभद्रसूरि को बौद्ध भिक्षुओं के विनाश की और हरिभद्र के प्रचंड कषाय की बात मालूम हुई, तब उन्होंने उनको शान्त करने के लिए तीन गाथाएँ देकर दो साधुओं को उनके पास भेजे। वे गाथाएँ इस प्रकार है।

गुणसेन - अग्निसम्मा सीहानंदा य तह पिआपुत्ता।

सिहि - जालिणी माइ, सुआ धण धणसिरिमोय पइभज्जा ॥

जय - विजया य सहोअर धरणोलच्छी अ तह पइभज्जा।

सेण विसेणा पित्तिय उता जम्मम्मि सत्तमए ॥

गुणचन्द - वाणमन्तर समराइच्च गिरिसेण पाणो अ ।

एगस्स तओ मोक्खोऽणन्तो अत्रस्स संसारो ॥^{१*}

समरादित्य केवली के नौ भवों का मात्र नाम निर्देश इन तीनों गाथाओं में किया गया है। अंत में कहा है कि एक का मोक्ष हुआ, दूसरा अनन्त संसार में भटकेगा।

गुरुदेव द्वारा प्रेषित उन तीन गाथाओं को पढ़कर वे गहन चिन्तन में डूब गये। उनके मुँह के भावों में परिवर्तन आ गया, जैसे दावाग्नि मुसलाधार वर्षा होने से शांत हो जाती है वैसे ही गुरुदेव की तीन गाथाओं ने उन पर मुसलाधार वर्षा का काम किया। हरिभद्र के तप्त हृदय पर प्रभाव डाला और उनका क्रोध शांत हो गया। क्षण भरमें सभी बौद्धों को प्राणदान देकर विसर्जित कर दिये। और स्वयं गुरु के चरणों में जाकर पश्चाताप के आँसू बहाने तथा प्रायश्चित लेकर अपनी ओर से आत्मशुद्धि के लिए १४४४ ग्रन्थों को रचने की भीष्म प्रतिज्ञा का प्रण लिया, जिसमें सर्व प्रथम रचना उनकी “समराइच्चकहा” प्राकृत में हुई।

अपने शिष्यों के वियोग से संतप्त, संक्षुब्ध बने हुए हरिभद्रसूरि हताशा के गहरे गर्त में डूब गये थे, ऐसी स्थिति में आचार्य श्री को देखकर अम्बिका देवीने उनको सान्त्वना युक्त वचन कहे - हे सूरिवर ! आप तो सम्पूर्ण संसार के त्यागी है तो फिर शिष्यों के वियोग से विचलित क्यों बन रहे हो? कर्म के विपाक के ज्ञाता आप जैसे समर्थ विद्वानों को मेरा तेरा क्यों ?

उस समय आचार्यश्री ने कहा - हे माँ ! मुझे शिष्यों के वियोग का दुःख नहीं सता रहा है लेकिन निर्मल गुरुकुल की समाप्ति के विचारोंसे हृदय टूट गया है। शासन की परम्परा को संभालने वाली समर्थ गुरु परम्परा की एक पेढ़ी भी बढ़ाने में मैं समर्थ नहीं हो सका, विश्व हितैषी जिनशासन की सेवा करने का सौभाग्य टूट जाने के कारण दिल करुण आक्रन्द कर रहा है।

तब हरिभद्र को सम्बोधित करते हुए देवी कहती कि मेरी एक सत्य बात सुन लो कि गुरुकुल वृद्धि का पुण्य तुम्हारे भाग्य में चाहे न हो लेकिन शास्त्र ही तुम्हारे शिष्य बनकर तुम्हारे पीछे सैकड़ों वर्ष तक जिनशासन की सेवा में पुरोगामी बनकर संघ के सहायक बनेंगे, शिष्य संतति के उच्छेद का आर्त्तध्यान छोड़कर शास्त्र संतति के निर्माण में प्रवृत्त हो जाओ इस प्रकार कहकर देवी अदृश्य हो गई। देवी के उत्साहवर्धक वचनों को सुनकर आचार्य श्री ने शोक को तिलाञ्जली देकर शास्त्ररचना प्रारंभ कर दी, और एक ऐसा विलक्षण चमत्कार सर्जित हुआ कि एक दो या सौ नहीं, १४४४ ग्रन्थों की रचना की।

कार्पासिक नामका एक व्यापारी वहाँ आया। वह निर्धन था। आचार्य श्री ने उसको “धूर्त्तारख्यान” सुनाया और श्रद्धालु जैन बनाया। उसने कोई एक व्यापार किया जिसमें पुष्कल धन का लाभ हुआ अतः उसने आचार्य श्री के द्वारा रचित ग्रन्थों को लिखाये और साधु समुदाय में वितरण कराये।

एक ही स्थान पर ८४ बड़े जिनालय बनवाये। और जीर्ण शीर्ण बना हुआ “महनिशीथसूत्र” को

व्यवस्थित कर पुस्तकारूढ करवाया।¹⁴

जिनागमों के उपयोग से अपने आयुष्य का अन्तिम समय जानकर अनशन करके देवलोक प्राप्त हुए।

“प्रभावक चरित्र” में आचार्य हरिभद्रसूरि का चरित्र इस प्रकार वर्णित है।

“आचार्य भद्रेश्वरसूरि द्वारा रचित “कहावलि” में आचार्य हरिभद्रसूरि”

आ. हरिभद्रसूरि पियंगुवई नाम की ब्रह्मपुरी के निवासी थे जब कि अन्य प्राचीन ग्रन्थों में जन्मस्थान के रूप में चित्तौड़ चित्रकूट का उल्लेख मिलता है। ये दोनों निर्देश भिन्न होने पर भी वस्तुतः इसमें खास विरोध जैसा ज्ञात नहीं होता है। “पिवंगुई” ऐसा मूल नाम शुद्ध रूप में उल्लिखित हो या फिर विकृत में प्राप्त हुआ हो यह कहना कठिन है। परन्तु उसके साथ “बंभपुणी” का उल्लेख है वह “ब्रह्मपुरी” का ही विकृत रूप है इस तरह चाहे जो हो, परन्तु ऐसा तो लगता है कि हरिभद्र का जन्म स्थान मूल चित्तौड़ न हो तो भी चित्तौड़ अथवा मध्यमिका में से किसी एक के साथ उसका अधिक सम्बन्ध होना चाहिए। “ब्रह्मपुरी” संकेत यथार्थ हो तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि चित्तौड़ जैसी नगरी का ब्राह्मणों की प्रधानता वाला कोई उपनगर या मुहल्ला भी हो। भीनमाल में आज भी ब्राह्मणों के मुहल्ले को ब्रह्मपुरी कहते हैं। इस प्रकार जन्म-स्थान का विचार करने पर हरिभद्र प्राचीन गुजरात के प्रदेश से बहुत दूर के नहीं हैं।¹⁵

इनके माता पिता के नाम किसी ग्रन्थ में नहीं मिलते हैं मात्र “कहावलि” में है। पिता का नाम शंकरभट्ट और माता का नाम गंगादेवी था।

“संकरो नाम भटो तस्स गंगा नाम भट्टिणी।

तीसे हरिभदो नाम पंडिओ पुत्तो ॥¹⁶

पुरोहित हरिभद्र ने साध्वी याकिनी के मुख से “चक्की दुर्ग” गाथा सुनी। उसी साध्वीजी के साथ अन्य मतानुसार आचार्य जिनदत्तसूरि के पास जाकर उनके मुँह से अर्थ सुना और धर्म सुना। निष्कामवृत्ति वाले को धर्म का फल मोक्ष मिलता है, ऐसा जानकर भव-विरह के लिए उनके पास दीक्षा ली। गुरुदेव ने उनको शास्त्र का अध्ययन करवाया और अपने पट्ट पर स्थापित करके आचार्य पद दिया।

आ. हरिभद्र के जिनभद्र एवं वीरभद्र नामके दो शिष्य हुए, जो सर्वशास्त्रों के वेत्ता थे। चित्तौड़ के बौद्ध वाद-विवाद में पारंगत थे। वे आचार्य श्री के ज्ञान और कला से ईर्ष्या करते थे और इसी कारण उन्होंने उनके दोनों शिष्यों को गुप्त रूप से मरवा डाले।

हरिभद्रसूरिने इस घटना को सुनकर अनशन करने का निश्चय किया, परन्तु दूसरे मुनिवरों ने उनको वैसा करने से रोका, और अन्त में आचार्य हरिभद्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। अपने अनेक ग्रन्थों में उन्होंने भव-विरह शब्द का संकेत किया है, अतः उनका भव-विरह नाम से भी शास्त्रों में उल्लेख मिलता।

एकबार उनके शिष्य जिनभद्र और वीरभद्र के काका लल्लिग दरिद्रता से उद्विग्न बने हुए आचार्य श्री के पास दीक्षा लेने आये, परन्तु आचार्य श्री ने उनको दीक्षा न देकर व्यापार करने का संकेत किया। ऐसा करके

लल्लिग बहुत धनवान् बन गया। इस लल्लिग ने आचार्य श्री के ग्रन्थों की प्रतिकृति करवा कर उसका बहुत प्रचार किया तथा इस लल्लिग ने ही उपाश्रय में एक ऐसा रत्न लाकर रखा जिससे दीपक के समान जाज्वल्यमान प्रकाश होता था। आचार्य श्री उस प्रकाश में रात्रि में भी ग्रन्थ रचना करते थे।

लल्लिग श्रावक जिस समय आचार्य गोचरी करते थे उस समय शंखनाद करके सभी याचकों को एकत्रित कर भोजन करवाते थे। याचक भी आचार्य श्री को नमस्काकर करके “भव विरह हो” का आशीर्वाद लेकर “भव विरहसूरि चिरंजीवोः” ऐसा बोलकर चले जाते थे इससे उनका “भव-विरह” अपर नाम भी है।

भव-विरहसूरि भगवान् महावीर के शासन के अन्तिम श्रुतधर है। आज के विद्वानों में वैसा सामर्थ्य नहीं है कि उनको समझ सके।

“प्रबन्ध कोश” में आचार्य हरिभद्रसूरि की जीवन झलक।

आ. राजशेखरसूरि द्वारा रचित “प्रबन्ध-कोश” में अन्य ग्रन्थों से जो विशेषता है वह यहाँ प्रदर्शित की जा रही है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के शिष्य हंस और परमहंस विशेष बौद्ध ग्रन्थ का अध्ययन करने के लिए बौद्धाचार्य के मठ में गये और वहाँ उनके वेश में अध्ययन करने लगे प्रतिलेखना आदि संस्कारवश उन्हें दयालु के समान जानकर गुरु ने विचार किया कि ये दोनों निश्चित श्वेताम्बर जैन होने चाहिए।

बौद्धाचार्य ने अरिहंत प्रतिमा चित्रित करवा कर उनकी परीक्षा ली, लेकिन उन्होंने मूर्तिपर पैर नहीं रखा यह बौद्धाचार्य ने जान लिया। वे दोनों सावधान हो गये और जठर पीडा का बहाना बनाकर कपालिका लेकर वहाँ से बाहर निकल गये, बहुत समय हो जाने पर भी उनको आये हुए नहीं देखा, तब बौद्धाचार्य ने राजा को कहा- ‘कपट निपुण श्वेताम्बर तत्त्व लेकर चले गये। किसी भी तरह उन कपालिका को लाओ। राजा ने थोडा सैन्य उनके पीछे भेजा, वे दोनों सहस्रयोद्धा थे। अतः उन दोनों ने राज्यसैन्य को हत-प्रहत कर दिया। उद्धत कोई भागकर राजा के समीप जाकर उनके तेज के विषय में रुहा। राजा ने पुनः बड़ा सैन्य भेजा। दृष्टि मिलाप हुआ उन दोनों में से एक युद्ध करता रहा और दूसरा कपालिका लेकर भाग गया। हंस का शिरच्छेद राजा को दिखाया, और राजा ने गुरु को दिया। गुरु ने कहा इससे क्या? कपालिका मंगवाओ। भट वहाँ से गये। रात्रि में जब परमहंस चित्रकूट पहुँचा तब कोट के दरवाजे बंद हो गये थे, अतः वह बाहर सोया हुआ था, भटों ने सोये हुए परमहंस के शिर को काटकर गुरु को अर्पित किया, तब बौद्धों आचार्य को संतोष हुआ।”

प्रातः काल जब आचार्य हरिभद्रसूरि ने शिष्य के कबन्ध को देखा तो क्रोध से तमतमा उठे, और बड़े-बड़े तैल के कडाह करवाये और अग्नि से तैल को तपाया गया। १४४० बौद्धों को तैल में डालने के लिए आकाशमार्ग से आकर्षित किये। गुरुने यह वृत्तान्त जानकर प्रतिबोध के लिए दो साधुओं को तीन गाथाएँ देकर भेजा।

“१४४० बोद्धा होतुं खे आकृष्टा।”

प्रबन्ध-कोशकारने आचार्य हरिभद्र के शिष्य के रूप में सिद्धर्षिगणि का भी उल्लेख किया है। वह इस प्रकार श्रीमालनगर (भीममाल) नगर में कोई धनवान जैन श्रेष्ठि चातुर्मास में परिवार सहित वंदन करने जाते हुए सिद्ध नामके राजपुत्र द्यूतकार युवान को देयनकपद के विषय में निर्दय द्यूतकारों के द्वारा गड्डे में गिराते हुए देखा। कृपा से उसके देय को देकर उसको छुड़ाया, घर ले आये, भोजन करवाया और शादी भी कर दी, लेकिन लेख्य लेख के लेखन की परवशता से वह रात्रि में बहुत देरी से आता था। अत्यंत जागने से सासू और पत्नी अतिशय निर्विण्ण हो गये। पत्नी ने सासु से कहा हे माता ! आपके पुत्र को समझाओ, जिससे रात्रि में शीघ्र घर आये। माता ने कहा 'बेटा रात्रि में जल्दी घर आना।' सिद्ध ने कहा - माता ! जिस स्वामि ने मुझे सर्वस्वदान एवं जीवितव्यदान दिया है उसके आदेश को अन्यथा कैसे कर सकता हूँ। माता चुप हो गई। एक बार सासु और पत्नी विचार करके निश्चय किया कि अब देरी से आये तो दरवाजा नहीं खोलना। दूसरे दिन भी रात्रि में वह बहुत देरी से आया और दरवाजे को खटखटाया, वे दोनों नहीं बोली। उसने क्रोधित होकर कहा- द्वार क्यों नहीं खोलती? पूर्व मन्त्रणा के अनुसार उन दोनों ने कहा- 'जिस स्थान पर द्वार खुले हो वहाँ चले जाओ।' यह सुनकर क्रोधित होकर चतुष्पथ में चला गया। वहाँ खुले द्वार में प्रवेश करते हुए सूरिमन्त्र के जाप में तत्पर आचार्य श्री हरिभद्र को देखा। चान्दनी रात्रि में गुरु ने योग्य जानकर उपदेश दिया। उपदेश से बोधित उसने व्रत स्वीकार किया। विद्यावान् एवं दिव्य कवित्व शक्ति से युक्त उसने हंस और परमहंस के समान विशेष तर्कों को जानने की इच्छा से बौद्धों के पास जाने की जिज्ञासा गुरु के समक्ष प्रगट की और कहा मुझे बौद्धों के पास भेजो। गुरु ने कहा वहाँ जाना योग्य नहीं है। तुम्हारा मन उनके तर्कों से विचलित हो जायेगा। पुनः गुरु जब वे नहीं माने और जाने के लिए तैयार हुए तब कहा-जो तुम्हारा मन परावर्त हो जाए तो हमारा दिया हुआ वेश यहाँ आकर हमे दे देना। उसने स्वीकार किया। वह वहाँ जाकर अध्ययन करने लगा। बौद्धों के सुधारित तर्कों से उसका मन चलित हो गया। बौद्ध दीक्षा ले ली। वेश देने के लिए हरिभद्रसूरि के पास आया। बौद्धाचार्य ने भी कहा उनसे वाद हुए तुम्हारा मन जित लिया जाय, तो वेश देने के लिए यहाँ आना। आचार्यश्री के द्वारा तर्कों से उसे समझाया और स्थिर किया परन्तु वेश देने के लिए बौद्धों के पास गया, पुनः बौद्ध तर्कोंसे मन चलित बना और आ. हरिभद्र के पास वेश देने आया। यह क्रम २१ बार चला। अन्त के २२ वे समय में गुरु ने विचार अब तर्कोंसे इसे नहीं समझाया जा सकता, अब बिचारा मिथ्यात्व के गहन अंधकार में आयुः क्षय करके दीर्घ भव भ्रमण करेगा। अब तो उसे वाद से नहीं सत्य स्वरूप से स्थिर करना होगा। ऐसा विचार करके आचार्य श्री ने "ललित विस्तरा" चैत्यवंदन वृत्ति की सतर्क रचना की। उसके आगमन के समय में पुस्तिका को पादपीठ पर रखकर गुरु बाहर चले गये। उस पुस्तक के परामर्श से उसको सम्यक बोध प्राप्त हुआ। वह प्रसन्नता से झूम उठा और स्थिर मन वाला हो गया, उसके मुख से यह उद्गार निकल पड़े-

नमोऽस्तु हरिभद्राय तस्मै प्रवरसूरये।

मदर्थं निर्मिता येन वृत्तिललित विस्तरा ॥^{२३}

उसके बाद मिथ्यात्व से विमुक्त बने हुए सिद्धर्षिगणि ने १६ हजार श्लोक प्रमाण “उपमितिभव-प्रपञ्च” कथा की रचना श्रीमाल के सिद्धि मण्डप में की। साध्वीजी श्री सरस्वती ने संशोधित किया। उस समय आचार्य श्री हरिभद्रसूरि अनशन कर स्वर्गवासी हुए।

पाडीवालगच्छीय पट्टावली में सिद्धर्षिगणि को आचार्य गर्गाचार्य श्रीमाल के शिष्य रूप में सम्मूलेख किया है।^{२२}

एक बार आचार्य गर्गाचार्य श्रीमाल नगर में आये। वहाँ धनी नाम का श्रेष्ठी जैन श्रावक रहता था, उसके घर सिद्ध नामका राजपुत्र था, उसने गर्गाचार्य के पास संयम स्वीकार किया। अत्यंत तर्क बुद्धि से युक्त वह एक बार कहता है कि इससे भी श्रेष्ठ तर्क है अथवा नहीं। गर्गाचार्य ने कहा बौद्ध मत में है। यह सुनकर वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया। आचार्यश्री ने कहा वहाँ मत जाओ। श्रद्धा से भ्रष्ट हो जाओगे, तो भी यहाँ अवश्य आऊँगा। चला गया। सम्यक्त्व रहित होकर आया। गर्गाचार्य ने समझाया, पुनः गया। इस प्रकार बार-बार गमनागमन करने लगा। तब गर्गाचार्य ने विजयानन्दसूरि परम्परा के शिष्य हरिभद्रसूरि बौद्धमत के प्रकाण्ड ज्ञाता को विनंति की, कि सिद्ध स्थिर नहीं बन रहा है। हरिभद्र ने कहा-कुछ उपाय करूँगा। आचार्य श्री ने उसे समझाने हेतु सतर्क “ललितविस्तरावृत्ति” की रचना की। हरिभद्र ने अपना अन्तिम समय जानकर गर्गाचार्य को ग्रन्थ समर्पित करके स्वयं अनशन करके देवलोक में गये। तत्पश्चात् कुछ समय के बाद वह आया। गर्गाचार्य ने वह वृत्ति उसको दी। उसने उस वृत्ति को पढ़ी और अत्यंत खुश हो गया और बोल उठा-अहो परम विद्वान् है आ. हरिभद्र जिसने मेरे उपकार के लिए यह वृत्ति बनायी। इस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त करके जिनवचन में अपने मन को भावित बनाकर भव्य आत्माओं को बोध देते हुए उग्र तपश्चर्या करते हुए पृथ्वीतल पर विचरने लगे।

ग्रंथ रचना के मतभेद :- आचार्य प्रवर हरिभद्रसूरि ने जैनशासन में अनेकविध उपकार किये हैं, फिर भी सभी में प्रधान स्थान “साहित्य रचना” है उनके द्वारा रचित साहित्यराशि विशेषतः विवेचनीय है। बहुत लोग १४०० ग्रंथ रचना स्वीकार करते हैं। कुछ लोग १४४० और कितनेक १४४४ मानते हैं वह इस प्रकार-

१. श्रीमद् अभयदेवसूरि पञ्चाशक टीका में १४०० प्रकरण बताते हैं।^{२३}
२. श्रीमद् मुनिचंद्रसूरि उपदेश टीका में १४०० प्रकरण बताते हैं।
३. श्रीमद् वादिदेवसूरि स्याद्वाद रत्नाकर में १४०० प्रकरण बताते हैं।
४. श्रीमद् मुनिरत्नसूरिअममस्वामि चरित्र में १४०० प्रकरण बताते हैं।
५. श्रीमद् प्रद्युम्नसूरि समरादित्य संक्षेप प्रशास्ति में १४०० प्रकरण बताते हैं।^{२४}
६. श्रीमद् मुनिदेवसूरि शान्तिनाथचरित्र महाकाव्य में १४०० प्रकरण बताते हैं।^{२५}
७. श्री गुणरत्नसूरिकृत तर्करहस्यदीपिका षड्दर्शन समुच्चय बृहद् टीका में १४०० प्रकरण बताते हैं।
८. श्रीमद् कुलमण्डनसूरि विचारामृत संग्रह में १४०० प्रकरण बताते हैं।
९. द्वितीय मत राजशेखरसूरि प्रबन्ध कोशमें १४४० प्रकरण बताते हैं।^{२६}

तृतीय मत

१. श्री स्तनशेखरसूरि श्राद्धप्रतिक्रमणार्थदीपिकाख्यटीका में १४४४
२. अञ्जलमच्छ पट्टावलि में १४४४
३. श्री विजयलक्ष्मी सूरिरूपदेशप्रासादे तृतीयस्तम्भे १४४४^{२३}

७. समय :- आचार्य हरिभद्रसूरिने अनेकविध ग्रन्थों की रचना की, किन्तु किसी भी ग्रन्थ रचना में समय का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त न होने के कारण उनका समय विद्वानों के बीच भारी चर्चा का विषय बन गया है। हरिभद्रसूरि के समय को निश्चित करने के लिए जितनी सामग्री उपस्थित है इससे यह ज्ञात होता है कि इसमें दो मत प्राचीन है एवं एक मत अर्वाचीन है।

प्रथम मत हरिभद्रसूरि विक्रम सं. ५८५ में स्वर्गवासी हुए इस मत में अनेक प्रमाण उपलब्ध है जिसमें यह गाथा मुख्य है।

पंचसए पणसीए, विक्कमकालओ झत्ति अत्थमिओ।

हरिभद्रसूरिसरो भवियाणं दिसउ कल्लणं ॥^{२८}

यह गाथा वि. सं. १३३० में श्री मेरुतुङ्गसूरि द्वारा रचित “प्रबन्ध-चिन्तामणि” नामक ग्रन्थ में है, जिसके कारण इस मत की प्राचीनता सिद्ध होती है। यद्यपि कुछ ग्रन्थकारों ने वि. सं. ५५५ वर्ष में भी हरिभद्रसूरि के स्वर्गवास का कथन किया है फिर भी विक्रम की छठी शताब्दी तो प्रायः सर्वमान्य है।

मेरुतुङ्गसूरि ने विचारसार प्रकरण में वि. सं. ५८५ का उल्लेख किया है।

(१) पंचसए पणसीए विक्कमकालाउ झत्ति अत्थमिओ।

हरिभद्रसूरि सूरु निव्वुओ, दिसउ सिवसुक्खं ॥^{२९}

(२) प्रद्युम्नसूरि ने विचारसार प्रकरण में ५८५ समय लिखा है।

पंचसए पणतीए, विक्कमभूवाओ झत्ति अत्थमओ।

हरिभद्रसूरि सूरु धम्मरओ देउ मुखसुहं ॥

(३) समयसुंदरगणि गाथासहस्रम् में

पंचसए पणतीस विक्कमकालाउ झत्ति अत्थमओ

हरिद्रसूरि सूरु निव्वुओ दिसउ सिवसोक्खं ॥

(४) कुलमण्डनसूरि विचारमृत संग्रह में

वीरनिर्वाण सहस्रवर्षे पूर्वश्रुतं व्यवच्छिन्नं श्री हरिभद्रसूरयस्तदनु पञ्चपञ्चाशता वर्षे दिवं प्राप्ताः।

(५) हरिभद्रसूरि रचित लघुक्षेत्र समासवृत्ति में

लघुक्षेत्र समासस्य वृत्तिरेषा समासतः रचिताऽबुधबोधार्थ - श्री हरिभद्रसूरिभिः।

पञ्चाशीतिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्ल पञ्चम्याम् शुक्रस्य शुक्रवारे पुष्ये शस्ये भनक्षत्रे ॥^{३०}

जैन परम्परा में यह भी एक वृद्धप्रवाद है और कई ग्रन्थकार ने भी यह बताया है कि हरिभद्रसूरि पूर्व नामके श्रुत का बहुत विच्छेद होने के निकटकाल में ही हुए थे और उस समय तक बचे हुए पूर्व के अंशों का संग्रहकार्य उन्होंने किया था। श्री हरिभद्रसूरि विरचित महान् ग्रन्थराशि को देखने से भी इस कथन की पुष्टि होती है और साथ ही विक्रम के बाद साधिक ५०० वर्ष पश्चात् पूर्वश्रुत का विच्छेद होने से आ. हरिभद्र के उपर्युक्त समय का समर्थन होता है।

आधुनिक विद्वानों का एक मत यह है कि हरिभद्रसूरि का जीवन काल वि.सं. ७५७ से ८२७ के बीच में था।^{३३} जिनविजय ने “जैन साहित्य संशोधक” के पहले अंक में “हरिभद्रसूरि का समय निर्णय” शीर्षक से एक विस्तृत निबन्ध में इस मत को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है इसका सारांश यह है कि हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में व्याकरणवेत्ता भर्तृहरि, बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति और मीमांसक कुमारिल भट्ट आदि अनेक ग्रन्थकारों का नामशः उल्लेख किया है। जैसे अनेकान्त जय पताका के चतुर्थ अधिकार की स्वोपज्ञ टीका में “शब्दार्थतत्त्वविद् भर्तृहरि” तथा पूर्वाचार्य धर्मपाल धर्मकीर्त्यादिभिः इस प्रकार उल्लेख किया है। शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में श्लोक नं. २९६ की स्वोपज्ञ टीका में ‘सूक्ष्मबुद्धिना शान्तरक्षितेन’ तथा श्लोक नं. ८५ में आह च कुमारिलादिः ऐसा कहा है। इन चार आचार्यों का समय इस प्रकार है ई.स. ७ वी शताब्दी में भारत प्रवासी चीन देशीय इत्सिंग ने ७०० श्लोक प्रमाण ‘वाक्यपदीय ग्रन्थ’ की रचना करनेवाले भर्तृहरि की वि.स. ७०७ में मृत्यु होने की बात कही है। कुमारिल का समय वि.स. की ८ वी शताब्दी का उत्तरार्ध बताया जाता है। धर्मकीर्ति का भी नामोल्लेख इत्सिंग ने किया है। इससे जिनविजय ने उसका समय ई.स. ६३५-६५० के बीच मान लिया है। शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में जिस ‘शान्तरक्षित’ का नामोल्लेख है। यदि वह ही तत्त्व संग्रह के रचयिता हो तो उनका समय विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार ई.स. ७०५ से ७६२ के बीच है। यहाँ एक बात पर ध्यान देने योग्य है कि ‘तत्त्वसंग्रह’ के टीकाकार ‘कमलशील’ ने पञ्जिका में तथा चोक्तामाचार्यसूरिपादैः ऐसा कहकर जिस सूरि का उल्लेख किया है उस सूरि को विनयतोष भट्टाचार्य ने तत्त्वसंग्रह के इंगलिश फोरवर्ड में हरिभद्रसूरि ही बताया है, पीटरसन के रिपोर्ट के ‘पञ्चसए’ ऐसा पाठ वाली गाथा के आधार पर उन्होंने हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास वि.स. ५३५ में माना है, किन्तु श्री हरिभद्रसूरि ने ही स्वयं ‘शान्तरक्षित’ का नामोल्लेख किया है इसलिए लगता है कि तत्त्वसंग्रह पञ्जिका में उल्लिखित आचार्य हरिभद्रसूरि न होकर अन्य होंगे।

इन प्राचीन विद्वानों का समय विक्रमीय ८ वी शताब्दी होने से जिनविजय ने श्रीहरिभद्रसूरि को ८ वी शताब्दी के विद्वान् माने है और ८ वी शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेषतः उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ‘कुवलयमाला’ के प्रशस्ति की साक्षी दी है -

‘आयरियवीरभद्रो अहावरो कप्परुक्खोव्व ॥

सो सिद्धन्तेन गुरु जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्रो ।

बहुगंथसत्थवित्थर पत्थारियपयडसव्वत्थो ॥^{३३}

तृतीय मत - जो हर्मन जेकोबी को अभिमत है आचार्य हरिभद्रसूरि “उपमिती भवप्रपञ्च” कार श्री सिद्धर्षि के धर्मबोधगुरु थे, इस बात में उपमिती की यह प्रशस्ति प्रमाण रूप से है।

आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरोगुरु :।

प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः ॥

अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया।

मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥२॥

इन दो पद्य से यह तो स्पष्ट होता है कि इसमें उल्लिखित हरिभद्रसूरि वही व्यक्ति है जिनके समय का विचार किया जा रहा है। किन्तु उपमितिकार का समय ‘उपमिती’ के निम्नोक्त पद्य से वि.की. दशमी शताब्दी सिद्ध होती है।

“संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलङ्घिते चास्याः।

जेष्ठे सिन्धुपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥”

इस श्लोक से यह ज्ञात होता है कि ‘उपमिती’ की समाप्ति वि.स. ९६२ में हुई थी। जेकोबी के मतानुसार यदि श्री हरिभद्रसूरि जी को श्री सिद्धर्षि के साक्षात् गुरु माना जाय तो अत्यन्त प्रामाणिक शक संवत् ६९९ में ‘कुवलयमाला’ की समाप्तिकरनेवाले उद्योतनसूरि द्वारा किया गया श्री हरिभद्रसूरि नामोल्लेख असंगत हो जाता है और ८५८ में श्री हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास के मत का भी विरोध होता है, इसलिए हर्मन जेकोबी के इस तृतीय मत को कोई भी आधुनिक विद्वान् नहीं मानते है। श्री सिद्धर्षि ने अपने गुरु रूप में श्री हरिभद्रसूरि का जो स्मरण किया है वह इसलिए कि उन्हें श्री हरिभद्रसूरि विरचित ‘ललितविस्तरा’ वृत्ति से सद्बोध हुआ था।

निष्कर्ष :- धर्मसंग्रहणी के संपादक इतिहासवेत्ता कल्याणविजयगणि ने धर्मसंग्रहणी की भूमिका में तथा ‘शास्त्रवार्ता समुच्चय’ की भूमिका के कर्ता जयसुंदरविजयजी आदि विद्वानों ने आ. हरिभद्रसूरि के समय की जो चर्चाएँ एवं प्रमाणभूत व्याख्याएँ दी है उनसे ज्ञात होता है कि आचार्य हरिभद्र लिखित ‘क्षेत्रसमासवृत्ति’ का समुल्लेख विशेष सत्य स्पष्ट होता है कि यद्यपि जिनविजयजी द्वारा अंतरंग प्रमाणों से कुमारिल भट्ट वाक्यप्रदीपकार श्री भर्तृहरि एवं बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति के नामोल्लेख पाये जाते है उनसे आचार्य हरिभद्र का समय आठवी शताब्दी तक चला जाता है, परन्तु ये सभी बाते उत्तरकालीन हो जाती है। पूर्वकालीन बात तो यही है कि उनके स्वयं के हाथ से लिखे वार-तिथि-नक्षत्र को मानकर प्रथम स्थान दिया जाय। शास्त्रवार्ता आदि में लिखित ये विद्वान् यदि पूर्वकालीन होते है तो हमे क्या आपत्ति है ? हमारा तो श्रद्धाभूत हरिभद्र द्वारा लिखित स्वयं का समय ही सत्य है। आधुनिक विद्वान् समय पक्ष के विवाद को लेकर काल गणना के कुटिल चक्र में व्यामोहित हो रहे है कुछ भी हो हरिभद्र हो गये है, उनका अस्तित्व उनकी कृतियों में स्पष्ट है, सप्रमाणिक है, उनको समय की अवधियों से संयोजित करने का इतिहास विदों का मार्ग रहा है। मेरा तो यहाँ पर यही मन्तव्य है कि आचार्य हरिभद्र सभी मान्य समय के महापुरुष थे और उनका जीवन अस्तित्व सभी काल में श्रद्धेय रहेगा,

फिर भी इतना तो अवश्य कहूँगी कि यह विषय गवेषणीय अवश्य है।

याकिनी महत्तरा के उपकारों को धर्मपुत्र बनकर ग्रन्थों में चिरस्मरणीय बनाया :- साध्वीबर्था याकिनी महत्तरा धर्म पुत्रवती होकर वाङ्मय वसुधा पर प्रतिष्ठित हुई है। वह एक बाल ब्रह्मचारिणी आर्या थी। प्रसवधर्म से पराङ्मुख थी, तथापि पुत्रवती होने का विधि के विधान को कोई नहीं टाल सकता यह एक सत्य सिद्धान्तमय आचार है, ऐसे उच्च आचारों में पली हुई, निमग्न बनी हुई, धृति से धीमति रही हुई एक धर्मपुत्र को सम्बोधित करती है।

मातृधर्म का मौलिकगुण शिक्षा एवं संस्कार है। उस शिक्षा और संस्कार संकाय से सम्पन्न आचार्य हरिभद्र को जन्म देने वाली धर्ममाता याकिनी महत्तरा बनती है।

अपनी जन्मदायिनी जननी को हरिभद्रसूरि वाङ्मय भूमिका पर अवतारित करने में अजस्र उदासीन रहे पर याकिनी महत्तरा का प्रत्येक ग्रन्थ की प्रशस्ति में ससम्मान उल्लेख करते सदैव स्मृतवान् बने रहे आ. हरिभद्र।

उनके मानस पटल में जिनभद्रसूरि गुरुदेव श्री के रूप में अवश्य थे परन्तु जिस आर्या याकिनी महत्तरा से उपदेश पाया उनका अनहद उपकार वे भूल नहीं पाये, वे स्वयं प्रज्ञावान् थे अतः ज्ञानबल से चिन्तन मनन के पश्चात् उन्होंने निश्चित किया कि आज ये मेरी महोपकारिणी याकिनी महत्तरा के शब्द मेरे कर्णविवर में प्रवेश नहीं होते तो न जाने मेरी क्या स्थिती होती ? मैं कैसे इस अचिन्त्य चिन्तामणि जैनशासन को प्राप्त करता तथा अमूल्य परमार्थ जैनागमों के बोध से बोधित होता यह मेरी उपकारी माँ है। इसने मुझे जैनशासन के गगनमण्डल में धर्मपुत्र बनाने का एक अद्भुत अनूठा कार्य संप्रयोजित किया है, इसके उपकारों से ऋण मुक्त बनना अशक्य है फिर भी मुझे किसी भी तरह इस उपकारी माँ को चिरस्मरणीय तो बनाना ही होगा।

आज दिन तक किसी भी आचार्य ने एक आर्या को इतना महत्त्व देकर युगयुगान्तों तक जीवित नहीं बनाया है, लेकिन हरिभद्रसूरि ने अपने हृदयकमल में उस दीर्घदृष्टा ! समयदर्शिता याकिनी महत्तरा को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने एक आर्या को उच्चस्तर मानकर प्रत्येक ग्रंथ के पहले “याकिनी महत्तरासूनु हरिभद्रसूरि रचित” विशेषण से विभूषित बनाकर उस उपकारी माँ को चिरंजीवी बना दी।

उन्होंने अनेक स्थानों पर यह आलेखन किया है कि जैन धर्म की प्राप्ति के पश्चात् ही मेरा जन्म हुआ है तथा उसमें निमित्त याकिनी महत्तरा को “धर्ममातेयम्” यह मेरी धर्ममाता है, इस प्रकार स्वयं को धर्मपुत्र मानकर अपनी कृतज्ञता कृतार्थ की है।

जैन शासन के एक धुरंधर आचार्य ने एक उपकारी आर्या को अद्यावधि प्रकाशित करके उज्वल यश की भागी बना दी।

आचार्य हरिभद्र ने शिष्यहिता नामावश्यकटीका में स्वयं याकिनीमहत्तरासूनु का उल्लेख किया है।

“समाप्ता चेषं शिष्यहिता नामावश्यकटीका कृति सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधर कुल तिलकाचार्य जिनदत्तस्य शिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्र।”^{३४}

अन्य आचार्यों ने भी अपने शास्त्रों में हरिभद्र को “याकिनी महत्तरासूनु” से समुल्लेख किया है। जैसे कि “याकिनी महत्तरा धर्मपुत्रत्वेन प्रख्यातः आचार्यजिनदत्त शिष्यो जिनभट्टाज्ञावर्ती च विरहाङ्गभूषितललितविस्तरादिग्रन्थ संदर्भ प्रणेता सर्वेषु प्राचीनतमाः।³⁴ कृतिःसिताम्बराचार्य हरिभद्रस्य, धर्मतो याकिनी महत्तरासूनुः।³⁵ उपदेशपद में कहा है-

जाइणिमयहरिआए रइआ ए ए उ धम्मपुत्तेण

हरिभद्दायरिएणं भवविरह इच्छमाणेणं ॥ उपदेशपद ॥³⁶

आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रत्येक ग्रन्थ पर “याकिनी महत्तरासूनु” लिखकर साध्वीवर्या को चिर-चमत्कृत बना दी यही उनकी हृदय की महान विशालता का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

विरल विरक्त हरिभद्र मातृ उपकारों से इतने सश्रद्ध बन जाते हैं कि उन्होंने अपने भवविरहाङ्कित जीवन में एक पुत्रत्व के आदर्श को साहित्य संस्कृति समाज के प्रांगण में प्रतिष्ठित करने का पूज्य भाव प्रदर्शित कर स्वयं सदा-सदा के लिए श्रेष्ठतम आचार्य सम्पूज्य हो गये। माँ सदैव संस्कृति के चत्वर पर सम्पूज्य रही। इस अखण्ड सत्य को अपनी वाङ्मयी वाणी में विशिष्टतर बनाने का क्रम आचार्य हरिभद्र ने विश्व के समक्ष श्रुतरूप से विश्रुत किया।

याकिनी-महत्तरा अजन्मदायिनी जननी बनी। जननी बनाने का श्रेय सिद्धहस्त आचार्य हरिभद्र का हृदय था। याकिनी महत्तरा का मानस साहित्यधरा पर मुखरित होता हुआ उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि माता प्रशंसनीय परम्परा की आकांक्षावाली तो होती है पर स्वयं स्वात्मयश प्रसारित करने में प्रायः प्रशान्त रहती है।

प्रशंसा की प्रियता से सदैव विरक्त बनी हुई याकिनी महत्तरा आचार्य हरिभद्र जैसे मनस्वी के मानस की मूर्ति बन गई।

अ) कृतित्व में व्यक्तित्व :- आचार्य हरिभद्रसूरि का जीवन विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में विश्व में विश्रुत है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी कृतियों में प्रकाशित है उनकी कृतियों के आधार पर उनकी परोपकारपरायणता, नम्रता, निरभिमानिता, दार्शनिकता, समन्वयवादिता, उदारता, भवविरहता आदि गुणों से युक्त व्यक्तित्व विकसित रहा है।

आ) परोपकारपरायणता :- आचार्य हरिभद्रसूरि को मात्र स्वयं का उत्थान एवं कल्याण अभीष्ट नहीं था। वे जीवमात्र का कल्याण करना चाहते थे, उनके अन्तःकरण में अनंत संसारी जीवों को पाप, अज्ञान, महामोह, दुखों से मुक्त करने की प्रबल इच्छा तरंगित हो रही थी जो उनके कृतित्व में ज्योर्तिमान् हो रही है।

परोपकार परायण होकर उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विशाल रूप दिया और कृतित्व को सर्वहित सिद्ध किया। धर्मसंग्रहणि में आचार्य श्री ने एक ऐसी गाथा प्रस्तुत की जो उनके जीवन का परोपकारमय स्वरूप परिचित करवाती है।

सपरूवगार ए जिणवयणं गुरुवदेसतोणाउं।

वोच्छामि समासेनं पयडत्थं धम्मसंगहणिं ॥^{३८}

इसी प्रकार “शास्त्रवार्ता समुच्चय” में भी सभी के हित को साधने में शास्त्र प्रयोजन की परोपकारिता प्रगट की है। विशेषकर मन्दमतिवालों के लिए जो महान् बनेगी।

प्रणम्य परमात्मानं, वक्ष्यामि हितकाम्यया।

सत्वानामल्पबुद्धीनां शास्त्रवार्ता समुच्चय ॥^{३९}

आ. हरिभद्रसूरि ने नान्दीहरिभद्रीयवृत्ति में परोपकार ही आत्मोपकार है “परोपकारपूर्वक एवात्मोपकार इति विशेषतस्तत्र”।^{४०}

ब) नम्रता-शिष्टाचारिता :- प्रत्येक रचना में इन्होंने अपने को परमात्मा के चरणों में समर्पित बनाकर ही नमस्कार पूर्वक ग्रन्थ का शुभारम्भ किया है, नमस्कार में हमेशा नम्रता होती है और नम्रता में सफलता उदित बनती है अतः ग्रन्थ के आदि में परम श्रद्धेय योगीनाथ महावीर परमात्मा को सन्मार्ग दर्शक गुरुओं को प्रणाम करके सविनयता के साथ शिष्टाचार का पालन किया है। योगदृष्टि समुच्चय के प्रथम श्लोक में उनकी नम्रता नमित्त बन रही है।

नत्वेच्छायोगतोऽयोगं, योगिगम्यं जिनोत्तमम्।

वीरं वक्ष्ये समासेन योगं तद् दृष्टि भेदतः ॥^{४१}

स) निरभिमानिता :- ग्रन्थ रचना में उन्होंने अपना बड़प्पन अथवा मतिकौशल का अभिमान कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया, हमेशा पूर्वाचार्यों गुरु उपदेशों तथा आगमों को अपने नेत्र के समक्ष रखकर ग्रन्थ रचना की, यही बात उनके योगशतक के प्रथम श्लोक से ज्ञात होती है।

नमिरुण जोगिणाहं, सुजोगसंदंसंगं महावीरं।

वोच्छामि जोगलेसं, जोगज्झयणाणुसारेणं ॥^{४२}

कहीं कहीं तो इन्होंने अपने अहंभाव का इतना त्याग कर दिया कि यह मैं नहीं कहता लेकिन योगविद् तत्वविद् मनीषी कहते है यह बात हमें “सर्वज्ञ सिद्धि के श्लोक से ज्ञात होती है।

अस्माच्च दूरे कल्याणं, सुलभा दुःखसम्पदः।

नाज्ञानतो रिपुः कश्चिदत एवोदितं बुधैः ॥^{४३}

इस प्रकार सर्वज्ञो को नहीं स्वीकारने रूप महामोह से कल्याण दूर जाता है और दुःख की सम्पत्तियाँ अनिच्छा से भी आ जाती है अतः प्रज्ञावान् पण्डितों ने कहा है कि अज्ञान रूप महामोह से दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

(द) निरर्कषायिता :- आचार्यश्री की लेखनी और कथनी इहलौकिक मर्यादाओं में रहकर पारलौकिक पारदर्शी रही है। विषय विसंगत क्षणों में संक्षोभरहित जीवन जीने का अचूक उपाय “समराइच्च कहा” में दर्शित कर अपनी ज्ञान समन्वयता का स्वरूप स्पष्टकर के निरर्कषाय, संबोधमय जीवन जीने का आह्वान किया है।

दार्शनिकता :- अज्ञानी जीवों के ज्ञानचक्षु को विकस्वर बनाने हेतु 'षड्दर्शन समुच्चय', 'अनेकान्तवाद प्रवेश' आदि कतिपय लघुग्रंथों की रचना की जिससे अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का समीचीन बोध हो सके और तुलनात्मक दृष्टि से सभी दर्शनों का अध्ययन कर जैनदर्शन की विशिष्टता और श्रेष्ठता को जान सके। इस प्रकार अन्यान्य दार्शनिक मत-मतान्तरों में महत्त्वपूर्ण भूमिका रचने में स्वयं एक ऐसे दार्शनिक बनकर उपस्थित होते हैं जिनकी दार्शनिकता का समादर प्रत्येक समय ने किया है और करेगा।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय', 'धर्मसंग्रहणी', 'अनेकान्तजय पताका', ललितविस्तरा आदि विस्तृत ग्रंथों में इन्होंने कर्मवाद, आत्मवाद, परमात्मवाद, सर्वज्ञवाद, ज्ञानवाद आदि को निष्पक्ष होकर समीक्षात्मक प्रमाणोंसे समुल्लेखित किया है, जिससे प्रत्येक प्राणी कुमारग से निवृत्त बनकर सन्मार्गागामी होकर वास्तविक आत्महित साधना कर सके, जिसका प्रचलित उदाहरण शास्त्रों में संबद्ध है 'ललितविस्तरावृत्ति' को आत्मसात् करके सिद्धर्षिगणि ने बौद्ध धर्म का त्याग करके जैनधर्म को स्वीकार कर लिया तथा उनके मुख से "उपमिती-भवप्रपञ्च" में ये उद्गार निकल पड़े।

अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दन संश्रय।

मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥

तर्क परिक्षण :- आचार्यश्री को इस बात का सदैव ध्यान रहता था कि जो बात कही जाय वह सुपरीक्षित हो, किसी सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण और अपने सिद्धान्त को निर्दोष बताने का एक सर्वमान्य परीक्षात्मक आधार होना चाहिए। इस दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने "धर्मबिन्दु" नामक ग्रन्थ की रचना कर यह बताने का सुन्दर सुप्रयास किया कि जैसे कष, छेद और ताप इन तीनों प्रकारों से सुवर्ण की परीक्षा होती है, उसी प्रकार समीचीन तर्कों के आधार पर निष्पक्ष भाव से स्थापना, प्रतिस्थापना और इन दोनों की समीक्षा द्वारा निष्कर्ष प्राप्ति की प्रणाली से शास्त्रविषयों की भी परीक्षा की जानी चाहिए तथा इस प्रकार की परीक्षा से विशुद्ध होने वाले पक्ष को सिद्धान्त का रूप देना चाहिए। धर्मबिन्दु में कहा कि-

"विधि प्रतिषेधौ कषः। तत्सम्भवपालनाचेष्टोक्तिच्छेदः।

उभय निबन्धनभाववादस्तापः।"^{१४}

सश्रद्धेयता :- इनके कृतित्व में सश्रद्धा का भी मूर्तिमान दर्शन हो रहा है। उनका कथन है कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो शुष्कतर्कों एवं इन्द्रियों के सन्निकर्षों से परे हैं, उनका अवबोध मात्र आगमभाव एवं श्रद्धा के स्तम्भ पर ही स्थित है, ऐसा "योगदृष्टि समुच्चय" में आचार्यश्री ने आलेखित किया है।

गोचरस्त्वागमस्यैव ततस्तदुपलब्धितः।

चन्द्रसूर्योपरागादि संवाद्यागमदर्शनात् ॥"^{१५}

अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध आगममात्र का ही विषय है। क्योंकि आगम वचनों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों की उपलब्धि होती है। जैसे कि लोक में भी सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण कौनसी तिथि, समय तथा कितना समय

चलेगा इत्यादि ज्योतिष विषय के प्रज्ञावान् लौकिक आप्त पुरुषों के वचनरूप आगमों से अबाधित रूप में कहे जाते हैं, उसे भी सत्यरूप में स्वीकारा जाता है तो तीर्थंकर देवका आगम वचन अबाधित सत्य साबित कैसे न हो। अतः आगमवचन से ही अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं, शुष्क तर्कों से नहीं। इस विषय में उन्होंने आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सूरि का भी अनुसरण किया है कि श्रद्धागम्य अतीन्द्रिय पदार्थों को तर्क के तराजू पर तोलने का प्रयास समुचित नहीं है, क्योंकि उन शुष्कतर्कों में पदार्थों का भार सहन करने की क्षमता नहीं होती है। इस संबंध में भर्तृहरि के कथन को भी उन्होंने “योगदृष्टि समुच्चय” में दोहराया है कि श्रद्धागम्य अतीन्द्रिय पदार्थ यदि तर्क की सीमाओं में बंध जाते तो तर्कवादियों ने अब तक उनके विषय में अन्तिम निष्कर्ष का शंखनाद बजा दिया होता।

इस बात को प्रमाणनयतत्वालोक में वादिदेवसूरिजी ने कही है।

“आप्त रचनादार्विभूतमर्थ संवेदनमागम।”^{४६}

अतः शुष्क तर्कों में भ्रमित न बनकर मुमुक्षु आत्माएँ अतीन्द्रिय पदार्थों को श्रद्धागम्य स्वीकार करे, इसमें ही उन्नयन है।

उदारता :- उन्होंने अपने ग्रन्थों में परदर्शनकारों को भी महामति, धीधन, महर्षि आदि सम्मानित शब्दों से संबोधित किये हैं एवं अन्यदर्शनकारों के मन्तव्यों को भी माननीय मानकर समुल्लेखित किये हैं तथा अन्यदर्शनकार बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग रचित “न्यायप्रवेशक सूत्रम्” ग्रन्थ पर “न्यायप्रवेशवृत्ति” भी लिखी है। यह उनकी विशाल उदारता को व्यक्त करती है।

आचारसंहिता :- आचार्यश्री की लेखनी दार्शनिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं रही अपितु जनता को निष्कलंकित जीवन व्यतित करने तथा सच्चरित्र का श्रद्धापूर्वक पालन करने, शिक्षा प्रदान करने हेतु भगवद् उपदिष्ट आचारों का संकलन कर “पंचवस्तुक, दशवैकालिक, यतिदिनचर्या जैसे यतिशास्त्र तथा पञ्चाशक, श्रावकप्रज्ञप्ति जैसे श्रावकाचार शास्त्र की रचना में क्रियान्वित हुई। स्वयं श्रमण संस्कृति के आचारों में प्रयोगवान् बनकर जगत के सामने आचार संहिता अनूठी प्रस्तुत की इसमें ही इनकी आचार निष्ठता मुखरित हो रही है।

आध्यात्मिकता :- आचार्यश्री की लेखनी आचार संहिता से परे एक अलौकिक अदृश्य तत्त्व की प्राप्ति के लिए अविश्रान्त रूप से चली जिसके बिना मनुष्य का न तो तत्त्वदर्शन ही पूरा हो पाता है और न चरित्र ही मोक्षात्मक लक्ष्य के साधना में सफल हो पाता है, वह विषय है “ध्यानसाधना।” इस विषय पर भी कई ग्रंथ लिखे जैसे ध्यानशतकटीका, योगशतक, योगविंशिका, योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, ब्रह्मप्रकरण आदि निश्चय ही ये ग्रन्थ मोक्षमार्ग के पथिक साधक के लिए महान् संबल हैं, ‘ध्यानशतक’ में उनकी आध्यात्मिकता आलोकित होती है।

जं धिर मज्जवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं।

तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चित्ता ॥^{४७}

जिससे अध्यवसाय स्थिर रहते हैं वह ध्यान है एवं जो चंचल मन है वह चित्त है। वह चित्त भावना अनुपेक्षा और चिंता स्वरूप है।

इस प्रकार उनकी प्रत्येक रचना में उनका व्यक्तित्व चमकता है।

योगप्रियता :- स्वयं को सम्पूर्ण विरक्ति में स्थित रखते हुए विद्या विलक्षणता को योग प्रियता से समन्वित बनाते हैं, अभावों को उच्चरित करते आत्म अस्तित्व में अपनी योग-प्रियता की ध्वनि को झंकृत करते प्रयत्नवान् बनते हैं।

हरिभद्र अपनी आत्म कथा व्यथापूर्ण बनाते अंतरङ्ग प्रज्ञा को पुरस्कृत करते हुए कहते हैं कि योग के अभ्यासमय गुरु उपदेश का मुझे असह्य अभाव मिला साथ ही मेरी स्वयं की उदारता सुगाह्य नहीं रही अपितु संकीर्ण रही अतः गुरु के उपदेश से वंचित रहा, फिर भी योगप्रियता के वशीभूत बना हुआ योगाभ्यास के लिए मेरा यह “योगबिन्दु” एक प्रयत्न है। हरिभद्रसूरि कृत योगबिन्दु की टीका में योगाभ्यास के प्रयत्न को प्रस्तुत करते हैं।

गुरूपदेशो नच तादृगस्ति मतिर्न वा काचिदुदाररूपा।

तथापि योगप्रियता वशेन यत्नस्तदभ्यास कृते ममायम् ॥^{४८}

इनकी कृतियों में प्रायः भव विरह शब्द भी मिलता है जो उनके व्यक्तित्व में निखार प्रकट करता है। वस्तुतः आज भी इनकी कृतियाँ इनके व्यक्तित्व की परिचायक बनी हुई हैं।

दार्शनिक दृष्टिकोण :- आचार्य प्रवरश्री हरिभद्रसूरि के द्वारा रचित रचनाओं में प्राञ्जल रूप में दार्शनिक दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है। उस समय दार्शनिक जगत में एक दयनीय कोलाहल तुमुल रूप में ताण्डव नृत्य कर रहा था। बड़े-बड़े दिग्गज दार्शनिक दिङ्नाथ, नागार्जुन, आचार्यशंकर, मीमांसक, कणाद, अक्षपाद आदि के मत मतान्तर प्रसिद्ध थे। ऐसे समय में आचार्यश्री दार्शनिक दृष्टिकोण में स्याद्वाद का दुन्दुभिनाद लेकर तत्कालिन दार्शनिकों के सामने निर्विरोध समवतरित हुए तथा स्याद्वाद का बोध व्यक्तियों को आदरपूर्वक देने का सुप्रयास जारी रखा। विरोधियों को भी विवेक देने का एक विश्वस्त विद्या योग साधा। विरोधियों के साथ वैमनस्य का त्याग करके सौहार्दता एवं सामञ्जस्यता की भावना जागृत करते हुए प्रामाणिक सिद्धान्त के रहस्य उनके सामने प्रदर्शित किये। जैसे कि आत्मवाद, परलोकवाद, कर्मवाद, सर्वज्ञवाद, स्याद्वाद आदि।

आत्मवाद :- आत्मवाद के विषय में अनेक दर्शनों ने अपने-अपने मतों को प्रस्तुत किया जैसे कि चार्वाक दर्शन ने चार भूतों से उत्पन्न शरीर स्वरूप ही आत्मा को स्वीकारा है। धर्मसंग्रहणी के समर्थ टीकाकार आ. मलयगिरीसूरिजी ने इस बात को टीका में स्पष्ट की है जैसे कि “स्यादेतत्पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूत समुदयजन्यं चैतन्यं।”^{४९}

बौद्धों ने क्लेशयुक्त नित्य मन को आत्मा कहा है उससे भिन्न आत्मा नहीं। इसका निर्देश शास्त्रवार्ता समुच्चय में दिया है।

अत्रापि वर्णयन्त्येके सौगताः कृतबुद्धयः ।

क्लिष्टं मनोऽस्ति यन्नित्यंतद् यथोक्तात्मलक्षणम् ॥^{६०}

जैनदर्शन के दार्शनिक ने स्याद्वाद को लेकर 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया है ।

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।

संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणा ॥^{६१}

जो ज्ञानावरण आदि विविध कर्मों को करता है तथा उन कर्मों का फलभोग करता है एवं अपने कर्मों के अनुसार नरक आदि गतियों में गमन करता है और अपने कर्मों को ज्ञानदर्शन चारित्र्य द्वारा नष्ट करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है निश्चित रूप से वही आत्मा है जो ऐसा न होकर अन्य प्रकार का हो तो वह आत्मा नहीं हो सकता ।

जैसे वेदान्तियों और सांख्य का कूटस्थ, नैयायिक, वैशेषिक का विभु या अनात्मवादियों का देह, प्राण, मन आदि किसी अनित्य पदार्थों को आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें कार्य कारणभाव, बन्ध, मोक्ष आदि सुघटित नहीं होते हैं । अतः स्याद्वाद रूप से आत्मा को नित्यानित्य माना गया है ।

परलोक सिद्धि :- अनादि निधन आत्मा का विषय बहुत ही विपुल एवं गहन रहा है । हमारे मान्यवर मनीषी हरिभद्र ने आत्मा को परलोक की सिद्धि में इहलोक की प्रसिद्धि में प्रमाणभूत माना है ।

जन्मजन्मांतरीय संस्कारों से सुसज्जित यह आत्मा पारलौकिक परमार्थ को प्रतिपादित करता प्रयोगवान् देखा जाता है । अदृश्य रहता हुआ भी दार्शनिकों के मति मन्थनों से यह विषय अनेक प्रकार से मुखरित हुआ है, मान्यतावाला बना है । आचार्य हरिभद्र अनेक मान्यताओं का मनन करते हुए, अनुशीलन बढ़ाते हुए निःशङ्क भाव से निर्दोष स्वभाव से आत्मवाद में परलोकवाद का उज्वल अध्यवसाय उपस्थित कर गये । जैसे कि धर्मसंग्रहणी में -

जीवो अणदिणिहणोऽमुत्तो परिणामी जाणओ कत्ता ।

मिच्छत्तादिकतस्स य नियकम्मफलस्स भोत्ता ॥^{६२}

जीव अनादि निधन है, अमूर्त है, परिणामी है, ज्ञाता है, कर्ता है और मिथ्यात्व आदि किये गये कर्मों का भोक्ता है । परलोक की सिद्धि में जन्ममरण के रहस्य को तात्त्विकता से तोलते हुए आ. हरिभद्रने शास्त्रवार्ता समुच्चय में एक सुन्दर निर्देशन दिया है-

पुनर्जन्म पुनर्मृत्युहीनादिस्थानसंश्रय ।

पुनः पुनश्च यदतः सुखमत्र न विद्यते ॥^{६३}

आत्मवाद परलोकवाद से सर्वथा संयुक्त है । जहाँ पर न संशय वाद है, न संदिग्धवाद है, न अनिर्णयकवाद है, क्योंकि समस्त दार्शनिक विचारधाराओं से सुमेल को बढ़ाता, सापेक्षवाद को साकार करता, पारलौकिक परमार्थ को प्रस्तुत करता है । जैन दर्शन का परलोक सम्बन्धी आविष्कार आज भी महत्त्वपूर्ण है ।

मृत्युलोक के महत्त्वपूर्ण विचारित प्रकरणों के अन्त में परलोक के पारदर्शित्व को प्रकाशित करने में आ. हरिभद्र कुशाग्र मेधावी रहे हैं। परलोक की सिद्धि में शास्त्रों की समाश्रयता लेकर स्वयं के चिन्तन गांभीर्य को गूढतम रूप से गवेषित कर साहित्य के प्रांगण में प्रसारित किये हैं। यद्यपि पारलौकिक परोक्ष है फिर भी परोक्ष को समक्ष संप्रस्तुत करने में अपनी महाप्रज्ञा का परिश्रम धर्म संग्रहणी में पुरोगामी है।

संतस्स णत्थिणासो एगंतेण ण यावि उप्पातो।

अत्थि असंतस्स तओ एसो परलोगगामिब्ब ॥^{५४}

सत् वस्तु एकान्त से नाश नहीं होती है और एकान्त रूप में असत् की उत्पत्ति नहीं होती है अतः परलोक (देवादिक की अपेक्षा से) सिद्ध है।

परलोक के विषय में भी दार्शनिक धाराएँ भिन्न भिन्न रही हैं परन्तु भिन्नता में भी निर्भयता से परलोक सिद्धि का स्वरूप निष्पादन करने में आ. हरिभद्र नितान्त निपुण रहे हैं। “योगशतक” में परलोक सिद्धि का स्वरूप समुल्लिखित किया है।

जह खलु दिवसब्भत्थं, रातीए सुविणयम्मि पेच्छंति।

तह ईह जम्मऽब्भत्थं सेवंति भवंतरे जीवा ॥^{५५}

आचार्यश्री इस गाथा के द्वारा कहते हैं कि दृढ संस्कार भवान्तर में भी सहचारी बनकर सहज स्वाभाविक विकास को प्राप्त होते हैं इससे यह भी निश्चित होता है कि परलोक सिद्ध है जो अन्य दर्शन नहीं मानते, जैसे- चार्वाक जीव को परलोकगामी नहीं मानता है।

चित्तो भूय सहावो एताओ चैव लाभहरणादी।

सिद्धति णत्थि जीवो तम्हा परलोगगामी तु ॥^{५६}

इस पक्ष का निरास भी इसके द्वारा शक्य है जिस प्रकार दिन में किया गया अभ्यास रात्रि में स्वप्न में भी देखता है उसी प्रकार इस भव में अभ्यस्त योगदशा भवान्तर में पुनः प्राप्त होती है।

इस प्रकार परलोक सिद्धि विषयक प्रमाणों को प्रस्तुत किया। आचार्य हरिभद्र ने इहलोक जीवनी को दर्शनमय बनाने का दार्शनिक दृष्टिकोण दिया। तुम्हारा इस भव का जीवन एक महान् आत्मप्रकाशक बनकर दिव्य गुणों से दीप्तिमान रहता हुआ पारलौकिक परमार्थ पर चलने के लिए सदा कटिबद्ध बन सकता है। यदि दार्शनिकता रोम-रोम में रंजित बन जाय तो चित्त के चेतना तत्त्व में चिन्मय भावों को प्रसारित करता इहलौकिक जीवन की कर्मभूमि को ज्ञान संपन्न बना सकता है। सारी विषमताओं से विपन्नताओं से एवं विसंगतिओं से मुक्त रहने की शिक्षा दार्शनिकता ने दी है। दार्शनिकता एक ऐसी आत्मकला है जो कभी विकल नहीं बनती परन्तु प्रत्येक पल में सफल बनती है। स्वयं के सर्वस्व भावों से विभोर रखती एक अनूठे व्यक्तित्व को संसिद्ध करती सर्वत्र स्वयं को आत्मनिर्भर, स्वाधीन, स्वतंत्र आत्मशासनानुबद्ध रखती है।

हरिभद्र एक कर्मठ, कर्मवेत्ता होने के साथ वैदिक एवं अन्यदर्शनकारों की मान्यताओं को मानकर ईश्वर

विषयक दृष्टिकोण को भी दर्शित किया है।

वैदिक संस्कृति में ईश्वरवाद को सर्वोपरि मान्यता दी है। जबकी बौद्ध संस्कृति ने ईश्वरवाद पर अपना स्पष्ट दृष्टिकोण दर्शित नहीं किया। कही-कही पर ईश्वरवाद की विचारणा अवश्य की है। जैन साहित्य ईश्वर को कर्ता रूप में नहीं मानता परंतु सर्वज्ञता स्वरूप देने में सदैव श्रद्धावान् रहा है। महर्षि पतञ्जलि के साथ प्रीतिबद्ध विचार रखते हुए ईश्वरवाद विषयक एकता है। क्लेशकर्म विपाकाशयैः अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वरः।^{१०}

इसी प्रकार जैन दर्शन ईश्वर विषयक मान्यता ऐसी ही रखता है क्लेश कर्मों के विपाकों से विमुक्त विशेष व्यक्तित्व सम्पन्न ईश्वर है वही सर्वज्ञ है।

पूर्व मीमांसा के कुमारिलभट्ट जैसे विद्वान् अनादि संसार के विषय में जैनमत के साथ है परन्तु सर्वज्ञवाद के विषय में पृथक् पड़ जाते हैं। क्योंकि उनका पार्थक्य चित्रण एक अद्भूत है जो पूर्व मीमांसा में कुमारिल भट्ट जैसे विद्वानों ने दर्शित किया है वहाँ पर आचार्य हरिभद्र जैसे अनुभवी आदर्श विद्यावान् व्यक्ति ने सर्वज्ञता की सिद्धी करने में सबलतर श्रेष्ठज्ञान का सदुपयोग कर जिनेश्वर के प्रति अपनी आत्म श्रद्धा को परम पुनीत बनाया है यही दर्शनवाद की दिव्यकथा अन्य मत मतान्तरो से मथित मर्दित होती हुई मूल्यवती रही है जिसमें आचार्य हरिभद्र एक उदाहरणीय अभ्यर्थनीय आचार्यवर है।

इसी प्रकार जीव-विषयक, ज्ञानविषयक, स्याद्वाद विषयक इनका दृष्टिकोण दार्शनिकता के रूप से प्रशंसनीय रहा है।

इन सभी विषयों को लेकर इनकी काफी विचारधाराएं चली है तथा सत् सम्बन्धी चर्चाएँ भी सुंदर की है।

एकान्त का समादर अनेकान्त की स्वीकृति :- एकान्त अनवरत अकेला पड़ जाता है। क्योंकि उसका स्वयं का दृष्टिकोण सीमित, संकीर्ण ओर स्वयं में परिवेष्टित रहता है, अतः वह सर्वमान्य होने में सफल नहीं होता है। आचार्य हरिभद्र का एकान्तवाद के प्रति नितांत निर्विरोध रहा है फिर भी अनेकान्तवाद ने अपने आपको अच्युत अडिग रखा है। एकान्त के प्रति आक्रोश नहीं किया, परन्तु अनेकान्त के अंगों में एकान्त को भी प्रतिष्ठित कर उसका भी स्वागत किया।

आचार्यश्री ने शास्त्रवार्ता समुच्चय, धर्मसंग्रहणी, षड्दर्शन समुच्चय, योगबिन्दु आदि ग्रन्थों में अनेक विषयों को लेकर प्रचलित दर्शनों के तत्त्वसिद्धान्तों को प्रकाशित करने हेतु जैन सिद्धान्त के सिवाय जैनतर दर्शनों के पक्ष को संकलित करके विस्तार से उसका प्रतिपादन कर समर्थ तर्कों द्वारा निष्पक्षभाव से उनकी समीक्षा की है।

अनेकान्तवाद सभी के मध्य में रहकर भी अपने आप में अद्भूत अद्वितीय है, क्योंकि इसमें सभी दर्शनों को अपने में समाविष्ट करने की अपूर्व शक्ति रही हुई है। आचार्यश्री ने किसी भी दर्शन पर आक्षेप नहीं किया तथा आतंकवाद से आविष्कृत नहीं बनाया। जबकि समादर देकर अपने ग्रन्थों में स्थान दिया अतः उनकी समदर्शिता

श्लाघ्या बनी।

समदृष्टि को आजीवन लेकर सर्वज्ञ प्रणीत प्रज्ञान को पुरस्कृत रखा और दूसरों को भी सर्वज्ञ विज्ञानसे परिचित बनाने का सक्रियात्मक प्रयोग प्रयोजित कर पुरातनता में आल्हादमयी अभिनवता लाने का अनेकान्तमय भाव प्रस्तुत किया और अपने अभीष्ट अधिकृत ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अन्यान्य मतावलम्बियों के विचारों का विधिवत् उल्लेख करके अपनी उदारता प्रगट की, और निरामय भाव से अनेकान्तवाद की विशालता को वाङ्मय में व्यवस्थित किया। सिद्धान्तों की व्यवस्था में अपनी आत्मविशेषता, विद्वत्ता का और साथ में आत्म व्यक्तित्व का अविचल दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हुए स्याद्वाद सिद्धान्त के समन्वित, सन्तुलित सूरिवर के रूप में अपने चरित्र को अवतरित किया।

अपने सिद्धान्त के विरुद्ध पक्ष को समर्थन देना अर्थात् उसके पक्ष को समादर देना है यह उनकी महत्ता एवं उदारता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अन्य सम्प्रदाय के भी विद्वान् इसी दृष्टि से आदर देने योग्य है कि वे भी अपनी दृष्टि से संसार वासना को शिथिल और अध्यात्मिक भावना को जागृत करने का प्रयास करते हैं।

आचार्यश्री ने स्थान-स्थान पर परवादियों के मन्तव्यों की स्पष्टता भी दिखाई है जिनका तात्पर्य यह है कि जैनेतर विद्वानों के कतिपय मन्तव्यों में अनेक विनयीजनों का आदर है उनमें उनका बुद्धिभेद न हो। इसलिए उन मन्तव्यों की किञ्चित् युक्तता बताने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ- “शास्त्रवार्ता समुच्चय” में ईश्वरवाद के विषय में कहा गया है।

कर्त्तायमिति तद्वाच्ये यतः केषाञ्चिदादरः।

अतस्तदनु गुण्येण, तस्य कर्तृत्व देशना ॥⁴⁶

ईश्वर कर्तृत्ववाद का कथञ्चित् समर्थन ऐसे लोगों के उपकार की भावना से किया गया है जिनका उस वाद में आदर है और जिन्हें उसी नैतिकता में सहायता मिलती है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यश्री दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों में सत्य का अन्वेषण नहीं करते किन्तु जैन दर्शन के अनुसार उसमें कितना सत्यांश है और कितना असत्यांश है यह बताने का प्रयास अथवा असत्यांश बताने पर भी उन दर्शनों के अनुयायियों में बुद्धिभेद न हो इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है।

योगबिन्दु में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए समादरणीय समुल्लेख किया है।

सर्वेषां योगशास्त्राणा मविरोधेन तत्त्वतः।

सन्नित्या स्थापकं चेव माध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥⁴⁷

सभी योग शास्त्रों के ग्रन्थों का पारस्परिक प्रतिस्पर्धात्मक प्रतिद्वेष दूर करके तत्त्व से अविरोधी भाव को महत्ता देते हुए न्याय युक्त होकर चित्त माध्यस्थ भावों में रखते हुए योगतत्त्व की स्थापना पूर्वक वस्तु तत्त्व के तत्त्वविदों को ग्राह्य लगे ऐसे योग शास्त्रों के “योगबिन्दु” नामक ग्रन्थ की रचना की।

अर्थात् किसी योगशास्त्र से विरोध उत्पन्न न हो सभी को ग्राह्य बने इस भाव से इस ग्रन्थ की रचना की।

इस प्रकार नित्य निर्विवाद और निश्चल ऐसे अनेकान्तवाद को सर्वोपरि सिद्धान्तमय बनाने का श्रेय श्रमण संस्कृति को मिला है। आचार्य श्री हरिभद्र ने श्रमण संस्कृति के एक उत्कृष्ट महान् श्रुतधर के रूप में समवतरित होकर सारे संसार के दिग्गज विबुधों को अनेकान्त का पुरस्कार प्रस्तुत कर दिया। यह उनकी समदृष्टि स्याद्वाद अधिकारिता समुपलब्ध होती है जो अनेकान्त संज्ञा से दार्शनिक जगत में दिव्य शंखनाद करती रही है।

विद्या वाङ्मय का कर्मठ कौशल :- विश्व वाङ्मय में हरिभद्र एक अद्भुत व्यक्तित्व से एवं वैदुष्य से अपने अस्तित्व की विद्यमानता को प्रतिष्ठित करने में पुरोगामी रहे अपने काल में जितने प्रतिष्ठित ग्रन्थ थे उनका अध्ययन करने का जन्म जात अधिकार मिला था। उस पठन-पाठन की पटुता से अद्भुत लेखक बनने की योग्यता प्रगट हुई। निगमागमों का समुचित समालेखन करने का सुप्रयास स्थिर बनाया। जीवन की प्रत्येक पल श्रुतोपासना की श्रृंखला बनकर युग-युगान्तों तक अविच्युत बनी। स्वकल्याण एवं पर कल्याण की साधक बनी। अज्ञान, अंधकार, वासना, ममत्व आदि प्रपंच से च्युत होकर ज्ञान प्रकाश सद् अनुष्ठानों की आधार बनी। अध्ययन और आलेखन उनके जीवन के दो पहलू थे। सम्पूर्ण वाङ्मय का अध्ययन करने के पश्चात् उनकी आलेखन क्रिया प्रारंभ हुई। उनको जिनवचन से यह पूर्ण ज्ञान हो गया था कि जीवन में ज्ञान अत्यंत आवश्यक है उन्होंने स्वयं ने नन्दीवृत्ति में कहा कि-

“श्रुतधर्मसम्पत् समन्विता एव प्रायश्चारित्र धर्म

ग्रहण परिपालन समर्था भवन्ति इति तत् प्रदानमेवादौ न्यायमिति।”^{६०}

श्रुत धर्म की सम्पदाओं से समन्वित, सुशोभित, संयोजित बना हुआ आत्मा ही प्रायः करके चारित्र धर्म को ग्रहण कर सकता है एवं उसके परिपालन में समर्थ बन सकता अतः प्रथम श्रुतधर्मप्रदान का न्याय है। उसी प्रकार...

“पढमं णाणं तओ दया”^{६१}

प्रथम ज्ञान पश्चात् दया, जब तक दया का ज्ञान नहीं होगा वहाँ तक दया का पूर्ण पालन नहीं हो सकता।

“ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः” ज्ञान और क्रियासे मोक्ष होता है। सूत्रकृतांगमें भी ‘अहिंसु विज्जा चरणं पमोक्खे’ विद्या और आचरण को मोक्ष का साधन कहा गया है।^{६२}

ज्ञान से संयुक्त क्रिया ही मोक्षफल का साधक बनती है। ज्ञान के बिना मनुष्य का मूल्य पशु तुल्य हो जाता है इत्यादि युक्तियों का चिन्तन करते हुए ज्ञान को अत्यंत कुशलता के साथ आत्मसात् किया। जहाँ तक आत्मा में साहसिकता नहीं आती वहाँ तक कार्य की सिद्धि अप्राप्य है। वाङ्मय के अंतःस्तल तक पहुँचने का उन्होंने पूर्ण प्रयास किया। उनकी कुशलता उनके ग्रन्थों में प्रदर्शित हुई। किसी भी गाथा, श्लोक या ग्रन्थ को उठाकर देख लीजिए उनका सर्वतोमुखी विद्या का कर्मठ कौशल आपको छलकता हुआ सामने आयेगा। ये आजीवन विद्या के विकास में विकसित रहे। अपने दार्शनिक स्वरूप को प्रदर्शित न करके प्रतिष्ठित किया है

उनके प्रतिभा की प्रतिष्ठा स्वरूप ये ग्रन्थ है।

* स्याद्वाद के सिद्धान्तों को उन्होंने जन-जीवन में एवं विबुधजनों में सहज रूप से उजागर किये हैं तथा महावीर परमात्मा के उपदेशों से विद्वज्जनों एवं सर्वसामान्य जनों को परिचित कराया।

सिद्धान्तों के गूढ रहस्यों को सरल सुबोध रूप में भी भव्य प्राणियों को समझाने की कुशलता इनमें रही हुई थी।

जो स्वयं के प्रज्ञाबल को सर्वज्ञ में स्थित करके सरल समन्वयवादी प्रतिष्ठा के प्रतिनिधि हुए और परमात्मा के प्रतिनिधित्व को संभाला। अनेक प्रकार से श्रुतोपासना में तन्मय बनकर जैनशासन के गगनमण्डल में सूर्य की भांति तेजस्वी बनकर सुशोभित हुए।

अनेक आचार्यों का यह समर्थन है कि आज दिन तक ऐसा कोई प्रज्ञावान् पुरुष नहीं हुआ जिन्होंने उनके सम्पूर्ण वाङ्मय को जाना हो।

उनका विद्या के प्रति कितना आकर्षण होगा यह उनके द्वारा १४४४ ग्रन्थों की रचना से ही ज्ञान हो जाता है। रात-दिन शास्त्र रचना में अपने परिश्रम को विश्रान्ति दी है। यह उनके चरित्र से ज्ञात होता है कि “लल्लिग” नामक श्रावक ने एक मणि उपाश्रय में लाकर रखी थी उसके प्रकाश में रात्रि में उनकी रचनाएँ अनवरत चालू रहती थी इतना परिश्रम एक विद्या पिपासु ही कर सकता है।

“विद्यार्थिनः कुतोः सुखम्” इस युक्ति को अपने जीवनमें हृदयंगम कर ली थी। उस समय में अनेक आचार्य दार्शनिक प्रज्ञावान् हुए फिर भी आचार्य हरिभद्र जैसा स्थान कोई नहीं ले सका।

पुनः पुनः उनकी प्रतिभा प्रकर्ष वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में धैर्यवान् होकर धी-धन को कर्मठता से कर्तव्य परायण बनाते रहे उनका वाङ्मय कौशल विशद रहा है, जो आ. हरिभद्र को शीर्षस्थ सुधी शिरोमणी चरितार्थ करता है।

उनका चरित विद्या वैभव से चमत्कृत बन वाङ्मयी सृष्टि को एक स्रष्टा स्वरूप प्रस्तुत करता है। सर्जन और विसर्जन के विधानों से अपना आत्म विशेषण श्रुतसेवना में समभिरूढ रखने का संकल्प उनके प्रत्येक ग्रन्थ में दृश्यमान रहा है।

उनकी ग्रन्थों की पंक्तियों में विषयों का निरूपण नितान्त निराला मिलता है, कहीं दुःसाहस नहीं, दैन्यभरे वाक्य-विन्यास नहीं अपितु स्व सिद्धान्त साधक शब्दों का प्रवाह प्रमाणभूत रहा है चाहे दार्शनिक विषय हो, ऐतिहासिक प्रसंग हो या जन्म-जन्मान्तरीय अवबोध का प्रसंग हों वहाँ पर भी इतने ही निष्णात बनकर निरूपण करने में निष्ठावान् दिखाई देते हैं।

तार्किक जालों के बीच में आत्मआस्था को कहीं भी न तो फँसने दिया है, न उलझने दिया है, क्योंकि उनका स्वयं का जीवन ही विद्यामय विवेक से व्युत्पन्न रहा है। इसलिए उनकी वाङ्मयी साधना सर्वत्र श्लाघ्य रही है। साहित्य की सीमा को सुरक्षित रखा तथा दार्शनिक तत्त्वों को तात्त्विकता से कुशलमय करने का कर्मठपन

क्रियान्वित किया।

समन्वयवादी :- आचार्य हरिभद्र का समन्वय सर्वत्र विश्रुत रूप से समादृत हुआ है। आ. हरिभद्र का एक स्वतन्त्र स्वाधीन समन्वयवाद सभी दार्शनिकों को सुप्रिय लगा। आत्म मन्तव्य की महत्ता को महामान्य रूप से प्रस्तुत करने का महाकौशल हरिभद्रसूरि में जन्मजात रहा था, क्योंकि वैदिक संस्कृति के विद्या-वात्सल्य से उनका मानस मण्डित बना था और वही मण्डित मानस श्रमण संस्कृति में स्नातक बन शास्त्रीय धाराओं में समता को और क्षमता को सन्तुलित रखने में सर्वथा प्रशंसनीय रहा।

समन्वयवाद में सभी को सादर सम्मिलित करने का विशाल विचार पूर्ण विवेक समुद्भावित किया, अपने-अपने मत मन्तव्यों से मथित बना हुआ, ग्रसित रहा हुआ, मानस सहसा मुडने में समय लगाता है परन्तु आचार्य हरिभद्र एक साथ समय को लेकर सिद्धांतों को प्रस्तुत करते हुए पूर्ण प्राज्ञता का एक अद्भुत प्रस्ताव प्रस्तुत कर सभी के हृदयों को जितने का प्रयास करते हैं, क्योंकि आत्म-सन्मान मतान्तरों के महात्म्य में मग्न बनकर अन्यो के मूल्यांकन में प्रायः कातर कार्पण पाया जाता है, परन्तु आचार्य हरिभद्र के मेधा और मानस में उदारतावाद का उच्च ध्येय था, समन्वयवाद का सक्षम संकल्प था अतः वे निर्विरोध प्रत्येक दार्शनिक ग्रन्थों में गौरवान्वित रूप से गुम्फित हुए। उन्होंने भी अपनी दार्शनिकता में दिव्यभावों को दर्शित कर ससन्मान सभी को आमंत्रित किया है।

अन्यों में आत्मीयता से महोच्च पद पर प्रतिष्ठित करने का शब्द विन्यास शालीन रहा, चाहे वे विरोधी हो, पर उनको निर्विरोध रूप से निरापराधभाव से भूषित करू अपितु दूषित न बनाऊँ, दूसरों पर दोषारोपण का प्रयोग प्रायः दर्शन जगत में तुमुल मचाता रहा है परन्तु हरिभद्रसूरि ने इस चिरकाल के संघर्ष को एक प्रशस्त पुरोवचन से उनको प्रभावित करने का, पूजित करने का उपयोग समन्वयवाद के नाम से समाख्यात किया।

“सम्बोध प्रकरण” जैसे महाग्रन्थ में तत्कालित सम्प्रचलित सभी आम्नायों को समभाव में रहने का समुचित सुबोध सम्बोधित किया।

सेयंबरोवा आसंबरो बुद्धोवा अहव अण्णो वा।

समभावभावि अप्पा, लहइ मुखं न संदेहो ॥^{६३}

अपनी आत्मा को समभाव में समाधिस्थ रखनेवाला निःसंदेह मोक्ष सुख को उपलब्ध करता है। वह यदि श्वेताम्बर हो, दिगंबर हो तथागत बुद्ध का अनुयायी या इसके सिवाय अन्य अन्यतर कोई भी हो, सभी के लिए समभाव में समन्वयवाद में रहने का अधिकार है वह निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करता है।

योगबिन्दु में योगशक्ति सम्पन्न बनकर आत्मीयता और परकीयता के भेद से ऊपर उठकर एक महाविज्ञ की उच्चकोटी में आकर सिद्धान्तता का सही स्वरूप समकथित करते हैं और कहते हैं कि आँखों को भानेवाला, हृदय में समानेवाला, निराबाध से जीवन में रहनेवाला वह उपयुक्त माना जाता है। उसको अपार आत्मीयता से अंगीकार करते रहना।

आत्मीयः परकीयोवा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।

दृष्टेष्टाऽबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥^{६४}

आचार्य हरिभद्र नितान्त निराग्रही रूप से सिद्धान्त शास्त्रों में प्रगटित हुए हैं उनकी आत्मीय प्रतिभा का प्रकर्ष पक्षपात रहित का निर्णय लेता रहा है। हठी कदाग्रही पुरुष अपनी युक्ति को जिद पूर्वक खींचता हुआ सहसात्कार से अपनी युक्ति को अपनी आत्मबुद्धि के पास बैठने का संदेश देता है परंतु मध्यस्थ तटस्थ पुरुष की मति जहाँ युक्तियुक्त हो वहाँ स्थिरता बनाती है।

आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।

पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेत निवेशम् ॥^{६५}

षोडशक प्रकरण में सर्वोच्च भाषा में विभोर होकर अपने आत्मा के गहन गांभीर्य को प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि हमें निर्द्वेष, निकर्त्तेश, निर्वैर दृष्टि से जीवन जीने का एक प्रयास प्रारंभ करना चाहिए क्योंकि अन्य दार्शनिक भी जो वाक्य विन्यास व्यक्त करते हैं वे भी मूलागमों से सुसंधित हैं अतः अपेक्षणीय है, अपेक्षावाद अनेकान्त का एक उज्वल आचरण है अपने आत्म सिद्धान्त में विचरण कराने वाला एक विवेक वैभव है, प्रयत्नवान् बनकर उस सत्य का सर्वेक्षण करते रहो, अन्वेषण बढ़ाते रहो, यही स्याद्वाद है जो निर्विवाद है।

तत्रापिच न द्वेष कार्यो विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।

तस्यापि न सद्वचनं सर्वं सत्प्रवचनादन्यत् ॥^{६६}

लोकतत्त्व निर्णय में लौकिक परिस्थियों से ऊपर उठकर एक अलौकिक अणगार संस्कृति को उच्चता से अभिव्यक्त करने का अनूठा आयाम प्रदर्शित किया है।

मैं बान्धवों के बन्धनों से, शत्रुओं के शत्रुमयी भावनाओं से भयभीत बनने वाला नहीं हूँ, कोई बन्धू हो अथवा शत्रु हमारे समक्ष हो अथवा परोक्ष में हो परन्तु उनके उच्चारणों का और आचरणों का विधिवत् विचार करके आश्रय लेना चाहिए। उपयुक्तता से स्वीकार करना चाहिए यही हमारी समन्वयवादिता है जैसे आ. हरिभद्र स्वयं इस उद्धोष को लोकतत्त्व निर्णय में प्रकाशित करते हैं।

बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये एकमतोऽपि चैषाम् ।

श्रुत्वावचः सुचरितं च पृथग् विशेषं वीरं गुणातिशय लोलतयाश्रिता स्मः ।^{६७}

योगदृष्टि समुच्चय में परमात्म देशना, अनेकान्त दर्शन की दिव्य धारा है ये धाराएँ काल और परिस्थियों के अनुरूप अनेक ऋषियों, महर्षियों के मुखारविंद से प्रवाहित हुई हैं परन्तु मूलतः स्याद्वाद सिद्धान्त की वे जड़े ही हैं क्योंकि स्याद्वाद में सभी का एक साथ समादर है वहाँ ऊँच नीच या अन्य इतर की परिगणना नहीं रही है।

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्तत्कालादियोगतः ।

ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषापि तत्त्वतः ॥^{६८}

आजीवन समन्वयवाद के समर्थक संचालक एवं प्रयोजक रूप से प्रतिष्ठित रहने का प्रबल प्रयत्न आ. हरिभद्र का दार्शनिक जगत में रहा है जो दिव्य समन्वयवाद का प्रकाश स्तम्भ होकर प्रज्ञा प्रबन्ध का महोत्सव मनाता रहेगा।

वैदिक संस्कृति से श्रमण संस्कृति की सजीवता :- सजीव होकर श्रमण संस्कृति के श्रुतधर बनेवाले आचार्य हरिभद्र अपने विगतकाल के वैदिक परंपरा के विख्यात विप्रवर थे। उनका सम्पूर्ण जीवन वाङ्मयी साधना एवं सर्जना में सुचरित रहा।

वैदिक संस्कृति से संस्कृत होने के कारण उनके प्रत्येक क्रिया काण्ड, यज्ञ, अनुष्ठान उन्ही के अनुरूप होते थे आत्मवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद की वैदिक दर्शनों के अनुसार शास्त्रार्थ करके सिद्धि करते थे, क्योंकि उनका जीवन ही वैदिक संस्कृति से संयोजित था, तभी अकस्मात् परमात्मा के प्रति द्वेष युक्त उद्गार उनके मुख से निकल पड़ते हैं। लेकिन वे ही वचन निर्द्वेष रूप में बदलकर श्रमण जीवन की संस्कृति का साकार रूप देने वाले हुए।

हरिभद्र के समय में वर्णाश्रम व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। ब्राह्मण वर्ग प्रत्येक काल में समाज का नेतृत्व करने में निपुण रहा है हमारी श्रमण संस्कृति का प्राणाधार वर्ग विप्रों का रहा है। अतः ब्राह्मण परिवर्तन को पश्चाताप से नहीं देखता अपितु नवीनता से नित्य नये विचारों एवं आचारों का प्रादुर्भाव करता देश काल की सीमाओं में रहता हुआ अपने आत्मचरित को उज्वल रखता आया है।

आ. हरिभद्र का आत्मचरित अद्भुत बनकर इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हुआ उसे आज भी कोई सशक्त दृष्टि से देखने का साहस नहीं कर सकता। उनकी ज्ञान आस्था इतनी सर्वोत्तम थी कि वे उस काल के सार्वभौम सर्वज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित थे लेकिन तत्त्वज्ञान की जिजीविषा होने के कारण एक सुविनित विदुषी आर्या की सुप्रेरणा से वैदिक संस्कृति से विमुक्त बनकर श्रमण संस्कृति से संयुक्त हो गये। उनका सम्पूर्ण जीवन श्रमण संस्कृति से चमत्कृत हुआ।

आ. हरिभद्र एक महान् उदारवादी श्रमणवर होकर अपनी मौलिकता को मूल्यवती रखने में महान् गुणवान् सिद्ध हुए हैं। गुणग्राहिता और सिद्धान्त परायणता उनके लिखित सम्पूर्ण वाङ्मय में प्रचुर रूपसे उपलब्ध होती है उनकी श्रमण संस्कृति के प्रति निष्ठा का निखार नित्य नया बनकर आज भी दार्शनिक जगत में दाक्षिण्यवान् का संदेश दे रहा है।

दर्शन का अर्थ ही आत्मविचारणा परमात्मपरायणता है। इन पहलुओं पर आचार्य हरिभद्र का सम्पूर्ण जीवन प्रतिष्ठित रहा है।

‘सम्यक्त्व सप्ततिका’ की टीका में दर्शन शब्द का अर्थ इस प्रकार है “दर्शनशब्देन विलोचन विलोकन परतीर्थिक शासनादीनि कथ्यन्ते, तथापीह इह मोहिनीयकर्म क्षयोपशमशुभात्मपरिणाम-स्वरूपमेव दर्शनं”^{६६} दर्शन अर्थात् परतीर्थियों के शासन को देखना होता है लेकिन यहाँ सम्यक्त्व विषय में मोहिनीय कर्म के क्षयोपशम

से उत्पन्न शुभ आत्मा के परिणाम वह दर्शन है। जिनागमों की आत्मविचारणा करते हुए परमात्मपरायणता उनके हृदय में प्रबल बनी, परमात्म प्रणीत आगमों के प्रति बहुमान भाव उछलने लगा, स्वयं को धन्यातिधन्य मानने लगे।

वैदिक संस्कृति से सलग्न होते हुए भी श्रमण संस्कृति को समादृत शिरोधार्य बनाया और अद्वेष भाव से अनेकान्त मार्ग पर रहने का एक उत्तम आदर्श उपस्थित किया जो प्रशंसनीय है।

श्रमण संस्कृति अपने आप में अनेकान्तवाद के आधार पर उच्चतम बनी हुई सभी की समादरणीय रही है, क्योंकि निर्वैरभाव, निर्द्वेषभाव निर्ग्रन्थों का नैष्ठिक निरूपण रहा है इसी प्ररूपण को आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने जीवन धरातल पर जीवित करने का भगीरथ प्रयास किया है। इसलिए भारत की मुख्य दार्शनिक धाराओं में श्रमण संस्कृति का सुविख्यात चरित संशयहीन बना। चरित ही चरितार्थ करने वाला एक ऐसा अनुशासनात्मक संप्रयोग है जिसका उदाहरण आचार्य हरिभद्रसूरि है।

भारतीय संस्कृति श्रमण संस्कृति का शब्दानुशासन, आत्मानुशासन एवं योगानुशासन आदि को विविध रूप से व्यवस्थित करने में विशाल हृदयवाले आचार्य हरिभद्रसूरि ही हमारे समक्ष आते हैं, जिनका सम्पूर्ण वाङ्मय पर एकाधिकार का शासन समर्थित था।

उनका वैदिक संस्कृति से ओत-प्रोत जीवन भी श्रमण संस्कृति से चमत्कृत हो उठा इसमें मुख्य यदि कोई कारण है तो विद्या की तीव्र जिज्ञासा। विद्यावान् अपने जीवन को समयोचित सुपरिवर्तित कर लेता है और ऐसा ही हरिभद्र के जीवन में दृष्टिसंचार होता है।

अन्य दर्शकारों के प्रति सम्मानीय शब्दों का संयोजन :- बहुश्रुत आचार्य श्री हरिभद्रसूरि गुणग्राही गुणानुरामी बनकर हमारे सामने प्रस्तुत हुए हैं, क्योंकि अपने सिद्धान्तों के विपरीतपक्ष को समर्थन देने वाले भी ऐसे जैनेतर विद्वानों को बहुमान आदर सूचक विशेषणों से अपने ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये हैं। उनके प्रति भी जो विरल सम्मानीय शब्दों का निर्देश किया यह उनकी महनीय संयमशीलता है। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न आचार्य होते हुए भी उन्होंने गुणवान् प्रज्ञावान् व्यक्तियों के प्रति गुरुवत् बहुमान आदि प्रदर्शन कर औचित्य का पालन परिपूर्ण रूप से किया है।

जो सत्यपरीक्षक ऋजुसाधक होता है वही परवादियों को आदरसूचक शब्दों से सम्मानित कर अपने हृदय में स्थान दे सकता है।

ज्ञानी वही है जो हमेशा अपने आपको नम्र बनाकर फिर ऊँचा उठाने में तत्पर रहता है। स्वयं को किञ्चित् ज्ञात करवाकर अन्यो को विशाल बनाता है।

आचार्यश्री ने “शास्त्रवार्त्ता समुच्चय” आदि अनेक ग्रन्थों में जैनेतर विद्वानों के लिए सूक्ष्मबुद्धि, महामति, महर्षि सत्प्रज्ञ, धीधन आदि विशेषणों का प्रयोग किया है जैसे कि -

न तथाभाविनं हेतुमन्तरेणोपजायते।

किञ्चिन्नश्यति चैकान्ताद् यथाह व्यास महर्षि ॥^{१०}

तथाभावी हेतु के बिना अर्थात् कार्य के रूप में परिणमनशील कारण के बिना किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कि कारण के परिणाम से द्रव्य की एक विशेष अवस्था सम्पन्न हो किसी वस्तुकी न तो एकान्तिक उत्पत्ति होती है और न किसी वस्तु का एकान्तिक नाश होता है, इस विषय में महर्षि व्यास की भी सम्मति है।

नासतो विद्यते भावो ऽ नाभावो विद्यते सतः ।

उभयो दृष्टोऽन्तस्त्वनयोऽस्तत्त्वदर्शिभिः ॥^{११}

असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती है और सत् पदार्थों का अभाव नहीं होता है, परमार्थ तत्त्वदर्शी अन्य विद्वानोंने असत् और सत् दोनों के विषय में यह नियम निर्धारित किया है।

योगदृष्टि समुच्चय में भर्तृहरि को धीधन विशेषण से विशेषित किया है।

न चानुमान विषय एषोऽर्थस्तत्त्वतो मतः ।

न चातो निश्चय सम्यगन्यत्राप्याह धीधनः ॥^{१२}

अन्यदर्शनकार धीधन भर्तृहरि कहते हैं कि सर्वज्ञ है या नहीं यह अर्थ परमार्थ रूप से अनुमान का विषय नहीं हो सकता है अतः अनुमान से अर्थ का सम्यग् बोध नहीं हो सकता। “योगदृष्टि समुच्चय” में महर्षि पतञ्जलि को महामति विशेषण से विभूषित किया है।

एतत्प्रधाना सच्छ्रद्ध शीलवान् योग तत्परः ।

जानात्यतीन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामतिः ॥^{१३}

आगम विशिष्ट बोध से प्रज्ञावान् बना हुआ सश्रद्ध एवं शीलगुण युक्त तथा योगमार्ग में तत्पर पुरुष जो होता है वही अतीन्द्रिय को जानता है ऐसा महामति पतञ्जलि आदि अन्यदर्शनकार भी कहते हैं।

इस प्रकार दार्शनिक विचार पद्धति परस्पर विरोधिनी रही है विरोधिनी पद्धति में अपने विज्ञान को निर्विरोध व्यक्त करने का वैशिष्ट्य आचार्य हरिभद्र सूरि के लेखनी में मिलता है। अपने मत मन्तव्य के विरोधियों को भी इतना विश्वस्त विचार वैभव से अभिव्यक्त किया है कि आचार्य हरिभद्र का हृदय नितान्त निर्वैर भाव से निर्मल दिखाई देता है।

आचार्य हरिभद्र ज्ञान की गौरवशालिनी गरिमा में इतने निमग्न थे कि निर्दोष जीवन में भी वीतराग विधान का प्रचार करते थे। न किसी के प्रति अनादर, न तिरस्कार, न बहिष्कार अपितु सभी को आत्मप्रियता से अवलोकित करते हुए अपने आत्मानुशासन में अनुभवशील रहते थे यही उनकी समदर्शिता और सर्व के प्रति सम्मानित भाव स्पष्ट होता है। उँचे से उँचे दार्शनिक अपने-अपने मत विरोध में थे उनको इन्होंने अनुमत पदों से सम्मानित किये, किसी का भी हम विद्वेष भाव जीवन में न लाए न हृदय में बिठाए यही उनकी सर्वोपरि जीवन लक्षणा स्पष्ट होती है जहाँ अन्य दार्शनिक नतमस्तक हो आ.हरिभद्र की जय-जयकार करते हैं।

उदाराशय बनकर अन्यदर्शनों का अपने ग्रन्थ में समुल्लेख:- आचार्य श्री एक महान् श्रुतधर तत्त्ववेत्ता होने पर भी उन्होंने परदर्शनकारों अथवा परदर्शनों का तिरस्कार नहीं किया। जहाँ उन्हें सत्यता, पारमार्थिकता प्राप्त हुई उसका उन्होंने आदर किया। अन्यदर्शन में भी यदि कुछ पक्षपात रहित एवं सत्य की कसौटी से परीक्षित है तो उसको अपने ग्रंथ में उद्धरण रूप में उद्धृत किये। एक सच्चा दार्शनिक वही हो सकता है जो निर्विरोधी बनकर सत्य को विश्व के सामने आलोकित करता है। आचार्यश्री ने उदारमना बनकर अन्यदर्शनकारों के सिद्धान्तों के श्लोक अपने ग्रन्थों में ग्रंथित किये। जैसे कि योगशतक में अन्यदर्शनकारों ने कायाकृत और भावनाकृत को दोषक्षय कहा है उसे ही जैनदर्शन द्रव्यक्रिया और भाव क्रिया कहता है।

कायकिरियाए दोसा खविया मंडुक्कचुण्णतुल्लत्ति।

ते चेव भावणए नेया तच्छारसरिस ति ॥⁹⁵

क्रियामात्र से किये गये कर्मों का क्षय मंडुक्क के चुर्ण तुल्य है जो निमित्त मिलने पर पुनः अंकुरित नहीं होता है ऐसा अन्यदर्शनकार कहते हैं।

जैन दर्शनकारों का द्रव्यपुण्य और भावपुण्य वही अन्य दर्शनों का मृन्मयकलश के समान एवं सुवर्णकलश के समान पुण्य दो प्रकार का है जो मात्र नामभेद ही है।

एवं पुण्णं पि दुहा मिम्मय कणयकलसोवमं भणियं।

अण्णेहिं वि इह मग्गे, नाम विवज्जास भेएणं ॥⁹⁶

बौद्ध दर्शन में भी कायापाती एवं चित्तपाती स्वरूप को कहते हैं।

तह कायपाइणो ण पुण चित्तमहि किच्च बोहि सत्त ति।

होति तह भावणाओ, आसययोगेण सुद्धाओ ॥⁹⁶

बौद्ध दर्शन संस्थापक गौतम बुद्ध बोधिसत्त्व प्राणिओ की स्थिती का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस आत्मा ने बोधिसत्त्व प्राप्त कर लिया है वह संसार में मात्र काया से समारम्भ करता है लेकिन चित्त उसका कीचड़ में कमल की भाँति निर्लेप होता है पतित परिणामी नहीं होता है अर्थात् वह काया से भोगादि क्रिया करता है। लेकिन चित्त उससे परे ही रहता है। इसी को जैन दर्शनकारों ने आसक्त-अनासक्त अथवा ब्राह्म अभ्यंतर परिणाम कहा है।

परमतत्त्व को कौन प्राप्त कर सकता यह बात महर्षि पतञ्जलि कहते हैं -

आगमेनानुमानेन योगाभ्यास रसेन च।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥⁹⁷

आगम, अनुमान एवं योगाभ्यास की रुचि से अर्थात् तीन प्रकार से बुद्धि को संस्कारित जो करता है, वह उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है।

अतिन्द्रिय पदार्थ अनुमान गम्य नहीं है यह बात भर्तृहरि कहते हैं -

यत्नेनानु मितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।

अभियुक्ततरैरन्यैरन्य धैवोपपद्यते ॥^{५८}

कुशल अनुभवी अनुमानों के द्वारा अत्यंत ही सावधानी पूर्वक अनुमान से सिद्ध किया हुआ पदार्थ भी जसे अधिक शक्तिशाली ऐसे अन्य विद्वानों के द्वारा अन्यथा सिद्ध किया जाता है।

लंकावतार सूत्र में मांसभक्षण का निषेध किया गया है उसे स्पष्ट करते हुए भी हरिभद्ररचित 'अष्टक प्रकरण' में कहते हैं-

शास्त्रे चाग्नेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु ।

लंकावतार सूत्रादौ, ततोऽनेन न किञ्चन ॥^{५९}

लंकावतार आदि शास्त्रों में भी बुद्धने मांसभक्षण को स्वीकृत नहीं किया, क्योंकि वे भी उस काल के एक आम पुरुष रूप से प्रख्यात थे। उन्होंने भी मांस भक्षण के आचार को अनुपयुक्त ही कहा है। इसलिए भारतीय सभ्यता में मांसाहार को मान्यता नहीं मिली है।

तत्त्वमार्ग में व्यक्ति को प्रवेश करने का कब होता है यह बात श्रीमान् गोपेन्द्र योगीराज कहते हैं।

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।

न पुंसस्तत्त्वमार्गोऽस्मि ज्ञिज्ञासामपि प्रवर्तते ॥^{६०}

भगवत् गोपेन्द्र योगीराज कहते हैं कि सर्वथा पुरुष का प्रकृति से अधिकार जब तक दूर नहीं होता वहाँ क पुरुष को यथार्थ तत्त्वमार्ग में प्रवेश करने की इच्छा नहीं होती है।

एक वस्तु सत्य को प्रकाशित करते हुए विद्वज्ज कालातीत कहते हैं -

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव, मैदम्पर्यव्यपेक्षया ।

तत्त्वं निरुपणीयंस्यात्, कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥^{६१}

माध्यस्थ्यता को धारण करके, तत्त्व स्वरूप की यथार्थ आलोचना करके तत्त्वज्ञान करनेवालों को वस्तुतत्त्व का निश्चय करना चाहिए ऐसा कालातीत अन्यदर्शनीय विद्वान् कहते हैं। अनेकान्त सिद्धान्तोंका अक्षरशः स्वगाहन करते हुए अपने आशयों को उच्चतर रखते हुए भी सभी का समाधान किया।

समाहित, समाधित रहने का सदाचार पालते हुए आत्म-प्रौढता से प्रत्येक को सम्मानित रखने का शिष्ट प्रयोग अद्यावधि अक्लिष्ट गिना गया !

दर्शनपक्ष एक ऐसा है जो पारस्परिक प्रीतिभावों को प्रादुर्भूत करने में आज तक विफल रहा है परन्तु आचार्य हरिभद्र का अपने शुभाशयों से सभी के मतों को मान्यता देते हुए सर्वज्ञवाद की सिद्धान्तशाला में अन्यान्य विरोधियों को एकचित्त बनाने का सफल प्रयास रहा है। विचारों का विरोध तो रहता है परन्तु विश्कल्याण में हमारी एकता अनिवार्य है। कारण कि स्याद्वाद् शैली दार्शनिकता को दिव्य चक्षु देती है और परस्पर मैत्रीभाव से रहने की शिक्षा देती है। हरिभद्र दार्शनिक जगत के दिव्यचक्षुवाले शिक्षक बनकर निर्वैर मतों को मान्यता देने

में महामनीषी रहे है।

- उन्होंने सम्पूर्ण दार्शनिक जगत को आह्वान करते हुए कहा कि - हे दार्शनिकों ! दिव्य परिणामी बनकर दुष्परिणामों, दुष्प्रयोजनों के प्रतिकारों से मुक्त हो जाओ और अनेकान्तवाद की उत्तमशैली में सम्मिलित होकर परस्पर सख्यभाव का स्वरूप निर्धारित करलो ! यही सच्ची दार्शनिक उदारता है।

सम्पूर्ण वाङ्मय के विषय से अवगत :- आचार्य हरिभद्र का वैदुष्य विशेषताओं को लेकर वाङ्मय धरातल पर कल्पतरु बना। उनकी गहन गांभीर्य पूर्ण ज्ञान, साधना आज भी सजीवन्त उपलब्ध है। तत्कालीन जितने विषय प्रचलित थे उन पर अपना अधिकार आविष्कृत करने में अहर्निश अग्रेसर रहे।

जैन शासन में श्रुत साधना की महता अद्भुत एवं अलौकिक है, जो भक्ति से सराबोर होकर श्रुत साधना में संलग्न हो जाता है वह हमेशा स्व-परहित साधक बन जाता है।

भगवद् प्रदत्त त्रिपदी के आधार स्तम्भ पर रचे गये आगम ग्रंथ और आगम ग्रन्थों के आधार शिला पर रचित ग्रन्थ दोनों श्रुतमान्य एवं विद्वद्भोग्य माने गये है। उसमें भी आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों ने तो अनेक विद्वानों के शिर धुना दिये।

धनाशा पोरवाल के द्वारा निर्मित “नलिनी गुल्म विमान” के समान राणकपुरजी के भव्य जिनप्रासाद में बहुजन प्रसिद्ध एक विलक्षणता यह है कि उस जिनप्रासाद के १४४४ स्तंभ मे से किसी भी स्तंभ के पास खड़े रहो किसी न किसी प्रकार से आपको परमात्मा के दर्शन होंगे, उसी प्रकार सुरिपुरन्दर आचार्य हरिभद्रसूरि के रचित १४४४ ग्रन्थों में जैन दर्शन के सिद्धान्त एवं दार्शनिक तत्त्व नेत्र समक्ष प्रतित होंगे।

दार्शनिक प्रश्नों के प्रत्युत्तर में अपना प्रखर पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुए ज्ञानपूर्णता से छलके नहीं, न किसी को झकझोरा अपितु सभी विषयों का विद्वत्तापूर्वक अध्ययन करते हुए अपनी वाङ्मयी रचना में उन्होंने रोचक संदर्भ उपस्थित किये।

अन्यान्य परंपराओं का परमबोध करते हुए, अपने स्वोपज्ञ ग्रन्थों में उनका समुल्लेख करते हुए, संशयापन्न विषयों का निराकरण करते हुए वे सदैव निर्द्वन्द्व रहे। जैसे कि शास्त्रवार्ता समुच्चय में सम्पूर्ण शास्त्रीय वृत्तान्तों का उद्धरण देते हुए अपने मन्तव्यों को मान्यता से महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए एक अद्भुत ज्ञाता के रूप में प्रगटित हुए हैं।

वैदिक परंपराओं से सम्बन्धित जितने भी सन्दर्भ उन्हें समुपलब्ध हुए उनका तल-स्पर्शीय ज्ञान बढ़ाते हुए अपने आत्म निर्ग्रन्थ मत से निराकृत बने हुए सभी को सहमत में रखने का सुन्दर अनेकान्तिक उपयोग किया है।

बौद्ध परंपरा में क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, जैसे बौद्ध दर्शन प्रतिष्ठित प्रवादों को निर्विरोधी रूप से चर्चित कर स्याद्वाद सिद्धान्त को अर्चित किया है।

चार्वाक जैसे दर्शन जो सभी से तिरस्कृत हुए वह भी हरिभद्र से अनुगृहीत हुआ इस प्रकार हरिभद्र का

दार्शनिक दिव्यावलोकन दृढ़ विद्वत्ता का परिचय देता है। जैसे “ललित विस्तरा” ग्रन्थ में आचार्य श्री भक्तिमान् बनकर स्याद्वाद सिद्धान्त की रूपरेखा से परमात्म रहस्य को प्रगटित किया। सिद्धर्षि जैसे बौद्धों के उहापोह में ऊर्जावान् होकर श्रमण-संस्कृति से बिछुड़ते जा रहे थे। अपने को अपना व्यक्ति बिछुड़ा हुआ रुचिकर नहीं लगता तब इन्होंने “नमुत्थुणं” जैसे प्रचलित परमात्मस्तव पर अपनी आत्मश्रद्धा को भक्तिमयी भावना से प्रस्तुत करने में सम्पूर्ण प्रज्ञावान् बनें। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भक्तिज्ञान को समन्वित रूप से शास्त्र में रखते हुए अपने आपको एक ऐसा आकर्षक उत्तम दार्शनिक सिद्ध किया, जिससे ‘सिद्धर्षि’ को प्रतिबोध दिये बिना ही “ललितविस्तरा” के पठन से ही पुनरावर्तन करवा दिया।

हरिभद्र की लेखनी में प्रतिबोध प्रसारण इतना ही मिलेगा जितना कि स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन निर्विरोध में स्पष्ट दिखेगा।

“सर्वज्ञसिद्धि” जैसे ग्रन्थ में अपने आपको एक अकिंचन ज्ञात कराते हुए सुबोध व्यक्तियों को सराहनीय कहते हैं। सुबोध वही है जो कृपालु करुणालु होकर जीवन - प्रवृत्ति में लगे रहें, साथ में महामोह से पराजित व्यक्तियों को अनर्थ से बचाते हुए अरिहंत के अभिमत को सुनाते रहे समझाते रहे, और उनका आत्म-कल्याण करने का संकल्प रखते रहे।

महामोहाभिभूताना-मित्यनर्थो महान् यतः।

अतस्तत्त्वविदां तेषु कृपाऽऽवश्यं प्रवर्तते ॥^{८२}

महामोह से पराजित बने हुए व्यक्तियों को अनर्थ महान् होता है इसलिए तत्त्ववेत्ताओं को उन जीवों पर अवश्य ही कृपालु रहने का भाव बनाना चाहिए। आचार्य हरिभद्र दार्शनिक पक्ष को तर्कों के तारों से नहीं झगड़ते हुए करुणा के भावों से विभोर बनाने का व्यवसाय करते हैं। यह उनकी एक अलौकिक दार्शनिकता है।

उनकी विद्वत्ताने प्रतिस्पर्धी होकर प्रतिपक्ष को उपालम्भित करने का अपना आशय कहीं पर अभिव्यक्त नहीं किया। अपितु सभी को सस्नेह सद्भाव से समादर देते हुए सबके सुख में अपना आत्मसुख देखा। यह उनकी महोपकारी दार्शनिकता है।

प्रायः करके दार्शनिक पक्ष चर्चालु होते हैं परन्तु परहित सम्पादन में शिथिल पाये जाते हैं। आचार्य हरिभद्र का दार्शनिक पक्ष चर्चालु होता हुआ भी परहित परायण में सदैव पुरोगामी रहा है।

श्रमण को सदैव योगमार्ग से जीवन जीने का अधिकार प्रारम्भ से मिला है। इस योग दर्शन पर आचार्य हरिभद्रने अपना संलेखन बहुत ही विस्तृत कर अपने को अध्यात्मयोगी बनाने का एक उपाय आविष्कृत किया है। योग को इतना पुरातन कहकर उनकी प्राचीनता प्रगट की है, योग पर महर्षि पतञ्जलि जैसे पर पुरुषोंका समुल्लेख करने में आचार्य हरिभद्र ने सौहार्दशील चरित्र रखा है। इस प्रकार योग की परम्पराओं का प्रामाणिक प्रस्तुतिकरण उनके योग-ग्रन्थों में सदैव सम्माननीय रहा है, अतः ये योग परम्परा के एक परमज्ञाता रूप में अपने वाङ्मय में अवतरित होकर योगानुशासन की पद्धति को अजरामर पद दे दिया। योग विद्या चिरन्तन है उसको पुनः

पुनः साधित करते हुए जीवन को महापवित्र, आत्म-परायण, परमात्म निष्ठ, परोपकार शील बनाया जा सकता है। योग शक्ति की श्रेष्ठता को सर्वोपरि सिद्ध करने में आचार्य श्री के योग-ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण रहे हैं। चाहे योगविशिका हो, योगबिन्दु हो, योगशतक हो या योगदृष्टि समुच्चय हो सभी के सभी योग विद्या के महाप्रवर्तक रहे हैं।

आचार्य हरिभद्र को समाज के विभिन्न घटकों का गहरा ज्ञान था। एक विरक्त विद्वान् की लेखनी से “धूर्ताख्यान” जैसे ग्रन्थ का निरूपण हुआ, जो प्राञ्जल प्राकृत भाषा में परिष्कृत मिल रहा है। धूर्तों का भी एक समाज था, संविधान था, सम्मेलन होता था और अपनी हार जीत की बातें लायी जाती थी। इस ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र धूर्त समाज की सामाजिकता, चतुरता एवं वाक्-निपुणता का परिचय देते हुए तत्कालिन धूर्त समाज की छवि चित्रित करते हैं। नारी समाज भी धूर्तों के मध्य में नेतृत्व करता था।

“धृतीणं पंचसया खंडवणाए अणवरि परिवारो।”^{८३}

निपुणता से निष्णात धूर्तों को पराजित करने में परम बुद्धिमत्ता प्रगट करता था इसका समुल्लेख आचार्य हरिभद्र ने “धूर्ताख्यान” में बड़ी गंभीरता से अभिव्यक्त किया है। यद्यपि ग्रन्थ का प्रमाण अल्प है लेकिन बातें कुछ चटपटी-अटपटी कही हुई हैं जो आश्चर्य से भरी हुई संभवित भी नहीं हो सकती है, एक कल्पना के जाल बिछाने में ‘धूर्ताख्यान’ ग्रन्थ सफल दिखता है।

आचार्य हरिभद्र महान् ज्योतिर्विद् होकर वाङ्मयी सर्जना में अग्रसर रहे हैं। दिनशुद्धि, लग्नशुद्धि और लग्नकुण्डली इन तीन ग्रन्थों का प्रायः यत्र-तत्र विवरण विशेषतया उपलब्ध होता है। हेमहंसगणि ने आरम्भसिद्धि वार्तिक में प्रहर, अर्धप्रहर के मापदण्ड में ‘दिनशुद्धि’ ग्रन्थ का समुल्लेख किया है। विदेशी विद्वान् पीटर्सन ने इसकी चर्चा की है।

हेमहंसगणि से रचित ‘आरम्भसिद्धिवार्तिक’ में कर्क, संवर्तक, काण, यमघण्टयोग आदि “लग्नशुद्धि” और “लग्नकुण्डली” के उद्धरण देकर आचार्य हरिभद्र की ज्योतिर्विषयक विद्वत्ता को मान्यता दी है। आचार्य हरिभद्र एक सर्वांगीण विद्वान् के रूप में विख्यात रहे। उनका लेखन ज्योतिर्विषयक विज्ञान को चर्चित करने में समय-समय पर सजग रहा है। अतःकाल, नक्षत्र आदि का परिज्ञान योगकरण, लग्न आदि का अवबोध उन्हें परिपूर्ण था। “समराइच्चकहा” आदि कथाओं में भी उन्होंने अपनी ज्योतिष विद्या का प्रसंग प्रबोध प्रदर्शित किया है।

इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र के फलित-गणित मुहूर्त सम्बन्धी विवरणों का उल्लेख करने में वे कुशल रहें।

आचार्य हरिभद्र का कर्म विषयक निरूपण निराला मिलता है और स्वतंत्र उनकी संरचना भी उपलब्ध होती है “कर्मस्तववृत्ति” उनका एक स्वतंत्र कर्म विषयक ग्रन्थ रहा है, प्रकरण ग्रंथों में उन्होंने कर्म-सिद्धान्तों का विविध रूप से विशेष परिचय देकर अपनी कर्म सिद्धान्त प्राज्ञता को अस्खलित रखा है।

कर्म-सिद्धान्त जैन परम्परा का मूलाधार है उसकी मौलिकता सम्पूर्ण जैन आम्नाय में मान्य की है, कर्मवाद सदा से सम्स्त दार्शनिकों का विचार-मंच बना है परन्तु आचार्य हरिभद्र एक निष्ठावान् बनकर अपने

पारंपरिक कर्म धारणाओं को शास्त्रीय सिद्धान्तों से समलंकृत करते हुए कर्म-बीजों की विविधता से व्याख्या देते रहे हैं। ऐसे महान् व्याख्याकार, विवेचनकार कर्म प्रकृतियों के पुरातन प्राज्ञ बनकर हमारे सामने आज भी विद्यमान हैं। उनका कर्म विषयक वैदुष्य विशेष संस्मरणीय होकर सिद्धान्त पक्ष को सबल बनाने में सहायक रहा है। साथ में आत्मवाद और कर्मवाद की सामञ्जस्यता को सम्बोधित करने में सफल रहे हैं। क्योंकि कर्मवाद के ऊपर आचार्य गर्गीषि, आचार्य चंदर्षि जैसे पुरातन महाश्रमणों का योगदान सदैव संस्मरणीय रहा है। हरिभद्र ने भी अपनी पारंपारिक कर्म प्रकृतियों का अनुशीलन कर अपने आत्मज्ञान को प्रभावित बनाया है और जनहित में उपयोगी कहा।

आचार्य हरिभद्र जितने दार्शनिक थे उतने ही परमात्म परायण के प्रतीक भी थे उन्होंने अपनी आत्मवाणी को परमात्म-स्तुति में पावनी बनायी थी। “वीरस्तवः” जैसे स्तुति ग्रन्थ लिखित कर लोक में परमात्म स्तुतिकार रूप में आख्यात हुए हैं, और “संसारदावा”^{१४} स्तुति में सफल बने। “वीरंदमीदं जगजीवणाहं” जैसी स्तुति की रचना कर जैन दर्शनके देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा को जागृत किया है।

अपने आत्म जीवन में हरिभद्र ने एक चरित्रकार रूप से “मुनिपतिचरित्र” और यशोधरचरित्र” को लिखकर लोकमंगल स्वरूप को उपस्थित किया है।

कथाकार रूप में कथाकोष के निर्माता बनकर एक निर्मल कथाओं के संग्रहकार स्वरूप में उपस्थित हुए। “वीरङ्गदकथा” “समराइच्चकहा” जैसी कथाओं की भी रचना की।

परमात्मा प्रतिष्ठा के कल्पों को पुरातन काल के प्रामाणिक आचारों से एवं आदर्शों से ‘प्रतिष्ठा-कल्प’ जैसे ग्रन्थ का प्रणयन करके परम विधिज्ञ विद्वान् हुए।

आत्मानुशासन के अनुशास्ता होकर ‘संस्कृतात्मानुशासनम्’ ग्रन्थ जैसे का निरूपण कर अपना आत्म-जीवन सुसंस्कृत अनुशासित किया।

न्याय विषयक ग्रन्थ निरूपण में उन्होंने सुन्दर नेतृत्व निभाया जैसे “न्यायप्रवेशवृत्ति, न्यायविनिश्चय” उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

आचार्यश्री शय्यंभव के “दशवैकालिक” ग्रन्थ पर लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति लिखकर आचार कल्प का सुन्दर विवेचन किया है।

भौगोलिक परिज्ञान में क्षेत्रसमासवृत्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिटीका, जम्बूद्वीप संग्रहणी, जैसे ग्रन्थों को लिखकर अपना ज्ञान सारगर्भित व्यक्त किया।

षडावश्यक का विषय श्रमण आम्नाय में सदा सम्मानित रहा है उसे भी आचार्य श्री की लेखनी ने सुललित बनाया है जैसे आवश्यकबृहदटीका, आवश्यकटीका।

पञ्चज्ञान निरूपक नन्दीसूत्र पर आचार्य श्री ने “नन्दी अध्ययनटीका” लिखकर अभिनन्दनीय कार्य किया है।

ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्तिवृत्ति लिखकर पुरातनी समाचारी का सुंदर विवेचन दिया है।

• “धर्मलाभ” श्रमण मुनियों का आशीर्वादात्मक उद्घोष है, उसको साहित्यिक रूप देने में आचार्यश्री का वरदहस्त रहा और “धर्मलाभसिद्धि” ग्रन्थ लिखकर जैन जगत का अपार हित किया।

परलोक विषयक भ्रान्तियों को भ्रमरहित बनाने के लिए “परलोकसिद्धि” जैसे सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ को लिखकर पारलौकिक परलाभ को अभिव्यक्त किया।

श्रावक हमारे जिनशासन के स्तम्भ हैं उनके विषय में श्रावक प्रज्ञप्ति, श्रावक धर्मतन्त्र, जैसे ग्रन्थ का लेखन कर श्रावक धर्म की मर्यादा को सम्मानित किया है।

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का वास्तविक बोध देने हेतु “संबोध प्रकरण” तथा सम्यग् दर्शन के सुबोध के लिए “सम्यक्त्व-सप्तिका” ग्रन्थ की रचना की।

इस प्रकार आचार्यश्री का विशाल वाङ्मय पर पूर्ण अधिकार था। उनको आगमों से प्राप्य कोई विषय अछूता नहीं था वे उसमें आकण्ठ डूब गये थे तथा चारों ओर से निरीक्षण करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतम पदार्थों को विवेचित करने का पूर्ण प्रयत्न किया। फलतः आज हम भी कह सकते हैं कि “हा अणाहा कहं हुन्ता, जइ न हुन्तो हरिभदो।”

योग विषय में अभूतपूर्व योगदान - अनेक दर्शनकारों ने योग की भूमिका को विश्व के सामने प्रकाशित की है लेकिन आचार्य हरिभद्रसूरि की योग संकलना अपने आप में अपूर्व रही है।

आचार्यश्री संकलन परम्परा के एक प्रवीण पुरुष रूप में प्रख्यात होकर योगविधियों के विशेषज्ञ जाने गये, उनका जीवन चरित योगमार्ग पर प्रवृत्ति करता पुरातन योग विषयों का गहन अध्ययन, चिन्तन, मनन एवं लेखन करता रहा।

सम्पूर्ण योग संकलन उन्होंने स्वयं के मति-कल्पना से नहीं किया, लेकिन पूर्वाचार्यों के रचित योग-ग्रन्थों के आधार पर किया, लेकिन इतना तो अवश्य कहना होगा कि उन्होंने योगविषयक संरचना बालजीवों के हितकारी बने उस दृष्टि को ध्यान में रखकर अत्यंत संक्षेप एवं सुबोधात्मक रूप में की है। योगदृष्टि समुच्चय में इस बात को चित्रित की है।

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः।

दृष्टिभेदेन योगोऽयं मात्मानुस्मृतये परः॥^{६५}

महर्षि पतञ्जलि आदि अनेक योगवेत्ताओं की दृष्टि के भेदों-प्रभेदों से युक्त यह योगमार्ग संक्षेप रूप में मैंने अपनी आत्मा की स्मृति से उद्धृत किया अर्थात् जिस प्रकार दधि के मंथन से नवनीत निकालकर पृथक् किया जाता है जो सारभूत तत्त्व (घी) को प्रगट करता है। उसी प्रकार योग-शास्त्रों के मंथन स्वरूप यह मेरा परिश्रम नवनीत तुल्य है, जो आत्म-कल्याण रूप लक्ष्य को साधने में शीघ्र सफल होगा।

योगविषयक उनके चार ग्रंथ प्राप्त होते हैं जिसके नाम योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक, और

योगविंशिका जो नवनीत एवं अमृत स्वरूप है।

योगबिन्दु जैसे ग्रन्थों में आत्म-कल्याण चाहनेवाले को स्वहित का लक्ष्य रखकर मोक्ष के हेतुभूत योग की साधना करनी चाहिए।

योग के साधक में योग की योग्यता स्वभाविक होनी चाहिए अन्यथा वह योगमार्ग पर चल नहीं सकता है, स्थिर नहीं बन सकता। लोकसिद्ध बात को योगमार्ग में लाते हुए अपनी आत्म योग्यता का समुल्लेख सुंदर ढंग से किया है पूर्व पारंपरिक जन्मान्तरिय योग में से योग विद्या का प्रादुर्भाव होता है अथवा पुरुषार्थ के बल पर व्यक्ति योगशक्ति को समुद्भवित करता है।

लोकशास्त्र के विरुद्ध योग को आचार्यश्री ने महत्त्व नहीं दिया एवं अंधश्रद्धा से भी अंगीकार नहीं किया। यह योगमार्ग मात्र शोध का विषय है, बोध का विषय है अतः शोध-बोध द्वारा संसेव्य बनाते हुए यहाँ पर अपनी आत्मयोग्यता को योगशक्ति सहित समुद्भवित रखना है।

आगमों के उचित अनुयोगों से योगमार्ग परिलक्षित होता है इस योगमार्ग में अध्यात्मभाव, ध्यानवृत्ति, समत्वयोग और वृत्तियों का संक्षय ये मोक्षमार्ग के अङ्ग है ऐसा योगबिन्दु में कहा है-

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय।

मोक्षेण योजनाद्योग, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥⁶⁶

योगबिन्दु में आचार्यश्री कहते हैं कि शास्त्रसेवन भक्तिमय भाव से करते रहो यही भक्ति तुम्हारी मुक्तिदूती बनती जायेगी, ऐसा जगत के वन्दनीय तीर्थकरोंने कहा है उनके कथन में सारभूतता यही है कि आप जितने शास्त्रों के समीप में रहने का संकल्प बनाते रहोगे उतना ही आपका योगमार्ग विशुद्ध बनता जायेगा।

योग मार्ग में सामीप्य केवल शास्त्रों का चाहिए, योगमार्ग को शास्त्र अनुमोदित बतलाते हुए स्वहित में उद्यत रहनेवाले व्यक्तियों को माध्यस्थभाव से अपनी आत्म विचारणा करते हुए स्वयं ही योगमार्ग पर अभिरूढ़ होना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र स्वकीयता के सम्मोह से मुक्त बने, परकीय परद्वेष से रहित रहते हुए श्रेष्ठतम ऐसे विद्वान् बनकर योगमार्ग पर आये। उनका मति मन्थन बड़ा ही मौलिक रहा है जो दृष्ट है, इष्ट है, अबाधित है उसको स्वीकार करने में किसी प्रकार सर्वथा संकोच नहीं करना चाहिए, यही योगमार्ग का रहस्य है।

इस योगबिन्दु का जो पुण्य मुझे मिले वह यही होगा कि जिससे अन्यों की भलाई हो परहित में आत्महित माननेवाले मनीषी हरिभद्र योगबिन्दु का शुभ पुण्यकर्म का फल यही चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति संसार में मोहान्ध बनकर नहीं भटकता हुआ योग दृष्टि वाला बनकर योगमार्ग पर गति करता रहे।

योगविंशिका में आचार्य हरिभद्र कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनों के स्वरूप का सही परिचय देते हुए आत्म उन्नति का योगमार्ग चित्रित करते हैं। योग एक आलंबन है आत्मस्वरूप को सही स्थान में स्थिर करनेवाला एक सौध (राजमहल) है। इसमें न भय है, न भेद है, नहीं भूत-भविष्य वर्तमान की कोई व्याख्या है अथवा कथा

है, अथवा न कोई प्रथा है, केवल पवित्र परमात्मा का राजमार्ग है।

. योगशतककार आचार्य हरिभद्र श्रमण-शिक्षण संस्कारों के शुभ प्रयोग का वर्णन करते हैं।

श्रुत-संस्कारों के सुपात्र को गुरुकुलवास अनिवार्य मानना चाहिए साथ में गुरु आज्ञा में रहने का मन्तव्य महत्त्वपूर्ण भाव से स्वीकार लेना चाहिए इतना होते हुए भी उचित विनय पर जीवन व्यवहार को विशद रखते हुए स्वयं अपने हाथों से गुरुकुल की स्वच्छता एवं काल-क्रियाओं का समुचित आचार पालते हुए ज्ञानयोग का, राजयोग का एवं आत्मयोग का जीव अधिकारी हो सकता है। अपने आत्मबल को नहीं छिपाते हुए सदैव बलवान् रहने की चाहना बनाये रखे और गुरु अनुग्रह को अनवरत चाहता हुआ साधक अपने योगमार्ग पर गति करता रहे।

योग की शुद्धि में धर्म अविरोधि शुभ चिन्तनों से मानसिक संशोधन करता योग शुद्धियों को कर सकता है। कर्मयोग मात्र एक क्रिया है, गुरुशरण और तप मोहविष विनाशक अनुभव सिद्ध स्वाध्याय मूल मंत्र है इस प्रकार योगशतक में आचार्य श्री ने इस विषय को इस प्रकार समुल्लेखित किया है। आत्म दूषण दोषों के प्रति दूर दृष्टि रखते हुए कर्मोदय जनित परिणामों पर सहिष्णुभाव को समर्थन देते हुए योगमार्ग में युक्त बने रहे।

आचार्य श्री चित्तरत्न की शुद्धि के लिए विशेष लक्ष्य देते हैं। जीवन के अन्तिम क्षणों में चित्तरत्न को एकदम निर्मल बनादो और परमात्म आज्ञा में अविपरीत भाव से रहने का निर्णय करलो, इससे संसारका विरह हो जायेगा।

यह संसार क्षार पानी जैसा है, तत्त्वश्रुती का संबोध मधुर जल जैसा है। तत्त्वश्रुति का संलाप गुरु भक्ति से उपलब्ध हो सकता है और यह दोनों लोको के हितकारी है गुरु भक्ति के प्रभाव से तीर्थंकर दर्शन का तीर्थंकर सिद्धान्तों का समभ्यास श्रेष्ठतर बनता और वही निर्वाण का निबन्धन है।

अपने दोषों को दर्शित कराने वाला ही श्रुत है, वह दीप तुल्य है जो तात्त्विकता का तेजोमयदर्शन करवाता है। इस संसार में भवाभिनन्दी शूद्र जीव शठमत्सरी बने हुए इनका नियम से संघ समुचित न माने, क्योंकि यह विष मिश्रित अन्न जैसा है। आदर हमेशा योग्य के लिए होता है क्योंकि आदरणीय ही ज्ञानदान का अधिकारी होता है इस प्रकार योगदृष्टि में आचार्य श्री कहते हैं।

श्रेय की उपलब्धि और विघ्नों की अशान्ति के लिए निर्द्वेष, निक्लेश भाव से प्रयत्नपूर्वक और विधिपूर्वक ज्ञानदान देना चाहिए। इस प्रकार योग की संकलना स्व एवं परहित साधने में सफल हुई है।

संस्कृत के साथ प्राकृत को प्राथमिकता :- प्राकृत साहित्य के इतिहास में आचार्य हरिभद्र का योगदान अविस्मरणीय रहा है, उन्होंने प्राकृत शैली को प्राञ्जल बनाने में परिपूर्ण दायित्व निभाया है। जैनागमों का मूल स्वरूप अर्धमागधी प्राकृत में प्रायः प्ररूपित मिलाता है, पूर्व-नोंसे मिले हुए भाषा वैभव को व्युत्पन्न विशेष सारवान् बनाने का भगीरथ पुरुषार्थ आचार्य श्री हरेभद्र का रहा है वे एक मर्यादित मेधावी महाश्रमण थे। उनके समग्र जीवन में भाषा विज्ञान विकस्वर रूप से विद्यमान रहा है। संस्कृत में वे एक सिद्धहस्त लेखक थे तो

प्राकृत में उनका पांडित्य प्रखर रूप में प्रकाशित हो रहा था मानो एक तराजू के दोनों समान पल्ले हो।

संस्कृत भाषा में इन्होंने अनेक साहित्य ग्रन्थों की रचना की जो आज हमारे सामने प्रत्यक्ष रूप में प्रसिद्ध है प्राकृत की रचनाओं में उन्होंने कहीं कहीं पर तो ऐसा अद्भुत लेखनी कौशल चित्रित किया है जिसको आज भी पढ़ते हुए हम गद्गद् हो जाते हैं। प्राकृत भाषा की प्रौढ़ता को प्रत्येक अपने साहित्य में परिणत करते हुए श्रद्धेय पाण्डित्य को प्रकट किया है उनकी सबसे बड़ी भाषा सिद्धि प्राकृत भाषा रचित ग्रन्थ-धर्मसंग्रहणी, समराइच्चकहा, पंचवस्तुक, संबोधप्रकरण, धूर्ताख्यान आदि ग्रन्थों में प्रतिष्ठित है तथा जिस की रचना कर प्राकृत को भी उन्होंने प्रधानता प्रदान की है।

प्राकृत भाषा के ग्रन्थों की रचना करके पूर्वाचार्यों के प्रति अहोभाव प्रदर्शित किया है। गणधर भगवंत सर्वजन हिताय प्राकृत सूत्रों की रचना करते है उसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर आचार्यश्री अज्ञानी, बाल जीवों को भी सुबोध गम्य बन सके अतः ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में की। उनका लक्ष्य एक ही था कि प्रत्येक जीव में भावों को जानकर स्वहित साधे इस परोपकारवृत्ति ने ही उन्हें ऐसे महान् ग्रन्थों को लिखने में प्रेरित किये।

विषय-कषाय की अग्निज्वाला में जलते हुए प्राणिओं पर शम और वैराग्य की शीतल जलधारा की वर्षा के लिए आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने “समराइच्चकहा” नामक संवेग वैराग्य से उछलते हुए तरंगों से भरपूर एक ऐसा ग्रन्थ लिखा जो प्राकृत भाषा के साहित्य में अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता और जिसे निर्विवाद रूप से प्राकृतभाषा के भाण्डागार की सर्वोच्च निधि कहा जा सकता है।

भाषा को भूषित करने में उनका समीहित, इच्छित विद्याध्ययन विशेष रूप से परिश्रित होता है संस्कृत में समुत्पन्न हुए और प्राकृत परम्परा को प्रतिष्ठित रखने में उन्होंने आजीवन लक्ष्य को लक्षित रखा।

पूर्वाचार्यों के पारम्पारिक प्राकृत भाषा के आस्थेय रूप को आत्मसात् किया और स्वयं प्राकृतभाषी बनकर प्राकृत-साहित्य को विराट रूप देने में दत्तचित्त रहे। धूर्ताख्यान जैसे ग्रन्थ को भी प्राकृतभाषा में परिष्कृत कर अपनी प्राकृत प्रियता को प्रस्थापित किया। प्रौढ़-ग्रन्थों में प्राकृत को पुरस्सर करते हुए आपने अपनी अद्वितीय प्रतिभाको प्राकृत परम विज्ञान के रूप में प्रस्फुटित किया है।

श्रुत-शास्त्रों का समदर्शित्व रूप से संदोहन :- श्रुतधर आचार्य हरिभद्र ने श्रुतों का संदोहन समदर्शित्व रूप से किया है। श्रुत को कामदुग्धाधेनू रूप से सेवित करते हुए स्वयं को संतुष्ट परिपुष्ट रखने का प्रयास करते रहे है। जिस प्रकार गोपाल संतुलित समुचित होकर अपनी धेनु का संदोहन करता है और धेनु सवात्सल्य भाव से परिपूर्ण होकर पयः स्रोतों को प्रवाहित करती है वैसे ही श्रुतधेनु ने आचार्य को सवात्सल्य भाव से आद्रितकर श्रुतधाराओं को उनके मानस में और उनकी मेधा में प्रवाहित कर दी।

एक ऐसे संतुलित श्रुत के संगोपालक बनकर अष्टकप्रकरण में “षोडशकप्रकरण” में श्रुत सरिता को संवाहिता बनाली। श्रुत मातृरूप में सुवत्स बनकर मातृ महात्म्य को पयः प्रज्ञानों में परिणत करने का उन्होंने प्रेमाद्र भाव प्रगट किया जो स्वयं वत्स के वात्सल्य पर न्यौछावर होती है। उसको निष्णात बना देती है। नयवाद

को निष्णातता से निगदित करने का कौशल उस श्रुतमाता के शुभाशिर्वाद से ही सम्पन्न बना।

सूनु बनकर श्रमण-संस्कृति के प्राङ्गण में इन्होंने जो वत्सपन के विद्या वैभव को प्रदर्शित करने का एक प्रयोग किया है वही उनका एक सूनुपन चरितार्थ हुआ है। याकिनी के भी सूनु बने, श्रुत देवता के भी सूनु बने, सूनु बनने का उनका स्वभाव कितनी सर्वोच्च स्थिती पर गया है, यह तो लेखनी से परे है।

सारस्वत प्रधान श्रुतदेवता रहे है, और उस श्रुत क्षेत्र में गति करना सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए संभव नहीं है, पर आचार्य हरिभद्र एक ऐसे संभावित श्रुतधर बने कि सारे संसार को श्रुत रूप से, विद्यामय भाव गांभीर्य से गोदोहन तुल्य परिभाषित किया।

दोहन प्रधान उनका श्रुतरूप दिव्य यश संसार में सुप्रसिद्ध बना है वैदिक, बौद्ध और जैन श्रुतश्रुतिओं, त्रिपुटकों का तात्त्विकता से दोहन कर उनके सारभूत दुग्ध को पी-पीकर अपने आत्म प्रज्ञा प्रकर्ष को प्रमाणित किया।

आत्मप्रज्ञा में प्रौढ़ बने हुए महापुरुष को अपना और पराये का क्षुद्र भेद स्पर्श नहीं कर सकता, स्वदर्शन का आग्रह एवं कदाग्रह भी जो हितकारी होता, उसे स्वीकार कर लेते है। शेष त्याग देते, किसी के प्रति अन्तर्द्वेष नहीं रखते है और सत्य को छुपाते नहीं है।

उन्होंने समदर्शित्व का साक्षात् स्वरूप योगदृष्टि समुच्चय में चित्रित किया है

सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन तथा सर्वज्ञ वादिनः।

सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया, भिन्नाचारस्थिता अपि ॥^{६९}

“सर्वज्ञ भगवान एक ही है” ऐसा स्वीकार करने वाले भिन्न भिन्न आचारों से संयोजित होने पर भी वे सभी वादी सर्वज्ञतत्त्व में भेद नहीं मानने के कारण उन सभीको सर्वज्ञ तत्त्व के अनुगामी ही मानने चाहिए।

योगबिन्दु में आचार्यश्री ने कहा कि - जो ऐश्वर्य से युक्त है वह ईश्वर ही है उसमें मात्र नामभेद है तत्त्व भेद नहीं है जैसे कि-

मुक्तो बुद्धोऽर्हन्वापि यदैश्वर्येण समन्वितः।

तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥^{७०}

जो आत्म ऐश्वर्य से सुसज्जित हो, वह चाहे मुक्त, बुद्ध या अरिहंत कोई भी क्यों न हो लेकिन परमार्थ रूप से वह ईश्वर ही है उसमें मात्र संज्ञा भेद ही समझना चाहिए।

परमोच्च पद निर्वाण जिसे अन्यदर्शनकारों ने अन्य शब्दों से संज्ञित किया उसे आचार्य श्री दार्शनिक जगत में स्याद्वाद को अपना कर अपने ग्रन्थों में सहचारी बनाकर संकलित करते है-जैसे कि-

सदाशिवः परं बह्य, सिद्धात्मा तथातेतिच।

शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादिक मेवैवमादिभिः ॥^{७१}

निर्वाण परमोच्च पद तो एक ही है फिर भी अन्वर्थ के योग से सदाशिव, सिद्धात्मा, और तथाता यह

भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा गया है।

मुक्ति जिसे अन्यदर्शनकार भी अलग-अलग नामों से स्वीकारते हैं लेकिन तात्त्विक रूप से उसमें भेद नहीं है।

अत एव च निर्दिष्टं, नामास्यास्तत्त्ववेदिभिः।

वियोगोऽविद्यया बुद्धि, कृत्स्नकर्मक्षयस्तथा ॥^{१०}

आचार्यश्री ने योगमार्ग में अत्यंत उपोदय एवं लक्ष्य को संप्राप्त कराने का जो असाधारण कारण असंग अनुष्ठान उसको ही अन्य दर्शनकारों के द्वारा अन्यान्य नाम उल्लेखित किया है उसे ही स्पष्ट करते हैं।

“प्रशान्तवाहितासंज्ञं, विसभाग परिक्षयः।

शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति, योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥^{११}

असंग अनुष्ठान को ही अन्यदर्शनकार के योगी प्रशान्तवाहिता विसभाग-परिक्षय, शिववर्त्म और ध्रुवाध्वा नामों से आख्यायित करते हैं।

सामान्यतया बड़े-बड़े विद्वान् जब चर्चा करने लगते हैं अथवा कुछ लिखते हैं तब उनमें विजिगीषा एवं स्वदर्शन का अनुराग विशिष्ट तौर पर होता है और अपने मत को स्थापित करने की भावना मुख्यरूप से होती है जिससे विविध शाखाओं के बीच मानसिक अंतर पड़ जाता है और शाब्दिक धोखाधड़ी एवं विकल्प के जाल में सत्य की साँस घुट जाती है। किन्तु हरिभद्र इस बारे में सर्वथा निराले रहे। वे परवादियों के सामने समदर्शित्वरूप में आये।

इस प्रकार श्रुताम्नाय में समदर्शित्व रूप से संदोहन करके उन्होंने सम्पूर्ण दार्शनिक जगत को अपने में समाविष्ट कर दिया। अपना अपूर्व जीवन तन्मय कर, हरिभद्र श्रमण-संस्कृति के एवं साहित्य के सर्जक होकर श्रेष्ठतर संप्रचारक बने। अपने आत्म प्रज्ञावाद को पंच-परमेष्ठि के प्रति प्रणत भाव में पुलकित रखते हुए प्रतिपल श्रुत संदोहन की नियमितता को नित्य की दिनचर्या में स्थान दिया, मान दिया, महत्त्व दिया। जो श्रुत को जीवन में स्थान देता है, मान देता है, महत्त्व बढ़ाता है, वही युग-युगान्तों तक श्रुतसंदोहन रूप से आत्मख्याति उपलब्ध करता है। आचार्य हरिभद्र एक ऐसे तत्पर तत्त्वज्ञ रूप में श्रुत संदोहन में प्रतिष्ठित मिले हैं।

अतः वे एक विरल विभूति के रूप में सम्मानित हुए सम्पूजित हुए।

१. सम्पूर्ण विवरण प्राप्त कृतियाँ

१. सम्प्रति उपलब्ध स्वोपज्ञटीकायुक्त ग्रन्थकलाप
१. अनेकान्तजयपताका
२. पञ्चवस्तु प्रकरण
३. योगदृष्टि समुच्चय
४. योगशतक
५. सर्वज्ञसिद्धि
६. हिंसाष्टक अवचूरि

अन्यकर्तृक ग्रन्थों की टीका स्वरूप सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थराशि :

- | | | |
|--------------------------|--------------------------|--------------------------------|
| १. अनुयोगद्वारलघुवृत्ति | २. आवश्यकसूत्र लघुटीका | ३. ललितविस्तरा |
| ४. जीवाभिगमलघुवृत्ति | ५. दशवैकालिक लघुवृत्ति | ६. दशवैकालिक बृहद्वृत्ति |
| ७. ध्यानशतकवृत्ति | ८. नन्दीसूत्र टीका | ९. न्यायप्रवेश टीका |
| १०. पञ्चसूत्रपञ्जिका | ११. पिण्डनिर्युक्ति टीका | १२. प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या |
| १३. तत्त्वार्थ लघुवृत्ति | १४. लघुक्षेत्रसमासवृत्ति | १५. श्रावक प्रज्ञप्तिवृत्ति |
| १६. षड्दर्शन समुच्चय | १७. षोडशकम् | १८. समराइच्चकहा |
| १९. सर्वज्ञसिद्धि सटीका | | |

सम्प्रति उपलब्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना

- | | | |
|-----------------------|-----------------------------|---------------------|
| १. अनेकान्तवाद प्रवेश | २. अष्टक प्रकरण | ३. उपदेशपद |
| ४. दर्शनसप्ततिका | ५. देवेन्द्रनरेन्द्र प्रकरण | ६. धर्मबिन्दु |
| ७. धर्मसंग्रहणी | ८. धूर्ताख्यान | ९. नाणाचितपयरण |
| १०. पञ्चाशक | ११. ब्रह्मप्रकरण | १२. यतिदिनकृत्या |
| १३. योगबिन्दु | १४. लग्नशुद्धि | १५. लोकतत्त्वनिर्णय |
| १६. विंशति विंशिका | १७. षड्दर्शनसमुच्चय | १८. षोडशक प्रकरण |

२. अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ

असीम प्रतिभाशाली समन्वयवादी के पुरोध आचार्य हरिभद्रसूरि ने भव्य जीवों के ज्ञान-विकास के लिए विपुल संख्या में तर्क-आचार-योग-ध्यान आदि विषयों के अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। उनके द्वारा रचे गये ग्रन्थकलाप का अधिकांश आज अनुपलब्ध ही है जो कृतियाँ आज उपलब्ध हो रही और जिनके अनुपलब्ध होने पर संकेत प्राप्त हो रहे हैं। वे निम्नोक्त हैं।

अनुपलब्ध संकेत प्राप्त कृतियाँ

- | | | |
|-----------------------|------------------------|-------------------------|
| १. अनेकान्तप्रघट्टः | २. अनेकान्तवाद प्रवेश | ३. अर्हच्छूडामणि |
| ४. आवश्यकबृहद्वीका | ५. उपदेश प्रकरणम् | ६. ओघनिर्युक्तिवृत्ति |
| ७. कथाकोशः | ८. कर्मस्तवृत्ति | ९. कुलकानि |
| १०. क्षमावल्लीबीजम् | ११. क्षेत्रसमासवृत्ति | १२. चैत्यवंदनभाष्य |
| १३. चैत्यवंदनवृत्ति | १४. जम्बुदीपप्रज्ञप्ति | १५. जम्बुद्वीप संग्रहणी |
| १६. जीवाभिगमलघुवृत्ति | १७. ज्ञानपञ्चकविवरणम् | १८. तत्त्वतरङ्गिणी |

| | | |
|--------------------------|----------------------------|--------------------------|
| १९. त्रिभङ्गीसार | २०. दर्शनशुद्धिप्रकरणम् | २१. दिनशुद्धि |
| २२. द्विजवदनचपेटा | २३. धर्मलाभसिद्धि | २४. धर्मसारः |
| २५. नन्द्याध्ययनटीका | २६. न्यायविनिश्चय | २७. न्यायवतारवृत्ति |
| २८. पंचनियंठी | २९. पञ्चलिङ्गी | ३०. पञ्चस्थानक |
| ३१. परलोकसिद्धि | ३२. प्रतिष्ठाकल्प | ३३. बृहन्मिथ्यात्वमंथनम् |
| ३४. यशोधरचरित्रम् | ३५. लग्नकुण्डलिका | ३६. लघुसंग्रहणी |
| ३७. वीरस्तव | ३८. वीरानन्दकथा | ३९. वेदबाह्यतानिराकरणम् |
| ४०. व्यवहारकल्प | ४१. शास्त्रवार्तासमुच्चय | ४२. स्वोपज्ञटीकोपेतः |
| ४३. श्रावकधर्मतन्त्रम् | ४४. षड्दर्शनी | ४५. संकितपंचासी |
| ४६. संग्रहणी | ४७. संपञ्चासित्तरी | ४८. संबोधसित्तरी |
| ४९. संस्कृतात्मानुशासनम् | ५०. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार | |

३. दार्शनिक कृतियों का विवेचन

१. शास्त्रवार्ता समुच्चय - आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिसमें “शास्त्रवार्ता समुच्चय” उनकी एक अनूठी दार्शनिक कृति है।

अनेक जैनाचार्य के मुख से यह उद्गार सहज ही निकल जाते हैं कि अहो खेद की बात है कि आज सर्वज्ञ प्रणीत एवं गणधरों से गुम्फित द्वादशाङ्गी का बारहवाँ अंग अनुपलब्ध है। यदि आज वह अगाध ज्ञान का सागर ‘दृष्टिवाद’ उपलब्ध हो जाता तो प्रज्ञावानों को स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि जो परमार्थ पदार्थों का यथार्थ स्वरूप यहाँ दर्शित है वही अंशतः इतर सम्प्रदायों में है, जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र मिलना अशक्य है, क्योंकि मूलमार्ग के प्रणेता तीर्थंकर ही हैं। अन्य विद्वानों ने तो जैन शास्त्रों में प्रतिपाद्य तत्त्वों को अंशतः ग्रहण करके उन्हें एकान्तवाद का परिधान देकर अन्यायान्य अनेक मतवादों को जन्म दिया है।

जैन दर्शन में संसार प्रवाह रूप से अनादि अनन्त है। संसार अनादि होने से आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध भी अनादि है, उसका कर्ता कोई नहीं है जीव अनादि काल से अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों को प्राप्त करता है तथा यथासमय भवितव्यता के परिपक्व होने पर आत्म-कल्याण के पथ पर आरूढ़ होने की चेष्टाएँ करता है।

ईश्वर के सम्बन्ध में जैनदर्शनकारों की धारणाएँ हैं कि ईश्वर कोई नित्य नैसर्गिक वस्तु नहीं है परन्तु जीव में उत्कृष्ट कर्मस्थिति का जैसे हास होता जाता है वैसे वैसे उसमें ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूप रत्नत्रयी की आराधना करने का प्रबल पुरुषार्थ जाग्रत होता है और जिससे वह घाति कर्मों को क्षय करके एवं करुणा भावना से अत्यंत

ओत-प्रोत होने के कारण अन्तिम भव के तृतीय भव में उत्थित प्राणीमात्र के उद्धार “सवि जीव करु शासनरसी” की प्रबल भावना के प्राबल्य से उपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का विपाक प्रादुर्भूत होता है वे ही केवलज्ञान और जीव-मुक्ति प्राप्त होने पर अर्हत् तीर्थंकर, परमेश्वर की महामहिम संज्ञा से विभूषित होते हैं और वे ही चतुर्विध धर्म-शासन की स्थापना करते हैं जिसमें आत्माओं को देशविरति-सर्वविरति युक्त जीवादितत्व, मोक्षमार्ग, सप्तभंगी, स्याद्वाद सिद्धान्त नय और प्रमाणों से युक्त देशना देकर मानवमात्र के आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

आगम के विषय में जैनमत की यह मान्यता है कि तीर्थंकर परमात्मा को जब घाति कर्मों के क्षय से लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान होता है तत्पश्चात् देवताओं से विरचित समवसरण में विराजित होकर देशना देते हैं उनके मुखारविंद से निगदित “उप्पनेइवा, विगमेइवा, धुव्वेइवा” इस त्रिपदी को सुनकर अपूर्व क्षयोपशम से गणधर द्वादशाङ्गी ही सत्य है और एकमात्र वही मानव उत्थान का सही उपाय है। जिन शास्त्रों में वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से न अपना कर निरपेक्ष दृष्टि से स्वीकारा गया है वह सत्शास्त्र नहीं कहा जा सकता, एकान्तवादी दर्शन अपेक्ष अपूर्ण है। अतः अनेकान्त मार्ग पर आस्था के साथ अग्रसर होना चाहिए।

श्रुतधर आचार्य हरिभद्र ने इन सभी विषयों के प्रतिपादनार्थ जिस विशाल साहित्य की रचना की, वह है “शास्त्रवार्ता समुच्चय” जो एक अनमोल शास्त्र रत्न है। आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ में आस्तिक एवं नास्तिक दोनों की मान्यताओं का निरूपण विस्तार से किया है इस ग्रन्थ में न केवल जैनशासन के विषयों का विवेचन ही है अपितु जैनतर सम्प्रदायों और शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों का संकलन तथा यथासम्भव तर्कों द्वारा उनका प्रतिपादन और उनके सभी पक्षों को विस्तार के साथ समर्थन देकर अत्यंत निष्पक्ष भाव से उनकी समीक्षा की गयी है।

उन शास्त्रों के सिद्धान्तों में जो भी त्रुटियाँ प्रतीत हुईं उनको समर्थ तर्कों द्वारा निरस्त करके उसका छिछरापन स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है कि जिसका परिहार नहीं हो सकता तथा जैन सिद्धान्तों की चर्चा के प्रसङ्ग में भी उनके प्रति कोई पक्षपात नहीं दिखाया गया है। उन्होंने समदर्शित्व रूप से जो जहाँ युक्तियुक्त लगा उसकी परीक्षा कर परिमार्जना करके अनेकान्त का विजयध्वज फहराने का पूर्ण एवं सफल प्रयास किया।

इस ग्रन्थ रचना का मुख्य उद्देश्य जगत के प्रत्येक जीव यथार्थ तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त करे तथा रागद्वेष की विभिन्न परिणतियों से परिमुक्त बनकर मतानुयायियों में परस्पर द्वेष का उपशम और सत्य ज्ञान की प्राप्ति करे।

आचार्यश्री इन विषयों को लेकर स्थान-स्थान पर दार्शनिक दृष्टि से अपनी प्रतिभा के प्रकर्ष को प्रदर्शित किया है जो इस प्रकार है।

शास्त्रवार्ता में सामर्थ्ययोग से आत्मसिद्धि का स्वरूपबोध समझाते हुए चार्वाकों का मुँह देखते हैं वे कहते हैं कि आप अपना मुँह म्लान क्यों बनाते हो, हम तो चाहते हैं कि आप अहोरात्रि आत्मसिद्धि की सफलता में सुप्रसन्न रहें फिर भी आप प्रसन्न रहना चाहते नहीं क्योंकि आत्म विमुख हो, आत्म विमुखता ही अज्ञानता का, अप्रसन्नता का कारण रहा है इसमें हम निर्दोष हैं।

आत्मसिद्धे परं शोकाल्लोकाः लोकायताननम् ।

समालोकामहे म्लानं, तत्र नो कारणं वयम् ॥^{१२}

अनात्मवादी चार्वाक आत्मसिद्धि में तत्पर होने पर मुख म्लान कर बैठ जाते हैं तो म्लानता का कारण अप्रमाणिक अनात्मवाद है दुराग्रहपूर्ण निष्ठा ही इसका कारण है इसमें हम आत्मवादी कारण नहीं हो सकते । इस प्रकार अन्यान्य दार्शनिकों के मन्तव्यों का महत्त्वपूर्ण चित्रण देते हुए शास्त्रवार्ताओं का विशदीकरण करने में बहुत बड़ा उपयोग रखा है ।

आचार्य हरिभद्र सूरि की समत्व-दृष्टि शब्दों के अनेक अर्थों में ही परिसमाप्त नहीं होती, लेकिन उनका कथन एक श्रेष्ठ आलम्बन रूप होता है स्वयं जिन्होंने सांख्यमत के प्रकृति का प्रतिवाद किया उसी सांख्य मत के प्रथम दृष्टा के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध बहुमान्य महर्षि कपिल को उद्देश करके जो कुछ कहा है वह एक विशिष्ट कोटि के समत्व का परिणाम है । आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा कि मेरी दृष्टि से प्रकृतिवाद भी सत्य है क्योंकि उसके प्रणेता सामान्य पुरुष न होकर दिव्य लोकोत्तर महामुनि कपिल है अन्यदर्शनकारों के खण्डन-मण्डन के क्षेत्र में किसी विद्वान् ने अपने प्रतिपक्षी को इतने सम्मान वाचक शब्दोंसे निर्देश यदि किया हो तो वह एकमात्र आचार्य हरिभद्र सूरि ही है ।

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।

कपिलोक्ततत्त्वतश्चैव, दिव्यो हि स महामुनिः ॥^{१३}

आचार्य हरिभद्र सूरि ने भूतवादी चार्वाक की समीक्षा करके उसके भूत-स्वभाववाद का निरसन किया है और परलोक एवं सुख दुख के वैषम्य का स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मवाद की स्थापना की है इसी चित्तशक्ति या चित्त वासना को कर्म मानने वाले मीमांसक और बौद्ध मत का निराकरण करके जैन दृष्टि से कर्म का स्वरूप क्या है यह सूचित किया ।

यह ग्रन्थ ७०० श्लोक प्रमाण संस्कृत में है और इसके ऊपर “दिकप्रदा” नामकी टीका है ।

इसी ग्रन्थ पर न्याय विशारद उपाध्याय यशोविजयजी जो जैन सम्प्रदाय के “लघु हरिभद्र” कहे जाते हैं उन्होंने नव्यन्याय की शैली में इस ग्रन्थ पर “स्याद्वाद कल्पलता” नाम की एक पाण्डित्य पूर्ण विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ लिखकर ग्रन्थ के अन्तर्निहित रहस्य को उद्घाटित किया है । सैकड़ों प्रसंगों पर कारिका के सूक्ष्म संकेतों को पाकर उसके आधार पर पूर्वपक्ष को उठाकर अत्यंत प्रौढ़ रूप से विचार व्यक्त किये, जिससे सहसा यह धारणा हो जाती है कि आचार्यश्री ने छोटे से छन्द की कारिका में इतना विस्तृत और गरिष्ठ ज्ञानराशि संचित करके “गागर में सागर” भरने जैसा कार्य किया है ।

इस महान् ग्रन्थ का हिन्दी विवेचन करने का महा भगीरथ कार्य आचार्यश्री “बदरीनाथ शुक्ल” (न्यायवेदान्ताचार्य एम.ए.) ने किया है जिन्होंने इस ग्रन्थ को ग्यारह स्तबकों में विभाजित कर विद्वद्गर्भ के सामने एक अमूल्य भेट समर्पित की है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ अत्यंत उपादेय बन गया है।

२. धर्मसंग्रहणी :- “धर्म-संग्रहणी” ग्रन्थ में आचार्यश्री हरिभद्र धर्म-हितैषी होकर अपने सैद्धान्तिक समुत्कर्ष को समुल्लिखित करने में सक्षम बने है। ये एक श्रुतज्ञानी होने के साथ-साथ महान् दार्शनिक भी थे। उन्होंने अनेक विद्वानों के साथ वाद-विवाद करके सत्य तत्त्व को जगत के समक्ष संप्रस्तुत किया है। बौद्धों के साथ भी इनका वाद-विवाद कम नहीं हुआ है। अनेक बौद्धों को अपने समर्थ तर्कों के द्वारा परास्त किये है।

विशेषतः मानव जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोण में आत्मा, शरीर, परलोक, पुण्य-पाप, देव-नारक, बन्धन-मुक्ति आदि को लेकर आस्तिक-नास्तिक दार्शनिकों में वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन होता रहता है लेकिन इन सभी चर्चाओं को प्रत्येक प्राणी समझ नहीं पाता है नारकीय जीवन दुःखों से त्रस्त होने से, तिर्यच जीव सुनने पर भी विवेकशून्य, विचारशून्य होने से, देवता भोग-विलासों में मग्न होने से, सुनने पर भी आचार शून्य होते है लेकिन मनुष्य के पास ही ऐसी विचारशक्ति की प्रबलता होती है कि वह शङ्का कर सकता है, तर्क, वाद-विवाद कर और विवेकमय दृष्टि से परीक्षा कर सकता है और परमार्थ का निर्णय करके जीवन में अपना सकता है।

इस विश्व के प्राङ्गण में पाश्चात्य संस्कृति को लेकर भौतिकवादी विद्वान् चिन्तन-मनन के आधार पर विज्ञान के क्षेत्र में अनेक आविष्कार जगत के सामने प्रस्तुत कर रहे है।

भारतदेश पूर्व से ही अध्यात्मवादी रहा है अतः यहाँ अनेक दार्शनिकों, अध्यात्मयोगियों का अवतरण होता रहा है। इसी वजह से अध्यात्म क्षेत्र में अनेक प्रकार की विचार-धारणाएँ विस्तृत बनती गई, जैसे-आत्मा का अस्तित्व, उसके शाश्वत सुख, आलोक-परलोक सुख के कारणभूत साधनाविधि, आचार अनुष्ठान बन्धन-मुक्ति, पाप-पुण्य आदि के विषयों में अनेक विचारकोंने अपने-अपने मन्तव्य प्रगट किये है और आज विश्व में, समाज में अनेक सम्प्रदाय शाखा प्रशाखाएँ विद्यमान हैं।

अनेक ऋद्धि समृद्धि से भरपूर भारतदेश विचारकों, दार्शनिकों, तत्त्वचिंतको, महापुरुषों की समृद्धि से भी भरपूर है जैन, बौद्ध, वैदिक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि मुख्यता से अध्यात्मवादी तथा चार्वाक नास्तिक दर्शन की उत्पत्ति का मुख्य स्थान भी यही है।

प्रत्येक दर्शनों की विचारधाराओं में यद्यपि स्पष्ट अंतर दिखता है, तो भी मुख्य रूप से दो विभाग पड़ते है, अनेकान्त स्याद्वाद की शिला पर चलनेवाला जैन दर्शन तथा एकान्त को लेकर चलने वाले अन्यदर्शन। एकान्त दर्शन भी कोई नित्य को स्वीकारता है तो दूसरा अनित्य का समादर करता है कोई द्रव्य और पर्याय एकान्त भेदस्वरूप है तो दूसरे एकान्त अभेद। एक की दृष्टि में पूरा जगत सामान्य है तो दूसरे की दृष्टि में जगत विशेष ही है, सामान्य का नाममात्र भी नहीं है एक ईश्वर को मानने में पूर्ण रूप से निषेध करता है जबकि दूसरा कहता है ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, साथ में यह भी मानकर चलते है कि इसके बिना आत्मोद्धार नहीं है।

इन सभी के सामने जैनमत स्याद्वाद को लेकर खड़ा हो जाता है इस मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्य भी है अनित्य भी है द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है द्वैत को स्वीकारते है अद्वैत का भी तिरस्कार नहीं करते है।

अपने पराक्रम से सर्वज्ञता का शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया हुआ आत्मा ही भगवान् है, जो जगत्कर्ता नहीं है लेकिन जगत्दृष्टा और मोक्षमार्गोपदेष्टा है।

जैनदर्शन सभी दृष्टिकोणों को निष्पक्ष भाव से स्वीकारने के कारण स्याद्वाद शैली के विरुद्ध से अलंकृत है।

शुद्ध अनात्मवादी होने से नास्तिक दर्शन मन, शरीर, इन्द्रिय को शान्ति हो वैसा कार्य करना ही धर्म है “ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनं कुतः। यह सिद्धान्त इनका है। अध्यात्मवादी दर्शन अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह प्रमाण आदि अंश में एकमत ही है लेकिन धर्म का स्वरूप, फल, मोक्ष, निर्वाण, परममुक्ति आत्मा के स्वरूप विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ है जिसको समझने में भी कठिनाई होती है, लेकिन जैनसिद्धान्त स्याद्वादवाला होने से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को दृष्टि में रखकर प्रत्येक विषयका स्पष्टीकरण करता है जिससे प्रत्येक पदार्थ सहज रूप में समझ में आ जाता है।

कष, छेद, ताप, ताडन रूप चार परिक्षा में जिनभाषित धर्म सुवर्ण के समान अणिशुद्ध उत्तीर्ण है ये सभी विचारणाएँ धर्म संग्रहणी में प्रतिपादित की गयी है ग्रन्थकार ने मूलग्रन्थ में तथा टीकाकार ने टीका में इसका वैशिष्ट्य निरूपित किया है।

धर्म-संग्रहणी ग्रन्थ में सबसे प्रथम धर्म की व्युत्पत्ति करके आत्मकल्याण का मार्ग लक्ष्य में रखा है “धृ” धातु धारण करने अर्थ में धर्म के दो अर्थ बताये है-जो दुर्गति गमन से रोके २. तथा मोक्ष मार्ग में स्थिर रखे वह धर्म

धारेइ दुग्गतीए पडंतमप्पाणगं जतो तेणं।

धम्मोत्ति सिवगइतीइ व सततं धारणासमक्खाओ ॥^{१४}

योगशास्त्र में आ. हेमचन्द्राचार्य ने भी कहा है -

दुर्गतिप्रपतत्प्राणि धारणाद् धर्म उच्यते।^{१५}

दुर्गति में गिरते प्राणी को धारण करके रखता है वह धर्म है।

धर्म के दो स्वरूप है पुण्यकर्मरूप और आत्मस्वरूप आत्मधर्म इस धर्म शब्द पर अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से विचारणाएँ है। धर्म बिन्दु जैसे ग्रन्थों में योगशास्त्र में न्यायसम्पन्न वैभव आदि मार्गानुसारी गुणों को सामान्य धर्म तथा साधु-श्रावक के व्रतो को विशेष धर्म रूप में बताये है।

धर्म अर्थात् गति सहायक द्रव्य यह धर्मास्तिकाय अर्थ में है। जीव आदि द्रव्य के स्वभाव, स्वरूप, गुण पर्याय, शक्ति आदि में भी धर्मशब्द उपयुक्त है। जिस प्रकार धूम का उर्ध्वगमन धर्म (स्वभाव) है, अमूर्तता

आकाश (स्वरूप) धर्म है। क्षमादि आत्मा के धर्म (गुण) है, कुण्डल आदि सोने के धर्म (पर्याय) है। जलना यह अग्नि का धर्म (शक्ति) है। इत्यादि ये सभी अर्थवाले धर्म का द्रव्य के साथ सम्बन्ध के विषय में एकान्तवादी परस्पर वाद-विवाद करते हैं जबकि सत्य-स्वरूप जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धान्त बताता है इस विषय पर भी विविध स्थानों पर रसप्रद चर्चाएँ मूलकार श्री एवं टीकाकार श्रीने उपस्थित की हैं जो अत्यंत आवश्यक है।

आचार्यश्री ने इसमें जो कुछ लिखा उनमें आगम सिद्धान्तों का सन्निकर्ष समुपलब्ध हुआ है। कहीं कहीं पर तो अपनी अनुभव सिद्धता आगम परिपाटी में परिणत रखते हुए प्रज्ञा प्रकर्ष को प्रोत्साहन दिया है।

नाणस्स णाणिणं णाणसाहगाणं च भक्तिबहुमाणा

आसेवनवुद्धादी अहिगमगुणमो मुणेयव्वा ॥^{९६}

ज्ञान - ज्ञानी आचार्यादि और ज्ञान के साधन पुस्तक, स्लेट, पेन आदि के प्रति भक्तिपूर्वक आंतरिक प्रीति विशेष बहुमान भाव होने चाहिए, उस बहुमान भाव से होती हुई आसेवन वृद्धि आदि प्रवृत्ति ही ज्ञान अधिगम के कारणभूत गुणों को जानना चाहिए, यहाँ आसेवन वृद्धि आदि में आदि शब्द से पढ़ाने वाले अध्यापक के भोजन पानी आदि की व्यवस्था में सहायक होना, आगम और संघ उपर वात्सल्य भाव रखना, बार-बार ज्ञान के उपयोग में रहना ये आदि शब्द से लेना।

ज्ञान को उपलब्ध करने में आत्मा को भक्तिमान् बनाने का आचार्यश्री निर्देश दे रहे हैं। भक्तियुक्त आत्मा ज्ञान गुण की उपलब्धि में अग्रसर रह सकती है। भक्ति बहुमान पूर्वक ज्ञान का आसेवन करने वाले ज्ञान वृद्धों से ज्ञान का लाभ उठा सकते हैं क्योंकि ज्ञान अधिगम गुणयुक्त आत्मा शुभ परिणामवाला बना हुआ भव्य सत्त्वभाव से अनन्त आवरणों को क्षपित कर सकता है उसे आचार्य भी एक दृष्टांत से समझाते हैं-

पवणदरवियलिएहिं घणघण चंदिमव्वतो ।

चंदस्स पसरइ भिसं जीवस्स तहाविहं नाणं ॥^{९७}

जब तीव्र पवन के सम्पर्क से बादलों का घनघोर जाल हट जाता है तब चन्द्रमा की चाँदनी का प्रसारण होता है, इसी प्रकार ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर जीव के क्षयानुरूप ज्ञान अत्यंत प्रगट होता है और वह ज्ञानवान् बन सकता, क्योंकि जब तक ज्ञाततत्त्ववान् नहीं होता जीव तब तक संवेगवान् नहीं बन सकता, अतः ज्ञान और संवेग के बल के बिना पर परलोक प्रीति इहलोक निवृत्ति जीव में उदित नहीं होती और साथ-साथ अशठभाव, भाषाशल्य रहित जीव निर्मल नहीं बनता, चरित्र धर्म पर धैर्यवान् रहकर अपने आप में संतुष्ट नहीं रहता अतः संतोष और संवेग ज्ञान के माध्यम से ही सर्वश्रेष्ठ स्वहितैषी बन सकते हैं, क्योंकि ज्ञान स्वभाव सिद्ध है और जीव में रहा हुआ है, परलोक साधक का सहयोगी भी है, इसलिए ज्ञान-अज्ञान के विवेक को उपाय पूर्वक निरवद्य बनाते रहो ऐसा धर्मसंग्रहणी में आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है।

तम्हां नाणी जीवो तं पि य परलोगसाहगं सिद्धं ।

नाणणाण विवेगे इवायमो चेव निरवज्जो ॥^{९८}

ग्रन्थ की मूल गाथाएँ १३९६ और टीकाग्रंथ १०,००० श्लोक प्रमाण है इसके प्रथम भाग में ५४५+८५१ द्वितीय भाग में है १४४४ ग्रन्थ के रचयिता सुरिपुरंदर आचार्य हरिभद्रसूरि इस मूल ग्रन्थ के प्रणेता है तो समर्थ टीकाकार आचार्यश्री मलयगिरिसूरि टीकाकार है, इससे इस ग्रन्थ की प्रभावकता विश्रुत बनी है।

इस महान् ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद जयशेखर सूरिश्वरजी म.सा. के विद्वान् शिष्य अभयशेखर विजयजी म.सा. ने किया है, जो अत्यंत अनुमोदनीय है।

३. षड्दर्शन समुच्चय - आचार्य हरिभद्रसूरि की यह एक अलौकिक कृति है। दर्शनों की संख्या छःकब निश्चित हुई इतिहास में इसका कोई निर्विवाद प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी विद्यास्थानों में गणना के प्रसंग में दर्शनों या तर्कों की संख्या की चर्चा होने लगी थी इतना ही कहा जा सकता है।

वेद से लेकर उपनिषदों तक भारतीय चिन्तनधारा उन्मुक्तरूप से बह रही थी और तपोवन आश्रमों, विद्यास्थानों में ऋषियों मुनियों अपने विचारों को शिष्यों और जिज्ञासुओं के समक्ष रख रहे थे लेकिन उन विचारों की व्यवस्था नहीं थी। भगवान बुद्ध तथा भगवान महावीर के बाद यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक और अवैदिक ऐसी दो धाराएँ हैं। अवैदिक धारा में गोशालक, संजय वेलट्टीपुत्र, पूर्णकश्यप, अजीत, केशकम्बली आदि कई विचारक थे। उनमें बौद्ध, जैन और चार्वाक आगे चलकर स्वतन्त्र दर्शन रूप में सिद्ध हुए तथा वैदिकों की भी कई शाखाएँ स्पष्ट हुई जिसमें सांख्ययोग न्यायवैशेषिक और मीमांसा आदि दर्शन रूप में स्थिर हुए इन में से सांख्य-योग और न्याय वैशेषिक वैदिक थे।

सत्यरूप में देखा जाए तो विविध दर्शनकार एकतत्त्व को अनेक रूप से निरूपित करते थे अतः जैसीभी वस्तु हो किन्तु उनके निरूपण में अनेक दृष्टिबिन्दु थे यह स्पष्ट है किन्तु ये दार्शनिक अपने-अपने मत दृढ़ करने में लगे हुए तथा दूसरे मतों को निराकरण, अतः उन विद्वानों से जो स्वयं के मत का आग्रह रखे, यह आशा रखनी निष्फल थी कि वे एक वस्तु को ही अनेक दृष्टिकोणों से निरूपण करे। नैयायिक आदि सभी दर्शन एक निश्चित प्ररूपणा लेकर चलने लगे और उसी ओर उनका आग्रह होने से दर्शनों की सृष्टि हो गयी, उनसे बाहर निकलना उनके लिए असम्भव था।

जैनदर्शन के विषय में ऐसी बात नहीं थी वे तो दार्शनिक विवाद के क्षेत्र में नैयायिक आदि सभी दर्शनों के परिष्कार के बाद अर्थात् तीसरी सदी में हुए अतएव वे अपना पथ प्रशस्त करने में स्वतन्त्र थे और इनके लिए यह भी सुविधा थी कि जैनागमों में मुख्यरूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों दृष्टियों से तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा विचारणा की पद्धति है, तथा निश्चय और व्यवहार भी वस्तु को अनेक रूपों में बताने में सक्षम है इन आगमशास्त्रों की व्याख्या जब होने लगी तब सात नयों का सिद्धान्त विकसित हुआ।

यही समय था कि जैन दार्शनिक भारतीय दर्शन क्षेत्र में जो वाद-विवाद चल रहा था उसमें क्रमशः शामिल होते गये, परिणाम स्वरूप विविध मतों का सामञ्जस्य कैसा होना चाहिए इस विषय की ओर उनकी दृष्टि गई। यह तो निश्चित था कि जब पर्यायार्थिक नय से विचार करते थे तब अनित्यवादिओं के साथ उनका

तालमेल बैठ जाता था तथा जब द्रव्यार्थिक नय से चिंतन करते थे तब नित्यवादिओं के पक्ष में समाविष्ट हो जाते थे, अतएव इस बात को लेकर ये अन्य विषयों से भी परिचित होना चाहते थे कि जैनदर्शन से अन्यदर्शनों का कितना मतैक्य है तथा कितना विभेद और यह जानने के लिए अन्य दर्शनों का अध्ययन अत्यंत आवश्यक था। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति अनेक नयसिद्धान्तों की रचना कर उनके साथ सम्बन्ध जोड़ा इस प्रवृत्ति फल स्वरूप आचार्यश्री हरिभद्रसूरिने “षड्दर्शन समुच्चय” ग्रन्थ की रचना की, जिसमें सभी दर्शनों को समाविष्ट किये। षड्दर्शन समुच्चय में छहों दर्शनों का सामान्य परिचय दिया है जिस रूप में आचार्य हरिभद्रसूरिने दर्शनों की छः संख्या मान्य रखी है वह उनकी ही प्रज्ञाबल का सूचक है। सामान्य रूप से छः दर्शनों में वैदिक दर्शन ही गिने जाते हैं। किन्तु आचार्यश्री को छः दर्शन में जैन तथा बौद्ध दर्शनभी शामिल करना था। अतएव उन्होंने सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा इन छः वैदिक दर्शनों के स्थान में छः संख्या की पूर्ति इस प्रकार की - बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक, जैमनीय ये ही दर्शन हैं, इन्हीं में सभी दर्शनों का संग्रह होता है और इन छः दर्शनों को आस्तिकवाद की संज्ञा दी।

यह निदर्शित किया गया है कि कुछ के मत से नैयायिक और वैशेषिकों के मत को भिन्न नहीं माना गया अतएव उनके मतानुसार पाँच आस्तिक दर्शन और छः संख्या की पूर्ति के लिए वे लोकायत (चार्वाक) दर्शन को जोड़ देते हैं अतएव यहाँ लोकायत दर्शन का भी निरूपण करेंगे।

षड्दर्शन संख्या पूर्यते, तन्मते किल।

लोकायतमत क्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम् ॥^{११}

आचार्यश्री ने छः आस्तिक दर्शनों की तथा एक नास्तिक दर्शन का प्रस्तुतीकरण षड्दर्शन समुच्चय में किया है इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्तदर्शन या उत्तरमीमांसा को पृथक् दर्शन के रूप में स्थान नहीं दिया इसका कारण यह भी हो सकता है कि उस समय इन दर्शनों ने अपना प्रतिष्ठित स्थान दर्शन रूप में नहीं पाया होगा।

“षड्दर्शन-समुच्चय” को अनुसरण करके अन्य दर्शनकारों और जैनाचार्यों ने दर्शन संग्राहक ग्रन्थ लिखे हैं और उसमें उन्होंने हरिभद्र जैसा ही दर्शनो का परिचय दिया है।

हरिभद्रसूरि के पश्चात् उनके षड्दर्शनसमुच्चय का स्मरण करानेवाली प्रायः पाँच कृतियों का उल्लेख मिलता है उनमें से एक अज्ञातकर्तक ‘सर्वसिद्धान्त प्रवेशक’ है दूसरी ‘सर्वसिद्धान्तसंग्रह’ है जिसके रचयिता शंकराचार्य कहे जाते हैं तीसरी कृति ‘सर्वदर्शनसंग्रह’ है जो माधवाचार्यकृत है और सुविदित है चौथी कृति जैनाचार्य राजशेखर की उसका नाम भी ‘षड्दर्शन समुच्चय’ (प्रकाशक श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, नं. १७ बनारस) ही है और पांचवी कृति माधवसरस्वती कृत ‘सर्वदर्शनकौमुदी’।

सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता का नाम यद्यपि अज्ञात है, फिर भी वह जैनकृति है इसमें तो सन्देह नहीं है क्योंकि उसके मंगलाचारण में ही ‘सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरम्’ ऐसा कहा है। यह कृति गद्य में और

तनिक विस्तृत जबकि 'षड्दर्शन समुच्चय' पद्य एवं संक्षिप्त है।

'षड्दर्शन समुच्चय' की तर्क रहस्यदीपिका टीका' के कर्ता आ. गुणरत्नसूरि है जो आ. देवसुन्दरसूरि के शिष्य रूप से अपने को प्रस्तुत टीका अधिकारों के अन्त में दी गई प्रशस्ति में प्रख्यात है।

इसी ग्रन्थ पर सोमतिलकसूरि ने वृत्ति लिखी है तथा वाचक उदयसागर ने अवचूरि रची है।

ब्रह्मशान्तिदासकृत अवचूर्णि भी है।

वृद्धि विजय कृत विवरण है।

उपरोक्त पाँच ग्रन्थों में से सर्वदर्शनसंग्रह के ऊपर ही आधुनिक व्याख्या है और वह बहुत विशद भी है। दूसरे ग्रन्थों के ऊपर कोई टीकाएँ हो तो वह ज्ञात नहीं है।

आचार्य हरिभद्रसूरिने ८७ कारिकाओं में षड्दर्शन समुच्चय समाप्त किया था किन्तु उसके प्रकरणों का निर्देश नहीं किया। आचार्य गुणरत्नसूरिने विषय विभाग की दृष्टि से इसे छह अधिकारों में विभक्त कर दिया और विस्तृत टीका लिखी।

इसका हिन्दी विवेचन पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने किया है।

४. अनेकान्त जयपताका - अनेकान्त दर्शन के प्रतिपादन का यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, आचार्य हरिभद्र इस ग्रन्थ में अनेकान्त दर्शन के उद्भट्ट विद्वान् सिद्ध हुए हैं, साथ-साथ उनके उत्तरकालीन बौद्ध विद्वानों धर्मकीर्ति आदि ने भी इनके वैदुष्य को मान्य किया है। मनीषी व्यक्ति वही मान्य होता है जिसकी कृतियाँ कुछ अद्भुत विषय का निरूपण करती हैं। 'अनेकान्त जयपताका' एक ऐसी कृति बनी जिसको वैदिक विद्वानों ने भी सामादृत की। हरिभद्र के उत्तरकालीन जितने भी न्याय दर्शन के निष्णात व्यक्ति हुए उन सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में अनेकान्तजयपताका का समुल्लेख कर आचार्य हरिभद्र को चिरस्मरणीय बना दिया है।

'अनेकान्तजय पताका' आचार्य हरिभद्र की मेधा-छवि है जिसमें उन्होंने अपनी प्रमाण मनस्विता को प्रसर्जित करके प्रज्ञावानों के चित्त को स्पर्श करने का सौष्ठव प्रगट किया है। यह एक ऐसी कृति हरिभद्र की हृदयवाहिनी बनी जो अनेकान्तदर्शन के अनुराग को आविर्भूत करती रही है इसकी भाषा न्यायदर्शन के नियमों में निराली होकर नित्य नवीन रही है, भाषा और भाव दोनों को अभिव्यक्त करने के लिए आचार्य श्री ने सम्पूर्ण दार्शनिकता को दिग्गोचर बना दिया है। दूरदर्शिता एवं सिद्धांत की प्रामाणिकता से यह 'अनेकान्तजय पताका' अपने आप में एक अपूर्व रही है।

ग्रन्थकार ने विषय सौष्ठव को सुन्दरता से चित्रित करते हुए सत-असत् को उल्लेखित किया, सामान्य-विशेष की मान्यताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, नित्य-अनित्य को सुयुक्तियों से समझाया, साथ में अभिलाष्य अनभिलाष्य को अपनी निराली भाषा में संदर्भित कर अनेकान्तजयपताका का मूल्य अभिवर्द्धित किया है।

कहीं-कहीं अपने दर्शन के अनुराग में मोहित बने हुए परदर्शनकारों को सरल सुन्दर भाषा में कहा - "अहो दुरन्तः स्वदर्शनानुरागः प्रत्युक्तमपि नावधारयतिः" बड़े खेद की बात है कि अपने दर्शन का राग दुरन्त

होता है, समझने पर भी सत्य को धारण नहीं करते है। इस प्रकार अनेकान्तवाद जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है जिसमें सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है।^{१००}

आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ के सिवाय इस विषय को प्रदर्शित करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे है जो आज अप्राप्य है १. अनेकान्त प्रघट्ट २. अनेकान्त पताकावृत्ति ३. अनेकान्त सिद्धि ४. अनेकान्त प्रकाश। उपाध्याय यशोविजयजी आदि महापुरुषोंने भी इस विषय में ग्रन्थ रचना की है उपा. यशोविजयजी की 'अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण' अनेकान्तवाद प्रवेश है तथा आ. नेमिश्वरजी की १. अनेकान्तव्यवस्था विवरण २. अनेकान्त-तत्त्वमीमांसा टीका ३. अनेकान्ततत्त्वमीमांसा है।

अनेकान्त जय पताका ग्रन्थपर आचार्य श्री की स्वोपज्ञ टीका है! टीका में मूल ग्रन्थ को समझने के लिए दिक्प्रदर्शन किया गया है। उपरोक्त आचार्य श्री की साहित्य रचना को ज्ञात कर पं. सुखलालजी के मुख से 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' यह उद्गार निकले।

लगभग डेढ़-सौ वर्ष पहले पाश्चात्य संशोधक विद्वानों का ध्यान पुरातत्त्व साहित्य आदि ज्ञान साधनों से समृद्ध पौरस्त्यभण्डारों की ओर अभिमुख हुआ और प्रो. किल्हॉर्न, बह्युलर, पिअर्सन, जेकोबी जैसे विद्वानों ने भण्डार देखे और उनकी समृद्धि का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। इसके परिणाम-स्वरूप भारत में तथा भारत के बाहर ज्ञान की एक नई दिशा खुली। इस दिशोद्घाटन के फलस्वरूप आचार्य हरिभद्र, जो कि अब तक मात्र एक विद्वान् और उसी में अवगत थे, सर्वविदित हुए। जेकोबी, लॉयमान, विन्तर्नित्स, सुवाली और शुब्रिंग आदि अनेक विद्वानोंने भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ एवं जीवन के विषय में चर्चा की है। जेकोबी, लॉयमान, शुब्रिंग और सुवाली आदि विद्वानों ने तो हरिभद्र के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का सम्पादन ही नहीं, बल्कि उनमें से किसी का तो अनुवाद या सार भी दिया है। जैसे कि डॉ हर्मन जेकोबी ने 'समराइच्चकहा' का सम्पादन किया है तथा उसका अंग्रेजी में सार भी दिया है। इस प्रकार हरिभद्र जर्मन, अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं के ज्ञाता विद्वानों के लक्ष्य पर एक विशिष्ट विद्वान् के रूप से उपस्थित हुए। दूसरी ओर पाश्चात्य संशोधन दृष्टि के जो आन्दोलन भारत में उत्पन्न हुए उनकी वजह से भी हरिभद्र के ग्रन्थों की ओर आकर्षित हुए। इस पुरुषार्थी विद्वान् ने हरिभद्र के जो ग्रन्थ हाथ में आये और जो उनकी मर्यादा थी तदनुसार उनमें से खास-खास ग्रन्थों के गुजराती अनुवाद भी प्रस्तुत किये। इस तरह देखते हैं तो नव-युग के प्रभाव से आचार्य हरिभद्र किसी एक धर्म-परम्परा के विद्वान् न रहकर साहित्य के अनन्य विद्वान् और उपासक के रूप में विद्वन्मण्डल में स्थान प्राप्त किया।^{१०१}

आज भी अनेक आचार्य, पन्यास, मुनिभगवन्तो पण्डितवर्यो का ध्यान विशेष हरिभद्र के ग्रन्थों पर आकर्षित हो रहा है तथा उनके गुजराती, हिन्दी अनुवाद तथा ग्रन्थ संपादन का प्रबल पुरुषार्थ कर रहे। आज इनके ग्रन्थ जैन शासन में न रहकर कॉलेजों के पाठ्यक्रम में भी जुड़ गये है।

५. न्यायप्रवेश वृत्ति - जैनदर्शन अथवा अन्यदर्शन में श्रुतज्ञान का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञान

के माध्यम से जीवात्मा सत्यपथ अनुगामी, पुरोगामी बन सकता है अतः भारतीय संस्कृति में जैनाचार्यों ने एवं अन्यदर्शनकारों ने बुद्धि की कुण्ठिता को दूर करने एवं वस्तु के परमार्थ का प्रतिपादन करने हेतु अनेकन्याय ग्रन्थों का सर्जन किया।

बौद्ध परंपरा में प्राचीन प्रखर प्रज्ञावान् आचार्य दिङ्नाग का स्थान सभी उत्तरवर्ती दार्शनिक विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण स्वीकारा है। क्योंकि उन्होंने 'न्यायप्रवेशसूत्र' ग्रन्थ की रचना कर आ. हरिभद्र जैसे को वृत्ति लिखने के लिए वशीभूत कर दिया। न्यायप्रवेश ग्रन्थ उस समय अत्यंत प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया था अतः इस सूत्र की महत्ता को समझकर अलग-अलग दो ग्रुपवाले विद्वान अपनी-अपनी विद्यालय में ले गये जिसमें प्रथम Tibetan वाले तथा द्वितीय Chinese वाले ले गये, और इसी कारण यही ग्रन्थ दो नामों से हमारे समक्ष आया जिसमें Tivetan के पुस्तक में से 'न्यायद्वार' एवं Chinese के पुस्तक में से 'न्यायप्रवेश' नाम मिला। जिसका प्रमाण हमें न्याय प्रवेश की अंग्रेजी भूमिका में मिलता है-

Pandit Vidhushekera equates न्यायद्वार with न्यायप्रवेश in the above extracts on the strenght of a note in Colophon of T² (pp-28-29) that in a 'Chinese book it is seen as NYAYA PRAVESA' While in a Tibet it is now known as 'NYAAY-DVARA'.¹⁰²

न्यायवेत्ताओं ने आचार्य हरिभद्र जैन आम्नाय के उच्चकोटि के बहुश्रुत विद्वान है फिर भी उनके जीवन की गुणग्राहिता सराहनीय रही है दिङ्नाग की इस कृति पर अपना प्रमाण बोध प्रचुरता से प्रस्तुत कर आ. हरिभद्र सदा-सदा के लिए बौद्ध जगत में संस्मरणीय बनें यह उनके व्यक्तित्व का विद्याभय विशद व्यवहार रहा है कि वे गुणों के प्रति सदैव संग्राहक रहे हैं, उन्होंने कभी भी संप्रदाय द्वेष को स्वीकार नहीं किया, अपितु माध्यस्थभाव के मेधावी होकर न्यायप्रवेश की वृत्ति का शुभारंभ किया तथा उन बौद्धाचार्य को सत्प्रज्ञ शब्द से तथा स्वयं को असत्प्रज्ञ शब्द से प्रस्तुत कर उदारता प्रगट की है-

रचितामपि सत्प्रज्ञैर्विस्तरेण समासतः।

असत्प्रज्ञोऽपि संक्षिप्त रुचिः सत्वानुकम्पा ॥¹⁰³

सत्प्रज्ञावानों ने तो विस्तार से ये ग्रन्थ रचे लेकिन संक्षिप्त रुचिवाला, असत्प्रज्ञ ऐसा मे संक्षेप से बालबुद्धि जीवों पर अनुकंपा की दृष्टि से 'न्यायप्रवेशवृत्ति' ग्रन्थ की रचना करता हूँ, अर्थात् जिससे मन्दबुद्धि वाले भी न्याय के पदार्थोंसे वंचित न रहे।

“न्याय प्रवेशसूत्रकम्” ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग ने साधन, पक्ष, हेतु, सपक्ष, विपक्ष के भेद, प्रभेद तथा उनकी सुचारु व्याख्या संप्रस्तुत की है साथ में ही पक्षाभास, हेत्वाभास तथा दृष्टांताभास का भी विस्तार से निरूपण मिलता है इसी से इस ग्रन्थ की उपादेयता जानकर आचार्य हरिभद्रने उस ग्रन्थ को विशेष आकर्षक बनाने हेतु न्यायप्रवेशवृत्ति लिखी है साथ में ही इस ग्रन्थ को विशिष्ट बनाने हेतु एवं स्व-पर कल्याण के लिए आ. शीलभद्र सूरि के शिष्य श्रीमद्भनेश्वर सूरि के शिष्य पण्डित पार्श्वदेव गणिने इसके ऊपर न्यायप्रवेशवृत्ति पञ्जिका लिखी, जिसका वैदुष्य विरल है।

दार्शनिक परिभाषा का ज्ञान प्राप्त करने हेतु वर्तमान में अत्रंभट्ट रचित 'तर्कसंग्रह' विशेष प्रसिद्ध है जिसके ऊपर गोवर्धनपंडित ने 'न्यायबोधिनी' तथा चंद्रजसिंह ने पदकृत्य लिखा है लेकिन 'न्यायप्रवेशसूत्र' संक्षेप परिभाषाओं से युक्त है जबकि यह ग्रन्थ नैयायिक वैशेषिक पदार्थों प्रमाणों सहित है और अनुमान प्रमाण में ही पक्ष, सपक्ष आदि की व्याख्या दी है ! भुवनभानु सूरिजी लिखित 'न्यायभूमिका' भी न्याय में प्रवेश करने हेतु सरल भाषा में सुबोधकारी है।

६. न्यायवतारवृत्ति - इसका विवेचन भी नहीं मिल रहा है।

७. न्याय विनिश्चय - इसका विवेचन नहीं मिल रहा है।

८. ललित विस्तरा - विक्रम सं. ग्यारवी शताब्दी का यह प्रसंग है कि श्रीमाल की धरा से सिद्ध-पथ पर प्रस्थान करनेवाले पाण्डित्य के प्रकर्ष से प्रतिष्ठित सिद्धर्षि गणिवर्य बने। गुरुदेव श्री गर्गर्षि के शास्त्रों के अवबोध से बोधित करने पर भी बौद्धों के तत्त्व-परिज्ञान से चित्त की चंचलता प्राप्त कर रहे थे उनके तर्कों में वे अपने स्वयं के जैनत्व को सुस्थिर करने में असमर्थता का अनुभव कर रहे थे ऐसी परिस्थिति में अपने शिष्य को देखकर आ. गर्गर्षि महत्तर ने विचार किया कि अब यह तर्कों से अपने आपको सुस्थिर नहीं कर सकता, क्योंकि खण्डनकारी बौद्धों के तर्कों से उसका चित्त विचलित हो जाता है अब तो उसे अनंत परमात्मा के वैशिष्ट्य से सुपरिचित करवाके ही सन्मार्ग पर आरूढ़ करना होगा, अतः गुरुदेवने उसको प्रज्ञावान् प्रौढ़ पूर्वाचार्यश्री हरिभद्रसूरि रचित 'ललित-विस्तरा वृत्ति' ग्रन्थ का वाचन करने दिया, बस फिर तो उसको पढ़ते ही उसका चित्त द्रवित हो उठा, उसके महामोह-विष को उतारने के लिए इस ग्रन्थ ने एक गारूड़ी मंत्र के समान अपना स्थान बना दिया। जैन तर्कों द्वारा तो मात्र उसका प्रासंगिक समाधान होता जबकि बौद्ध तर्कों द्वारा तो उसका चित्त-चपल हो जाता था अतः इस ग्रन्थ में वर्णित अनन्तदर्शी के अनन्त कल्याण एवं साधक तत्त्वमार्ग की सर्व श्रेष्ठता महत्ता एवं व्यापकता की तर्क पूर्णता प्राप्त होने पर ऐसा ज्योतिर्मय दर्शन उन्हें मिल गया कि कि पुनः अपने स्वलना की गुरुदेव श्री के चरणों में क्षमा प्रार्थना करते हुए उस परमात्म गुणों के प्रति समर्पित बन जाते हैं।

उसी समर्पणभावसे स्वच्छ एवं निर्मल बनी हुई बुद्धि के माध्यम से "उपमितिभव प्रपंच" कथा की रचना की इससे ज्ञात होता है कि यह 'ललितविस्तरा' ग्रन्थ कितना अलौकिक अद्भुत तत्त्वमार्ग का आध्यात्मिक ग्रंथ है। जो हमारे जैसे अबोध प्राणिओं के सुबोध के लिए भी सार्थक सिद्ध हो रहा है।

अनंतज्ञानी तीर्थंकर भगवान् के स्याद्वाद एवं स्वपर अहिंसा प्रधान शासन में इन विषयों पर आगम एवं अनेक आचार्यों द्वारा विरचित शास्त्र ग्रन्थ है। इसमें 'ललित-विस्तरावृत्ति' एक विशिष्ट भक्तिमय उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ है जिसके रचयिता प्रकाण्ड विद्वान् स्वपरागम मर्मज्ञ समन्वयवादी समर्थ तार्किक आ. हरिभद्रसूरि हैं। इनकी बहुमुखी प्रतिभा एवं सूक्ष्म निरीक्षण तत्त्व शक्ति इस ग्रन्थ में स्पष्ट दिखाई दे रही है।

यह ग्रन्थ नित्य नियमित चैत्यवंदन स्वरूप भक्तिमय अनुष्ठान में उपयुक्त प्रणिपातसूत्र, दण्डकसूत्र, नामस्तव, श्रुतस्तव सिद्धस्तव इत्यादि विवेचित स्वरूप है।

इन सूत्रों में प्रधान सूत्र “नमुत्थुणं” है जो वीतराग अरिहंत परमात्मा की भाववाही विशेषताओं से संयोजित स्तुतिरूप है। अरिहंत परमात्मा स्वरूप एक विशिष्ट कोटि के “तीर्थकर” नामकर्म के उपार्जन से प्राप्त होता है और जब उस उच्च आत्माका रत्नकुक्षिणि माता के गर्भ में अवतरण होता है तब देवलोक में इन्द्र का सिंहासन कम्पित हो जाता है। अवधिज्ञान के उपयोग से परमात्मा के च्यवनकल्याणक को जानकर अपने सिंहासन से नीचे उतरकर सात-आठ कदम उस दिशा तरफ अग्रसर होकर प्रस्तुत प्रणिपात सूत्र से भगवान् की स्तुति करते हैं।

“ललित-विस्तरावृत्ति” ग्रन्थ के प्रारंभ में चैत्यवंदन का माहात्म्य धर्म के अधिकारी के लक्षण, सम्यक् चैत्यवंदन ही शुभभाव का कारण होने से फलदाता बन सकता है लेकिन सम्यक् कारण को नहीं जानने वाला अर्थ को जानने में समर्थ नहीं बन सकता है अतः कहा गया है कि -

न ह्यविदिततदर्थः प्रायस्तत्सम्यकरणे प्रभविष्णवः^{१०४}

जो सम्यक् करण को सुंदर रीते से जान लेता है वह ही धर्म का अधिकारी होता है और उसके जीवन में विशिष्ट कर्म के क्षय से बहुमानभाव विधितत्परता और उचितप्रवृत्ति रूप गुण आ सकते हैं।

“एतद् बहुमानिनो विधिपरा उचित प्रवृत्तयश्च”^{१०५}

जैन धर्म के वैशिष्ट्य को आचार्य हरिभद्रसूरि ने अद्भुत शैली से आख्यायित किया है जो अपने आप में अद्भुत है।

“सर्वथा निरूपणीयं प्रवचन गाम्भीर्यं, विलोकनीया

तन्त्रान्तरस्थितिः, दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वम् इत्यादि।^{१०६}

आर्हत प्रवचन की गम्भीरता का योग्य रूप से अन्वेषण करना चाहिए, अन्य दर्शनों की स्थिति का भी योग्य सर्वेक्षण करना चाहिए, इतर दर्शनों की अपेक्षा कष, छेद और ताप परीक्षा में उत्तीर्ण जैन-दर्शन के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करना चाहिए इत्यादि अनेक विशेषताओं से विशिष्ट जैन दर्शन है।

इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर दार्शनिक अवधारणाओं की तटस्थ भाव से तर्क पूर्ण समीक्षा की है। अरिहंत परमात्मा के विशिष्ट स्वरूप का सतर्क प्रतिपादन किया है, तथा आत्मोत्थान के उपाय, सक्रम साधनामार्ग भी बताया गया है।

आचार्य भी न्यायप्रिय थे और न्याय की शैली से शब्द पर चिन्तन देने की उनकी श्रेष्ठतम प्रणाली रही है। “लोगुत्तमाणं” शब्द पर अपना मति, मन्थन प्रकट करते हुए कहते हैं कि “समुदायेष्वपि प्रवृत्तिः शब्दा अनेकधाऽवयवेष्वपि प्रवर्तन्ते स्तवेष्वप्येवमेव वाचक प्रवृत्तिः इति । न्याय संदर्शनार्थमाह लोकोत्तमेभ्यः।^{१०७}

जो शब्द समुदाय को अभिव्यक्त करता है वह कभी-कभी समुदाय के किसी न किसी भाग को भी व्यक्त करता रहता है अर्थात् समुदाय के अनेक भागों में से कुछ भिन्न-भिन्न भाग के लिए प्रवर्तमान बनता है और स्तुति में भी ऐसे शब्द का उपयोग होता है।

“लोगुत्तमाणं” शब्द लोक शब्द के समुदायार्थ स्वरूप को व्यक्त करता हुआ उत्तमता के परम औचित्य को आलेखित बनाता है। निश्चय नय के आधार पर सूक्ष्मदर्शी आचार्यश्री ने नयवाद को निखिलता से निर्णीत कर “लोगुत्तमाणं” शब्द की लोकोत्तरीय व्याख्या व्यक्त कर अपने विशिष्ट वैदुष्य का विकास किया है।

परम प्रभु को धर्म सारथि रूप से स्वीकृत कर शक्रस्तव की सर्वोत्तमता सिद्ध करते हुए आचार्यश्री हरिभद्रसूरि ‘ललितविस्तरावृत्ति’ में परमात्मा का लोक लालित्य लिखित करते हैं।

धर्म सारथि को मेरा प्रणाम ज्ञात हो, रथ के समान उस चारित्र धर्म का सम्यक् प्रवर्तक करके श्रेष्ठता से सम्पादन करनेवाले दमनता से दिव्यगुण को दर्शित करके भगवान् में सारथिपन के समस्त गुणों को चित्रित करके धर्म प्रवर्तक गाम्भीर्य योग का गहनतम गौरवशाली स्वरूप प्रस्तुत कर आचार्य हरिभद्र सभी के सहृदयी सुधी हो गये।

भयों के विजेता भगवान् है, वे बुद्ध भी है, बोधक भी है ऐसे जिनेश्वरों की भक्ति से भवदुःख को हम मिटा सकते हैं और अपने आत्मभाव को विभोर बना सकते हैं। यही हरिभद्र की हितैषणी धारणा रही है।

आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ में सांख्यदर्शन के पच्चीस तत्त्व, न्याय, वैशेषिकके आत्मा, विभु वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद, मीमांसा के दर्शनज्ञान स्वयं परोक्ष बौद्धदर्शन, माध्यमिक आदि अक्रमवत्, असत् दर्शन, सांस्कृतमत अनंतमत तत्त्वान्तवादि मत का भी संकलन किया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ दार्शनिक वाङ्मय की एक उच्चनिधि है।

चैत्यवंदन सूत्रों पर श्री आवश्यक टीका में एवं नमुत्थणं सूत्र पर श्री भगवती सूत्र व श्री कल्पसूत्र की टीकाओं में शब्दार्थ बतलाये गये हैं किन्तु श्री ललितविस्तरा में सूत्रों के प्रत्येक पद पर गर्भित भव्य दार्शनिक रहस्यों के तार्किक शैली से उद्घाटनार्थ ऐसा सुन्दर विस्तार किया गया है कि ग्रन्थ का नाम ‘ललितविस्तरा’ सान्दर्भ है।

अलबत्ता बौद्धों का भी एक ललित विस्तरा नामक ग्रन्थ है।

मूल-शक्रस्तव आदि सूत्र है जो गणधर रचित है इस पर याकिनीमहतरासूनु आ. हरिभद्रसूरि की ‘ललित विस्तरावृत्ति’ है जो १५४५ श्लोक प्रमाण है इस पर ‘पञ्जिका’ दर्शननिष्णात आचार्यदेवश्री मुनिचन्द्रसूरिश्वरजी की रचित है जो २१५५ श्लोक प्रमाण है दोनों का प्रमाण ३७०० श्लोक हैं।

इस ग्रन्थ पर गुजराती विवेचन भी हुए हैं तथा हिन्दी विवेचनकार आचार्यश्री भुवनभानु सूरिश्वरजी म.सा. हैं।

इस प्रकार परमात्मभक्ति स्वरूप यह एक अद्भुत दार्शनिक कृति है !

९. सर्वज्ञ-सिद्धि - आचार्यश्री हरिभद्रसूरि जैनशासन के गगनमण्डल में चमकते सितारे हैं। उनकी एक-एक दार्शनिक रचना अद्भुत दार्शनिक तत्त्वों को उजागर करती है। उसमें “सर्वज्ञ-सिद्धि” भी उनकी अलौकिक कृति है।

इस ग्रन्थ का कलेवर बहुत ही छोटा है फिर भी अगाध रहस्य इसमें भरा हुआ है, इसी से इसकी विशिष्टता प्रगट होती है। इस ग्रन्थ में जिस विषय का निरूपण किया गया है। वह उसके “सर्वज्ञ सिद्धि” के अभिधान से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें सर्वज्ञ की सिद्धि करनी है।

इस ग्रन्थ में सर्वज्ञ-विषयक मन्तव्य तीन विभागों में उल्लिखित है - १. सर्वज्ञ का अपलाप २. सर्वज्ञ का अर्थ विशेषज्ञ तथा ३. सर्वज्ञ का अर्थ सम्पूर्ण ज्ञाता करते है।

१. सर्वज्ञ का अपलाप :- सर्वज्ञ को नहीं स्वीकारनेवालों में मुख्य सर्वज्ञ विषयक ज्ञान से जो अनभिज्ञ हैं अर्थात् सर्वज्ञ है या नहीं ऐसा ज्ञान भी जिनको नहीं हैं ऐसे अज्ञानी द्वारा सर्वज्ञ की बात करते है और कहते है कि सर्वज्ञ नहीं है तब आवश्यक हो जाता है उनके मन्तव्यों को जानना। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकारता है जबकि सर्वज्ञ किसी प्रत्यक्ष से जाना जाए यह असंभव है, अतः वे सर्वज्ञ का अपलाप करते है, चार्वाक का यह कथन युक्ति रहित होते हुए भी सभी दार्शनिकोंने उनका उल्लेख किया हैं। क्योंकि सूक्ष्म विचार-धाराओं में आगे बढ़ने के लिए चार्वाकों की प्रत्यक्ष प्रमाण की भूमिका सुन्दर भाग निभाति है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना विश्व में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते हैं। चार्वाक भौतिकवादी बनकर दूर हो जाते है इसलिए कलिकाल सर्वज्ञ हेमन्द्राचार्य ने तो चार्वाकों के लिए सचोट रूप में कहा है।

सम्मतिर्विमतिर्वाऽपि, चार्वाकस्य न मृग्यते।

परलोकात्म मोक्षेषु, यस्य मुह्यति शोमुषी ॥^{१०८}

हमारी बात में चार्वाक सम्मत है या विमत इसका हम कुछ भी विचार नहीं करते है, कारण कि जिसकी बुद्धि परलोक, आत्मा, मोक्ष आदि में भी मोहित होती है और ये मूलभूत तत्त्व है या नहीं। इसका भी जो विचार नहीं कर सकता उसकी बात भी क्या करना, इसलिए चार्वाक सर्वज्ञ नहीं है यदि ऐसा कहे तो उसकी बात में कोई तथ्य नहीं है।

मीमांसकने सर्वज्ञ नहीं है यह प्रतिपादन उन्मार्ग पर आरूढ़ बनकर अत्यंत जटिलताओं से युक्त होकर किया है जो केवल बुद्धि की विडंबना ही है वेद कहते है वही सर्वस्व है। ईश्वर, सर्वज्ञ जैसी कोई वस्तु व्यक्ति दुनिया में नहीं है क्योंकि जो कुछ है वह वेद ही है मानव मात्र तो दोष का पात्र है वह सभी दोषों से मुक्त होकर सर्वज्ञ बनें, यह रेती में से तैल निकालने जैसी मूर्खता है। इसमें वेद अनादि सिद्ध है उसीका अनुसरण करना तथा ऋषि मुनि अनेक जो अर्थ समझाते हैं वही निशंकित रूपसे स्वीकार करने चाहिए इसमें यदि शंका की तो वेद का विध्वंस होता है और वेद के विध्वंस के समान विश्व में कोई पाप नहीं है वेद के सत्य अर्थ को समझाने के लिए विविध प्रकार के नियमों की मीमांसा इस दर्शनने की है जिसका विचार करते यही लगता है कि यह कैसा शब्द ब्रह्म का मायाजाल होगा और इस मायाजाल में मोहित शब्द ब्रह्म स्वयं स्वतन्त्र विचरण नहीं कर सकता। सर्वज्ञ और उनकी परंपरा से बंचित बने हुए मीमांसक वेद के अर्थ के विषय में अनेक शाखाओं-प्रतिशाखाओं में विभक्त हो गए और परस्पर विवाद में बंध गये, परिणाम यह आया कि दर्शनकाल के प्रवाह में आगे बढ़ते हुए

अनेक प्रकार के अनर्थकारी अनुष्ठानों को जन्म दिया। वेद के नाम पर, ऋषियों के कथन पर भद्र वर्ग उन्मार्ग पर नेत्र बन्ध करके दौड़ने लगे। अत्यन्त कठोर शब्दों में इस दर्शन की आलोचना करते आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने कहा है -

वरं वराकश्चार्वाको, योऽसौ प्रकट नास्तिकः।

वेदोक्ति तापसच्छद्य, छन्नं रक्षो न जैमिनिः ॥^{१०९}

इसलिए पापाचरण का पक्षपाती मीमांसादर्शन यदि सर्वज्ञ का अपलाप करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

२. सर्वज्ञ का विशेष अर्थ करनेवाले - सांख्य दर्शन में सर्वज्ञ के विषय में स्पष्ट विचार करने में नहीं आया, लेकिन उनके दर्शन को देखते हुए इस विषय में प्रायः अलिप्त जैसे ही रहे हैं। अर्थात् सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं, आत्मा चैतन्य स्वरूप है ऐसा यह दर्शन मानता है फिर भी उस चैतन्य का स्वयं कार्यक्षम अंशमात्र भी नहीं है, किन्तु बुद्धि के प्रतिबिम्ब मात्र उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं ज्ञान की समस्त प्रक्रिया प्रकृति के आधार पर है। यह जड़ है। इस दर्शन की समकक्ष एक तरफ योगदर्शन जो ईश्वर को सर्वज्ञ कहता है, लेकिन उसकी भी चेतन विषय में तो सांख्य जैसी ही विचारणा है। सांख्य और योग ये दोनों सर्वज्ञ मीमांसा में एक जैसा औदासीन्य बताते हैं।

बौद्धदर्शन - सर्वज्ञ को स्वीकार करता है लेकिन वह सर्वज्ञ को विशेषज्ञ स्वरूप में समझता है अतः इस दर्शन के लिए कहा गया है -

सर्वपश्यतु वा मा वां, तत्त्वमर्थं तु पश्यतु।

कीट सङ्ख्या परिज्ञाने, तस्य नः क्रोप युज्यते ॥

एक समय बुद्ध जा रहे थे और अनाज की गाड़ी जा रही थी बुद्ध को किसी ने पूछा कि इस गाड़ी में कितने जीव हैं तब बुद्धने उग्रता पूर्वक उत्तर दिया - सभी जानो या न जानो लेकिन तत्त्व पदार्थ को जानों, इसमें कितने जीव है यह जानने का क्या उपयोग, इस प्रकार जीव संख्या करने से क्या लाभ! कितना विचित्र यह उत्तर है यह उत्तर ही बुद्ध की विलक्षण प्रकृति का परिचय कराने में सार्थक है कि वे सर्वज्ञ नहीं थे।

जो सर्वज्ञ के विषय को गंभीर रीति से जानना चाहता है वह "सर्वज्ञ सिद्धि" ग्रन्थ का स्वस्थता पूर्वक चिन्तन मनन अवलोकन यदि करता है तो उसके अनेक व्यामोह दूर हो जाते हैं, बाकी तो अन्ध यदि स्तम्भ के साथ टकराता है और उसको ही पीड़ा होती है तो उसमें स्तम्भ का क्या दोष हो सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्यश्री इस बात को बताते हैं कि सर्वज्ञ का अज्ञान, सर्वज्ञ का अस्वीकार यह भी सामान्य से मोह है, अज्ञान है, लेकिन सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा आग्रह करना तो महामोह है ऐसा सज्जनों का मानना है।

सर्वज्ञाप्रतिपत्तिर्यन्मोहः सामान्यतोऽपि हि।

नास्त्येवाभिनिवेशस्तु, महामोहः सतां मतः ॥^{११०}

सामान्य रूप से सर्वज्ञ के स्वरूप को नहीं जानना अर्थात् उसके स्वरूप से अज्ञात रहना वह मोह है, लेकिन विद्यमान सर्वज्ञ देवों का अपलाप करना अर्थात् “सर्वज्ञ है ही नहीं” इस प्रकार का दुराग्रह वह तो महामोह कहलाता है, ऐसी सज्जनों की मान्यता है।

३. सर्वज्ञ अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञाता :- नैयायिक और वैशेषिक सम्पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ को स्वीकारते हैं, लेकिन वैसे सर्वज्ञ वे एक ही ईश्वर है और वे अनादि सिद्ध है, शेष जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं इसलिए ये दर्शन भी सर्वज्ञ की पारमार्थिक विचारणा से दूर रहे इस दर्शन की यह मान्यता है कि जीव मुक्त होता है तब ज्ञानशून्य बन जाता है, फिर मुक्तात्मा और शिला में कोई भेद नहीं है। नैषधीय चरित में हर्ष ने इस दर्शन की उपरोक्त दलील को पूर्वपक्ष के रूप में उपहास करते हैं कि -

मुक्तये यः शिलात्वाय, शास्त्रमूचे सचेतसाम्।

गौतमं तमवेक्ष्यैव, यथा वित्थ तथैव सः ॥

शिला स्वरूप मुक्ति के लिए प्राणिओं को जिसने शास्त्र कहा उस गौतम को आप देखकर जैसा जानते है वैसा ही है “गो” यानि पशु और इसके ‘तम’ अर्थात् श्रेष्ठ तात्पर्य वह गौतम श्रेष्ठ पशु ही है।

इस प्रकार इस विश्व में सर्वज्ञ का अर्थात् स्वरूप जानने वाले विरल ही होते है। जो सत्य को जान सके, सर्वज्ञ विषयक मूलभूत विचारणा जैन दर्शन में स्पष्ट प्रकाशित हो रही है। इस ग्रन्थ का प्रतिपादन करनेवाले बहुत ग्रन्थ है, फिर भी आचार्यश्री हरिभद्र का “सर्वज्ञ सिद्धि” ग्रन्थ विशिष्ट है।

“सर्वज्ञ-सिद्धि” - इस ग्रन्थ के प्रारंभ में २१ श्लोक है। यह पद्य अनेकान्तजय पताका’ से मिलता जुलता है प्राचीन न्याय पद्धति में अल्प शब्दों में बहुत कुछ कह दिया।

‘सर्वज्ञ सिद्धि’ की टीका “सर्वहिता” है।

इस ‘सर्वज्ञ सिद्धि’ पर आचार्यश्री हरिभद्रसूरि की स्वोपज्ञ टीका होने का “विशेषस्तु सर्वज्ञ सिद्धि टीकातोऽवसेय” स्वोपज्ञ अनेकान्त जयपताका के वृत्ति के उल्लेख से यह बात ज्ञात होती है। लेकिन दुर्भाग्यवश आज टीका उपलब्ध नहीं हैं।

अतः ग्रन्थ अध्ययन अत्यंत दुःशक्य हो गया ऐसी परिस्थिति में ग्रन्थ सुगम और सुवाच्य बने अतः शास्त्र विशारद आचार्य श्री अमृतसूरीश्वरजी महाराज ने अत्यंत परिश्रम से सभी को हितकारी ऐसी ‘सर्वहिता’ टीका की रचनी की।

साधना और आराधना के लिए सर्वज्ञ की सिद्धि आवश्यक है। इसका भावानुवाद मुनि हेमचन्द्रविजयजी म.सा. ने किया है।

सर्वज्ञ-सिद्धि एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें न्यायवादिओं की सर्वज्ञता चर्चित की है और साथ में उनके मन्तव्य को महत्त्वपूर्ण मान्यता देते हुए आचार्यश्री लोकोत्तरीय सर्वज्ञ की सर्वश्रेष्ठता को समझाते हैं।

इहलौकिक पुरुष उच्चकुल में जन्मा हुआ, ज्ञाता रहा हुआ, वक्ता बना हुआ ‘सर्वज्ञ’ नहीं हो सकता,

न्यायदर्शन के विद्वानों ने सर्वज्ञता को एक सीमित संकीर्णित सीमाओं में सुनियन्त्रित करने का सुप्रयास किया है। जबकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने लोकोत्तरीय पुरुष में सर्वज्ञता को देखा है। जो सर्वज्ञ किसी विवक्षा से न वक्ता होता है न किसी भाव से इच्छावान् बनता है, और न राग दशा में आकर विवेचक होता है, ऐसे रागादि से सर्वथा शून्य सर्वज्ञ को स्वीकार किया गया है। जो जैन दर्शन का सबसे मुख्यतम प्रतिपाद्य विषय रहा है। सर्वज्ञ-सिद्धि में इस प्रकरण को “भुवनैकसारम्” इस संज्ञा से समाख्यात कर मात्सर्य दुःख विरह को गुणानुराग से गुणशाली बनाने का सदाग्रह किया है।

सर्वज्ञ के वाक्य को सुखावह गम्भीर एवं मान्य किया है। सर्वज्ञ ही जिनेश्वर है अन्य कोई नहीं।

(१०) योगविंशिका - १४४४ ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरिद्वारा रचित विंशति- विंशिका प्रकरण जिसमें विविध विषयों पर बीस श्लोकों में अद्भुत् निरूपण किया गया है उस ग्रन्थ का ही योग विषयक एक प्रकरण “गागर में सागर” की उक्ति को सार्थक करता है। “योगविंशिका” प्रकरण जिसका बीस श्लोकों पर महोपाध्यय यशोविजयजी म.सा. ने टीका लिखकर उसके रहस्य को प्रकाशित किया है।

इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने योग की व्याख्या तथा योग के भेद-प्रभेदों को विविध प्रकार से बताये है।

मोक्षसाधक प्रत्येक अनुष्ठान योग कहलाता है तथा आचार पालन में शुद्धि और स्थिरता उत्पन्न करनेवाले स्थानादि पाँच प्रकार के योग कहे जाते हैं।

इस पाँच योगों को दो भागों में विभक्त करके प्रथम के दो क्रियायोग तथा अन्तिम तीन योग को ज्ञानयोग कहा है।

स्थानादि योगों के सेवन इच्छा-प्रवृत्ति-स्थिरता और सिद्धि की अपेक्षा से चार प्रकार के होते हैं अतः योग के कुल २० भेद भी प्रीति-भक्ति-वचन और असंग अनुष्ठान की अपेक्षा से उत्तरोत्तर विशुद्ध बनते हैं इ प्रकार कुल ८० भेद होते हैं।

स्थानादि पाँच योगों के लक्षण के साथ ही टीकाकारश्री ने प्रणिधि-प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि और विनियोग पाँच आशयों का अलग-अलग अपेक्षा से निरूपण किया है तथा चार अनुष्ठान का भी सुन्दर विवेचन किया है।

चैत्यवन्दनादि प्रत्येक क्रिया में स्थानादि योगों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए जिससे धर्मक्रिया अमृत अनुष्ठान बनकर शीघ्र मोक्षफल देने में समर्थ बनें।

ये स्थानादि चारों योगों में निरन्तर अभ्यास करने से आलंबन योग में प्रवेश होता है।

आलंबनयोग यह ध्यानयोग और अनालंबयोग समता समाधिरूप है उसमें विशेष स्थिरता होने पर वृत्तिसंक्षय योग भी प्राप्त होता है। जिससे आत्मा परम निर्वाण पद को प्राप्त करती है।

अन्यदर्शनकारों ने इसी योग को अन्य नामों से बताया है जिसको टीकाकार श्री महोपाध्यय यशोविजयजी ने अपनी टीका में उसका उल्लेख किया है।

तथा इस ग्रन्थ में यह भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है प्रत्येक अनुष्ठान तीर्थ-उन्नति का कारण है अतः विधि का ही उपदेश देना चाहिए तथा साथ ही गांभीर्यपूर्ण तीव्रभावों में अविधि का निषेध भी नितान्त रूप से करना चाहिए। अविधि पूर्वक करनेवाले अनेक होने पर भी तीर्थका उच्छेद हो सकता है और विधिपूर्वक एक ही आराधक का अनुष्ठान तीर्थ उन्नति का कारण बनता है।^{१११}

योगविशिका में मोह सागर को तैरने की एक सुन्दर पद्धति परिष्कृत की है। सदनुष्ठान हितकारी बतलाते हुए योग विधि के अङ्ग में संयुक्त किया है, योग एक ऐसा विषय है जिस पर युगों-युगों से आस्था रही है और व्यवस्था भी पुरातन काल से चली आ रही है। आचार्य हरिभद्र योगविद्या के महान् बनकर योग के अनुष्ठानों में प्रीति को और भक्तिभाव को प्रदर्शित करके सम्पूर्ण योगमय जीवन को संप्रतिष्ठित बनाते हैं और योग-विशिका जैसे ग्रन्थ में योग-विद्या की महत्ता का प्रतिपादन कर अपनी योगानुशासन जीवन क्रमता का परिचय देते हैं योग को मोक्ष का योजक बनाते हुए विशुद्ध धर्म-व्यापार में मिश्रित कर दिया, यही उनकी योगशीलता सर्वमान्य बनी है।

योगविशिका ग्रंथ पर पं. श्री अभयशेखर विजयजी म.सा. का सटीक गुजराती भाषान्तर है। तथा पण्डितवर्य धीरजलाल डाह्यालाल मेहता का भी सटीक सुंदर सुबोधगम्य गुजराती भाषान्तर है। इस ग्रन्थ पर संस्कृत टीका उपाध्याय यशोविजयजी म. की है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का आकर्षण उत्तरोत्तर ज्ञान-पिपासु वर्ग में बढ़ रहा है। इससे भी इस ग्रन्थ की महत्ता, श्रेष्ठता सिद्ध हो जाती है।

११. योगशतक - इस जगत में अनादि काल से जीव योग मार्ग से च्युत बना हुआ संसार परिभ्रमण से परिपुष्ट बन गया है जिससे अनेक यातनाओं से पीडित घोर वेदनाओं से व्यथित हो रहा है उन सांसारिक पीडाओं से मुक्त होने के लिए अत्यंत आवश्यक है योग। जिससे जीवात्मा जन्म-जन्मान्तरीय जन्म-जरा-मरण की भयंकर यातनाओं को दूर करने में प्रयत्नवान् बन सके तथा उनसे अपने आप को विच्युत कर अविच्युत सुख की प्राप्ति कर सके। इसी हेतु से श्रुतवान् योगमार्ग ज्ञाता आचार्य हरिभद्रसूरिने योगशतक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ सम्यग्ज्ञान का असाधारण कारण होने से श्रेयः स्वरूप में स्वीकारा गया है। इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने योगविषयक अपनी अल्पबोधता का सम्मूलेख करते हुए कहते हैं कि-

वोच्छामि जोगलेसं, जोगज्झयणाणुसारेणं ॥

योगाध्ययन का अनुसरण ही उनके जीवन का विषय बना था। इसलिए अपने आराध्यदेव को “सुजोगसंदंसगं” कहकर श्रेष्ठ योग को संदर्शित करनेवाले परम परमात्मा महावीर को योगिनाथ संज्ञा से संबोधित करते हैं इससे उनका भगवान् महावीर के साथ श्रद्धेय सम्बन्ध स्पष्ट होता है अपने आत्मसंबंध को शीर्षस्थ सर्वोपरि बनाते हुए आचार्य हरिभद्र योगशतक के निर्माण विधि में योजित हो जाते हैं।

आचार्य श्री व्यवहारनय और निश्चय नय से योग को एक सारगर्भित सत्यभूत निर्दिष्ट करते हैं। योग को

जीवन के दैनिक कृत्यों में आचरण रूप से उपस्थित करने का प्रयास आचार्य श्री का असामान्य है। वे योग के प्रथम अङ्ग-विनय पर विशेष लक्ष्य देते हुए उसको जीवन में आचरित करने का अधिकार देखना चाहते हैं। योग का साधक वही है जिसके जीवन में श्रद्धेयभाव से सद्गुणानुष्ठान करने की अभ्यास कला है।

बाह्याचार से योग लोकधर्म की व्यवस्था को विधिवत् व्यवस्थित रखने में आचार्य श्री ने प्राथमिकता दी है। “पढमस्स लोगधम्मे” लोकधर्म यह आपका प्रथम रहेगा और आपके जीवन की प्राथमिकता यही है कि दूसरों को पीड़ाओं से मुक्त करने हेतु योग संभाला है तो आप योगी है।

योगशतककार मोह विष विनाशक स्वाध्याय को अनुभव सिद्धयोग रूप से प्रथित करते हुए अपनी आत्म-योग योग्यता को प्रतिपादित करते हैं। अपना योग पुरुषार्थ परमार्थमय बनाने में आचार्य हरिभद्र ने दुष्कृत गर्हा को भी महत्त्वपूर्ण मान्यता दी है योगमार्ग में।

भावनाश्रुतपाठ के पक्षकार बनकर आत्मप्रेक्षण को राग की बहुलता से, मोह की प्रबलता से, द्वेष की बहुलता से मुक्त करने का महोपाय योग में प्रथित किया है। राग द्वेष और मोह ये सभी आत्म दूषण और जनित आत्मा में परिणमित होते हैं परन्तु योगमार्ग अप्रीति लक्षणवाले द्वेष से, अज्ञान लक्षणवाले मोह से आसक्तिलक्षणवाले राग से मुक्त रखने का महासन्देश देता रहा है।

अनुभव से प्रवर्तित, प्रवाह से अपेक्षित यह जीवन कई बार अस्त-व्यस्त हो जाता और अनुपम योगमार्ग से वंचित होकर शुद्ध जीवन से रिक्त बना देता है। इसलिए वीतराग के वचन लक्षणों का आज्ञारूप से परिपालन करके अभिप्रेत योगमार्ग पर आरूढ़ हो जाना चाहिए।

जिन्होंने योगासनो से काया का निरोध कर लिया है, जित्त को शुभाशयों में सर्वोत्तम बना दिया है वे ही योग-सिद्धान्त के परलोक साधक, पथिक होकर अपना आत्म-पाथेय निर्मल बना देते हैं स्थिरचित्तकारी भावों में, तत्त्वचिंतन विचारों में विरक्त को विशेष स्थान देते स्वयं अनुभव प्रधान योग मार्ग पर चलते रहते हैं। पुनः स्वयं अनुभव प्रधान योग मार्ग पर बहुमान पूर्वक भावित होकर परम कारुण्य भाव से, माध्यस्थ स्वभाव से, मैत्री प्रमोद आदि गुणों की अभिवृद्धि करके योगमार्ग की सिद्धि सम्पन्न कर लेते हैं।

इस ग्रन्थ में आत्म उन्नति का एक अलौकिक पथ प्रदर्शित किया, पत्थर के समान हृदय को भी पिघलाने का सामर्थ्य इसमें रहा हुआ है, क्योंकि समर्थ तर्कों से युक्तियाँ देकर अध्यात्मरस का स्रोत प्रवाहित किया है साथ संसार के प्रति खेद तथा मोक्ष के प्रति प्रेम के स्वरूप की भी पुष्टि की गई है।

अन्यदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि, भगवद् गोपेन्द्र आदि योगी महापुरुषों की योग विषयक दृष्टि-व्याख्या को आदर के साथ प्रस्तुत की है साथ अत्यन्त बहुमान वाचक शब्दोंको लिखकर जैसे महामति पतञ्जलि, भगवद् गोपेन्द्र उनके प्रति समादर सद्भाव प्रदर्शित किया। गुणवान् हमेशा गुणग्राही दृष्टि से गुण को ही ग्रहण करते हैं।

जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का अन्यदर्शन के साथ मात्र नामभेद ही है ऐसा कहकर उन्होंने पक्षपात,

रागद्वेष तथा तिरस्कार भावों को दूर करके “परसाम्यता” को प्राप्त करने का उपदेश दिया है तथा स्वयं एक निष्पन्न नेता होकर दर्शन-शास्त्र में मूर्तिमान होते है। दर्शनशास्त्र की चर्चा में बहुत कुछ ही अक्षरों में मर्मभेदक युक्तियों से एकान्तवाद को परास्त करके अनेकान्तवाद की ध्वजा फहरा दी है, यह आचार्यश्री के हृदय में स्थित स्याद्वाद की अनहद भक्ति बहुमान भाव की पराकाष्ठा ही है।

इसमें १०० गाथाएँ है। इस ग्रन्थ पर हरिभद्रसूरि की ‘स्वोपज्ञटीका’ ७५० श्लोक प्रमाण है जिसका प्रस्तुतिकरण इस प्रकार है -

कृतिर्धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्य

ग्रन्थाग्रमनुष्टुप्छन्दसोदेशतः श्लोकशतानिसप्त सार्धानि ।

इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद भी अनेक मुनिभगवंतो ने तथा पंडितवर्यो ने किया है।

इस ग्रन्थ में उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त और भी अनेक विषयों का संकलन सूक्ष्म बुद्धि से किया गया है जैसे कि-तीर्थश्रवण, शुक्लाहार, लब्धियों, मरण का समय जानने के उपाय, मुक्ति की प्राप्ति और अन्त में संसार विरह आदि।

(१२) योगदृष्टि समुच्चय - इस संसार में अनंतानंत जीव है प्रत्येक जीव सुख के पीछे पागल बना हुआ है उसका लक्ष्य अनवरत सुख प्राप्ति का ही होता है। अतः उनके योग्य उपाय का अन्वेषण करता रहता है। लेकिन वे सुख दो प्रकार के है, एक सुख क्षणिक, नाशवंत है, दूसरा सुख अक्षणिक शाश्वत है। क्षणिक सुख कामसुख है जिसके उपाय, अर्थ, प्राप्ति, अज्ञाना, प्रीति आदि तथा दूसरा सुख शाश्वत जो मोक्षसुख है जिसके उपाय मुख्य रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप धर्म।

सुख दो प्रकार के होने के कारण सुख के अर्थी प्राणी भी दो प्रकार के होते है। कामसुख के अर्थी जीवों को भवाभिनंदी अर्थात् भोगी जीव कहा जाता है, ये पाँच इन्द्रियों के विषय सुखों में सुख की पराकाष्ठा देखते हैं और उनके उपाय अर्थ-स्त्री आदि में ही प्रवृत्त होते हैं तथा मुक्ति-सुख के अर्थी जीवों को मुमुक्षु साधक अर्थात् योगीजीव कहे जाते है। ये मोक्षसुख के उपायभूत धर्म-साधना में ही प्रवृत्तिशील रहते है।

सभी संसारी जीवों के उपर मोहराजा का प्राबल्य अनादि काल से है। कामसुख की आसक्ति और उसके उपाय नैसर्गिक रूप से सविशेष होते है। सहसा कामसुख की परिणति आ जाती है और उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। इसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती है। लेकिन मोक्ष सुख पर प्रीति रुचि के सद्भाव उनके नहीं होते है। अतः कामसुख का राग दूर करने एवं मोक्षप्राप्ति को प्रीति संपादन के लिए उपदेश देना आवश्यक हो जाता है।

कामसुख क्षणिक है, नाशवंत है, पराधीन है, मोह उत्पादक है, विकारवर्धक है, अनेक उपायों से भरपूर है। नरक निगोद के भयंकर दुःखों को देनेवाला है। जबकि मोक्ष सुख स्थिर, नित्य, स्वाधीन, निर्विकारी, निरुपाधिक है, शुद्ध स्वभाव की रमणतावाला है। अतः परमयोगी महर्षि सभी जीवों के परोपकार के लिए ऐसे

योगमार्ग का उपदेश देते हैं।

कामसुख के अर्थी भवाभिनंदी जीव 'ओघदृष्टि' कहे जाते हैं तथा मोह की मंदता के कारण मुक्ति द्वेष दूर होकर मुक्तिमार्ग की तरफ अद्वेष जिसको जागृत हो जाता है, आत्मा और देह के भेद का बोध हो जाता है, वही मुमुक्षु जीव 'योगदृष्टि' कहा जाता है। इस योग दृष्टि के महर्षियों ने आठ विभाग किये। उन आठ दृष्टियों का वर्णन इस 'योग दृष्टि समुच्चय' ग्रन्थ में सूक्ष्म रीति से किया गया है।

समर्थ योगमार्ग के ज्ञाता आचार्य हरिभद्रसूरिने योगदृष्टि समुच्चय को योगतन्त्र के अत्यधिक सन्निकट रखते हुए उसकी पुरातन परिभाषा की प्रत्यक्ष श्रुतिफल बनाई है, इसमें इच्छायोग और सनातन संस्कार योगों का समाश्रयस्थल बनाया है। साथ में शास्त्रयोग का समाश्रय लेकर 'योगदृष्टि समुच्चय' की भूमिका रची है।

योग दृष्टिकार कहते हैं कि - दुर्लभ मनुष्य भव में योगदृष्टि ही आत्मकल्याण का दृष्टिकोण है। इसमें मोक्ष मार्ग के प्राप्ति का सामर्थ्य भरा हुआ है। इच्छादि योगों से ही आत्मा में योग दृष्टि का उदय होता है और जब योगदृष्टि बल बढ़ता है तब मित्रा, तारा, बला, स्थिरादि दृष्टियों की पराकाष्ठा का अनुभव होता है। और यह अनुभव ही मन को विकल्प रहित बनाता है। आत्मा में परोपकारीत्व का भाग जगाता है और सम्पूर्ण अनुष्ठानों को अवन्ध्य बनाने का सुअवसर संप्राप्त करवाता है।

योगदृष्टि अनवरत अद्वेषा रही है, जिज्ञासा सहित बनी है और बोधगम्य रही है। श्रद्धा से युक्त जो बोध होता है वही योगदृष्टि है। यह बोध अनर्गल प्रवृत्ति का प्रहरी है तथा सर्वश्रेष्ठ प्रवृत्ति का स्थान है।

सच्छ्रद्धासङ्गतो बोधो, दृष्टिरित्यभिधीयते।

असत्प्रवृत्ति व्याघातात्, सत्प्रवृत्ति पदावहः ॥^{११३}

देखना, जानना यही दृष्टि योग है। बोध श्रद्धा की सङ्गति से योगदृष्टि का उद्भावन होता है। योगदृष्टि असत्प्रवृत्ति विरोधी रही है, और सत्प्रवृत्ति की सदाचारी रही है।

योगदृष्टि अनादि कालीन रूढ, गुप्त घनीभूत रागद्वेष की ग्रन्थियों को तोड़ने में समर्थ रही है।

योगदृष्टि समुच्चयकार गुरुगम से अभ्यास को समुन्नत बनाने का संदेश देते हुए अनेक कुतर्करूपी विषमग्रहों से निवृत्त रहने का उपाय भी बतलाते हैं, उपयोग भी समझाते हैं।

आ. हरिभद्र ने अपने जीवन में कुतर्कों को स्थान नहीं दिया। क्योंकि वे तो समत्व के साधक थे। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में कहा कि कुतर्कों को जीवन में कभी मत आने दो, क्योंकि वह आत्मा के बोध को रुग्ण बना देता है। चिन्तन, मनन की शक्ति में मानसिक, बौद्धिक शिथिलता लानेवाले कुतर्क है। जैसे शरीर दुर्बल बनाने में रोग आक्रामक बन जाते हैं, वैसे ही बोध को मंद बनाने में स्वच्छन्द रखने में कुतर्क प्रबल बन जाते हैं। कुतर्क के रोगों से ग्रसित उनको श्रुतज्ञानरूपी परमान्न रुचिकर नहीं लगता। यदि कोई आत्मानुग्रह से श्रुतज्ञान को देने का आग्रह भी कर दे तो उसके लिए वह अजीर्ण बन जाता है। यह बोध रोग में उषर भूमि जैसा दुर्गुण है जो शास्त्रज्ञान के विचारों के बीजों को उद्भावित नहीं होने देता।

समता का विनाश करने में कुतर्क सभी जगह अग्रसर है। कभी-कभी आवेशवान् बनकर व्यक्ति अपनी आत्म समर्थता का अहित कर बैठता है। उसका सम्पूर्ण समत्व योग शंकास्पद होकर संकीर्ण बनता जाता है। श्रद्धा के भङ्ग करने में कुतर्क एक कदाग्रही बन जाते हैं।

आचार्य सिद्धसेनसूरिने 'सन्मतितर्क' में धर्मवाद को श्रद्धागम्य अहेतुवाद कहा है। श्रद्धागुण को लम्बे समय तक जीवन में अस्थिर रखने में कुतर्क बहुत बड़ा भाग निभाते हैं।

कुतर्क अभिमान को उदित कर अपने आत्मश्रद्धा मार्ग में विप्लव मचा देता है। अतः व्यक्ति अत्यधिक अभिमान वाला बनकर महाकुतर्की हो जाता है। ज्ञान गुण गंभीरता का त्याग कर अत्यधिक विकृत, विनयहीन बन जाता है। इसलिए हरिभद्रसूरिने कुतर्कों से रहित आत्मयोग को स्वीकारा है।

मुक्ति की बातें करनेवाले कुतर्कों की युक्तियों से सुरक्षित रहे। उनको अपने आत्म सम्पर्क में आने का स्थान न दे। क्योंकि कुतर्क मुक्त बनाना जानता है। लेकिन साथ में सदा संकुचित संदेहशील रखने में अग्रसर रहता है। इसलिए श्रुतज्ञान में, जीवनशील में और एकाग्रता में कुतर्कों को स्थान नहीं दिया है। साथ में शास्त्रज्ञान में भी कुतर्कों को नहीं स्वीकारा।

इस ग्रन्थ में इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग, योगावंचक, क्रियावंचक तथा फलावंचक, गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और निष्पन्नयोगी, योग के बीज, योग के अधिकारी, अनधिकारी, भवाभिनंदी जीव, दीक्षा के अधिकारी, एकान्त क्षणिकवाद और एकान्त नित्यवाद का मार्मिक भाषा में खंडन तथा आठ दृष्टियों में १ से ४ दृष्टि चरमावर्त काल में मिथ्यात्व गुणस्थानक में आती है तथा ५ से ८ दृष्टि उत्तरोत्तर गुणस्थानक में प्राप्त होती है। अन्य दर्शनकारों की योग विषयक मान्यता, अतीन्द्रिय पदार्थ श्रद्धागम्य है। सर्वज्ञवाद का स्वरूप, सर्वज्ञ सभी मूलतः एक है नाममात्र से भेद है। कुतर्क से होने वाली हानि, सद्गुण आदि विषयों को अत्यंत सुंदर रूप से समझाये गये हैं।

योगदृष्टि असंख्य होने के कारण महर्षियों ने उन्हें आठ विभागों में विभक्त की है। योगदृष्टि के समान आत्मा के गुण भी अनंत हैं। लेकिन मुख्य आठ रूप से आठ गुण की प्राप्ति और एक-एक दोष का त्याग बताया गया है।

एक-एक दृष्टि के साथ आत्मा का ज्ञान गुण का विकास कैसे होता है वह भी उपमा के साथ बताते हुए आठ योग के अंग भी बताये हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ आत्मार्थी जीवों के लिए अत्यंत उपादेय बन गया है। इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रुतसमर्थक आचार्य श्री हरिभद्रसूरि हैं तथा इस ग्रन्थ पर इनकी स्वोपज्ञ टीका है।

इस ग्रन्थ के मूल श्लोक २२८ है।

इस ग्रन्थ पर अनेक मुनि भगवंतो ने टीका सहित गुजराती भाषान्तर किया है। जो निम्न है-

१. श्री देवविजयजी गणिवर (केशरसूरिश्वरजी म.सा.)

२. पू. आ. श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. व्याख्यानात्मक शैली में भाषान्तर।
३. पू. युगभूषण विजयजी म.सा.।
४. पू. गणिवर्य मुक्तिदर्शन विजयजी म. द्वारा लिखित 'आठ दृष्टि ना अजवाला'।
५. श्री राजशेखर विजयजी म.सा. का भावानुवादवाला विवेचन।
६. पंडितजी श्री डॉ. भगवानदास मनसुखलालजी का किया हुआ विवेचन।
७. पंडितजी धीरजलाल डाह्यालाल कृत गुजराती भाषान्तर।

इस प्रकार इस ग्रन्थ पर भाषान्तर लिखकर ग्रन्थ की यशोगाथा युग-युगान्तों तक प्रसारित की है। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता अत्यधिक अध्ययन-पिपासुओं में बढ़ गई है।

१३. योगबिन्दु - योगमार्ग समर्थक, प्रज्ञावान्, आचार्यश्री हरिभद्रसूरि अपने योगबिन्दु ग्रन्थ में ही संसार की अनादिता-अनंतता का चित्रण करते हुए कहते हैं कि हमारे सामने जब संसार अनादि अनंत है ऐसा स्वरूप चित्रित होता है तब सहसा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि संसार अनादि क्यों ? इसका सुंदर प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति की प्रारंभिक भूमिका नहीं होने से वह अनादि है तथा प्रवाह की अपेक्षा से कभी भी इसका अंत नहीं होने से अनंत है। अर्थात् आदि जब अपना अंत नहीं चाहता तब वह अनंत बनकर रहता है। यह अविरह बनकर अपने अस्तित्व को सदा के लिए अचल रखता है। कितने ही इससे बिछुड़-बिछुड़ कर चले गये पर यह स्वयं अविरही रहा। अनादित्व अविरहत्व को निरूपित करने में विशेष रहा है। इस विशेषता को इसने कभी खोई नहीं, विशेषता का विशेष भण्डार बनकर यह बैठा है।

यह अनेक गतियों से आने वाले सुखी-दुःखी सभी जीवों को समाश्रय देता है। संसार का सर्वोच्च धर्म समाश्रय है जो हमारे जैसों के लिए अत्यंत उपादेय है। आश्रय देनेवाले धर्म को ही हमने अनदि कहा है। ऐसे अनादि संसार के आङ्गन में जीवों को गमनागमन करते अनंत पुद्गल परावर्त बीत गये हैं।

जन्म-जन्म से, युग-युग से यह जीव संसार की यात्रा में संसार के संत्रासों को भोगता हुआ श्रमित नहीं हुआ है। राग-द्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान विषयाशक्ति आदि मलिनता से जीवन में गति-मति और स्थिति बढ़ती गई। अर्थात् मलीनभावों से भवभ्रमण की गति, दुष्टचिंतन से दुराशयों की मति तथा मोहनीयादि कर्मरूप स्थिति उत्तरोत्तर वृद्धिभाव को प्राप्त होती है। जिससे अपने आपको सुधारने में असमर्थ हो जाता है। वह दीर्घयात्रा का राही बन जाता है। वह जब भवभ्रमण की थकावट का अहसास नहीं करता, मलिनता के भावों से विमुख नहीं होता तब अभिनिवेश अर्थात् अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि रूप हठाग्रह अपना राज्य स्थापित कर देता है, अपने रंग से उसको रंजित कर देता है। जिससे वह किसी संत महापुरुषों के परमार्थ उपदेश को मानस मेधा में ग्रहण करने को तैयार नहीं होता है।

ऐसे मोह से मोहित बने हुए अज्ञानी जीवों का भी मुझे उद्धार करना है, क्योंकि योग आत्म जीवन का रक्षक कवच है, यह कवच इतना सुदृढ़ है कि तप से भी बढकर चढकर चरितार्थ हुआ है, योग कवच ने संसार

के सबसे तीक्ष्ण मन्मथ (कामदेव) के अस्त्रों को आत्माभाव में प्रविष्ट नहीं होने दिया। काम के तीक्ष्ण बाणों से आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि तपस्वियों को फिसलते हतप्रहत होते पाये गये हैं, तपस्वी योग विकल हो सकता है परन्तु योगी उनके तीक्ष्ण बाणों से कभी योग विकल नहीं बनता, उल्टे वे शस्त्र कुण्ठित हो जाते हैं।

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि, मन्मथास्त्राणि सर्वथा।

योगवर्मावृत्ते चित्ते, तपच्छिद्रकराण्यपि ॥^{११३}

योगसिद्ध महात्माओं के द्वारा पापक्षय करने के लिए दो अक्षरों से युक्त 'योग' शब्द को श्रुतरूप दिया है, जैसे शास्त्रों को सुनने से मनुष्य निष्पाप बनता है वैसे ही योग शब्द का उच्चतम भाव से केवल गान करले तो वह भी योग-विज्ञान का विशेषाधिकारी हो सकता है।

अक्षरद्वयमप्येत च्छ्रूयमाणं विधानतः।

गीतं पापक्षयायोच्चै-योगसिद्धैर् महात्मभिः ॥^{११४}

अविद्या से मलिन बने हुए मानस को केवल योगाग्नि ही विशुद्ध बना सकती है। जैसे कि मल से युक्त सुवर्ण को अग्नि।

योग-विद्या पारलौकिक संशयों को पराजित करती रही है और निःसंशय रूप से नैष्ठित बनाती जाती है। यह योग विद्या श्रद्धा स्वरूप बनकर देवों को गुरुओं को द्विजों को प्रायः स्वप्न में भी हृष्ट-पुष्ट-श्रेष्ठ प्रेरणादायक देखती है।

सज्जनों की सम्पूर्ण प्रवृत्ति योगमय रहती है और पूर्वसेवाक्रम उनमें सुनिश्चित पाया जाता है, क्योंकि योग कल्पवृक्ष है। श्रेष्ठ चिन्तामणिरत्न है, युगप्रधान धर्म है, अणिमादि सिद्धिओं का स्वयंवर स्वयंग्रह है।

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणिःपरः।

योगः प्रधानः धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥^{११५}

जन्म के बीजों को जलाने में अग्नितुल्य, जरा को जर्जर बनाने में महाजरा रूप में, दुःख के लिए राजक्षमा और मौत के लिए यह महामौत जैसी योगविद्या है।

योगी योगमार्ग पर समाधिस्थ होता हुआ धर्ममेघ नाम से अमृतात्मा, भवशक्र, सत्यानंद अर्थ से परिचित हो जाता है।

इस ग्रन्थ में अनेक विषयों पर आचार्यश्री का विचारात्मक दृष्टिकोण है। इस ग्रन्थ के सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है।

इसमें योगविषयक मार्ग, योग का अर्थ, योगाधिकारी, योग का महात्म्य, योग का फल, द्रव्ययोग-भावयोग, योग से मोक्ष की प्राप्ति। जीव और कर्म का अनादि संबंध, परलोक सिद्धि, कर्म मूर्त या अमूर्त है, ग्रन्थीभेद के पश्चात् आत्मा का स्वरूप द्रव्यकर्म और भावकर्म का परस्पर संबंध आत्मा की नित्यानित्य स्थिति, कर्ममल का स्वरूप।

जाप का समय, जाप का माप, अभिग्रह, मैत्री-प्रमोद कारुण्य-माध्यस्थ भावों का स्वरूप संप्रज्ञात समाधि का स्वरूप मुक्त अवस्था का स्वरूप।

योग, कर्म, मोक्ष आदि विषयों पर सांख्य, बौद्ध, महर्षि पतञ्जलि, भगवद्गोपेन्द्र अन्यदर्शनकारों ने भी जिनमत पुष्ट करनेवाले वचन का प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर समन्वयवादिता से उनके सत्य पक्ष को उदारशाय बनकर स्वीकार किया है। तो कभी-कभी असत्य पक्ष के खंडन युक्त तर्कों को अपनी समर्थ मंडन युक्त तर्कों से खंडित भी किये है, परास्त भी किये है। मूलग्रंथ - ५२७ श्लोक है इस पर स्वोपज्ञ टीका तथा मुनिचंद्र सूरिविरचितवृत्ति है ग्रंथाग्र - ३६२० श्लोक प्रमाण है।

(१४) लोकतत्त्व निर्णय - 'लोकतत्त्व निर्णय' आचार्य हरिभद्रसूरि की अनुपम अनूठी अद्भुत दार्शनिक कृति है, इसमें लौकिक तात्त्विकता को तलस्पर्शी बनाते हुए, हृदयग्राही रचते हुए आचार्य हरिभद्र की समदर्शिता मुखरित होकर दार्शनिक जगत में ऊर्ध्वगामी बन रही है। दार्शनिकता में हमेशा दृष्टिकोणों की विभिन्नता, मतभेद देखने को मिलते है, जब कि आचार्य हरिभद्रने खण्डन-मण्डन की परिपाटी में तुलनात्मक दृष्टि को जैसा स्थान दिया है वैसा स्थान उनके पूर्ववर्ती समवर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी ग्रन्थ में हमें देखने को नहीं मिलता है। सत्य या मतैक्य के अधिकाधिक सन्निकट पहुंचे जा सके इस हेतु से उन्होंने परवादी के मन्तव्यों के हृदय में अन्तःप्रवेश करने का प्रयत्न किया है और अपने मन्तव्य के साथ परवादियों के मन्तव्यों, परिभाषा, भेद अथवा निरूपणभेद होने पर भी किसी तरह साम्यता रखते है। यह उन्होंने स्व-परमत की तुलना द्वारा अनेक स्थानों पर बताया है। जैसे कि समत्व के उद्गार इस श्लोक में देखने को मिलते है -

नाऽस्माकं सुगतः पिता न रिपवस्तीर्थ्या धनं नैव तै,
दत्तं नैव तथा जिनेन न हृतं किंचित् कणादादिभिः।
किंत्वेकान्तजगद्धितः स भगवान् वीरो यतश्चामलं,
वाक्यं सर्वलोपहर्तृच्च यतः तद्भक्ति मंतो वयम् ॥^{११६}

न तो बौद्ध मेरे पिता है और न हि अन्यतीर्थी देव मेरे शत्रु है, जिस प्रकार न तो उन देवों ने हमें धन दिया है उसी प्रकार न परमतारक अरिहंत ने हमको धन दिया है और न कणादादिओं ने हमारे धन का हरण किया है। लेकिन एकान्तभाव से सम्पूर्ण जगत का हित करनेवाले होने से तथा उनका निर्मल वचन सभी दोषों का नाशक होने से हम वीरप्रभु के प्रति भक्तिवाले है।

आचार्यश्री की यह कृति दार्शनिक जगत की अनिर्वचनीय कृति इसलिए बन गई कि इसमें आ. हरिभद्र ने दार्शनिकों को जो कि खंडन के कुतर्कों में आकण्ठ निमग्न थे उनको उनमें से उर्ध्वगामी बनाने तथा सत्यमार्ग के अन्वेषक बनाने का सुंदर प्रयास किया है। उन्होंने कहा कि मतभेद में मतिवैभव मलिन हो जाता है। जबकि समभाव में समत्व की गंगा प्रवाहित होती है। अतः यहां स्वयं अपनी प्रज्ञा की प्रकर्षता को समतत्त्वभाव में रूपान्तरित करके कहते है -

ब्रह्मा विष्णुर्भवतु वरदः, शंकरो वा हरो वा ।

यस्याऽचित्त्यं चरितमसमं, भावतस्तं प्रपद्ये ॥^{११७}

जिसका चरित्र अचिन्त्य और अतुल हो ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अथवा हरि कोई भी देव क्यों न हो उनको मैं भावपूर्वक स्वीकार करता हूँ ।

‘लोकतत्त्व निर्णय’ में सुन्दर विषयों का निरूपण हमें देखने को मिलता है। इसमें सर्वप्रथम भव्य आत्मा ही उपदेश के योग्य होती है। क्योंकि सिंहणी का दूध स्वर्णपात्र में ही रह सकता है, अयोग्य में उपदेश अनर्थकारी भी बन सकता है, फिर सुदेव की पहचान तथा सुदेव ही हमारे आराध्य वंदनीय है, तत्पश्चात् लोक आत्मा और कर्म को लेकर पूर्वपक्ष उठाया है और उसका खण्डन भी अभेद्य तर्कों द्वारा किया गया है। जिसका एक सुन्दर उदाहरण हमें कर्म भाग्य के विषय में मिलता है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र एक पुरुषार्थ प्रेमी महान् दार्शनिक थे, पुरुषार्थ के बल पर ही सम्पूर्ण जीवन के ढाँचे को ढाला था। फिर भी भाग्य विधाता का विरोध नहीं किया, यह हमें इस श्लोक में देखने को मिलता है।

स्वच्छंद तो नहि धनं न गुणो न विद्या, नाप्येव धर्मचरणं न सुखं न दुःखम् ।

आरूह्य सारथिवशेन कृतान्तयानं, दैवं यतो नयति तेन पथा ब्रजामि ॥^{११८}

धन, गुण, विद्या, सदाचार, सुख या दुःख ये स्वेच्छा से जीव को कुछ नहीं कर सकते। उसी कारण सारथी के परवश से पालखी में बैठकर भाग्य, जिस मार्ग में ले जायेगा वहाँ जाऊँगा। अर्थात् धन, गुण, विद्या, सुख-दुःख होने पर भी यह जीव पूर्वकर्म के फल से नहीं बचता है उसे वह फल तो भोगना ही पडता है।

इसी प्रकार जो ईश्वरकृत् जगत् को मानते उनको सुंदर संयुक्ति पूर्वक वचनों में कहते -

तस्मादनादिनिधनं व्यसनोरूभीमं, जन्मारदोषद्रढनेम्यतिरागतुम्बम् ।

घोरं स्वकर्मपवनेरितलोकचक्रं, भ्राम्यत्यनारतमिदं किमिहेश्वरेण ॥^{११९}

उस कारण से अनादि अनन्त स्थितिवाला, कष्ट से अत्यंत भयंकर और अनेक जन्मरूपी आराओंवाला, द्वेषरूपी दृढनेमिवाला, अतिरागरूपी नाभिवाला, घोर और स्वयं के लिये हुए कर्म रूपी पवन से प्रेरित यह लोकरूपीचक्र निरन्तर परिभ्रमण करता है, तो यहाँ ईश्वर से क्या ? अर्थात् पूर्वोक्त स्वरूपवाला लोक कर्मप्रवाह से ही प्रवाहित है, ईश्वर से प्रेरित नहीं है।

यद्यपि दार्शनिक होने के नाते यह खंडन-मण्डन की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती थी। लेकिन इनका मूलतः स्वभाव तो समदर्शी रूप में संबद्धित होता है। क्योंकि अपने दर्शन में, ग्रन्थों में अन्यदर्शनकारों के मत एवं मतानुयायियों को बहुमान देना सहज और सुलभ नहीं है। वे तो गंभीराशयों वाले के हृदय से ही समदर्शी के झरणे प्रवाहित हो सकते हैं और इसमें मूर्धन्य स्थान यदि किसी का हो तो वह है मेरी दृष्टि आचार्य हरिभद्रसूरि का।

वैसे दार्शनिक जगत में लोक, आत्मा और कर्म के अनुसंधान में अनेक दार्शनिकों ने अपनी लेखनी चलाई है और अपने मति-मन्थन को शास्त्रों में प्रस्तुत किया है। लेकिन लोकतत्त्व निर्णय में जो संक्षेप एवं

सारभूत निष्कर्ष हमें मिलता है वह शायद अन्यत्र अप्राप्य होगा। भारतीय विद्वानों ने तो इस ग्रन्थ को हृदय सिंहासन पर संस्थापित किया ही है, लेकिन साथ में पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसका सिंहावलोकन करके हृदयग्राही बनाया है। प्रो. सुवाली ने योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, लोकतत्त्वनिर्णय एवं षड्दर्शन समुच्चय का सम्पादन किया है और 'लोकतत्त्व निर्णय' का इटालियन में अनुवाद भी किया है, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में इसका अनुवाद होने से भी इस ग्रन्थ की पराकाष्ठा बढ़ जाती है। मेरे हाथों में तो जब लोकतत्त्व निर्णय ग्रन्थ आया और हृदयस्पर्शी बनाया तब गद-गद हो गई कि - हरिभद्र की सम्पूर्ण समत्व की गंगा यहाँ ही प्रवाहित हो गई है 'न मे पक्षपातो वीर' जो दार्शनिकों के जिह्वा पर हमेशा नृत्य करता है वह भी इसी ग्रन्थ का श्लोक है।

१५. अनेकान्त प्रवेश - जैन शासन आज भी सभी दर्शनों में शीर्षस्थ है तो उसका मुख्य कारण है अनेकान्तवाद। अनेकान्त की नींव पर रचा गया यह शासन अक्षत, अखंडित रूप से चल रहा है तथा इतर सभी दर्शनों का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है जिसके प्रधान प्रणेता तीर्थंकर भगवंत है, नन्दीसूत्र में कहा गया है-

जयइ सुआणं पभवो तित्थयराण अपच्छिमो जयइ।

जयइ गुरु लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥^{१२०}

तीर्थंकर भगवंतो से उत्पन्न आचारांगादि भेदवाला श्रुतज्ञान जयको प्राप्त करे, ऋषभादि जिनेश्वरों जय को प्राप्त करे, लोक के गुरुजय प्राप्त करे तथा महात्मा पराक्रमी महावीर भगवंत जय प्राप्त करें।

तथा इसको आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी नन्दीसूत्रवृत्ति में उल्लिखित किया है।

“श्रुतानां आचारादिभेदभिन्नानां प्रभवः।”^{१२१}

इन उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है सम्पूर्ण श्रुत के प्रसूता अरिहंत है “अर्हद्वक्त्रप्रसूत”। ऐसा हेमचन्द्राचार्यने 'स्नातस्यास्तुति' में भी कहा है।^{१२२}

लेकिन अन्य सभी दर्शन अपनी-अपनी मान्यता को विश्व में मनोहर बनाने लगे, सभी दर्शनकार एक दूसरे का बहिष्कार तिरस्कार करने लगे, कठोर शब्दों के प्रयोग करने लगे, ऐसे विषमकारी वातावरण में आचार्य हरिभद्र का अवतरण समदर्शी के रूप में हुआ। उन्होंने समस्त दार्शनिकों के हृदयों को पहचान लिया और उनको ललकारा, आह्वान किया कि व्यर्थ में कदाग्रही हठाग्रही बनकर तुमुल का स्वरूप क्यों धारण कर रहे हो, आ जाओ मेरे पास मैं आपको एक सत्यपथ के पुरोधे बना दूंगा। इस प्रकार उन्होंने अनेकान्तवाद निरूपण किया, जिसमें मिथ्याभिनवेश को छोड़कर वस्तु की पारमार्थिकता का प्रदर्शन किया और वह है 'अनेकान्तवाद प्रवेश'।

अनेकान्तवाद जयपताका आदि ग्रन्थों में सरलता सुगमता से यदि प्रवेश पाना हो तो, उसकी वास्तविकता समझना हो तो प्रथम अनेकान्तवाद-प्रवेश का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन आवश्यक है क्योंकि प्रवेश के बिना वस्तु के मर्म को जान नहीं पायेंगे, उस विशाल ग्रन्थ को समझना हो तो पहले अनेकान्तवाद-प्रवेश को हृदयंगम करना

होगा। इसमें पूर्वपक्ष का निरूपण आचार्यश्री ने स्वयं के मतिवैभव से किया है। तथा तत्पश्चात् उन मतों का युक्तिपूर्ण खंडन किया है।

इसमें सत्-असत्, नित्यानित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाष्य-अनभिलाष्य इन विषयों पर चर्चा की गई है। इसमें पूर्वपक्ष इन सभी में एकान्तदृष्टि से भेद मानता है - 'कथमेकं सदसदरूपम् भवति'^{१३३} एक ही वस्तु सत् असत् कैसे हो सकती है ? उसका समाधान आचार्य श्री ने युक्तिपूर्ण दिया है और जिसका विस्तार "अनेकान्तजयपताका" में मिलता है। यह कृति आ. हरिभद्रसूरि रचित है।

निष्कर्ष

अस्तु निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित है कि आचार्य हरिभद्र एक क्रान्तिकारी आचार्य समन्वय के पुरोधा थे, जैन दर्शन एवं सिद्धान्तों को नव आयाम देने वाले थे। उनका व्यक्तित्व जितना महान् था उतना ही महान् उनका कृतित्व था। उनकी दार्शनिक कृतियों पर परवर्ती विद्वानों, चिन्तकों द्वारा लिखे गये व्याख्या ग्रन्थ या अनुवाद उन दार्शनिक कृतियों के वैशिष्ट्य को उजागर करते हैं एवं स्वाभिमान के साथ वे कहते थे।

न मे पक्षपातो वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ॥^{१३४}

आदि पंक्तियाँ उनकी अनेकनीयता समन्वयशीलता एवं समरसता को प्रकट करती है। निःसंदेह वे महान् आचार्य सत्यसंधित्सु, महान् विचारक, चिन्तन एवं लेखक थे। ये जैन दर्शन के असामान्य विद्वान् होते हुए भी अन्यदर्शनों की गतिशीलता एवं परिपूर्णता उनमें अद्भुत थी स्वयं के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में सदैव महामना रहे और अन्यो के सिद्धान्तों को समझने में सदैव विशेष मेधावी रहे। इस प्रकार जैन दर्शन को दिये गये उनके अवदान उनकी अमरगाथा के साक्षी युगों-युगों तक रहेंगे।

॥ इति प्रथम अध्याय ॥



प्रथम अध्याय की सन्दर्भसूची

| | |
|---|--------------------------------|
| १. प्रभावक चरित्र | श्लोक ६ |
| २. धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में पं. कल्याणविजयजी लिखित | पृ. ३ |
| ३. प्रभावक चरित्र | श्लोक ९, १० |
| ४. वही | श्लोक १७ |
| ५. श्री आवश्यक निर्युक्ति | श्लोक ४२१ |
| ६. प्रभावक चरित्र | श्लोक २९ |
| ७. वही | श्लोक ७६ |
| ८. श्रीमद्हरिभद्रसूरि रचितव्यासमलंकृतं चिरन्तनाचार्यकृतं पञ्चसूत्रम् | पृ. ९ |
| ९. राज-राजेन्द्र स्वाध्याय (पंच सूत्र - २) | पृ. १३४ |
| १०. प्रभावक चरित्र | श्लोक १५० |
| ११. वही | श्लोक १६८ |
| १२. वही | श्लोक १८० |
| १३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह में | श्लोक २३० पृ. १०५ |
| १४. प्रभावक चरित्र | श्लोक १८५ से १८७ |
| १५. वही | श्लोक २०७ |
| १६. कहावली | ताडपत्रीय पोथी खण्ड २ पत्र ३०० |
| १७. वही | ताडपत्रीय पोथी खण्ड २ पत्र ३०० |
| १८. वही | ताडपत्रीय पोथी खण्ड २ पत्र ३०० |
| १९. प्रबन्धकोश | पृ. २४ |
| २०. वही | पृ. २५ |
| २१. वही | पृ. २६ |
| २२. पं. कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में | पृ. १३ |
| २३. पञ्चाशक टीका | पृ. ४८६ |
| २४. पं. कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में | पृ. ७ |
| २५. षड्दर्शनसमुच्चय तर्क रहस्य बृहद् टीका | पृ. १ |
| २६. प्रबन्ध कोश | पृ. २५ |
| २७. पं. कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में | पृ. ७ |
| २८. जयसुंदर विजयजी लिखित शास्त्रवार्ता समुच्चय की प्रस्तावना | पृ. ८ |
| २९. पं. कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में | पृ. ७ |
| ३०. हरिभद्रसूरि रचित क्षेत्रसमासवृत्ति-जिसका उल्लेख जेसलमेर के बृहत् ज्ञान भण्डार की हस्तलिखित प्रत के अन्तभाग में ये दो गाथा मिलती है। | |

| | |
|--|------------------|
| ३१. जयसुंदर विजयजी लिखित शास्त्रवार्ता समुच्चय की प्रस्तावना में | पृ. ९ |
| ३२. कुवलयमाला की प्रशस्ति में यह श्लोक मिलता है | |
| ३३. उपमिति भवप्रपंच की समाप्ति में यह श्लोक प्राप्त होता है। | |
| ३४. शिष्यहिता नामावश्यटीका की प्रशस्ति में यह उद्धरण मिलता है। | |
| ३५. पं. कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना | पृ. १ |
| ३६. पंचसूत्रव्याख्या की प्रशस्ति में | पृ. ३० |
| ३७. उपदेश पद की प्रशस्ति में | |
| ३८. धर्मसंग्रहणी प्रथमभाग | गाथा ३ |
| ३९. शास्त्रवार्ता समुच्चय प्रथमस्तबक | श्लोक १ |
| ४०. श्रीमद् हरिभद्रसूरि सूत्रिता नन्दीवृत्ति | पृ. १ |
| ४१. योगदृष्टि समुच्चय | श्लो. १ |
| ४२. योगशतक | गा. १ |
| ४३. सर्वज्ञ सिद्धि | श्लो. ४ |
| ४४. धर्मबिन्दु मूल | सूत्र ३५, ३६, ३७ |
| ४५. योगदृष्टि समुच्चय | श्लो. ९९ |
| ४६. प्रमाणनय तत्त्वालोक | अ. ४ सू. १ (४/१) |
| ४७. श्री ध्यानशतक | गा. २ |
| ४८. योगबिन्दु हरिभद्रकृतटीका | श्लो. ३ पृ. ४ |
| ४९. धर्मसंग्रहणी की टीका प्रथम भाग | पृ. ७० |
| ५०. शास्त्रवार्ता समुच्चय प्रथम स्तबक | श्लो. ८८ |
| ५१. वही | श्लो. ९० |
| ५२. धर्मसंग्रहणी प्रथम भाग | गा. ३५ |
| ५३. शास्त्रवार्ता समुच्चय प्रथम स्तबक | श्लो. १४ |
| ५४. धर्मसंग्रहणी प्रथम भाग | गा. १३५ |
| ५५. योगशतक | गा. ९४ |
| ५६. धर्मसंग्रहणी प्रथम भाग | गा. ४३ |
| ५७. पातञ्जलयोगसूत्र प्रथम पाद | सू. २३ (१/२३) |
| ५८. शास्त्रवार्ता समुच्चय | श्लो. २०६ |
| ५९. योगबिन्दु | श्लो. २ |
| ६०. श्रीमद् हरिभद्रसूरि सूत्रिता नन्दीवृत्ति | पृ. १ |
| ६१. दशवैकालिक मूल सूत्र | ४/१० |
| ६२. सूत्रकृतांग | १/१२/११ |
| ६३. संबोध प्रकरणम् | गा. ३ |

| | |
|--|-------------|
| ६४. योगबिन्दु | श्लो. ५२५ |
| ६५. योगशतक श्लोक ८९ की टीका में | पृ. ५९ |
| ६६. षोडशक प्रकरणम् | श्लो. १६/१३ |
| ६७. लोकतत्त्व निर्णय | श्लोक ३२ |
| ६८. योगदृष्टि समुच्चय | श्लोक १३८ |
| ६९. सम्यक्त्व सप्ततिका की टीका | पृ. ३ |
| ७०. शास्त्रवार्ता समुच्चय प्रथम स्तबक | श्लोक ७० |
| ७१. वही | श्लोक ७६ |
| ७२. योगदृष्टि समुच्चय | श्लोक १४४ |
| ७३. वही | श्लोक १०० |
| ७४. योगशतक | गाथा ८६ |
| ७५. वही | गाथा ८७ |
| ७६. वही | गाथा ८८ |
| ७७. योगदृष्टि समुच्चय | श्लोक १०१ |
| ७८. वही | श्लोक १४५ |
| ७९. श्री हरिभद्रसूरिरचित अष्टक प्रकरणम् | श्लोक १७/८ |
| ८०. योगबिन्दु | श्लोक १०१ |
| ८१. वही | श्लोक ३०० |
| ८२. सर्वज्ञ सिद्धि | श्लोक ५ |
| ८३. धूर्ताख्यान | गाथा ८ |
| ८४. सरल सविधि पंच प्रतिक्रमणविधि | पृ. ८२ |
| ८५. योगदृष्टि समुच्चय | श्लोक २०७ |
| ८६. योगबिन्दु | श्लो. ३१ |
| ८७. योगदृष्टि समुच्चय | श्लो. १०८ |
| ८८. योगबिन्दु | श्लो. ३०२ |
| ८९. योगदृष्टि समुच्चय | श्लो. १३० |
| ९०. योगबिन्दु | श्लो. ४९४ |
| ९१. योगदृष्टि समुच्चय | श्लो. १७६ |
| ९२. शास्त्रवार्ता समुच्चय प्रथम स्तबक | श्लो. ८७ |
| ९३. वही | श्लो. २३७ |
| ९४. धर्मसंग्रहणी प्रथम भाग | गा. २० |
| ९५. योगशास्त्र (राज-राजेन्द्र स्वाध्याय भाग-४) | २/११ पृ. ४२ |
| ९६. धर्मसंग्रहणी द्वितीय भाग | गा. ८२० |

| | |
|--|----------------|
| १७. वही | गा. ८२२ |
| १८. वही | गा. ५४५ |
| १९. षड्दर्शन समुच्चय | श्लो. ७९ |
| १००. अनेकान्तजयपताका | पृ. ६ |
| १०१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र | पृ. ३ |
| १०२. Nyayapravesh In Introduction-Note | Pg. VII |
| १०३. न्यायप्रवेशवृत्ति | श्लो. २ पृ. ९ |
| १०४. ललित विस्तरावृत्ति | पृ. १० |
| १०५. वही | पृ. १२ |
| १०६. वही | पृ. २० |
| १०७. वही | पृ. १०१ |
| १०८. वीतरागस्तोत्र (राज-राजेन्द्र स्वाध्याय भाग-२) | ८/११ पृ. ७८ |
| १०९. योगशास्त्र (राज-राजेन्द्र स्वाध्याय भाग-४) | २/३८ पृ. ४४ |
| ११०. सर्वज्ञ सिद्धि | १/३ |
| १११. योगविशिका | श्लो. १४ |
| ११२. योगदृष्टि समुच्चय | श्लो. १७ |
| ११३. योगबिन्दु | श्लो. ३९ |
| ११४. वही | श्लो. ४० |
| ११५. वही | श्लो. ३७ |
| ११६. लोकतत्त्व निर्णय | श्लो. ३३ |
| ११७. वही | श्लो. ३७ |
| ११८. वही | श्लो. ९२ |
| ११९. वही | श्लो. १४७ |
| १२०. नन्दीसूत्र | गा. २ |
| १२१. नन्दीसूत्रवृत्ति | पृ. ५ |
| १२२. स्नातस्यास्तुति (राज-राजेन्द्र स्वाध्याय प्रथम भाग) | श्लो. ३ पृ. ४८ |
| १२३. अनेकान्तवाद प्रवेश | पृ. सं. २ |
| १२४. लोकतत्त्व निर्णय | श्लो. १/३८ |



2 द्वितीय अध्याय

तत्त्व मीमांसा

- * सत् की अवधारणा
- * लौकवाद
- * द्रव्यवाद
- * अस्तित्काय द्रव्य
- * धर्मास्तित्काय
- * अधर्मास्तित्काय
- * आकाशास्तित्काय
- * पुद्गलास्तित्काय
- * जीवास्तित्काय
- * अनास्तित्काय द्रव्य (काल)
- * तत्त्व विचार
- * अनेकान्तवाद
- * सर्वज्ञ सिद्धि



द्वितीय अध्याय

तत्त्व मीमांसा

(१) सत् की अवधारणा - सदा से सर्वज्ञ सिद्ध पुरुषों ने सत् को सत्यता से आत्मसात् किया है। सर्वज्ञों का आत्मसात् विषय 'सत्' सदुपदेश रूप से देशनाओं में दर्शित मिला है, जो दर्शित हो सके। मस्तिष्क को मना सके वह सत्। किसी भी काल में कुण्ठित नहीं बना ऐसा अकुण्ठित सत् सत्शास्त्रों का विषय बना, विद्वानों का वाक्यालंकार हुआ।

सत् आगमकालीन पुरावृत का प्राचीनतम एक ऐसा तत्त्व रहा है जो प्रत्येक सत्त्व को सदा प्रिय लगा है। सदा प्रियता से प्रसारित होता है। यह 'सत्' तत्त्व मीमांसकों का तुलाधार न्याय बना है, जिसमें किसी को प्रतिहत करने का न वैचारिक बल रहा है और न आचरित कल्प बना। इस आचार कल्प को और विचार संकाय को उत्तरोत्तर आगमज्ञ विद्वानों ने श्रमण-संस्कृति का शोभनीय तत्त्व दर्शनरूप में समाख्यात किया।

उसी सत्त्व के समर्थक, समदर्शी, सार्वभौम, सर्वज्ञवादी आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने आत्म साहित्य में समादर दिया है। हरिभद्रकालीन भट्ट अकलंक जैसे दिगम्बराचार्य ने अपने सिद्धि विनिश्चय 'न्याय विनिश्चय' जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में सम्पूर्णतया परमोल्लेख करके सत् को शाश्वत से संप्रसारित किया।

आचार्य हरिभद्रसूरि एक ऐसे बहुश्रुत महामेधावी रूप में जैन-परम्परा के पालक समुद्धोषक सूरिवर बने जिनका सत् साहित्य आज भी उसी तत्त्व का तलस्पर्शी तात्त्विक अनुशीलन के लिए प्रेरित करता है। ऐसे प्रेरक आगम निष्कर्ष निर्णायक रहकर तात्त्विक पर्यालोचना का पारावार असीम बना रहा है।

यह सत् तत्त्व स्याद्वाद की सिद्धि का महामंत्र बनकर सप्तभंगी न्याय को निखार रूप दिया है।

सत् को निहारना और सत् को सश्रद्धभाव से शिरोधार्य कर जीवन के परिपालन में सहयोगी बनाना, साथी रखना यह सुकृत कृत्य आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे महाप्राज्ञों ने जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण जैसे क्षमाशीलों ने सिद्धसेन दिवाकर जैसे दीप्तिमान तार्किकों ने किया है।

अन्यान्य दर्शनकारों ने इस सत् स्वरूप का सदा सर्वत्र यशोगान किया है। कहीं कहीं पर सत्त्व को समझे बिना तत्त्व को पहचाने बिना, दुष्टकों से तोलने का अभ्यास भी बढ़ाया है। परन्तु उस सत् के संविभागी श्रेष्ठ श्रमणवरों ने अपने अकाट्य तर्कों से सुसफल सिद्ध किया।

वैचारिक मंथन प्रायः हमेशा कौतूहलों से संब्याप्त रहा है। फिर भी सत्प्रवाद के प्रणेता ने दृष्टिवाद जैसे पूर्व में इस विषय को परम परमार्थता से एवं प्रामाणिकता से प्रस्तुत कर जैन जगत की कीर्ति को निष्कलंकित

रखा है। तत्त्व वह है जो तारक बनकर जीवन को तरल एवं सरल बना दे और प्रतिपल पलायित होने के लिए कोई प्रणिधान नहीं बनाये। क्योंकि प्राणों में तत्त्व का संवेदन चलता रहता है। रक्त नाडिकाओं में वह तत्त्वरस संघोलित होता रहता है।

अनेकान्तवादियों का तात्त्विक विलोडन सर्वसारभूत सत् से सत्यापित रहा है। इस सत्त्व को सच्चाई व अच्छाई से आलेखन करने का श्रेय मल्लवादियों ने अर्जित किया है। सम्मति-तर्ककार सिद्धसेन ने चरितार्थ बनाया।

इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि, महोपाध्याय यशोविजयजी जैसे महामान्य मनीषियों ने इस सत्प्रवाद का तात्त्विक तथ्य अनुभव कर अपने प्रतिपादनीय प्रकरणों में परिवर्णित किया। वह इस प्रकार है - सम्यक् प्रकार से हम जब पदार्थ के विषय में चिन्तन करते हैं तब हमारे सामने वह त्रिधर्मात्मक रूप में प्रगट होता है और जिसके स्वरूप को सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्माने अपनी देशना में प्ररूपित किया। जिसका पाठ स्थानांग वृत्ति में इस प्रकार मिलता है। “उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा”^१ अर्थात् प्रत्येक नवीन पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होता है, पूर्वपर्याय की अपेक्षा नष्ट होता है और द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव रहता है। यह मातृका पद कहलाता है। यह सभी नयों का बीजभूत मातृका पद एक है।

अतः उपाध्याय यशोविजयजी म. ने उत्पादादि सिद्धिनामधेयं (द्वात्रिंशिका) प्रकरण की टीका में कहा कि- श्रीमद् भगवान् पूर्वधर महर्षि उमास्वाति वाचकप्रमुख के द्वारा रचित ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’ सूत्र से सत् का जो लक्षण निरूपित किया है वह इतिहास के दृष्टिकोण से देखते हैं तो इस सूत्र में निर्दिष्ट लक्षण प्रारंभिक नहीं है। अर्थात् लक्षण की शुरुआत वाचक उमास्वाति म. ने नहीं की। पहले श्रीमद् भगवद् तीर्थंकरोंने लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् श्रीमद् गणधरों के प्रति ‘उप्पज्जेइ वा’, ‘विगमेइ वा’, ‘धुवेइ वा’ यह त्रिपदी युक्त ही सत्त्व का लक्षण प्रारंभिक है और जिसके कारण उपदेशक ऐसे तीर्थंकर की आप्तस्वभावता भी सिद्ध होती है।^२

आचार्य चंद्रसेन सूरि ने ‘उत्पादादिसिद्धिनामधेयं’ सूत्र की मूल कारिका में इस लक्षण को लक्षित किया है-
यस्योत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तवस्तूपदेशतः।

सिद्धिमाप्तस्वभावत्वं, तस्मै सर्वविदे नमः ॥^३

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त वस्तु के उपदेश से जिसका आप्त स्वभावपन सिद्ध हो गया है उस सर्वज्ञ को मेरा नमस्कार हो। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि रचित ‘वीतराग स्तोत्र’ में सत् का लक्षण इस प्रकार है-
तेनोत्पादव्ययस्थेमसम्भिन्नं गोरसादिवत्।

त्वदुपज्ञं कृतधियः, प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत् ॥^४

हे भगवान् ! गोरसादि के समान उत्पाद-व्यय-स्थैर्य से समिश्र ऐसा आपके द्वारा प्रतिपादित सत् को बुद्धिमान व्यक्ति वास्तविकरूप (परमार्थ) से स्वीकार करे।

“उत्पाद व्यय पलटंती, ध्रुव शक्ति त्रिपदी संती लाल।”

वा. उमास्वाति रचित प्रशमरति सूत्र में भी सत् का लक्षण मिलता है।^६

योगवेत्ता आचार्य हरिभद्रसूरि योगशतक में ‘सत्’ के लक्षण को इस प्रकार निरूपित करते हैं।

चित्तेज्जा मोहम्मी ओहेणं ताव वत्थुणो तत्तं।

उपाय-वय ध्रुवजुयं अणुहव जुत्तीए सम्मं ति ॥^६

आत्मा अनादि काल से मोह राजा के साम्राज्य में मोहित बना हुआ है। जिससे वह सम्यग्-ज्ञान के प्रकाश-पुञ्ज को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः अज्ञानरूपी अंधकार का समूल नष्ट करने के लिए जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों का त्रिधर्मात्मक (त्रिपदी) से चिन्तन करना चाहिए। परमार्थ से यह त्रिपदी ही ‘सत्’ का लक्षण है। जिसे वाचक उमास्वाति महाराजने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार उल्लिखित किया है - ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’^७

उत्पाद-व्यय और ध्रुव इन तीन धर्मों का त्रिवेणी संगम जहाँ साक्षात् मिलता हो वही सत् जानना चाहिए। महापुरुषों ने उसे ही सत् का लक्षण कहा है। जैसे कि एक ही समय आत्मा में उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों धर्म घटित हो सकते हैं। यह अनुभवजन्य है - जिस आत्मा का मनुष्यरूप से व्यय होता है उसी का देवत्व आदि पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद होता है। आत्मस्वरूप नित्यता सदैव संस्थित रहती है। इसी बात को शास्त्रवार्ता समुच्चय में दृष्टांत देकर समझाते हैं -

घट मौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।

शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यति न पयो ति दधिब्रतः।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥^८

सुवर्ण के कलश से एक बाल क्रीडा करता हुआ प्रसन्नता के झूलों में झूल रहा था। दूसरा बालक उसे इस प्रकार क्रीडा करते देखकर स्वयं के लिए सोने का मुकुट बनाने हेतु अपने पिता के सामने मनोकामना व्यक्त की, लेकिन परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि मुकुट बनाने के लिए घर में दूसरा सुवर्ण नहीं था। अतः सुनार के पास जाकर सुवर्ण के घट को तोड़कर मुकुट बनाने का कहा, सुनार सुवर्ण के घट को छिन्न-भिन्न करके सुंदर मुकुट तैयार करता है। उसमें एक ही समय में घट का विनाश मुकुट का उत्पाद तथा सुवर्ण का ध्रौव्य है और इसी कारण प्रथम बालक रुदन करता है, दूसरा बालक आनंद से झूम उठता है और उनके पिताश्री माध्यस्थ, तटस्थभाव में रहते हैं।

ऐसा ही दृष्टांत ग्रन्थांतर में मिलते हैं - षड्दर्शन समुच्चय टीका,^९ न्यायविनिश्चय,^{१०} आप्त मीमांसा,^{११} मीमांसा श्लोकवार्तिक^{१२} तथा ध्यानशतकवृत्ति^{१३}।

व्यवहार में भी इसका अनुभव होता है - जैसे कि कांच का गुलदस्ता हाथ में से गिर गया, तो गुलदस्ता

रूप से नाश, टुकड़े रूप में उत्पाद और पुद्गल रूप में ध्रुव।

मक्खन में से घी बना, तब मक्खन का व्यय, घी का उत्पाद और गोरस रूप में उसका ध्रौव्य।

गृहस्थ में से श्रमण बना, तब गृहस्थ पर्याय का नाश, श्रमण पर्याय का उत्पाद और आत्मत्व द्रव्य का ध्रुवत्व।

रामदत्त नाम का एक व्यक्ति बालक में से युवान बना तब बचपन का व्यय, युवावस्था का उत्पाद और रामदत्त रूप में ध्रौव्य।

इसी प्रकार दूध का ब्रतवाला अर्थात् 'दूध ही पीना है' वह दही का भोजन नहीं करता है और 'दही का भोजन करना है' ऐसा ब्रतवाला दूध नहीं पीता है। लेकिन अगोरस का ही भोजन करना है ऐसा ब्रतवाला दूध दही कुछ भी नहीं लेता है। इस दृष्टांत से भी ज्ञात होता है कि पदार्थ तीन धर्मों से युक्त है।

इसी का सार महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में प्रस्तुत किया है।

घट मुकुट सुवर्ण अर्थिआ, व्यय उत्पत्ति थिति पेखंत रे।

निजरूपइं होवइं हेमथी दुख हर्ष उपेक्षावंत रे ॥

दुग्ध दधि भुंजइ नहीं, नवि दूध दधिव्रत खाई रे।

नवि दोइं अगोरसव्रत जिमइं तिणि तियलक्षण जग थाई ॥^{१४}

सन्त आनन्दघन ने भी अपनी ग्रन्थावली में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के आधार पर आत्मा को नित्यानित्य प्रतिपादित किया है -

अवधू नटनागर की बाजी, जाणै न बांभण काजी

थिरता एक समय में ठानै, उपजै विनसै तब ही

उलट पुलट ध्रुव सता राखै या हम सुनी नही कबही

एक अनेक अनेक एक फुनि कुंडल कनक सुभावे

जलतरंग घट माटी रविकर, अगिनत ताइ समावै ॥^{१५}

संत आनन्दघन कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है। उसका थाह पाना अत्यंत दुष्कर है। यह आत्मा एक ही समय में नाश होता है। पुनः उसी समय में उत्पन्न होता है। उसी समय में अपने ध्रौव्य सत्ता में स्थित रहता है। आत्मा में उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन होते रहते हैं फिर भी वह अपना ध्रौव्य सत्ता स्वरूप नित्य परिणाम को नहीं छोड़ता है। जैसे स्वर्ण के कटक, कुंडल, हार आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह स्वर्ण ही रहता है। इसी प्रकार देव, नारक, तिर्यच एवं मनुष्य गतियों में भ्रमण करते हुए जीव के विविध पर्यायें बदलते हैं। रूप और नाम भी बदलते हैं। लेकिन नानाविध पर्यायों में आत्मद्रव्य सदा एक सा रहता है। इसी बात को आनन्दघनजी और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जलतरंग में भी जैसे पूर्वतरंग का व्यय होता है और नवीन तरंग का उत्पाद होता है किन्तु जलत्व दोनों में ध्रुव रूप से लक्षित होता है। मिट्टी के घड़े के आकार रूप में उत्पाद होता

है। टूटने पर घड़े का व्यय लेकिन इन दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का रूप एक ही प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्यकार वाचक उमास्वाति म. ने भी अपने भाष्य में सत् का लक्षण निरूपित करते हैं -

उत्पादव्ययौ, ध्रौव्यं चैतन्नितययुक्तं सतो लक्षणम्। अथवा युक्तं समाहितं त्रिस्वभावं सत्। यदुत्पद्यते यद्व्ययेति यच्च ध्रुवं तत्सत् अतोऽन्यदसदिति।^{१६}

उत्पाद, व्यय, ध्रुव - इन तीनों धर्मों से संयोजित रहना ही सत् का लक्षण है। अथवा युक्त शब्द का अर्थ समाहित, समाविष्ट करना अर्थात् सत् का लक्षण त्रिस्वभावता ही है, जो उत्पन्न होता है, नाश होता है और स्वद्रव्य में हमेशा ध्रुव रहता है वह सत् है। इससे विपरीत असत्।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने तत्त्वार्थ की डुपडिका टीका में सत् के लक्षण का अद्भुत विवेचन किया है। साथ में उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति' यह प्रवचन का गर्भसूत्र है अर्थात् जैन शासन की नींव इस सूत्र में समाविष्ट है। जिस पर जैनशासन रूपी राजमहल अखंड, अकम्पित, अव्याबाध रूप से सुस्थिर बना है तथा इनके आधार पर इहलौकिक एवं पारलौकिक व्यवस्थाओं का निबन्धन सुव्यवस्थित हो सकता है। जगत की व्यवस्था भी इन धर्मों से संलग्न होकर प्रवर्तमान होती है।^{१७} अर्थात् 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' में तो आचार्य हरिभद्र का दृष्टिकोण और विशाल बन गया और कहा कि शास्त्रकृतश्रमों के द्वारा जीव और अजीव समुदाय रूप यह जगत भी त्रयात्मक धर्म स्वरूप है।

अन्येत्वाहुनाद्येव जीवाजीवात्मकं जगत्।

सदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं शास्त्रकृतश्रमाः ॥^{१८}

जिसका शास्त्र के अनुशासन में सजग रहने का श्रम एवं क्रम सदा रहा है ऐसे स्याद्वादवादियों का जगत विषयक निर्णय निराला है और वे न तो ईश्वरकृत संसार को स्वीकृत करते हैं और न पुरुषप्रकृत्यात्मक जगत को मान्यता देते हैं। केवल शास्त्र-विषयक अनुशीलन को महत्त्व देते हुए महाप्रज्ञ स्याद्वाद सिद्धान्त के सुधियों को 'शास्त्रकृतश्रमाः' यह विशेषण देकर शास्त्रीय अनुपालन करनेवाले ऐसे उन मनीषियों की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप जगत का स्वरूप यही सहभावी एवं पारमार्थिक है।

बृहद् द्रव्य संग्रह में सिद्ध भगवन्तों को भी त्रयात्मक धर्म से युक्त निर्दिष्ट किये हैं। जैसे कि -

णिक्कम्मा अट्टगुणा किंचूणा चरमदेहो सिद्धा।

लोग्गण्ठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुता ॥^{१९}

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित है, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक है तथा अन्तिम शरीर से कुछ कम है वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाव में स्थित हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से युक्त हैं।

सिद्धों में भी ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय इस प्रकार घटित होता है। आगम में कहे हुए जो अगुरुलघु आदि

षट्स्थानों में पड़े हुए हानि-वृद्धि स्वरूप से अर्थ पर्याय है उनकी अपेक्षा से उत्पाद व्यय है अथवा जिस-जिस उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप से ज्ञेय पदार्थ परिणमते है उन उनकी परिच्छिन्ति के आकार से इच्छारहित वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है। इस कारण से उत्पाद व्यय है। अथवा सिद्धों में व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश, सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपन से ध्रौव्य है।

न्याय विनिश्चय में दिगम्बर आचार्य अकलंक ने गुणों को भी तीन धर्मों से युक्त सिद्ध किया है।

गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः।^{२०}

गुणों में भी उत्पाद, व्यय और नाश घटित होता है।

न्यायविनिश्चय के प्रणेता दिगम्बराचार्य उद्भट्ट तार्किक भट्ट अकलंक अपने ग्रन्थ में सत् की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं -

सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सदसतोगतेः।^{२१}

तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के निगमन में सत् की व्याख्या इस प्रकार है -

अध्यक्षलिङ्गसिद्धमनेकात्मकमस्तु सत्।^{२२}

प्रत्यक्ष लिङ्ग से सिद्ध ऐसी अनेकात्मक अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ सत् है, यह उनकी अपनी विशिष्ट व्याख्या है।

आचार्य हरिभद्रसूरि षड्दर्शन कारिका में सत् को उजागर निराले निरूपम रूप से करते हैं -

येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते।

अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मान गोचरः॥^{२३}

सत् का सत्ता स्वरूप जिससे अभीष्ट बनता है उससे ही प्रमाणरूप परिणमित होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि एक बहुदर्शी, बहुश्रुत बनकर 'षड्दर्शन समुच्चय' में आत्मप्रज्ञता को प्रस्तुत करते है। जिस कारण से उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य धर्मवाला पदार्थ सत् होता है उसी से ही अनन्तधर्मात्मक पदार्थ प्रमाणभूत हो जाता है।

मूल श्लोक में 'येन' इस शब्द से एक ऐसी विचारणा व्यक्त करते है जिससे 'तेन' को एक तलस्पर्शी बोध का जागरण जागृत कर देते है।

('येन' और 'तेन' से एक ऐसा प्रज्ञा का प्रकर्ष परिष्कृत कर अपनी मनोवैज्ञानिकता एवं सिद्धान्त सूक्ष्मदर्शिता स्पष्ट करते हुए सद्वाद को सत्यवान् बनाया।)

इस प्रकार सत् को अवधारित करने पर आचार्य सिद्धसेन का दृष्टिकोण महामूल्यवान् सिद्ध हुआ है। उन्होंने अपने 'सम्मति तर्क' जैसे ग्रन्थ में सत् की चर्चाएँ उल्लिखित कर सम्पूर्ण तत्कालीन दार्शनिकों के मन्तव्यों को उद्बोधन दिया है और समयोचित शास्त्रसंगत मान्यताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए सत् के स्वरूप को स्पष्ट किया है। सम्मति तर्क के टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं -

न चानुगतव्यावृत्तवस्तुव्यतिरेकेण द्वयाकारा बुद्धिर्घटते नहि विषय व्यतिरेकेण प्रतीतिरुत्पद्यते।²³

सत् को बुद्धिग्राह्य और प्रतीतिग्राह्य बनाने के लिए ऐसी कोई असामान्य विचारों की विश्वासस्थली रचनी होगी जिससे वह सत् सार्वभौम रूप से सुप्रतिष्ठित बन जाये, आचार्य सिद्धसेन एवं आचार्य अभयदेव इन दोनों महापुरुषों ने सत् को समग्ररूप से बुद्धि के विषय में ढालने का प्रयास किया। वह बौद्धिक प्रयास बढ़ता हुआ बहुमुखी बनकर बहुश्रुत रूप से एक महान् ज्ञान का अंग बन गया। ऐसे ज्ञान के अंग को सत् रूप से रूपान्तरित करने का बहुतर प्रयास जैन दार्शनिकों का रहा है। अन्यान्य दार्शनिकों ने उस सत् स्वरूप को सर्वांगीणतया आत्मसात् नहीं किया परन्तु जैन दार्शनिक धाराने उसको वाङ्मयी वसुमति पर कल्पतरु रूप से कल्पित कर कीर्तिमान बनाया है। वही सत् प्रज्ञान का केन्द्रबिन्दु बना, जिसको हमारे हितैषी आचार्य हरिभद्र सूरि ने उसको अपना आत्म विषय चुना और ग्रन्थों में आलेखित किया। ध्यानशतकवृत्ति में धर्मास्तिकाय आदि को उत्पाद, व्यय, ध्रुव से घटाते हुए कहा है-

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।

सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजाति व्यवस्थानात्॥²⁴

प्रत्येक वस्तु व्यक्ति में समय-समय निश्चित प्रकार की विभिन्नता आती है फिर भी उस व्यक्ति में अनेक व्यक्तित्ता का बोध नहीं होता, व्यक्तित्ता एक ही है, क्योंकि उसमें चय-उपचय रूप विभिन्नता आने पर भी आकार और जाति ज्यों की त्यों व्यवस्थित रहती है अथवा आकार और जाति की स्वतंत्र व्यवस्था है। अतः आकार में परिवर्तन होने पर भी जाति परिवर्तित नहीं होती है।

अन्यदर्शन में सत् का स्वरूप - महोपाध्याय यशोविजयजी कृत नयरहस्य में अन्यदर्शनकृत् सत् का लक्षण इस प्रकार संदर्शित है।

‘सदविशिष्टमेव सर्वं’²⁵

‘ब्रह्माद्वैतवादि श्री हर्ष’ ब्रह्म को सत् स्वरूप मानते हैं। क्योंकि इनके मतानुसार ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी को नित्य नहीं स्वीकारा गया है। समवाय एवं जाति नामका पदार्थ भी इनको मान्य नहीं। अतः ‘अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्’ यह बौद्ध सम्मत लक्षण भी अमान्य है, क्योंकि इनके मत में ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, निर्धर्मक, निर्विशेष है। शुद्ध ब्रह्म पुष्कर पलाश के समान निर्लेप है। अतः उनमें अर्थ-क्रिया सम्भवित नहीं हो सकती। अतः बौद्धमान्य सत् का लक्षण एवं जैन-दर्शन मान्य सत् का लक्षण इनको सम्मत नहीं है। ये लोग तो ‘त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व’ जिस वस्तु का तीनों कालों में से किसी भी काल में किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता है। वही वस्तु सत् है और ऐसी वस्तु केवल ब्रह्म ही है।

ब्रह्म साक्षात् होने पर भी घट-पटादि प्रपञ्च का बाध हो जाता है। अतः घट-पटादि प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी वे सत् नहीं हैं ऐसी इनकी मान्यता है।

दूसरी युक्ति यह भी है कि जो पदार्थ सर्वत्र अनुवर्तमान होता है वह सत् है जो व्यावर्तमान होता है वह

प्रतीयमान होने पर भी सत् नहीं है।

नैयायिकों का सत् लक्षण -

‘किमिदं कार्यत्वं नाम। स्वकारणसत्तासम्बन्धः तेन सत्ता कार्यमिति व्यवहारात्।’^{२७}

सत्ता का सम्बन्ध रूप सत्त्व का लक्षण तथा प्रश्न-वार्तिक में निर्दिष्ट ‘अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्’^{२८} यह बौद्ध सम्मत सत्त्व का लक्षण है। इन दोनों में दूषण प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार - इन लक्षणों में सत्ता सम्बन्ध सत्त्व पदार्थों में माना जाय या असत्त्व पदार्थों में इत्यादि तथा अर्थक्रिया में सत्ता यदि अन्य अर्थक्रिया से मानी जाय तो अनवस्था यदि अर्थक्रिया स्वतः सत्त्व हः तो पदार्थ भी स्वतः सत्त्व हो जाए। बौद्ध वस्तु को क्षणमात्रस्थायी मानते हैं। फिर भी उसमें सहसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव का अभ्युपगम हो जाता है। क्योंकि उपरोक्त तीनों में से एक का भी अभाव होने पर क्षणस्थायित्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि- घट को क्षणमात्रस्थायी कहा तो वह तत्क्षण अस्तित्व प्राप्त करने से उत्पाद उत्तरक्षण में नष्ट होने से व्यय तथा तत्क्षण अवस्थित होने से ध्रुवरूप सिद्ध होता है। अतः तदनुसार वस्तु को अनिच्छा से भी त्रयात्मक मानना अनिवार्य है।

महान् श्रुतधरः, न्यायवेत्ता लघुहरिभद्र महोपाध्याय यशोविजयजी अपनी मति-वैभवा को विकस्वर करते हुए उत्पादादि सिद्धि नामधेयं (द्वात्रिंशिका) ग्रन्थ की टीका में यह स्पष्ट कथन किया कि सत्त्व वस्तु को सभी वादि अनिन्दनीय रूप से मानते हैं। ‘यत्सत्त्वस्तु’ इति सर्वैरपि वादिभिरविगानेन प्रतीतमिति।’ लेकिन सत्त्व विषयक लक्षण सभी का भिन्न-भिन्न है। जैसे कि - ‘अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्’ इति सौगताः। ‘सत्ताख्यपर-सामान्यं सत्त्वम्’ इति नैयायिकाः, पुरुषस्य चैतन्यरूपत्वं तदन्येषां त्रिगुणात्मकत्वं सत्त्वम् इति कापिलाः। सत्त्वं त्रिविधं पारमार्थिकं व्यवहारिकं प्रातिभासिकं च इति वेदान्तिः।^{२९}

न्याय-वैशेषिक-वेदान्त-बौद्ध-मीमांसक के द्वारा किये हुए सत्त्व के लक्षण का उपाध्यायजी ने अपनी तर्क युक्त सूक्तियों से स्वोपज्ञ टीका में खंडन किया है तथा त्रिकालाबाधित तथा अनन्त तीर्थकर प्रतिपादित ‘तीर्थकरोपदिष्ट’ के प्रस्ताव से मीमांसक मान्य वेद के अपौरुषेयत्ववाद का खंडन करते हुए प्रसंगानुप्रसंग अनेक प्रौढयुक्तियों से पौरुषेयत्ववाद का समर्थन तथा सर्वज्ञगदितागम ही प्रामाण्य सिद्ध है। उन केवलज्ञानियों से उपदिष्ट ‘उत्पादादित्रययोगित्वं सत्त्वम्’^{३०} लक्षण त्रिकाल अबाधित है।

सत्त्व विषयक चिन्तन मन्थन वैदिक साहित्य में समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद का ऐसा सूक्त है जो अपने साम से ही चर्चित है। वहाँ पर इस प्रकार का एक वाक्य मिलता है-

“ना सदासीन्नो सदासीत्तदानीं।”^{३०}

एक समय ऐसा था जहाँ सत्त्व को भी स्पष्ट नहीं किया और असत्त्व को भी अभिव्यक्त नहीं किया। इतना अवश्य है कि सत्त्व सत्ता का विवरण वैदिक साहित्य ने भी स्वीकृत किया है। अतः सत्त्व को स्पष्टतया आर्षकालीन वाङ्मय अभिव्यक्त करता है।

उत्तरकालीन उपनिषद् साहित्य में भी ब्रह्म सत्ता को लेकर कठोपनिषद् में ऐसा उल्लेख मिलता है।

“अणोरणीयान् महतो महीयान् ।”^{३१}

वह सत् स्वरूप अत्यंत अल्प परमाणु से भी अल्पतर है और महान् से भी महत्तम है। ऐसी वैदिक चर्चाएँ सत् के विषय में चर्चित मिलती हैं। अतः सत् को सिद्धान्त देने में सभी महर्षि मनीषी एकमत हैं और उस सत् की समय-समय युगानुरूप परिभाषाएँ होती रही हैं। इस परिभाषाओं के परिवेश में यह सत्प्रवाद श्रद्धा का विषय बन गया। समादरणीय रूप से सदाचार में ढल गया है और समाज के अंगों में साहित्य के अवयवों में चित्रित हुआ। तथागत बुद्ध के विचारों ने भी सत् को एक अन्यदृष्टि से स्वीकृत कर अपने जीवन में स्थान दिया, हमारी सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति ने सत् का समर्थन किया और श्रद्धेय रूप देकर सदाचार का सुअंग बनाया।

पौराणिक पुरोधामहर्षि व्यास ने अपनी पुरातनी पुराण प्रणाली में सत् का ऐसा उल्लेख किया-

नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा ।^{३२}

जो विनाश रहित है वही नित्य है। जो नित्य बना है वही सत्स्वरूप है और जो अनित्य है वह नाशवान् है। इस प्रकार सत् एक अविनाशी अव्यय तत्त्व है।

उपरोक्त सत् विषयक चिन्तन की धारा में सांख्य, नैयायिक और वैशेषिक दर्शनकार सत्कार्यवादी हैं, उनकी मान्यता यह है कि पूर्ववर्ती कारण द्रव्य है उसमें कार्य सत्तागत रूप से अवस्थित रहता है। जैसे कि मृत्पिंड में कार्य सत् है क्योंकि जो मृत्पिंड है वही घट रूप में परिणत होता है। ‘स एव अन्यथा भवति’ यह सिद्धान्त सत्कार्यवादी सांख्यादिकों का है।

इसी प्रकार ‘स एव न भवति’ यह सिद्धान्त क्षणिकवादी बौद्धों का है। ये वस्तु को क्षणमात्र ही स्थित मानते हैं। दूसरे क्षण में सर्वथा असत् ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती है। अतः ये असत्कार्यवादी हैं।

परन्तु ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’ यह द्रव्यव्यवस्था का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। क्योंकि उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य, योग आदि दर्शनों द्वारा स्वीकृत आत्मा को एकान्त रूप से कूटस्थ नित्य माना जाए तो उसका जो स्वभाव है उसमें ही वह अवस्थित रहेगा। जिससे उसमें कृतविनाश, कृतागम आदि दोष उपस्थित होंगे। क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा तो अकर्ता है, अबद्ध है, किन्तु व्यवहार में व्यक्ति शुभाशुभ क्रियाएँ करता हुआ दृष्टिगोचर होता है और प्रायः सभी धर्मों में बन्धन से मुक्त होने के लिए व्रत, नियम, तप, जप आदि निर्दिष्ट साधनाएँ निष्फल जायेगी तथा निम्नोक्त आगम वचन के साथ भी विरोध आयेगा -

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः ।^{३३}

शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।^{३४}

अब आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर आगम के वचन, वचनमात्र रह जायेंगे। आत्मा के अकर्ता होने के कारण मुक्ति-प्राप्ति के लिए की गई समस्त साधना निष्फल होगी, तथा संसार और मुक्ति में कुछ भी भेद नहीं होगा। क्योंकि कूटस्थ आत्मवाद के अनुसार आत्मा परिवर्तन से परे है। अतः सिद्ध होता है कि एकान्त ध्रौव्य नहीं है। उत्पाद और व्ययात्मक भी है। अतएव देव, मनुष्य, सिद्ध, संसारी अवस्थाएँ कल्पनातीत नहीं हैं, परन्तु

प्रमाण सिद्ध है।

इसी प्रकार अनित्यवाद के समर्थक चार्वाक और बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा में नित्य का अभाव या क्षणभंगुर माना जाए तो सत् के अभाव का प्रसंग आ जाता है। क्योंकि आत्मा को अनित्य या क्षणिक माना जाए तो बन्धन मोक्ष की व्यवस्था घटित नहीं होती है। अनित्य आत्मवाद के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन होता है तो फिर बन्धन और मोक्ष किसका होगा ? बन्धन और मोक्ष के बीच स्थायी सत्ता के अभाव में बन्धन और मोक्ष की कल्पना करना ही व्यर्थ है। जहाँ एक ओर बौद्ध स्थायी सत्ता को अस्वीकार करता है वहीं दूसरी ओर बन्ध-मोक्ष पुनर्जन्म आदि अवधारणा को स्वीकार करता है। किन्तु यह तो वदतोव्याघात जैसी परस्पर विरुद्ध बात है।

अनित्य आत्मवाद का खण्डन कुमारिल शंकराचार्य जयन्तभट्ट तथा मल्लिसेन आदि ने भी किया है। इसके अतिरिक्त आप्त मीमांसा एवं युक्त्यानुशासन में भी अनित्यवाद पर आक्षेप किये गये हैं।

असत् कार्यवादी बौद्ध की असत् ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती, यह मान्यता भी बराबर नहीं है। क्योंकि द्रव्यव्यवस्था का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी असत् का अर्थात् नूतन सत् का उत्पाद नहीं होता और न जो वर्तमान सत् है उसका सर्वथा विनाश ही है। जैसा आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है -

‘भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभाव चेव उप्पादो।’³⁵

अथवा ‘एव सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।’³⁶

अर्थात् अभाव या असत् का उत्पाद नहीं होता और न भाव सत् का विनाश ही। यही बात गीता में कही है -

‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।’³⁷

आचार्य हरिभद्र सूरि ने ‘शास्त्रवार्ता समुच्चय’ में सत् के विषय में अन्य दर्शनकार के मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।³⁸

खरविषाण आदि असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उत्पत्ति होने पर उसके असत्त्व का व्याघात हो जायेगा। पृथ्वी आदि सत् पदार्थों का अभाव नहीं होता, क्योंकि उनका अभाव होने पर शशश्रृंग के समान उनका भी असत्त्व हो जायेगा। परमार्थदर्शी विद्वानों ने असत् और सत् के विषय में यह नियम निर्धारित किया है कि ‘जो वस्तु जहाँ उत्पन्न होती है वहाँ वह पहले भी किसी न किसी रूप में सत् होती है, और जो वस्तु जहाँ सत् होती है वहाँ वह किसी रूप में सदैव सत् ही रहती है। वहाँ एकान्तः उसका नाश यानी अभाव नहीं होता।

सत् का सम्पूर्ण नाश एवं असत् की उत्पत्ति का धर्मसंग्रहणी टीका में मल्लिसेनसूरि ने भी चर्चा की है।³⁹

चूँकि सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता यह एक निरपवाद लक्षण है।

सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित हो जाने पर भी एक संदेह अवश्य रह जाता है कि सत् नित्य

है या अनित्य। क्योंकि विश्व के चराचर जगत में कोई द्रव्य सत् रूप में नित्य पाया जाता है तो कोई द्रव्य सत् रूप में अनित्य जैसे कि - सत् रूप में नित्य द्रव्य आकाश है तो सत् रूप में अनित्य द्रव्य घटादिक। अतः संशय उत्पन्न होता है कि सत् को कैसा समझा जाए ?

जो सत् को नित्यानित्य मान लिया जाये तो पहले जो 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि'^{४०} सूत्र में द्रव्य के नित्य, अवस्थित और अरूप तीन सामान्य स्वरूप कहा है उस नित्य का क्या अर्थ ? इसका समाधान वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थ में एवं आ. हरिभद्रसूरि तत्त्वार्थ की टीका में करते हैं -

'तदभावाव्ययं नित्यम्'^{४१}

यहाँ नित्य शब्द का अर्थ भाव अर्थात् परिणामन का अव्यय अविनाश ही नित्य है। सत् भाव से जो नष्ट न हुआ है और न होगा उसको नित्य कहते हैं। इस कथन से कूटस्थ नित्यता अथवा सर्वथा अविकारिता का निराकरण हो जाता है तथा कथंचित् अनित्यात्मकता भी सिद्ध हो जाती है।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। क्योंकि जो अनित्य है उसी को नित्य अथवा जो नित्य है उसीको अनित्य कैसे कहा जा सकता है। ऐसी शंका यहाँ हो सकती है। परन्तु यह वास्तविक नहीं है क्योंकि ये धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। लोक व्यवहार में भी यह बात देखने को मिलती है अथवा द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नय त्री युक्ति से भी यह बात सिद्ध है कि ये धर्म-सत्त्व और असत्त्व अथवा नित्यत्व-अनित्यत्व अपेक्षा से सिद्ध है।

सत् तीन प्रकार का बताया है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। नित्य के दो भेद हैं - अनादि अनन्त नित्यता और अनादि सान्त नित्यता। ये तीनों प्रकार के सत् और दोनों प्रकार के नित्य अर्पित और अनर्पित के द्वारा सिद्ध होते हैं। क्योंकि विवक्षा और अविवक्षा प्रयोजन के आधीन है। कभी प्रयोजन के वश उक्त धर्मों में से किसी भी एक धर्म की विवक्षा होती है और कभी प्रयोजन न रहने के कारण उसी की अविवक्षा हो जाती है। अतएव एक काल में वस्तु सदसदात्मक, नित्यानित्यात्मक और भेदाभेदात्मक आदि सत्प्रतिपक्ष धर्मों से युक्त सिद्ध होती है। जिस समय सदसदात्मक है उसी समय में वह नित्यानित्यात्मक आदि विशेषणों से भी विशिष्ट है जो सत् है वह असत् आदि विकल्पों से शून्य नहीं है और जो असत् है वह सदादि विकल्पों से रहित नहीं है। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही सत्प्रतिपक्ष धर्म से विशिष्ट है। प्रतिपक्ष धर्म से सर्वथा शून्य माना जाय तो मूल विवक्षित धर्म की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतएव वस्तु को सत्प्रतिपक्ष धर्मात्मक माना है और इसीलिए उसके दो प्रकार भी किये हैं। अर्पितव्यवहारिक और अनर्पित व्यवहारिक।^{४२}

ऊपर दो धर्मों की अपेक्षा है। सत् और नित्य। इनके दो प्रतिपक्ष धर्म हैं - असत् और अनित्य। इनमें से सत् चार प्रकार का है - द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक। इनमें प्रथम के दो भेद द्रव्यास्तिक नय के हैं और दूसरे दो भेद पर्यायास्तिक नय के हैं।^{४३}

द्रव्यास्तिक के द्वारा प्रायः लोक व्यवहार सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि उसका विषय अभिन्न द्रव्य है।

लोकव्यवहार की सिद्धि मातृकापदास्तिक से ही हुआ करती है।

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों पर्यायनय के भेद है। पर्यायनय को ही प्रधान मानकर वस्तु का बोध और व्यवहार होता है। ध्रौव्य से अवशिष्ट रहते हुए भी उत्पाद और व्यय पर्याय के विषय है। उनमें से स्थूल अथवा सूक्ष्म सभी उत्पादों को विषय करनेवाले उत्पन्नास्तिक है। कोई भी उत्पाद विना विनाश के नहीं हो सकता, न रह सकता है। दोनों का परस्पर में अविनाभाव है। क्योंकि यह नियम है कि उत्पत्तिमान् है वह नियम से विनश्वर भी है। अथवा जितने उत्पाद है उतने ही विनाश भी है। अतएव उत्पन्न को जो विशिष्ट रूप से ग्रहण करता है पर्याय भेद - विनाश लक्षण है ऐसा मानकर ही वस्तु का व्यवहार करता उसको पर्यायास्तिक कहते हैं।

इस प्रकार सत् को जैन दार्शनिकों ने सर्वोपरि सिद्ध करके अपने सदागमों में स्थान दिया है। हमारा मानस हमेशा सत् प्रवाद का विचार करें। यही विषय पूर्वों में भी परिगणित हुआ है जो चौदह पूर्व हमारी श्रमण संस्कृति के आधार है। जिनको दृष्टिवाद रूप से सम्मानित रखा गया है।

जिस प्रकार आत्मद्रव्य और पुद्गल की तीन-तीन अवस्थाएँ हैं - उत्पन्न होना, नाश होना और द्रव्यरूप से स्थिर रहना। इसको जैन परिभाषा में त्रिपदी कहते हैं। उप्पन्नेइवा, विगमेइवा, धुवेइवा और वह त्रिकोण के तीन तरफ से दिखाई जाती है। विश्व के किसी भी पदार्थ की ये तीन अवस्थाएँ पायी जाती हैं। वैदिक परंपरा में भी विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय - ये तीनों मानते हैं। उत्पत्ति में देवरूप से ब्रह्मा, स्थिति में देवरूप से विष्णु और संहार में देवरूप से शंकर को मानते हैं। जैन परंपरा में सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति स्वीकृत्य नहीं, लेकिन विभिन्न पदार्थों के विभिन्न पर्याय रूप में उत्पत्ति स्वीकारते, लेकिन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तो अनादि-अनंत है।^{१९}

‘प्रज्ञावबोध मोक्षमाला’ हेमचन्द्राचार्य रचित में भी त्रिपदी के विषय में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को त्रिमूर्ति कहकर समझाया गया है।

इस प्रकार सत् को अपेक्षा विशेष लेकर सभी दार्शनिकोंने स्वीकारा है। क्योंकि सत् के बिना जगत का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। महोपाध्याय यशोविजयजी ने उत्पादादि सिद्धि की टीका में तथा आचार्य हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थ टीका में यहाँ तक कह दिया है कि यह प्रवचन गर्भसूत्र है, तथा एक दो तीर्थकरों ने ही सत् के विषय में उपदेश नहीं दिया बल्कि अनंत तीर्थकरों ने ‘सत्’ का लक्षण स्वीकारा है और प्रतिपादित किया है। अतः प्रवाह की अपेक्षा से यह सत् अनादि-अनंत है। परंतु व्यक्ति विशेष-की अपेक्षा से अनित्य है। क्योंकि सत् स्वयं में सर्वथा शक्तिमान होता हुआ भी सापेक्षिक दृष्टि से अनित्यता में भी आ जाता है। क्योंकि सापेक्षवाद ही सत्य का साक्षात्कार करवाता है। यदि सापेक्षवाद से किसी भी विषय को विचारित करते हैं तो एकान्त दुराग्रह दूर हो जाता है और सर्वत्र समरसता से रहने का सुप्रयास सौष्ठवभरा हो जाता है। निर्विरोध जीवन की कड़ी में निर्वैर जीवन में सत् का सामञ्जस्य सापेक्षवाद से ही स्वीकार करनेवाले सर्वत्र यशस्वी रहे हैं। अनेकान्तदर्शन ने आग्रही होने का अनुरोध नहीं किया है। अपितु एक ऐसा विवेक दिया है जिससे मनुष्य अपने मन्तव्यों को मान रहित, अन्यों के अपमान रहित जीवन जीने का एक राजमार्ग दर्शित करता है। और वह सत् ही समूचे दार्शनिक

सत्य का साक्षात्कार करवाता है। जिसको शास्त्रकारों ने वर्णित कर विशेष स्थान दिया है उसी सत् को प्रत्येक दार्शनिक ने शिरोधार्य कर सत्-चित्-आनन्द रूप से जाना है। जैन दर्शनने इसी सत् को अनाग्रह भाव से अंगीकार कर वास्तविकता से विधिवत् मान्य किया है।

यह सत् शब्द किसी सम्प्रदाय विशेष का न बनकर सर्वत्र अपनी स्थिति को समूचित रूप से स्थिर रखता रहा है। चाहे उपनिषद् साहित्य हो अथवा त्रिपिटक निकाय हो, आगमिक आगार हो। ऐसे सत् को आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण का सहयोगी बनाया है। जिससे सम्पूर्ण जीवन हरिभद्र का सत्मय बनकर समाज में प्रशंसित बना, पुरोगामी रहा है और पुरातत्त्व का पुरोधा कहा गया है। ऐसे सत् को सर्वज्ञों ने श्रुतधरोने और शास्त्रविदों ने ससम्मान दृष्टि से प्रशस्त स्वीकार किया है।

लोकवाद

भारतीय दर्शन की चिन्तन-धाराओं में अनेक भारतीय दार्शनिक हुए। जिन्होंने दार्शनिक तत्त्वों पर अपना बुद्धि विश्लेषण विश्व के समक्ष दिया। दर्शन तत्त्वों में लोक का भी अपना अनूठा स्थान है। जिसे भारतीय दार्शनिक तो मानते ही साथ में पाश्चात्य विद्वानों ने और दार्शनिकों ने भी स्वीकृत किया है। तथा जैन आगमों में लोक की विशालता का गंभीर चिन्तन पूर्वक विवेचन मिलता है।

लोक विषयक मान्यता विभिन्न दर्शनकारों की भिन्न-भिन्न है। इन सभी मान्यताओं को आगे प्रस्तुत की जायेगी। यहाँ सर्व प्रथम आगमों तथा ग्रन्थों में लोक का प्रमाण-स्वरूप, भेद आदि जानना आवश्यक होगा।

समर्थ तार्किकवादी आचार्य हरिभद्रसूरि दशवैकालिक की टीका में लोक के प्रमाण को निदर्शित करते हुए कहते हैं -

‘लोकस्य चतुर्दश रज्वात्मकस्य।’^{४०}

पाँचवे कर्मग्रंथ में भी कहा है -

‘चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ सत्तरज्जूमाणघणो’^{४१}

अर्थात् लोक का प्रमाण चौदह राज है। यही बात भगवती,^{४२} आवश्यक अवचूर्णि,^{४३} अनुयोगवृत्ति,^{४४} बृहत्संग्रहणी,^{४५} लोकप्रकाश,^{४६} शान्तसुधारस,^{४७} आवश्यकनिर्युक्ति (शिष्याहिताटीका)^{४८} में है।

लोक का स्वरूप - चौदह राजलोक का स्वरूप इस प्रकार स्थानांग-समवायांग में मिलता है - अधोलोक की सातों नरक एक-एक रज्जू प्रमाण है। प्रथम नरक के ऊपर के अन्तिम अंश से सौधर्मयुगल तक एक रज्जू होता है। उसके ऊपर सनतकुमार और माहेन्द्र कल्प एक रज्जू उसके ऊपर ब्रह्म और लांतक ये दोनों मिलकर एक रज्जू, उसके ऊपर महाशुक्र और सहस्रार इन दोनों का एक रज्जू, उसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये चारों मिलाकर एक रज्जू, उसके बाद नव प्रैवेयक का एक रज्जू, तत्पश्चात् पाँच अनुत्तर और सिद्धशिला का एक रज्जू।

सभी मिलकर चौदह रज्जु प्रमाण होता है।⁴⁴ तथा बृहत्संग्रहणी में लोक के स्वरूप की गाथा इस प्रकार है -
अहभाग सगपुढवीसु रज्जु इक्किक तह य सोहम्मे।
माहिंद लंत सहस्रारऽच्चुय गेविज्ज लोगंते ॥⁴⁵

‘अयं च आवश्यक निर्युक्तिचूर्णि संग्रहयाद्यभिप्रायः।’ परंतु योगशास्त्रवृत्ति के अभिप्राय से तो समभूतल रुचक से सौधमान्त तक डेढ रज्जु, माहेन्द्र तक ढाई, ब्रह्मान्त तक तीन, सहस्रार तक चार, अच्युत के अन्त में पांच, ग्रैवेयक के अन्त में छः और लोक के अन्त में सात रज्जु होता है।

भगवती आदि में तो धर्म-रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे असंख्य योजन के बाद लोकमध्य है ऐसा कहा है। उनके आधार से तो वहाँ सात राज पूर्ण होते हैं। अतः वहाँ से ऊर्ध्व लोक की गणना प्रारंभ होती है। तीनों लोक में मध्यम लोक का परमर्श बना रहता है।

जीवाभिगम सूत्र में सौधर्म, ईशान आदि ‘सूत्र व्याख्यान’ में बहुसमभूभाग से ऊपर चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं को छोड़कर क्रोड असंख्यात योजन के बाद डेढ रज्जु होता है ऐसा कहा है।

लोकनालिस्तव में भी सौधर्म देवलोक तक डेढ, माहेन्द्र तक ढाई, सहस्रार तक चार, अच्युत तक पाँच और लोकान्त में सात रज्जु होते हैं।⁴⁶ तत्पश्चात् अलोक प्रारंभ होता है।

अनुयोगवृत्ति,⁴⁷ अनुयोग मलधारीयवृत्ति,⁴⁸ लोकप्रकाश⁴⁹ तथा शान्तसुधारस⁵⁰ में भी इसका स्वरूप मिलता है।

इस चौदह राजलोक के मध्य में त्रसजीवों के प्राधान्यवाली चौदह राज दीर्घ एक राज विस्तारवाली त्रसनाडी आयी हुई है। जिसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों तथा तीनों लोक का समावेश होता है। इसके बहार लोकक्षेत्र में केवल एकेन्द्रिय जीव ही है।

लोकस्थिति - यह लोक शाश्वत अनादि निधन है। किसी ने इसको आधार नहीं दिया। आश्रय और आधार के बिना आकाश में निरालम्ब रहा हुआ है। न किसी ने इसको बनाया है फिर भी अपने अस्तित्व में स्वयं सिद्ध है।⁵¹ लोकप्रकाश में भी यही कहा है।⁵²

इस विषय में यह विशेष समझने योग्य है कि वायु ने जल को धारण कर रखा है। जिससे वह इधर-उधर गमन नहीं कर सकता। जलने पृथ्वी को आश्रय दिया, जिससे जल भी स्पन्दन नहीं करता न पृथ्वी ही उस जल से पिघलती है। लेकिन लोक का आधार कोई नहीं है। वह आत्म प्रतिष्ठित है। अर्थात् अपने ही आधार पर है। केवल आकाश में ठहरा हुआ है। ऐसा होने में लोकस्थिति अवस्थान ही कारण है। यह लोक का सन्निवेश अनादि है और यह अनादिता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से है। क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से लोक सादि भी है। अतएव आगम में इसको कथंचित् अनादि और कथंचित् सादि भी बताया है तथा ऐसा सन्निवेश होने में सिवाय स्वभाव के और कोई कारण नहीं है।⁵³

भगवती में भी गौतमस्वामी ने प्रश्न किया है कि - हे भगवन् ! लोक की स्थिति कितने प्रकार की है..?

जैसे कि -

भंते ! त्ति भयवं गोयमे समणं जाव एवं वयासीः कइविहा णं
भंते ! लोयड्ढिती पन्नता ।

गोयमा ! अड्ढविहा लोयड्ढिती पन्नता ।^{६४}

हे गौतम ! आठ प्रकार की लोक स्थिति है। वह इस प्रकार - वायु को आकाश ने, उदधि को वायु ने, पृथ्वी को उदधि ने, त्रस जीव और स्थावर जीव को पृथ्वीने, अजीव जड पदार्थों को जीव ने, जीव को कर्मों ने धारण कर रखा है। तथा अजीवों को जीवोने एकत्रित करके रखा है और जीवों को कर्मों ने संग्रहित करके रखा है।

स्थानांग^{६५} में लोकस्थिति तीन, चार, छः, आठ और दस प्रकार की बताई है।

लोक किसे कहते है ? इस विषय में आगमोक्त चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है। स्थानांग में जीव-अजीव स्वरूप लोक कहा है - 'के अयं लोगे ? जीवच्चेव अजीवच्चेव ।'^{६६} लोक किसे कहना ? जीव और अजीव यह लोक है।

आ. हरिभद्रसूरि अपनी उदारता को प्रगट करते हुए शास्त्रवार्त्ता समुच्चय में कहते है कि शास्त्रों के ज्ञाता महापुरुषों ने जगत को जीव-अजीव स्वरूप कहा है।

'अन्ये त्वाहुनाद्येव जीवाजीवात्मकं जगत्'^{६७}

जीव-अजीव समुदायात्मक जगत है ऐसा शास्त्रकृतश्रमा कहते है।

नन्दीवृत्ति^{६८} तथा ध्यानशतक वृत्ति^{६९} में चराचर को जगत कहा है।

'जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् ।'

अर्थात् जिसमें प्रति समय पदार्थ नये-नये पर्यायों को प्राप्त करने से जंगम है। इसे जगत कहते है। वह चर और अचर दो प्रकार से जानना। मुक्त जीवों, आकाश, रत्नप्रभादि पृथ्वीओं, मेरु आदि पर्वतों, भवनों, विमानों आदि अचर है, स्थिर है। शेष संसारी जीव, तन, धन आदि अस्थिर चर है।

लेकिन भगवती में पञ्चास्तिकायात्मक लोक कहा है -

किंमियं भंते ! लोए त्ति पवुच्चइ ? गोयमा

पंचत्थिकाया एस णं पवत्तिए लोए त्ति पवुच्चइ ।^{७०}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनादि विंशिका में पञ्चास्तिकाय लोक कहा है -

पंचत्थिकायमइओ अणाइमं वड्ढए इमो लोगो ।

न परमपुरिसाइकओ पमाणमित्थं च वयणं तु ॥^{७१}

पञ्चास्तिकायमय यह लोक अनादि से रहा हुआ है और परमपुरुष ऐसे ईश्वर द्वारा रचित नहीं है और इस विषय में सर्वज्ञ का वचन आगम प्रमाण है।

लोक प्रकाश में पञ्चास्तिकाय स्वरूप द्रव्यलोक कहा है -

एकः पञ्चास्तिकाय द्रव्यतो लोक इष्यते ।^{७२}

इसी प्रकार दशवैकालिकवृत्ति,^{७३} ध्यानशतकवृत्ति,^{७४} अनुयोगमलधारीयवृत्ति,^{७५} तत्त्वार्थ टीका,^{७६} षड्दर्शनसमुच्चय,^{७७} ललितविस्तरावृत्ति,^{७८} ध्यानशतक,^{७९} तत्त्वार्थ भाष्य^{८०} आदि ग्रन्थों में पञ्चास्तिकायात्मक लोक कहा है।

षड्दर्शन समुच्चय की टीका में षड्द्रव्यात्मक लोक भी कहा है-

‘ये तु कालं द्रव्यमिच्छन्ति, तन्मते षड्द्रव्यात्मको लोकः ।’^{८१}

जो आचार्य काल को स्वतन्त्र छद्मा द्रव्य मानते हैं, उनके मतानुसार लोक में छहों ही द्रव्य पाये जाते हैं। अतएव लोक षड्द्रव्यात्मक है।

जैन शास्त्र में जीव और अजीव तथा पञ्चास्तिकायमय आदि लोक कहा है। जब कि अंगुत्तर निकाय में भगवान बुद्ध ने पाँच कामगुण रूप रसादि ये ही लोक है और कहा है कि इन पांच काम को जो त्याग करता है वह लोक के अंत भाग में पहुँच जाता है।^{८२}

आगम ग्रन्थों में जहाँ लोक को अखण्ड लोक बताया है, अर्थात् लोक एक ही है तो दूसरी तरफ उसी को अनेक भेद-प्रभेद से भी अभिव्यंजित किया है। जैसे कि - स्थानांग में ‘एगे लोए’ यह कहकर लोक एक है यह सूचित किया तथा स्थानांग में लोक के तीन भेद भी बताये हैं -

तिविहे लोगे पन्नते तं - गाणलोगे, ठवणलोगे, दव्वलोगे

तिविहे लोगे पन्नते तं - गाणलोगे, दंसणलोगे, चारित्तलोगे

तिविहे लोगे पन्नते तं - उद्धलोगे, अहोलोगे, तिरियलोगे ।^{८३}

(१) नामलोक (२) स्थापनालोक (३) द्रव्यलोक

(१) ज्ञानलोक (२) दर्शनलोक (३) चारित्रलोक

(१) ऊर्ध्वलोक (२) अधोलोक (३) तिर्यग्लोक

ऊर्ध्वादिभेद से लोक के तीन भेद भगवतीजी,^{८४} तत्त्वार्थभाष्य,^{८५} लोकप्रकाश,^{८६} ध्यानशतक,^{८७} शान्तसुधारस^{८८} में भी बताये हैं।

श्रुतमेधावी आ. हरिभद्रकृत अनुयोगवृत्ति,^{८९} तत्त्वार्थवृत्ति,^{९०} ध्यानशतकवृत्ति^{९१} में भी ऊर्ध्वाधिभेद से लोक के तीन भेद समुल्लिखित किये हैं। वह इस प्रकार है -

क्षेत्रविभागेन त्रिविधः त्रिप्रकार अधस्तिर्यगूर्ध्वचेति दर्शयिष्यामः

क्षेत्रलोकमधिकृत्याह, त्रिविधं त्रिप्रकारं ‘अधोलोकभेदादि’ ।

प्रकारन्तर से भगवती,^{९२} स्थानांग^{९३} तथा लोकप्रकाश^{९४} में चार प्रकार का लोक भी बताया है।

(१) द्रव्यलोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक (४) भावलोक।

आवश्यक निर्युक्ति^{९५} (शिष्यहिताटीका), स्थानांग^{९६} तथा ध्यानशतकवृत्ति^{९७} में आठ प्रकार के लोक

का उल्लेख मिलता है। ये आठ प्रकार के निक्षेपा की अपेक्षा से हैं।

नामं ठवणादविए, खित्ते काले भवे या भावे य ।

पज्जवलोए य तहा, अड्डविहो लोयनिकखेवो ॥

(१) नामलोक (२) स्थापनालोक (३) द्रव्यलोक (४) क्षेत्रलोक (५) काललोक (६) भवलोक (७) भावलोक (८) पर्यायलोक।

संक्षेप से लोक के भेद-प्रभेद का वर्णन किया। विस्तार से इसका स्वरूप अभिधान राजेन्द्रकोष एवं लोकप्रकाश आदि में मिलता है। वह इस प्रकार है -

केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा जो देखा जाता है वह लोक नाम-स्थापना द्रव्य के भेद से तीन प्रकार का है।

(१) नाम - इंद्र के नाम के समान व्यक्ति विशेष का लोक ऐसा नाम वह नामलोक है।

(२) स्थापना - लोक का चित्र वह स्थापना लोक।

(३) द्रव्यलोक - जीव और अजीवमय लोक द्रव्यलोक।

तीन प्रकार के भावलोक का स्वरूप -^{१८}

(१) भावलोक दो प्रकार का है। आगम से और नोआगम से। आगम से लोक के चिंतन में उपयोग अथवा उपयोगवान् पुरुष-जीव और नोआगम से ज्ञान आदि भावलोक कारण कि नो शब्द का मिश्रवचनपना है। ये ज्ञानादि तीन प्रत्येक अन्योन्य सापेक्ष है। मात्र आगम ही नहीं और अनागम भी नहीं, उसमें ज्ञान ऐसा जो लोक वह ज्ञानलोक। ज्ञानलोक की भावलोकता क्षायिक और क्षायोपशमिक भावरूपता है और क्षायिकादि भावों को भावलोक द्वारा कहा हुआ है। जैसे कि - औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक छः प्रकार से भावलोक है। इसी प्रकार दर्शनलोक और चारित्रलोक जानना।

तीन प्रकार का क्षेत्र लोक - यहाँ बहु समभूमिभाग रूप रत्नप्रभा के भाग के उपर मेरु के मध्य में आठ रुचक प्रदेश होते हैं। वे रुचक गाय के स्तन के आकार के होते हैं। उसके उपर के प्रतर के ऊपर नवसौ योजन पर्यंत जहाँ तक ज्योतिश्चक्र का उपर का भाग है। वहाँ तक तिर्यच लोक है। उससे आगे ऊर्ध्वभाग में रहने से ऊर्ध्वलोक कुछ न्यून सात राज प्रमाण है। रुचक प्रदेश के नीचे के प्रतर के नीचे जहाँ तक नव सौ योजन है वहाँ तक तिर्यकूलोक है। उससे आगे नीचे के भाग में रहने से कुछ अधिक सात राज प्रमाण अधोलोक है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के मध्य में अठारह सौ योजन प्रमाण तिर्यग् भाग में स्थित होने से तिर्यगूलोक है।^{१९}

अथवा - अहवा अह परिणामो, श्वेतणुभावेण जेण ओसन्नं।

असुहो अहोत्ति भणिओ, दव्वाणं तेण अहोलोगो ॥

अधोलोक - 'अध' शब्द अशुभवाचक है। उसमें क्षेत्र के स्वभाव से प्रायः द्रव्यों के अशुभ परिणाम होते हैं। उससे अशुभलोक अधोलोक कहलाता है।

उड्डं उवरिं जं ठिय, सुहखेत्तं खेत्तओ य दव्वगुणा।

उप्पज्जति सुभा वा तेण तओ उड्डलोगोत्ति ॥

जो उपरिभाग में स्थित है वह ऊर्ध्वलोक अथवा ऊर्ध्व शब्द शुभवाचक है। शुभक्षेत्र होने से ऊर्ध्वलोक है। तथा क्षेत्र के अनुभाव से द्रव्यों के गुण शुभ परिणाम वाले उत्पन्न होते हैं। उससे ऊर्ध्वलोक कहलाता है।

मज्झणुभावं खेत्तं, जं तं तिरियंति वयण पज्जवओ ।

भण्णइ तिरिय विसालं, अओ य तं तिरियलोगोत्ति ॥

जो मध्यम स्वभाववाला क्षेत्र वह तिर्यक्लोक, वचनपर्याय से तिर्यक् शब्द का मध्यम शब्द पर्यायवाचक है। क्षेत्र के अनुभव से प्रायः मध्यम परिणामवाले द्रव्य होते हैं। अथवा तिर्यक्-विशाल होने से तिर्यग्लोक कहलाता है।^{१००}

लोकप्रकाश^{१०१} में भी इसी प्रकार का निर्देश किया गया है। चार प्रकार से लोक का स्वरूप इस प्रकार है।

द्रव्यलोक - आगम से नो आगम से। आगम से द्रव्यलोक - लोक शब्द के अर्थ को जाननेवाला लेकिन उपयोग शून्य वह द्रव्यलोक कहलाता है। नो आगम से तीन प्रकारका है।

(१) ज्ञ शरीर (२) भव्यशरीर (३) तद्व्यतिरिक्त।

(१) ज्ञ - जिसने लोक शब्द के अर्थ को सम्पूर्ण जान लिया है और आयुष्यपूर्ण होने पर अवसान को प्राप्त हो गया है ऐसा मृतावस्था में रहा हुआ शरीर ज्ञ शरीर द्रव्यलोक कहलाता है। घृतकुम्भ के समान - जैसे कि- किसी घड़े में घृत भरा हो बाद में वह खाली हो गया हो तो भी उस घड़े को घृतकुम्भ अर्थात् घी भरने का घड़ा कहते हैं। अथवा फूट जाने पर भी घृतभरने का घड़ा था। ऐसा बोलते हैं। उसी प्रकार 'ज्ञ' शरीर को द्रव्यलोक कहते हैं। 'नो' का यहाँ सर्व निषेध अर्थ समझना चाहिए। क्योंकि इस समय इसमें आगम का बिल्कुल अर्थ नहीं है।

(२) भव्य शरीर - लोक शब्द को जानेगा ऐसा सचेतन भव्य शरीर क्योंकि भावि में वह लोक के अर्थ का ज्ञाता बनेगा। अतः भव्य शरीर द्रव्यलोक कहलाता है। मधुकुम्भ के समान। जैसे कि - मधु भरने के लिए लाया हुआ घड़ा कोई अन्य काम के लिए ले ले तो अपन कहते हैं कि यह घड़ा तो मधु भरने के लिए लाया है। अर्थात् भविष्य में इसमें मधु भरना है। अतः यह घड़ा भव्यशरीर कहलाता है।

यहाँ भी नो शब्द सम्पूर्ण निषेधात्मक अर्थ में है, क्योंकि इस समय भव्य शरीर में लोक शब्द का अंशमात्र भी बोध नहीं है। लेकिन भविष्य में प्राप्त करने की योग्यता होने से भव्यशरीर कहते हैं।

तद्व्यतिरिक्त - तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलोक से द्रव्यों को ग्रहण करना है। जैसे कि - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल आदि। यहाँ भी नो शब्द सम्पूर्ण निषेध अर्थ में है। क्योंकि द्रव्य को आगम के ज्ञान का अभाव होने से।

क्षेत्र लोक - ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्च्छालोक।

काल लोक - समयादि रूप जो काल वह काललोक है।

भाव लोक - भावलोक दो प्रकार से है। आगम से और नो आगम से। आगम से लोक शब्द के अर्थ को उपयोग सहित जाननेवाला व्यक्तिविशेष भावलोक तथा नो आगम से औदायिक आदि छः भाव रूप लोक भावलोक है। यहाँ नो शब्द सर्वनिषेध अथवा मिश्रवचनरूप है।

लोकप्रकाश में चार प्रकार का लोक इस प्रकार उल्लिखित है।

द्रव्यलोक - द्रव्य से पंचास्तिकायात्मक लोक।

क्षेत्र लोक - क्षेत्र से असंख्यात कोटाकोटि योजन प्रमाण लोक।

काल लोक - काल से भूत में था, भविष्य में रहेगा, वर्तमान काल में है।

भावलोक - भाव से पाँच अस्तिकाय लोक है उन अस्तिकायों में गुण और पर्याय रहे हुए है। जिससे लोक अनन्तपर्यायी है।

आठ प्रकार के लोक का स्वरूप - नाम लोक तथा स्थापना लोक सुगम है।

(३) द्रव्यलोक - रूपी, अरूपी, सप्रदेशी, अप्रदेशी तथा नित्यानित्य जीव-अजीव रूप द्रव्य को द्रव्यलोक कहते हैं।

(४) क्षेत्रलोक - आकाश के प्रदेश जो उपरी भाग में प्रकृष्ट रूप से रहे हुए हो उसे ऊर्ध्वक्षेत्रलोक कहते हैं। जो मध्य में स्थित हो उसे मध्यक्षेत्रलोक कहते हैं। तथा जो नीचे भाग में स्थित हो उसे अधोक्षेत्रलोक कहते हैं।

काललोक - समयादि रूप जो काल उसे काल लोक कहते हैं।

समय - आवलीका, मूर्हर्त, दिवस, अहोरात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, युग, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी यावत् पुद्गल परावर्तन तक काल कहलाता है।

भावलोक - वर्तमान भव स्थिति, देव, नारक, तिर्यच और मनुष्य आदि चारों गति के जीव अपने भ योग्य कर्मों को भोग रहे हैं। वह भवलोक कहलाता है।

भावलोक - औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और संनिपातिक। इन छः भावों को भावलोक कहते हैं अथवा उत्कट राग यानि किसी भी वस्तु पर अत्यंत आसक्ति तथा किसी वस्तु पर अप्रीति उत्पन्न करना द्वेष है। इन राग और द्वेष की जिसने उदीरणा कर दी उस आत्मा के भाव वह भावलोक कहलाता है। ऐसा अनंत जिनेश्वरों ने कहा है।

पर्यायलोक - अब अन्तिम पर्याय लोक की विचारणा करते हैं। सामान्य से पर्याय अर्थात् धर्म पर्याय को धर्म कहा जाता है। यहाँ नैगमनय के अनुसार पर्यायलोक चार प्रकार का है -

द्व्यगुण-खित्तपज्जव भावाणुभावे अ भाव परिणामे।

जाण चउव्विहभेअं, पज्जवलोगं समासेण ॥

(अ) द्रव्यगुण - द्रव्य के जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गति, वर्ण, भेद, द्रव्य के गुण कहे जाते हैं। जिससे वह द्रव्यगुणपर्यायलोक कहा जाता है।

(ब) क्षेत्रपर्याय - अगुरुलघु आदि तथा भरतक्षेत्र, ऐरावतक्षेत्र, महाविदेहक्षेत्र आदि की अपेक्षा से क्षेत्र पर्यायलोक।

(स) भवानुभाव - वर्तमान में नारक, देव, मनुष्य, तिर्यच आदि में जो सुख-दुःख आदि का अनुभव होना भवानुभावपर्यायलोक है।

(ड) भावपरिणाम - जीव और अजीव सम्बन्धि परिणाम वह भावपरिणामपर्याय लोक।^{१०२}

जब भेद की विवक्षा न हो तब लोक एक ही है और वह भी असंख्य कोटाकोटि योजन प्रमाण है। इसकी गणना अशक्य होने से ज्ञानिओंने इसे स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत दिया है। जो भगवतीजी के ग्यारहवें शतक में निर्दिष्ट है।

जम्बूद्वीप में मेरूपर्वत की चूलिका के चारों तरफ छः देव खडे है और जम्बूद्वीप के छोर पर जगती के उपर चारों दिशाओं में चार दिक्कुमारिकाएँ बलि के पिंड को लेकर लवणसमुद्र तरफ चारों दिशाओं के सन्मुख खडी है। ये कुमारिका इस पिंड को अपनी-अपनी दिशामें बहिर्मुख प्रक्षेप कर रही है। उस समय उन छः देवों में से कोई भी एक देव स्वयं की शीघ्रातिशीघ्र गति से जम्बूद्वीप के आस-पास भ्रमण करते उस पिंड को पृथ्वी पर गिरने से पहले ग्रहण करे, वैसी ही शीघ्र गति से ये छःओ देव लोकांत देखने की इच्छा से एक ही साथ छः दिशामें पथिक के समान चलने लगे।

उस समय किसी गृहस्थ के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। उस पुत्र का आयुष्य एक हजार वर्ष का था। वह पुत्र अनुक्रम से बड़ा हुआ, उसके माता-पिता आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हुए। अनुक्रम से वह पुत्र भी आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् समय जाने पर उसके अस्थिमज्जा भी नष्ट हुए। इतना होने पर भी वह देवलोक के अन्तिम भाग में नहीं पहुँच पाया। उस पुरुष की अनुक्रम से सात-सात पेढी बीत गई। नाम-निशान आदि भी नष्ट हो गये। तब भी देवलोक के पार नहीं पहुँचे।

उस समय किसी मनुष्य ने केवली भगवंत से प्रश्न किया कि - हे प्रभु ! उन देवोंने कितना मार्ग पार किया? तब भगवान ने कहा - बहुत मार्ग पार हो गया। थोडा शेष रहा है।

अर्थात् गमन क्षेत्र अधिक और अगमन क्षेत्र थोडा है। अगत क्षेत्र, गतक्षेत्र के असंख्यातवें भाग है। अगत क्षेत्र से गत क्षेत्र असंख्यात गुणा है।^{१०३}

केवलज्ञान के द्वारा जो देखा जाता है वह लोक धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का आधारभूत आकाश विशेष है। जिस क्षेत्र में द्रव्यों की प्रवृत्ति होती है। उन द्रव्यों सहित लोक कहा जाता है। उससे विपरीत अलोक है।

यह सम्पूर्ण लोक चौदह रज्जू प्रमाण है। इसका संस्थान (आकार) आ. हरिभद्रसूरि रचित ध्यानशतकवृत्ति, तत्त्वार्थवृत्ति में बताया है।

‘सुप्रतिष्ठकवज्राकृतिर्लोकः’^{१०४}

सम्पूर्ण लोक का आकार सुप्रतिष्ठक वज्र के समान है। अन्य आचार्यों के द्वारा प्रकारान्तर से सम्पूर्ण

लोक का आकार बताया है।

जीवज्जीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोक पुरुषोऽयम्।

वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थ कर युगमः ॥^{१०५}

ध्यानशतकवृत्ति में 'लोको वैशाखाकारो वैशाखक्षेत्राकृतिज्ञेयः।'^{१०६}

जीव-अजीव षड्विध द्रव्यों से युक्त यह लोकपुरुष है, दो हाथ कमर पर रखकर कोई पुरुष वैशाख संस्थान के समान पाँव फैलाकर खड़ा हो इसके समान यह लोक है।

इसी प्रकार लोक का आकार तत्त्वार्थभाष्य, योगशास्त्र, प्रशामरति, लोकप्रकाश, शान्तसुधारस आदि ग्रन्थों में बताया गया है।

तथा लोकप्रकाश और बृहत्संग्रहणी में इसी आकार को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है।

चिरकाल से ऊर्ध्व श्वास लेने के कारण वृद्धावस्था के योग से मानो बहुत श्रमित हो गया हो। उसकी विश्रान्ति के लिए श्वास को उतारकर शान्ति को चाहता हुआ पुरुष कमर पर हाथ देकर, पाँव फैलाकर खड़ा हो वैसी लोकाकृति है।

अथवा त्रिशराव, संपुटाकार अर्थात् एक शराव उल्टा, दूसरा शराव सीधा, उसके उपर एक उल्टा शराव रखने से भी लोक की आकृति बनती है।

अथवा मंथन दोहन कर रही युवान स्त्री का जैसा आकार हो, वैसा आकार भी लोक का है।

अथवा यह लोक उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप त्रिगुणात्मक छः द्रव्य है। इससे सम्पूर्ण भरा हुआ है और अपने मस्तक पर सिद्धपुरुष रहा हुआ होने से हर्ष में आकर मानो नृत्य करने के लिए चरण फैलाकर खड़ा हो ऐसा लगता है।

सम्पूर्ण लोक का आकार इस प्रकार है। लेकिन क्षेत्रलोक से इसके तीन विभाग ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यग्लोक करते हैं। तब तीनों के आकार विभिन्न होते हैं।

तत्त्वार्थ भाष्य तथा तत्त्वार्थवृत्ति में इस प्रकार वर्णन मिलता है -

'अधोलोक गोन्धराकृतिः तिर्यग्लोको झल्लर्याकृतिः एव मूर्ध्वलोको मृदङ्गाकृति।'^{१०७}

इनमें अधोलोक का आकार आधी गोन्धरा के समान अर्थात् गाय की ग्रीवा के समान है। नीचे की तरफ विशाल चौड़ी और ऊपर की तरफ क्रम से संक्षिप्त है। अधोलोक अथवा नीचे की सातभूमियों का यह आकार है। तिर्यग्लोक का आकार झालर के समान है तथा ऊर्ध्वलोक की आकृति मृदङ्ग के समान है।

क्षेत्रलोक की आकृति प्रशामरति,^{१०८} योगशास्त्र,^{१०९} भगवती,^{११०} ध्यानशतकवृत्ति,^{१११} लोकप्रकाश^{११२} में भी समुल्लिखित है।

लेकिन अधोलोक की आकृति के विषय में किसी ने कुंभी (लोकप्रकाश में), भगवती में अधोमुखशरावसंपुट, योगशास्त्र में वेत्रासन आदि अलग-अलग बताई है।

अधोलोक में नारकों, परमाधामिओं, भवनपति देव-देविओं आदि के स्थान है। तिर्च्छालोक में व्यंतरो, मनुष्यों, असंख्यद्वीप, समुद्रों और ज्योतिषदेवों आये हुए है। और तिर्च्छालोक में मुक्ति प्राप्ति के साधन सुलभ है। ऊर्ध्वलोक में सदानंद निम्न उत्तम कोटि के वैमानिक देवों, उनके विमान आये हुए है और उसके बाद सिद्ध परमात्मा से वासित सिद्धशिलागत सिद्ध परमात्माएँ आई हुई है।

भगवती में अलोक की आकृति खाली गोले के समान है।^{११३}

आचार्य हरिभद्र ने लोकतत्त्व निर्णय में एक मनोज्ञ सुश्लोक रच करके लोकतत्त्व विषयक नानाविध मान्यताओं को उल्लिखित की है -

एकरसमपि वाक्यं, वक्तुर्वदनाद्विनिःसृतं तद्वत्।

नानारसतां गच्छति, पृथक-पृथक भावमासाद्य ॥^{११४}

वक्ता के मुख से निकला हुआ एकरस से युक्त भी वाक्य को श्रोता भिन्न-भिन्न भावों को प्राप्त करके अनेक रसता को प्राप्त करता है। उसी प्रकार इस एक लोक के विषय में भी यही बात घटित होती है।

सृष्टि के सर्जन में भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ -

इस लोक का कोई कर्ता है और उसीसे रचित यह लोक है ऐसी मान्यता सृष्टिवादियों की है।

सृष्टिवादियों की जो मान्यताएँ मिल रही है वे केवल पूर्वापरविरोध से युक्त है। तथा युक्तियों से निराधार है। क्योंकि जगत की उत्पत्ति सत् से स्वीकार करे अथवा असत् से। यदि सत् से संभवित मानते है तो सत् स्वयं सर्जन (उत्पत्ति) क्रिया से रहित है और असत् से तो विचारणा भी विसंगत है। अतः यह लोक स्वाभाविक है।

सत् को यदि सचमुच द्रव्य रूप में दृष्टिगत करे तो वह भी शाश्वत है। पर्यायों से ही परिवर्तन आता है वस्तुतः नहीं, ऐसी मान्यता जैनाचार्यों की है।

इस सृष्टि के सर्जक ब्रह्मा है। पालक विष्णु है। संहारक शिव है। इस प्रकार आरंभ और अंत जगत विषयक उपलब्ध होता है। परंतु जैन मान्यता इसे स्वीकार नहीं करती है। क्योंकि लोकस्थिति ही नहीं थी तो उनकी स्थिति कैसे संभवित हो सके।

वैदिक पौराणिक मत की परंपरा में महर्षि काश्यप को मनुष्य आदियों के जन्मदाता माने गये है। कतिपय विद्वान् दक्ष प्रजापति त्रिलोकी को रचनाकार कहते है।

यदि कश्यप दक्ष आदि को जगत के रचयिता स्वीकार कर लेते है तो लोक अभाव में उनके अस्तित्व का निवास कहा था।

सांख्यवादियों की सृष्टि विषयक अवधारणा इस प्रकार से रही है कि सभी अव्यक्त से ही उद्भवित होते है।

आचार्य हरिभद्रसूरि इस विषय को लेकर लोकतत्त्व निर्णय में प्रश्नवाची वाक्य उपस्थित करते है। यदि धरा, अम्बरादि का विनाश हो जाता है तो अव्यक्त आदि का क्या स्वरूप रहेगा ? और बुद्धि कैसी बन जायेगी ?

तथागत बुद्ध के अनुयायी शून्यवादी एवं विज्ञानवादी रहे है। उन्होंने इस लोक को विज्ञानरूप से और

शून्यरूप से स्वीकारा है।

सर्वज्ञशासन में जगत को शाश्वत क्रियात्मक एवं अशून्य स्वीकारा गया है। अतः केवल विज्ञानमय एवं शून्य संभवित नहीं है।

जगत के विषय में कुछ ऐसी विवेचनाएँ मिलती है। कोई पुरुष से उत्पन्न जगत को मानता है। कोई दैव रचित कहता है। कोई ब्रह्मा में से सर्जित कहते हैं। कोई अंडे में से उत्पत्ति मानते हैं। कुछ लोक स्वाधीन स्वरूप में स्वीकार करते हैं। कुछ पाँच भूतों के विकार में उत्पत्ति मानते हैं और कोई इसे अनेक रूपवाला कहते हैं।

उपर्युक्त सारी विवेचनाएँ जैन दर्शन में अमान्य रही हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि जैन मान्यताओं को मुख्यतया से व्यक्त करते हुए 'लोकतत्त्व-निर्णय' में सारभूत सत्य को कहते रहे हैं।

विष्णु को सर्व व्यापक माननेवालों की इस सूक्ति को आचार्य हरिभद्रसूरिने लोकतत्त्व निर्णय में संल्लिखित कर सम्पूर्ण जगत को विष्णुमय प्रतिपादित किया है।

जले विष्णु स्थले विष्णुराकाशे विष्णुमालिनि ।

विष्णुमालाकुले लोके, नास्ति किञ्चिदवैष्णवम् ॥^{११५}

जैन दर्शन किसी देव विशेष को सर्वत्र व्यापकरूप से स्वीकार करने में समर्थ नहीं है।

प्रलयकाल में जब सारा विश्व जलमय बन जाता है। उस समय अचिंत्य आत्मा विभु सोते हुए महान् तप करते हैं और उनकी नाभि कमल से दण्ड-कमण्डल, यज्ञोपवित, मृगचर्म और वस्त्र सहित भगवान् ब्रह्मा वहाँ पर उत्पन्न होते हैं और उन्होंने जगत की माताओं का सर्जन किया। देव समुदायों की माता अदिति, असुरों की माता दिति, मनुष्यों की माता मनुषि, सभी जाति के पक्षीओं की माता विनता, सर्पों की माता कद्रू, नाग जाति के सर्पों की माता सुलसा, पशुओं की माता सुरभि और सभी धान्यादिक बीजों की माता पृथ्वी को जन्म दिया। ऐसी मान्यता पुराणों में मिलती है।

सृष्टि विषयक मान्यताएँ परस्पर विरुद्ध मिलती हैं और युक्ति विहीन पायी जाती है। अतः उसका परित्याग ही समयोचित है। ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि का कथन है।

एवं विचार्यमाणाः, सृष्टिविशेषाः परस्परविरुद्धाः ।

हरिहरविचारतुल्या युक्तिविहीनाः परित्याज्याः ॥^{११६}

इस स्वाभाविक लोक के विषय में वैदिक मतावलम्बी विज्ञान सृष्टिकर्ता ईश्वर को प्राथमिकता देते हैं। उसके वशवर्ती यह संसार है और सारे कार्य-कलाप संचालित उसी से होते हैं। ऐसी धारणा धरती पर शताब्दियों से प्रचलित है। क्योंकि उस जगत के कर्ता ईश्वर को मान लेने पर मानवीय मान्यताएँ मूलतः समाप्त हो जाती हैं। परंतु प्रबुद्ध प्राज्ञजन अपने मति-मन्थन से एक महत्त्वपूर्ण निर्देश देते हैं कि सम्पूर्ण संसार के यदि कोई रचयिता है तो फिर उस (ईश्वर) का सर्जक कौन ? यह शंका, अनवस्था दोष में ढल जाती है। अतः ईश्वरीय सर्जन शंका रहित नहीं बनता। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक मान्यताओं का अवगाहन कर उत्तम

अवबोध जनक उद्गार अभिव्यक्त कर सम्पूर्ण विश्व को यह संदेश दिया कि यह लोकस्थिति अनादि है और इसका कोई सृष्टा नहीं है। ऐसा समुल्लेख 'लोकतत्त्व निर्णय' में आचार्यश्री ने किया है -

गुणवृद्धिहानिचित्रा, कैश्चिन्न मही कृता न लोकश्च।

इति सर्वमिदं प्राहुः, त्रिष्वपि लोकेषु सर्वविदः ॥^{११७}

गुणों की हानि और वृद्धि बड़ी ही आश्चर्यमय है। किन्हीं व्यक्तियों से यह पृथ्वी न सर्जित हुई, न यह लोक निर्मित हुआ है। इस प्रकार सभी पदार्थों के विषय में तीनों लोकों में सर्वज्ञता का यह कथन प्रचलित है।

इस प्रकार यह निरन्तर लोकचक्र घूमता रहता है। फिर भी अनादि निधन है। इसमें ईश्वरीय सत्ता को कोई स्थान नहीं है। ऐसा महामन्तव्य आ. हरिभद्र सूरि का है।

आचार्य हरिभद्रसूरि का दृढ़ विनिश्चय विवेकजन्य है। उन्होंने प्रभुत्व को कर्मजन्य कथित किया है न कि गुणयुक्त।

कर्मजनितं प्रभुत्वं, संसारे क्षेत्रतश्च तद्विन्नम्।

प्रभुरेकस्तनुरहितः कर्ता च न विद्यते लोके ॥

संसार में कर्मजन्य प्रभुत्व क्षेत्र की अपेक्षा से अनेक प्रकार से संभवित है। लेकिन उस प्रभुत्व से भिन्न शरीर से रहित प्रभु एक ही है जो कि जगत के कर्ता नहीं है।

यदि ईश्वर को संसार के राग में रचयिता स्वीकार कर लेते हैं तो वह अवश्य ही कर्मबन्ध का कर्ता हो जाता है। यदि उसको मुक्त मान लेते हैं तो कर्मबन्ध रहित वीतराग हो जाता है तो फिर वह जगत का कर्ता किस प्रकार से स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि की दृष्टि में ईश्वर मुक्त है, वीतराग है और उसमें कर्ता के कोई भाव रहते ही नहीं हैं। ऐसा समुल्लेख उन्होंने लोकतत्त्व निर्णय में किया है -

मुक्तो न करोति जगन्न कर्मणा बध्यते हि वीतराग।

रागादियुतः सतनु-निर्बध्यते कर्मणाऽवश्यम् ॥^{११८}

जो कर्मों से मुक्त वह जगत सृष्टि नहीं करता है। क्योंकि निश्चित वीतराग कर्मों से बाधित नहीं होता है। जो रागादिभावों से युक्त शरीरवाला होता है वह अवश्य कर्मों से बांधा जाता है। अर्थात् रागादि जीव ही कर्म बन्धनों का कर्ता है। और जो कर्मबन्धनों का कर्ता है वह जगत्कर्ता कैसे हो सकता है ?

इस तरह ईश्वर विषयक विवेचनाएँ हमें लोकतत्त्व निर्णय में भिन्न-भिन्न रूप से उपलब्ध होती हैं। अतः ईश्वर कर्तृत्व जगत के मन्तव्य में महामहिम हरिभद्र एक क्रान्तिकारीरूप में अपना आत्म-पाण्डित्य प्रस्तुत कर परमबोधि के धनी हो जाते हैं। अतः उनके विचारों को विधिवत् लिखित करने का मैंने लाभ उठाया है जो पाठकों को जैन-दर्शन का तत्त्वबोध देता रहेगा और अन्यदर्शनों का परिचय मिलता रहेगा।

लोक-तत्त्व निर्णय में आचार्य हरिभद्र एक अद्वितीय अनुपम रूप से उपस्थित होकर लौकिक धारणाओं

को पारलौकिक परमार्थ को एवं ईश्वरीय दायित्वों को दूरदर्शिता से दर्शित करते अर्हद् दर्शन के मौलिक स्वरूप को महत्त्व देते हुए इस ग्रन्थ को गरिमामन्वित बनाया है। ज्ञेय-प्रमेय-प्रामाणिक प्रकारों को प्रस्तुत करने में आचार्य हरिभद्रसूरि एक अप्रतिम विद्यावान् दार्शनिक चरितार्थ हुए हैं। उनका दार्शनिक मति-मन्थन सर्वथा सम्मान्य होकर जिन शासन की जय-जयकार कर रहा है। यद्यपि सम्पूर्ण दर्शन तथ्यों को आलोडित कर अपने आपमें एक धैर्य धीमान् रूप से जैनी महत्ता को मूल्यवती बनाया है।

षड्दर्शन समुच्चय आचार्य हरिभद्रसूरि की अनुपम कृति है। इसके टीकाकार आचार्य गुणरत्नसूरि एक समयज्ञ सुधी हैं। जिन्होंने षड्दर्शन समुच्चय की टीका में लोक के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए इस प्रकार कहा है -

‘लोकस्वरूपेऽप्यनेके वादिनोऽनेकधा विप्रवदन्ते’^{११९}

लोक के स्वरूप में ही अनेकों वादी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। कोई इस जगत की उत्पत्ति नारीश्वर (माहेश्वर) से मानते हैं, कोई सोम और अग्नि से संसार की सृष्टि कहते हैं। वैशेषिक षट् पदार्थों रूप ही जगत मानते हैं। कोई जगत की उत्पत्ति ब्रह्मा से कहते हैं। कोई दक्ष प्रजापति कृत जगत को बतलाते हैं। कोई ब्रह्मादि त्रिमूर्ति से सृष्टि की उत्पत्ति कहते हैं। वैष्णव विष्णु से जगत की सृष्टि मानते हैं। पौराणिक कहते हैं - विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्माजी अदिति आदि जगन्माताओं की सृष्टि करते हैं। इन जगन्माताओं से संसार की सृष्टि होती है। कोई वर्ण व्यवस्था से रहित इस वर्णशून्य जगत को ब्रह्मा ने चतुर्वर्णमय बनाया है। कोई संसार को कालकृत कहते हैं। कोई उसे पृथ्वी आदि अष्टमूर्तिवाले ईश्वर के द्वारा रचा हुआ कहते हैं। कोई ब्रह्मा के मुख आदि से ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्य इस सृष्टि को प्रकृतिकृत मानते हैं। बौद्ध इस जगत को क्षणिक विज्ञानरूप कहते हैं। ब्रह्म अद्वैतवादी जगत को एक जीव रूप कहते हैं, तो कोई वादी इसे अनेक जीवरूप भी मानते हैं। कोई इसे पूर्व कर्मों से निष्पन्न कहते हैं तो कोई स्वभाव से उत्पन्न बताते हैं। कोई अक्षर से समुत्पन्न भूतों द्वारा इस जगत की उत्पत्ति बताते हैं। कोई इसे अण्ड से उत्पन्न बताते हैं। आश्रमी इसे अहेतुक कहते हैं। पूरण जगत को नियतिजन्य मानते हैं। पराशर इसे परिणामजन्य कहते हैं। कोई इसे यादृच्छिक अनियत हेतु मानते हैं। इस प्रकार अनेकवादि इसे अनेकरूप से मानते हैं। तुरूष्क गोस्वामी नाम के दिव्य पुरुष जगत की सृष्टि मानते हैं। इस प्रकार लोक विषयक विभिन्न मान्यताएँ हैं।

षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्नसूरि ने सभी दर्शनवादियों की विचार धाराओं को सम्मिलित कर प्रत्येक को निरस्त करने का प्रयास जैनमत में किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने ‘वीतराग स्तोत्र’ में जगत कर्तृत्ववाद का निरास करते हुए यह कहा है -

सृष्टिवादकुहेवाक मुन्मुच्येत्यप्रमाणकम् ।

त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ प्रसीदसि ॥^{१२०}

सृष्टिवाद विषयक जो अन्य दार्शनिकों का दुर्वाद है वह त्याज्य है। क्योंकि वह अप्रामाणिक है। इसलिए हे नाथ ! तुम्हारे शासन में जो रमण करते हैं उनके उपर आप प्रसन्न रहते हैं। अर्थात् जगत् का कर्ता, हे प्रभु ! आपने मान्य नहीं किया है।

आगमिक अनुसंधानों में ईश्वर कर्तृत्ववाद को अमान्य किया है। जैसे सूत्रकृतांगकार कहते हैं-

इणमन्नं तु अन्नाणं इहमेगेसि आहियं ।
 देवउत्ते अयं लोए बंभ उत्तेति आवरे
 ईसरेण कडे लोए पहाणाइ तहावरे
 जीवाजीव समाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए
 सयंभुणा कडेलोए इति वुत्तं महेसिणा
 मारेणसंथुआ माया तेणलोए असासए ॥^{१२१}

सृष्टि विषयक सर्जक स्वीकार करना यह एक महान् अज्ञान है। कुछ लोक यह कहते हैं कि यह लोक देवकृत है। अथवा ब्रह्मा सर्जित है। अथवा ईश्वरकृत लोक है। जीव और अजीव से युक्त यह संसार सुखों से और दुःखों से ओतप्रोत है। ऐसा यह जगत् स्वयंभू के द्वारा सर्जित हुआ है ऐसा महर्षियों ने कहा है। कामदेव के द्वारा माया प्रशंसनीय हुई है। उस कारण से यह लोक अशाश्वत है।

ललित विस्तरा में आचार्य हरिभद्रसूरि 'मुत्ताणं-मोअगाणं' पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि जगत् के कर्ता को हीन-मध्यम-उत्कृष्ट रूप में जीवों को उत्पन्न करने में क्या लाभ ? क्योंकि वह जगत् का कर्ता यदि निरीह है तो फिर इच्छा, संकल्प, द्वेष, मात्सर्य आदि संभव नहीं है। अतः जगत्कर्तृत्व मत को दूषित बतलाते हैं।

जगत्कर्तृत्वमते च दोषाः^{१२२}

धर्मसंग्रहणीकार आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि -

जो सो अकित्तिमो सो रागादिजुत्तो हवेज्ज रहितो या रहियस्स सेसकरणे पओयणं किति वत्तव्वं ।^{१२३}

यदि वह जगत् का कर्ता अकृत्रिम है अथवा रागादि युक्त है या रहित है। यदि वह रागादि से रहित है तो किस प्रयोजन से संसार का रचयिता बनता है। बिना प्रयोजन कोई बुद्धिमान कार्य का आरंभ नहीं करता है, तो ऐसा जगत् का आरंभ करने का कौनसा प्रिय प्रयोजन उसको इष्ट लगा। ये सारी बातें ईश्वर के कर्तृत्व में अनिष्टकारी लगती हैं।

शास्त्रवार्त्ता समुच्चयकार आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि लोक विषयक मत एवं ईश्वर कर्तृत्व अभिमत न्याय सिद्धान्त से मनुष्य स्वीकार कर लेता है। परंतु जब वही व्यक्ति जिनवाणी को यदि स्मृति में ले लेता है तो यह जगत् स्वाभाविक है। इसका कोई कर्ता नहीं ऐसा स्वीकार कर लेता है। जैसे बदरी फल के रस को चखकर संतोषित रहनेवाला व्यक्ति तब तक ही प्रसन्न रहता है जब तक विशेष द्राक्षफल का माधुर्य प्राप्त नहीं करता। इसी बात को टीकाकार उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. ने श्लोकरूप से संबद्ध की है -

श्रुत्वैवं सकृदेनमीश्वरपरं सांख्यऽक्षपादागमं
 लोको विस्मयमातनोति न गिरो यावत् स्मरेदारहतीः
 किं तावद्बदरीफलेऽपि न मुहुर्माधुर्यमुन्नीयते
 यावत्पीनरसा रसाद् रसनया द्राक्षा न साक्षात्कृता ।^{१२४}

सांख्य और नैयायिकों के ईश्वर परक एक बार भी वचन सुनकर यह जन समुदाय विश्वस्त हो जाता है। जब वही जन समूह तीर्थकर वाणी का श्रवण करता है और स्मरण बढ़ाता है तो परम विस्मय को प्राप्त करता है। जैसे कि बदरी फल को चखकर मधुरता को प्राप्त कर लेता है वही यदि अपनी जिह्वा से द्राक्ष फल चख लेता है और माधुर्य जिह्वा से गले में उतार लेता है तो बदरी फल को चखना भूल जाता है। वैसे जिनवाणी को जो स्वीकार कर लेता तो सांख्यवादियों के विचारों को नैयायिकों ईश्वरवाद को भूलकर के भी याद नहीं करता है।

अंत में आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार यह लोक पञ्चास्तिकायात्मक है साथ में जीवजीवात्मक चराचरात्मक रूप से भी अपने ग्रन्थों में उजागर किया है। उनका विशाल दृष्टिकोण लोकतत्त्व निर्णय में प्रतिभासित होता है। उसमें उन्होंने लोक के स्वरूप को अनादि निधन कहा है साथ ही ईश्वरीय सत्ता को इसमें किंचित् भी स्थान नहीं दिया गया। इन्होंने लोक को अनादि निधन शाश्वत कहकर जगत्कर्तृत्ववाद का निरास किया है। अर्थात् लोक को किसी ने नहीं बनाया है।

यह लोक चौदह रज्जुप्रमाण है। सम्पूर्ण लोक का आकार सुप्रतिष्ठक वज्र के समान है। यह निराश्रय निराधार निरालम्ब रूप से आकाश में प्रतिष्ठित है। फिर भी अपने अपने अस्तित्व से हमेशा सिद्ध है। ऐसी प्रतीति होने में लोक-स्थिति ही कारण है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि के दृष्टिकोण में लोकवाद रहस्य निरापवाद रूप से समुल्लिखित किया गया है। ऐसा मेरा मन्तव्य है।

द्रव्यवाद

जैन आगमों की द्वादशाङ्गी चारों अनुयोगों में व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की गई है। जिसमें द्रव्यानुयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। द्रव्यानुयोग ही आत्मवाद, अध्यात्मवाद आदि विषयों में सारगर्भित सत्य का स्पष्टीकरण करता है। दृष्टिवाद के 'अग्गेणीयं' नामक दूसरे पूर्व में द्रव्यानुयोग को वर्णित किया गया है। ऐसी अवधारणा शास्त्रीय परंपराओं में प्रचलित है। नन्दीसूत्र नाम के महामंगल ग्रंथ की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इस प्रकार व्याख्यायित किया है - 'वितियं अग्गेणियं तत्त्ववि सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजीवाजीवविसेसाण य अगं परिमाणं वन्निज्जति ति अग्गेणीयं'।^{१२५}

इस द्वितीय प्रवाद में सभी द्रव्यों एवं पर्यायों का पूर्णतया पर्यालोचन हुआ है।

हमारे द्रव्यानुयोग का मूलाधार दृष्टिवाद ही प्रमुख है। और उन दृष्टिवादों के विषयों का विस्तार यत्र-तत्र

टीका ग्रन्थों में उल्लिखित हुआ है। यद्यपि सम्पूर्ण दृष्टिवाद तो उच्छेद ही है, तथापि हरिभद्र जैसे महान् अनुयोगधरोंने इस विषय की शोध करके इनके सारांशों को समुल्लिखित किये है।

अन्य दर्शनों में भी द्रव्य विषयक चर्चा मिलती है। व्याकरण की दृष्टि से द्रव्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार उपलब्ध होती है। “द्रु गतौ” धातु से ‘द्रवति तांस्तान् स्व पर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वा इति तद् द्रव्यम्।’

द्रव्य उसको कहते है जो द्रवित होता है। उन-उन अपने पर्यायों को प्राप्त भी करता है और छोड़ भी देता है।

‘द्रु सत्तायाम् - तस्या एव अवयवो विकारो वा इति द्रव्यम्।’ अवान्तरसत्तारूपाणि हि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवा विकारा वा भवन्ति एव इति भावः।’ द्रु धातु सत्ता के अर्थ में भी है। उसका अवयव अथवा विकार द्रव्य कहलाता है। अलग-अलग जो द्रव्य के रूप मिलते है वे महासत्ता के अवयव अथवा विकार होते है। जैसे कि रूप-रसादि गुणों का समुदाय घट वह द्रव्य है।

भविष्य में होनेवाले पर्याय की जो योग्यता वह भी द्रव्य है। जैसे - राज बालक भविष्य में युवराज-महाराज बनने के योग्य है। अतः राजबालक रूप में द्रव्य कहलाता है।

भूतकाल में भाव पर्याय जिसमें रहे हुए थे वह द्रव्य भूतभाव द्रव्य कहलाता है। जैसे कि घी का आधारभूत घृत घट आज खाली है। तथापि पूर्व में उसमें घी भरा हुआ था। अतः वह घृतघट कहलाता है। वह भी द्रव्य है।^{१२६}

जो भूतकालीन भव्य बना हुआ था। जिसके लिए अनागत की संभावना रहती है। जो वर्तमान में अकिञ्चन् है फिर भी वह योग्यता का धारक है तो वह द्रव्य है। क्योंकि योग्यता कभी भी सीमाओं में बंधी हुई नहीं होती है। वह कभी भी प्रगट हो सकती है।^{१२७}

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुयोगवृत्ति,^{१२८} नन्दीवृत्ति^{१२९} में तथा नन्दीसूत्र^{१३०} में भी निम्नोक्त द्रव्य की परिभाषा मिलती है।

‘तत्र द्रवति-गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्य’

उन-उन पर्यायों को जो प्राप्त करता है वह द्रव्य कहलाता है। आवश्यकसूत्रावचूर्णि,^{१३१} पंचास्तिकायवृत्ति^{१३२} और तत्त्वार्थ राजवार्तिक^{१३३} में द्रव्य की व्याख्या की है।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्यायोः स्थानमेकरूपं सदापि यत्।

स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्य भेदो नतस्य वै ॥^{१३४}

गुण और पर्याय का जो आश्रय हो, तीनों काल में जो एकरूप हो, स्थिर हो, अपनी जाति में रहनेवाला हो, परन्तु पर्याय की भाँति जो परावृत्ति को प्राप्त नहीं करता हो, वह द्रव्य कहलाता है। जैसे कि - ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य आदि गुण का आधारभूत जीव द्रव्य। रूप, रस, गंध आदि का आश्रयभूत पुद्गल द्रव्य तथा

स्थासं, कोश, कुशल, कपाल घटत्वादि पर्याय का आश्रयस्थान मृदद्रव्य जो तीनों काल में स्थिर रहता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में द्रव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषा दी गई है। जैसे कि -

‘अनागतपरिणामविशेषं प्रतिगृहीताभिमुख्यं द्रव्यं।’

भविष्य में परिणामों के प्रति स्वीकार कर लिया है सन्मुखपना जिन्होंने ऐसे द्रव्य कहलाते हैं।

‘यद्भविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यता आदधानं तद्द्रव्यमित्युच्यते।’

जो भविष्य के परिणामों को प्राप्त करने के प्रति अपनी आत्म योग्यता को धारण करनेवाले हैं वे द्रव्य कहलाते हैं।

‘द्रोष्यते गम्यते गुणे द्रोष्यति गमिष्यति गुणानिति वा द्रव्यं।’

द्रव्य उसे कहते हैं जिसका गुणों के द्वारा ज्ञान होता रहे वह द्रव्य है। अथवा गुणों से द्रव्य का ज्ञान होनेवाला है अथवा होगा ऐसा अर्थ संभवित है।^{१३५}

पंचास्तिकाय में दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है -

द्वं सल्लक्षणयं, उप्पादव्यधुवत्तसंजुत्तं।

गुणपञ्जयासयं वा, जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥^{१३६}

इसमें आचार्यश्री ने द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से किया है। जो सत् लक्षणवाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है और गुण-पर्यायों का आश्रय है - उसे सर्वज्ञदेव ने द्रव्य कहा है।

टीकाकार दिगम्बराचार्य जयसेन इन तीनों लक्षणों की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि -

द्वं सल्लक्षणयं - द्रव्य का लक्षण सत् है। यह कथन बौद्धों जैसे शिष्यों को समझाने के लिए द्रव्यार्थिक नय से किया है। उप्पादव्यधुवत्तसंजुत्तं - द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है। यह लक्षण सांख्य और नैयायिक जैसे शिष्यों के बोध के लिए पर्यायार्थिक नय से किया गया है। गुणपञ्जयासयं वा - द्रव्य गुण पर्यायों का आधारभूत है। यह लक्षण भी सांख्य और नैयायिक जैसे शिष्यों को समझाने के लिए पर्यायार्थिक नय से किया गया है। राजवार्तिक में ऐसा कहा गया है कि जो इन तीनों लक्षणोंवाला हो वह द्रव्य है। ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ‘अनेकान्तव्यवस्था’ प्रकरण में शास्त्रों को सन्मान देते हुए आगमों को आदर देते हुए तथा सिद्धसेन दिवाकर एवं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैसे आगमज्ञ, महार्ताकिंक महापुरुषों को साक्षीभूत बनाते हुए अपनी बुद्धि-वैभव को विकस्वर करते हुए द्रव्य का लक्षण संलिखित किया है। उन्होंने द्रव्य को धर्म से, धर्मी से, धर्मधर्मी से, मुख्य और गौणभाव से तथा विशेषण और वैशिष्ट्य से घटाया है - ‘वस्तुपर्यायवद् द्रव्यम्’^{१३७}

जो पदार्थ पर्याय के समान परिणत होता है वह द्रव्य है। क्योंकि पर्याय से रहित द्रव्य का रहना असंभवित है। अतः धर्म से धर्मी से और धर्मधर्मी ये जो युक्त हो वह द्रव्य है। अथवा गौण और मुख्य से जो संयुक्त हो वह द्रव्य है एवं द्रव्य विशेषण और वैशिष्ट्य से विशिष्ट होता है।

अथवा 'द्रवस्यलक्षणं स्थिति' स्थिति यह द्रव्य का लक्षण है। उपाध्यायजी ने स्थिति को द्रव्य का लक्षण स्वीकारा है और उन्होंने अपनी टीका में यह भी लिखा है कि कोई आचार्य गति भी द्रव्य का लक्षण स्वीकारते हैं। जैसे कि - 'गइपरिणयं गई चेव, णियमेण दवियमिच्छंति।' कुछ लोक नियम से गति परिणत को ही द्रव्य मानते हैं। अर्थात् द्रव्य की गति अर्थात् परिवर्तन वह द्रव्य निश्चय से कहलाता है।^{१३८}

तर्क निष्णात महोपाध्याय यशोविजयजी म.सा. ने भी द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में द्रव्य का लक्षण इसी प्रकार प्रस्तुत किया है।

गुण पर्यायतणू जे भाजन एकरूप त्रिहुकालि रे।

तेह द्रव्य निज जाति कहिइ जस नही भेद विचलाइं रे।^{१३९}

प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण और पर्याय की त्रिकालिक सत्ता शक्ति से हमेशा सम्पन्न रहता है। अर्थात् किसी भी द्रव्य के स्वयं के गुण स्वयं से विच्छेद नहीं होते हैं। फिर भी व्यवहार नय से परस्पर संयोग संबंध होने से परपरिणामी रूप है। जो जगत में अनेक चित्र-विचित्र परिणाम प्रत्यक्ष दिखते हैं। फिर भी कोई भी पुद्गलद्रव्य कभी भी जीव रूप में नहीं बनता है। उसी प्रकार जीव द्रव्य पुद्गल रूप में नहीं बनता है। अतः जो-जो निज-निज जाति अनेक जीवद्रव्यों, अनंता पुद्गलद्रव्यों तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल छः ही द्रव्यों हमेशा अपने-अपने गुण भाव में परिणमित होते हैं। फिर भी व्यवहार से संसारी जीवों को कर्म संयोग से जो पुद्गल परिणामिता है वह संयोग संबंध से ही है।

द्रव्य की इसी प्रकार की व्याख्या उत्तराध्ययन सूत्र,^{१४०} न्यायविनिश्चय,^{१४१} परमात्मप्रकाश^{१४२} में भी मिलती है।

भगवती सूत्र की टीका में महातार्किक सिद्धसेन दिवाकरसूरि द्रव्य के विषय में सर्वज्ञ परमात्मा को प्रणेता कहकर द्रव्य का लक्षण निर्दिष्ट करते हैं -

'एतत् सूत्रसंवादि सिद्धसेनाचार्योऽपि आह - उप्पजमाणकालं उप्पणं विगयय विगच्छन्तं दवियं पणवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ'^{१४३}

सूत्रसंवादि आचार्य सिद्धसेन अपने पूर्वजों अर्थात् तीर्थकरों को द्रव्य के प्ररूपक कहकर द्रव्य की विशिष्टता सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि मैं नहीं लेकिन सर्वज्ञ तीर्थकर भगवान कहते हैं कि द्रव्य त्रिकाल विशेष है। अर्थात् द्रव्य भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में अवस्थित रहता है। वह द्रव्य है।

श्रीमदावश्यकसूत्रनिर्युक्ति की अवचूर्णि में द्रव्यलक्षण - 'अतो भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणमिति द्रव्यलक्षणसम्भवात् द्रव्यमिति।'^{१४४}

भूत और भविष्य के भाव का जो कारण है वह द्रव्य कहलाता है।

बहुश्रुतदर्शी आ. हरिभद्रसूरि ने नन्दीवृत्ति,^{१४५} अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति^{१४६} में भी इस प्रकार का लक्षण किया है।

द्रव्यलक्षणंचेदं - भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके।

तद्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥

लोक में जो भूत, भविष्य के भाव का कारण ऐसा चेतन अथवा अचेतन को तत्त्वज्ञ पुरुषों ने द्रव्य कहा है।

आवश्यकहारिभद्रीय,^{१४७} और नन्दीसूत्र^{१४८} में भी यही लक्षण मिलता है।

विशेषावश्यकभाष्य में द्रव्य के लक्षण को संप्रस्तुत करते हैं - 'उप्यायविगतीओऽवि दव्वलक्षणं।'^{१४९}

उत्पाद, नाश और ध्रुव से जो युक्त हो वह द्रव्य कहलाता है।

आचार्य सिद्धसेनसूरि ने सम्मतितर्क में द्रव्य का लक्षण बताया है -

दव्वं पज्जवविजुअं दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि।

उप्यायद्विभंगा हंदि दवियलक्षणं एयं ॥^{१५०}

पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय कभी नहीं हो सकते। अतः उत्पत्ति, नाश और स्थिति अर्थात् तीनों धर्मों से संयोजित द्रव्य का लक्षण है जो हमारा अनुभूत विषय है।

'लोकतत्त्व निर्णय' में आचार्य हरिभद्र ने द्रव्य सम्बन्धी निरूपण किया है -

मूर्त्ताऽमूर्त्तं द्रव्यं सर्वं न विनाशमेति नान्यत्वम्।

तद्वेत्येतत्प्रायः पर्यायविनाशि जैनानाम् ॥^{१५१}

विश्व का विराट् स्वरूप षड्द्रव्यात्मकमय है जो मूर्त्त (रूपी) तथा अमूर्त्त (अरूपी) दोनों के संग से संस्थित है। जगत में रूपी अथवा अरूपी कोई भी मूल द्रव्य-पदार्थ कभी भी सर्वथा विनाश नहीं होता है। अर्थात् जगत में से उस द्रव्य का सर्वथा अभाव नहीं होता है। तथा मूल द्रव्य सम्पूर्ण परिवर्तित होकर अन्य-द्रव्य रूप में नहीं होता है। जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय कभी नहीं बनता है।

यहाँ द्रव्य का रूपी और अरूपी होना वह उसका (द्रव्य का) स्वयं का लक्षण है। यदि वैसा लक्षण वस्तु का न हो तो वह वस्तु को वन्ध्या के पुत्र के समान अविद्यमान जानना। अर्थात् फिर उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। जैसे कि -

द्रव्यमरुपमरुपि च यदिहास्ति हि तत्स्वलक्षणं सर्वम्।

तल्लक्षणं न यस्य तु तद्वन्ध्यापुत्रवद् ग्राह्यम् ॥^{१५२}

द्रव्य विषयक विमर्श स्याद्वाद सिद्धान्त में बहुत ही विलक्षण रहा है। सिद्धान्तसूत्रकार एवं श्रुतधर भगवान उमास्वाति का द्रव्य प्ररूपण प्रज्ञामय रहा है। इसी मान्यता को महत्त्व देते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।'^{१५३}

गुण और पर्याय ये दोनों जिसमें रहे उसको द्रव्य कहते हैं। अथवा गुण और पर्याय जिसके या जिसमें हो उसको गुण-पर्यायवत् द्रव्य समझना चाहिए। लेकिन इसमें यह जानना आवश्यक होगा कि द्रव्य में गुण की

सत्ता-शक्ति तीनों काल में स्थित होती है। परन्तु उस सत्ता-शक्ति का भिन्न-भिन्न परिणामन रूप जो पर्याय वह तो कुछ समय मात्र ही होता है। क्योंकि द्रव्य में गुण सहभावी अर्थात् यावत् द्रव्यभावी होता है। और पर्याय क्रमभावी होने से हमेशा एकस्वरूप में नहीं रहता है। फिर भी द्रव्य-गुण-पर्याय ये तीनों द्रव्यत्व स्वरूप में तो एक ही है। उनका परस्पर सर्वथा भेद नहीं है तथा सर्वथा अभेद भी नहीं है। महोपाध्याय यशोविजयजी ने भेदाभेद को द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में दृष्टांत देकर समझाया है। जैसे कि मोती की माला रूप द्रव्य में मोती पर्याय स्वरूप है। क्योंकि उस मालारूप द्रव्य में मोती भिन्न-भिन्न अनेक छोटे-बड़े होते हैं। जब कि सभी मोतियों की शुक्लता-उज्वलता रूप गुण तो उस मोती की माला में अभिन्न रूप से है ही। इससे स्पष्ट बोध होता है कि द्रव्य से तथा पर्याय से अभिन्न है तथा प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण पर्याय से युक्त है। उसमें पर्याय को सहभावी न कहकर क्रम भावी कहा है। उससे द्रव्य किसी एक पर्याय स्वरूप में हमेशा नहीं रहता है। दूसरी रीति से विचार करे तो पुद्गल रूप से मोती को द्रव्य और माला को पर्याय तथा उज्वलता गुण तो वही रहता है। इसी प्रकार कंगन, अंगूठी, बाजुबन्ध आदि अनेक पर्याय होने पर भी गुण हमेशा वही रहता है। पर्याय अनन्त हो सकते हैं।^{१५५} आचार्य हरिभद्रसूरि ने द्रव्य को अनेक पर्याय से युक्त ललितविस्तरा में कहा है - 'एकपर्यायमनन्तपर्यायमर्थ'।^{१५६}

पदार्थ द्रव्यरूप है जो त्रिकाल स्थिर तथा आश्रयव्यक्ति रूप से एक है और अनन्त पर्याय से युक्त है। अर्थात् पर्याय उसके अनन्त हो सकते हैं तथा पर्याय भी क्रम से प्राप्त होने के कारण क्रमभावी कहा है। जबकि मोती में तथा विविध पर्यायों में मोती की शुक्लता रूप गुण तो सर्वदा सर्व पर्यायों में अवस्थित ही रहता है। उसी से सभी द्रव्य अपनी-अपनी गुणशक्ति से हमेशा नित्य और विविध परिणामी की अपेक्षा से अनित्य है।

द्रव्य के पारिणामिक भाव की शक्ति दो प्रकार की है - ऊर्ध्वता सामान्य और तिर्यग् सामान्य।

ऊर्ध्वता सामान्य - जिस प्रकार मिट्टी द्रव्य में से जब घट बनता है। उस समय मिट्टी जब चक्र पर चढती है तब उसके अनेक पिंड, स्थास, कोश, कुशलादि रूप होते हैं। लेकिन उन सब में मिट्टी द्रव्य नियत रूप से रहता है। उसी प्रकार एक आत्म द्रव्य में उस जीव के बाल, युवा तथा वृद्धत्व अवस्था तीनों होने पर भी जीव तो निश्चित रूप से वही रहता है। इस प्रकार एकत्व की जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह ऊर्ध्वता सामान्य है।

तिर्यग् सामान्य - एक ही द्रव्य के अर्थात् मिट्टी के सभी घड़े, कुंडियाँ आदि कार्यों में भी मिट्टी एक ही है। अर्थात् घड़ा, कुंडी आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी मिट्टी रूप से एक जातित्व शक्ति है। उसी प्रकार जीवद्रव्य के नारकी, तिर्यच, मनुष्य तथा देवादि भवों में अनेक पर्याय होने पर भी जातित्व रूप से जीवद्रव्य एक ही है। ऐसी जो एकाकार प्रतीति उत्पन्न होती है वह तिर्यग् सामान्य है।

ऊर्ध्वता सामान्य शक्ति के दो प्रकार हैं - समुचितशक्ति तथा ओघशक्ति।

समुचित शक्ति - प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनेक गुण पर्याय स्वरूप की अनंत शक्ति संस्थित है। परन्तु उसमें जो गुण-पर्याय रूप शक्ति है वह कार्य के समीपवर्ती होती है। वह समुचित शक्ति कहलाती है। जैसे कि - दूध, दही, मक्खन में घी की समुचित शक्ति समाविष्ट है। अर्थात् मक्खन में से शीघ्र घी की प्राप्ति होती है।

अतः समुचित शक्ति है। जबकि ओघशक्ति में कार्य के दूरवर्ती होती है। अर्थात् परंपरा के कारण को ओघशक्ति कहते हैं। जैसे कि तृण में घी की शक्ति।

प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक कार्य परिणाम के पूर्व अनंतर कारण रूप जो शक्ति वह समुचित होती है तथा जो शक्ति कार्य परिणाम में परंपरा से कारणरूप हो वह ओघशक्ति है।

यद्यपि द्रव्य का कोई भी समय का कोई भी परिणाम (पर्याय) पूर्वोत्तर भाव से तो व्यवहारनय से कार्य-कारण उभय स्वरूप है। परंतु निश्चयनय की दृष्टि से तो द्रव्य का कोई भी परिणाम कार्य या कारण रूप नहीं है। वह तो उस समय मात्र ही द्रव्य का परिणाम है, क्योंकि अनादि-अनंत शाश्वत द्रव्य में जिस-जिस समय शुद्ध तथा अशुद्ध कारण शक्ति हेतु सापेक्ष जो-जो परिणाम प्राप्त होते हैं उस-उस समय में द्रव्य की सद्भूत अवस्था पर्यायरूप होकर द्रव्य से कथंचित् भिन्न तथा अभिन्न होती है। इसलिए यह समझना आवश्यक हो जाता है कि कोई भी द्रव्य का पर्याय आविर्भाव तथा तिरोभाव स्वरूप से नित्यानित्य होता है। उसी प्रकार द्रव्य को भी गुण-पर्याय की अभिन्नता से नित्यानित्य प्राप्त होता है। अन्यथा द्रव्य को एकान्त नित्य और पर्याय को एकान्त अनित्य मानने से तो द्रव्य का लक्षण भी घटित नहीं होगा तथा मिथ्याभाव की प्राप्ति होगी।

कुछ अन्यदर्शनकार द्रव्य-गुण और पर्याय को भिन्न-भिन्न मानते हैं। वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि कभी भी द्रव्य पर्याय रहित नहीं होता है तथा पर्याय द्रव्य से रहित नहीं रह सकता। गुण तो द्रव्य के साथ सहभावी रहते हैं। अर्थात् द्रव्य तो हमेशा अपने-अपने गुणों और पर्यायों के त्रिकालिक समुदाय रूप है। तभी तत्त्वार्थकार श्री उमास्वाति ने 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' सूत्र सूत्रित किया है। इससे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि द्रव्य अपनी अनेक गुण सत्ता से सदा-काल नित्य होने पर भी विविध स्वरूप से परिणामी होने के कारण अनित्य भी घटित होता है और तभी द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप में लक्षित होता होगा।

द्रव्य और पर्याय से गुण भिन्न नहीं है। यदि भिन्न होते तो शास्त्र में ज्ञेय को जानने के लिए ज्ञान स्वरूप में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नय की व्याख्या उपलब्ध होती है तो उसके साथ गुणार्थिक नय की व्याख्या भी होनी चाहिए। लेकिन वह तो शास्त्र में कहीं भी नहीं मिलती है। अतः गुण को द्रव्य से तथा पर्याय से अलग स्वतंत्र मानना युक्त नहीं है तथा विशेष यह भी जानने योग्य है कि आत्म द्रव्य के गुण पर्याय में गुण ध्रुवभाव में भी परिणाम पाते हैं जबकि पुद्गल द्रव्य के वर्णादि गुण तो अध्रुव भाव में परिणाम पाते हैं।

गुणों को ही पर्याय का उपादान कारण माने तो भी युक्त नहीं है। क्योंकि फिर तो द्रव्यत्व का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा और इससे तो इस जगत के सभी परिणामों को केवल गुणपर्याय ही मानने पड़ेंगे। परन्तु ऐसा मानने से तो द्रव्यत्व रूप गुण पर्याय का आधार तत्त्व का ही अपलाप हो जायेगा। जिससे सर्वत्र केवल एकान्तिक और आत्यंतिक क्षणिकता ही प्राप्त होगी। जबकि अनुभव सिद्ध, अविरोद्ध तथा तत्त्वतः द्रव्य नित्य होता है जो त्रिकालिक सम्पूर्ण गुण तथा पर्याय का आधार है। अतः द्रव्य-गुण और पर्याय को कथंचित् भेदाभेदता शास्त्रार्थ से युक्त है।

द्रव्यगुण-पर्याय रास में उपाध्याय यशोविजयजी ने एक गाथा में अन्यदर्शनों के साथ जैन दर्शन की मान्यता को स्पष्ट कर दी है -

भेद भणे नैयायिकोजी, सांख्य अभेद प्रकाश।

जैन उभय विस्तारताजी, पामे सुजश विलास ॥^{१५६}

कुछ मत्यांध दार्शनिक जगत में प्रत्येक द्रव्य को तथा द्रव्य-गुण-पर्याय को भी सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं। जिसमें नैयायिक आदि तथा कुछ सांख्यादि भिन्न-भिन्न द्रव्यों को तथा द्रव्य के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमन को सर्वथा अभिन्न स्वीकारते हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षपाती एक दूसरे के प्रति मत्सर ईर्ष्या भाव वाले होते हैं। जब कि जैन प्रत्येक द्रव्य को एक दूसरे से कथंचित् भिन्नाभिन्न उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणामीत्व तथा प्रत्येक द्रव्य को भी अपने गुण-पर्याय से भी कथंचित् भिन्नाभिन्न तथा नित्यानित्य स्वरूपी मानते सर्वत्र यथातथ्य भाव में रहते समता समाधि रूप परमात्म पद को प्राप्त करता है।

भगवतीजी^{१५७} तथा अनुयोग सूत्र में द्रव्य के दो भेद उल्लिखित हैं।

कड्विहा णं भंते ? दव्वा पण्णता ? गोयमा ! दुविहा पण्णता तं जहा - जीवदव्वा य अजीवदव्वा य।

भगवती और अनुयोग सूत्र में गौतमस्वामी भगवान से प्रश्न करते हैं कि - हे भगवन् ! द्रव्य के कितने भेद हैं ? भगवान ने कहा - हे गौतम ! द्रव्य के दो भेद हैं। जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य।

अजीव द्रव्य के दो भेद हैं - रूपीअजीवद्रव्य और अरूपीअजीवद्रव्य। पुनः अरूपीअजीवद्रव्य के दस भेद इस प्रकार हैं -

१. धर्मास्तिकाय, २. धर्मास्तिकाय के देश, ३. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४. अधर्मास्तिकाय, ५. अधर्मास्तिकाय के देश, ६. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, ७. आकाशास्तिकाय, ८. आकाशास्तिकाय के देश, ९. आकाशास्तिकाय के प्रदेश, १०. काल^{१५८}

भगवती में सभी द्रव्य छः प्रकार से बताये हैं। कतिविहा णं भंते ! सव्व दव्वा पन्नता । गोयमा! छव्विहा सव्वदव्वा पन्नता, तं जहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए जाव अद्धासमए।

द्रव्य छः प्रकार के हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल।^{१५९}

उत्तराध्ययन सूत्र में छः द्रव्य की प्ररूपणा की गई तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय-ये तीनों द्रव्य एकत्व विशिष्ट संख्यावाले हैं तथा पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, काल - ये तीनों द्रव्य अनंतानंत हैं। ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।^{१६०}

द्रव्य के सामान्य तथा विशेष गुण भी पाये जाते हैं। द्रव्य, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् तथा वक्तव्य-अवक्तव्य रूप से भी जाना जाता है।

वैशेषिक नैयायिकोंने नव द्रव्य की मान्यता स्वीकारी है जो जैनदर्शन के द्रव्यवाद से सर्वथा भिन्न है।

अस्तिकाय द्रव्य

अस्तिकाय जैन दर्शन की अपनी निराली अवधारणा है। जिस पर किसी दर्शन का मत मतान्तर अथवा मान्यता नहीं है।

जो 'अस्ति' शब्द क्रियावाचक बनकर ही सम्प्रचलित था उसे ही कर्तृत्व में स्वीकृत करने हेतु जैनाचार्यों ने व्याकरण के विद्वानों के वचनों से प्रदेश अर्थ प्रचलित करके नियम को एक अभिनव मोड़ दिया है। ऐसा 'अस्ति' शब्द का अर्थ अन्यत्र सुलभ नहीं है, यह तो जैनाचार्यों की ही दूरदर्शिता है।

अस्ति शब्द को यदि क्रियापरक स्वीकार करते हैं तो केवल वर्तमान से जुड़े रहते हैं। भूतकाल से वंचित बन जाते हैं। तथा अनागत से अवाञ्छित रहेंगे। शास्त्र जगत में अस्ति शब्द निपातनार्थक बनकर त्रिकालबोधक हो जाता है। ऐसा महावैयाकरणों का विनिश्चय है। जैसे कि -

'अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति, भविष्यन्ति चेति भावना।'^{१६१} इससे अस्ति त्रिकालबोधक अर्थवाला सिद्ध होकर जैन वाङ्मय में अस्तिकाय संयोजित हुआ है।

शाकटायन न्यास ने भी 'अस्ति' शब्द को निपात अर्थ में वाचित किया है।

'अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गचनेष्विति'^{१६२}

आचारांगकी टीका में अस्ति शब्द निपातवाचक कहा है - 'अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकाल विषयः'^{१६३}

इसी प्रकार 'अस्ति' शब्द निपातवाचक भगवती टीका आदि में भी मिलता है।

यह अस्तिकाय शब्द आगमों में जब जीव-अजीव का निरूपण करते हैं तब धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि में अस्तिकाय शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु उनके स्थान पर द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जो आगमों की प्राचीनता का प्रतीक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों को देश, प्रदेश, स्कंध आदि भेदों में विभक्त किया है। किन्तु अस्तिकाय शब्द का अर्थ कहीं पर भी मूल आगम में नहीं दिया गया है।

लेकिन उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगमों की टीकाओं, वृत्तियों, चूर्णियों, अन्य शास्त्र ग्रंथों में अस्तिकाय शब्द को लेकर विचार-विमर्श किया है जो आज भी सर्वोपरी मान्य है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अस्ति+काय अर्थात् अस्ति यानि प्रदेश और काय अर्थात् संघात वह अस्तिकाय है। अस्तिकाय की इस प्रकार की व्याख्या नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने भगवती की टीका में क्व. है। जिसका साक्षी रूप पाठ इस प्रकार है -

'अस्ति शब्देन प्रदेशा उच्यन्ते अतः तेषां काया राशयः अस्तिकाय अथवा अस्ति इत्ययं निपातः कालत्रयाभिधायी ततोऽस्तीति सन्ति आसन् भविष्यन्ति च काया प्रदेशराशयः ते देशैराशय।'^{१६४}

अस्ति शब्द का अर्थ प्रदेश होता है। इसीलिए उनके समूह को अस्तिकाय कहते हैं अथवा अस्ति यह शब्द निपात है और तीनों कालों का बोधक है। अस्ति वर्तमान में, भूतकाल में और भविष्य में भी रहता है। उन

प्रदेशों का समूह वह अस्तिकाय कहलाता है।

प्रज्ञापना की टीका में - अस्ति यानि प्रदेशों का समूह है। कारण कि काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग और राशि ये पर्यायवाची शब्द हैं। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशों का समूह।^{१६५}

अस्तिकाय-प्रदेशों का समूह ऐसी व्याख्या समवायांग टीका,^{१६६} षड्दर्शन समुच्चय टीका,^{१६७} जीवाजीवाभिग टीका,^{१६८} अनुयोगमलधारीयवृत्ति,^{१६९} स्थानांग टीका^{१७०} आदि अनेक आगम ग्रन्थों में भी मिलती है।

आ. हरिभद्रसूरि ने आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति में इस प्रकार समुल्लेख किया है -

अत्थितिवहुप्रदेशा तेषां पंचत्थिकाया उ अस्तीत्ययं। त्रिकालवचनो निपातः अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना बहु प्रदेशास्तु यतस्तेन पञ्चैवास्तिकायाः तु शब्दस्यावधारणार्थत्वात् न्यूना नाप्यधिका इति।^{१७१}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अभयदेवसूरि के अस्ति शब्द विषयक अर्थ को अंगीकार किया है। यद्यपि हरिभद्र पूर्ववर्ती है और आचार्य अभयदेव उत्तरवर्ती। अतः हरिभद्र सूरि का ही अनुसरण आचार्य अभयदेवसूरि ने किया होगा। ऐसा ऐतिहासिक तथ्य जो आज भी सर्वमान्य है। जो किसी काल में न तर्कित बन सकता है न शंकित रह सकता है। अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति,^{१७२} तत्त्वार्थ हारिभद्रीय दुपडिका टीका,^{१७३} ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति^{१७४} में भी अस्तिकाय का यही अर्थ मिलता है। यह महावीर की अपनी नूतन देन है।

पंचास्तिकाय में अस्तिकाय की व्याख्या दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार की है - जिनका विविध गुण और पर्यायों के साथ अपनत्व है वे अस्तिकाय हैं और उनसे तीन लोक निष्पन्न होते हैं।^{१७५} इसी के तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य जयसेन ने अस्तिकाय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है। अस्तिकाय अर्थात् सत्ता, स्वभाव तन्मयत्व स्वरूप है। वही अस्तित्व और काया शरीर को ही काय कहते हैं। बहुप्रदेशप्रचर्य फैले होने से शरीर को ही काय कहते हैं और उन पंचास्तिकाय द्वारा तीनों लोको की उत्पत्ति होती है अर्थात् विश्व-व्यवस्था में इनका महत्त्वपूर्ण योग है।^{१७६}

प्रज्ञापना की प्रस्तावना में भी अस्तिकाय की व्युत्पत्ति इसी प्रकार मिलती है। 'अस्ति का अर्थ है सत्ता अथवा अस्तित्व और काय का अर्थ यहाँ पर अस्तिवान् के रूप में नहीं हुआ है। क्योंकि पंचास्तिकाय में पुद्गल के अतिरिक्त शेष अमूर्त है। अतः यहाँ काय का लाक्षणिक अर्थ है जो अवयवी द्रव्य है, वे अस्तिकाय हैं और जो निरवयव द्रव्य है वह अनस्तिकाय है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं जिसमें विभिन्न अंश हैं-हिस्से हैं वह अस्तिकाय है। यहाँ पर स्वभाविक एक जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि अखण्ड द्रव्यों में अंश या अवयव की संभावना करनी कहाँ तक युक्तिसंगत है? क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय - ये तीनों द्रव्य निरवयव, अविभाज्य, अखण्ड हैं। अतः उनमें अवयवी होने का तात्पर्य क्या है? कायत्व का अर्थ अवयव सहित यदि हम स्वीकारते हैं तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि परमाणु तो निरवयव, निरंश और अविभाज्य है। तो क्या वह अस्तिकाय नहीं है? परमाणु पुद्गलों का ही एक विभाग है और फिर भी उसे

अस्तिकाय रूप में स्वीकृत किया है। इन सभी प्रश्नों पर जैनाचार्यों ने अत्यंत गंभीर विचार-चिन्तन-मन्थन किया। जिसके फलस्वरूप उक्त प्रश्नों का समाधान किया है। यह वस्तुतः सत्य है कि धर्म-अधर्म-आकाश एक अखण्ड अविभाज्य द्रव्य है। लेकिन क्षेत्र की दृष्टि से वे लोकव्यापी हैं। अतः क्षेत्र की अपेक्षा से उनके अवयव की अवधारण या विभाग की कल्पना वैचारिक स्तर पर की गई है। परमाणु स्वयं में अविभाज्य निरवयव है। वह स्वयं कायरूप नहीं है। लेकिन वही परमाणु जब स्कन्ध रूप में बन जाता है तब वह सावयव हो जाता है। इसीलिए परमाणु में कायत्व की अवधारणा की गई है।

अस्तिकाय अनस्तिकाय के विभाग का एक आधार बहुप्रदेशत्व भी माना गया है जो बहुप्रदेशी द्रव्य है, वह अस्तिकाय है और एकप्रदेशी है, वह अनस्तिकाय है तब यहाँ भी यह स्वाभाविक जिज्ञासा जागृत होती है कि धर्म-अधर्म-आकाश - ये तीनों द्रव्य स्वद्रव्य की अपेक्षा से एकप्रदेशी हैं। क्योंकि वे अखण्ड हैं। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि धर्म-अधर्म और आकाश में बहुप्रदेशत्व द्रव्य की अपेक्षा से नहीं, अपितु क्षेत्र की अपेक्षा से है। क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा से धर्म-अधर्म को असंख्य प्रदेशी कहा है तथा आकाश को अनंतप्रदेशी कहा है। इसलिए उपचार से उनमें कायत्व की संभावना की गई है। पुद्गल परमाणु की अपेक्षा से नहीं परन्तु स्कन्ध की अपेक्षा बहुप्रदेशी है और अस्तिकाय की अवधारणा भी बहुप्रदेशत्व की दृष्टि से है।^{१७७}

यहाँ पर एक प्रश्न और उठता है कि कालद्रव्य लोकव्यापी है फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया? आगमशास्त्रों में उसका समाधान हमें संतोषजनक मिलता है कि कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है। किन्तु प्रत्येक कालाणु अपने आप में स्वतंत्र है। स्निग्धता और रुक्षतागुण के अभाव में उनमें बंध नहीं होता। अतः वे परस्पर निरपेक्ष हैं और बंध के अभाव में स्कन्ध की कल्पना करना व्यर्थ है। तथा स्कन्ध के अभाव में प्रदेश-प्रचयत्व की संभावना नहीं हो सकती। अतः कालद्रव्य में स्वरूप एवं उपचार इन दोनों ही प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना नहीं हो सकती है।

इस प्रकार धर्मास्तिकाय आदि पाँचों को अस्तिकाय कहा गया है। जिसका पाठ स्थानांग में इस प्रकार मिलता है -

पंच अत्थिकाया पण्णता, तं जहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोण्णलत्थिकाए।^{१७८} इस प्रकार पाँच अस्तिकाय हैं तथा अद्धा-समय-काल के साथ अस्तिकाय शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। इससे धर्मास्तिकाय के साथ इसका भेद स्पष्ट होता है। प्रज्ञापना में जीव के साथ भी अस्तिकाय शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीव के प्रदेश नहीं हैं, क्योंकि प्रज्ञापना के पाँचवें पद में जीव के प्रदेशों पर चिन्तन किया गया है। प्रथम पद में अजीव और जीव के मौलिक भेद कहे हैं, उन्हें ही पाँचवें पद में जीवपर्याय और अजीव पर्याय कहा है। तेरहवें में उन्हीं को परिणाम नाम से प्रतिपादित किया है।

अजीव के दो भेद रूपी और अरूपी किये हैं। अरूपी अजीव के अन्तर्गत धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और अद्वा ये चार हैं। धर्म-अधर्म और आकाश के स्कन्ध, देश, प्रदेश ये तीन-तीन भेद प्रत्येक के हैं। यहाँ पर देश का अर्थ धर्मास्तिकाय आदि का बुद्धि के द्वारा कल्पित दो तीन आदि प्रदेशात्मक विभाग और प्रदेश का अर्थ धर्मास्तिकाय आदि के बुद्धिकल्पित प्रकृष्ट देश जिसका पुनः विभाग न हो सके। धर्मास्तिकाय आदि के समग्र प्रदेश का समूह स्कन्ध है। अद्वा-काल को कहते हैं। वर्तमान काल का एक ही समय 'सत्' होता है। अतीत अनागत के समय या तो नष्ट हो चुके होते हैं अथवा उत्पन्न नहीं हुए होते हैं। अतः काल में देश-प्रदेशों के संघात की कल्पना नहीं है।

रूपी अजीव के अन्तर्गत पुद्गल को माना गया है। उसके स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु ये चार प्रकार हैं। पुद्गल वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त होता है।^{१७९}

अजीव अस्तिकाय के अन्तर्गत चार भेद आते हैं। जैसे - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।^{१८०}

अस्तिकाय को लेकर उत्तरवर्ती शास्त्रों में किसी अन्यदार्शनिकों से चर्चा हुई हो ऐसा प्रायः जानने में नहीं आया है। लेकिन जैनागमों का पंचम व्याख्या प्रज्ञप्ति जिसे भगवतीजी नाम से संबोधित करते हैं उसमें अन्य दर्शनीयों का महावीरस्वामी, गौतमस्वामी एवं मद्दुक श्रावक के साथ अस्तिकाय की चर्चा का कुछ स्वरूप मिलता है। वह इस प्रकार है -

भगवती के सातवे शतक के दसवे उद्देश में - उस समय अर्थात् जिस समय स्वयं महावीर परमात्मा अवनितल को पावन करते हुए विचर रहे थे। उस समय में राजगृही नामक नगर था। उसमें गुणशील नामक चैत्य था तथा उसमें पृथ्वी शिलापट था। उस गुणशील चैत्य के पास कुछ दूरी पर बहुत से अन्यतीर्थी रहते थे। जैसे कि कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी, उदय, नामोदय अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक और सुहस्ती गृहपति। किसी समय वे सब एक स्थान पर आये और सुखपूर्वक बैठे। उनमें परस्पर इस प्रकार वार्तालाप हुआ कि - श्रमण-ज्ञातपुत्र (महावीर) पाँच अस्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं जैसे कि - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इन में से श्रमण ज्ञात पुत्र चार अस्तिकाय को अजीवकाय कहते हैं। जैसे कि - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं एक जीवास्तिकाय को अरूपी जीवकाय कहते हैं। उन पाँच अस्तिकाय में चार अस्तिकाय अरूपी हैं। जैसे कि - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय। एक पुद्गलास्तिकाय को ही श्रमण-ज्ञातपुत्र रूपीकाय और अजीवकाय कहते हैं। उनकी यह बात कैसे मानी जा सकती है ?

उस समय श्रमण भगवान् महावीर गुणशील चैत्य में पधारे। उनके ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम गोत्री इन्द्रभूति अणगार भिक्षाचर्या के लिए धूमते हुए यथा-प्राप्त आहार पानी ग्रहण करके राजगृह नगर से त्वरा रहित, चपलता रहित, संभ्रान्त रहित इर्यासमिति का पालन करते हुए, अन्यतीर्थिकों से थोड़े दूर होकर निकले। तब अन्यतीर्थिकों

ने भगवान् गौतम को थोड़ी दूरी से जाते हुए देखा और एक दूसरे से परस्पर कहा - हे देवानुप्रियों ! पञ्चास्तिकाय सम्बन्धी यह बात हम नहीं जानते। यह गौतम अपने से थोड़ी दूरी पर ही जा रहे हैं। इसलिए गौतम से यह अर्थ पूछना श्रेयस्कर है। इस प्रकार परस्पर परामर्श करके वे भगवान् गौतम के पास आये और उन्होंने भगवान् गौतम से इस प्रकार पूछा - हे गौतम ! आपके धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पाँच अस्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं। धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय आदि सम्पूर्ण चर्चा गौतम से ही की। फिर पूछा - हे गौतम ! यह किस प्रकार ?

तब भगवान् गौतम ने अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा - हे देवानुप्रियों ! हम अस्तिभाव को नास्तिभाव नहीं कहते। इसी प्रकार नास्तिभाव को अस्तिभाव नहीं कहते। हे देवानुप्रियों ! हम सभी अस्तिभावों को अस्तिभाव कहते हैं और नास्तिभावों को नास्तिभाव कहते हैं, इसलिए हे देवानुप्रियों ! आप स्वयं ज्ञान द्वारा इस बात का विचार करो। इस प्रकार कहकर गौतमस्वामी ने उन अन्यतीर्थिकों से कहा कि जैसे भगवान् ने कहा है वैसा ही है। गौतमस्वामी गुणशील चैत्य में आकर, भक्तपान दिखलाया और वन्दन करके उपासना करने बैठ गये।

जिस समय भगवान् महावीर धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त थे उसी समय कालोदयी वहाँ शीघ्र आया। हे कालोदयिन् ! इस प्रकार सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कालोदयि से इस प्रकार पूछा - हे कालोदयी ! किसी समय तुम सभी ने एकत्रित होकर पञ्चास्तिकाय के बारे में विचार किया था। क्या यह बात यथार्थ है ? कालोदयी ने कहा - हाँ ! यथार्थ है।

हे कालोदयिन् ! पञ्चास्तिकाय सम्बन्धी बात सत्य है। मैं धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय पर्यन्त पाँच अस्तिकाय की प्ररूपणा करता हूँ। उनमें से चार अस्तिकायों को अजीवास्तिकाय अजीव रूप कहता हूँ। यावत् पूर्व कथितानुसार एक पुद्गलास्तिकाय को रूपी अजीवकाय कहता हूँ।

तब कालोदयीने श्रमण भगवान् महावीरस्वामी से कहा कि - हे भगवन् ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय - इन अरूपी अजीवकायों के उपर क्या कोई बैठना, सोना, खड़े रहना, नीचे बैठना और इधर-उधर आलोटना इत्यादि क्रियाएँ कर सकता है।

हे कालोदयिन् ! यह अर्थ आप योग्य नहीं कर रहे हैं। केवल पुद्गलास्तिकाय ही रूपी अजीवकाय है। उस पर बैठना, सोना आदि क्रियाएँ करने में कोई भी समर्थ है।

हे भगवन् ! इस रूपी अजीव पुद्गलास्तिकाय में क्या जीवों को पापफल-विपाक सहित अर्थात् अशुभ फल देनेवाले पाप कर्म लगते हैं ?

हे कालोदयिन् ! यह अर्थ योग्य नहीं है। किन्तु अरूपी जीवास्तिकाय में ही जीव को पापफल विपाक सहित पापकर्म लगते हैं। अर्थात् जीव ही पापकर्म संयुक्त होते हैं।

भगवान् की वाणी सुनकर कालोदयी को बोध प्राप्त हुआ और उसने भगवान् के पास प्रव्रज्या अंगीकार

की। ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया।^{१८१}

भगवती के अठारहवे (१८) शतक के सातवे उद्देश में 'मद्रुक' श्रावक का अन्य तीर्थियों से वाद का प्रमाण मिलता है। वह इस प्रकार -

उस समय राजगृह नामक नगर था। गुणशील चैत्य था। उसमें पृथ्वी शिलापट्ट था। गुणशील चैत्य के समीप बहुत अन्यतीर्थिक निवास करते थे। यथा - कालोदयी-शैलोदायी इत्यादि उपरोक्त 'यह कैसे माना जा सकता है' तक।

उस राजगृह नगर में धनाढ्य यावत् किसी से भी पराभूत नहीं होनेवाला जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, मद्रुक नाम का श्रमणोपासक रहता था। अन्यदा किसी दिन श्रमण भगवान महावीरस्वामी वहां पधारे। समवसरण की रचना एवं बार पर्षदा उनकी पर्युपासना करने लगी। भगवान महावीर का आगमन सुनकर मद्रुक श्रावक का मन मयूर नृत्य करने लगा। स्नान आदि से निवृत्त होकर, सुंदर अलंकारों से अलंकृत बनकर प्रसन्नचित्त होकर घर से निकला और पैदल चलता हुआ उन अन्यतीर्थिकों के समीप होकर जाने लगा। उन अन्यतीर्थिकों ने मद्रुक श्रावक को जाता हुआ देखा और परस्पर एक दूसरे से कहा - हे देवानुप्रियो ! वह मद्रुक श्रावक जा रहा है। हमें वह अविदित एवं असंभव तत्त्व पूछना है तो देवानुप्रियो ! हमें मद्रुक श्रमणोपासक से पूछना उचित है। ऐसा विचार कर तथा परस्पर एक मत होकर वे अन्यतीर्थिक मद्रुक श्रमणोपासक के निकट आये और मद्रुक श्रमणोपासक से इस प्रकार पूछा -

तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण-ज्ञातपुत्र महावीर पाँच अस्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं। यह कैसे माना जाय?

मद्रुक श्रमणोपासक ने कहा - वस्तु के कार्य से उसका अस्तित्व जाना और देखा जा सकता है। बिना कारण के कार्य दिखाई नहीं देता।

अन्यतीर्थिकों ने मद्रुक श्रमणोपासक पर आक्षेप पूर्वक कहा - हे मद्रुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है कि जो तू पंचास्तिकाय को जानता-देखता नहीं है फिर भी मानता है।

मद्रुक श्रमणोपासक ने अन्यतीर्थिकों से कहा - हे आयुष्मान् ! वायु बहती है क्या यह ठीक है ? उत्तर : हाँ यह ठीक है।

प्र. हे आयुष्मान् ! बहती हुई वायु का रूप तुम देखते हो ?

उ. वायु का रूप दिखाई नहीं देता है।

प्र. हे आयुष्मान् ! गन्ध गुणवाले पुद्गल है ?

उ. हाँ, है।

प्र. आयुष्मान् ! तुम उन गन्धवाले पुद्गलों के रूप को देखते हो ?

उ. यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्र. हे आयुष्मान् ! क्या तुम अरणी की लकड़ी में रही हुई अग्नि का रूप देखते हो ?

उ. यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्र. हे आयुष्मान् ! समुद्र के उस पार पदार्थ है ?

उ. हाँ, है।

प्र. हे आयुष्मान् ! तुम समुद्र के उस पार रहे हुए पदार्थों को देखते हो ?

उ. यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्र. हे आयुष्मान् ! क्या तुम देवलोक में रहे हुए पदार्थों को देखते हो ?

उ. यह अर्थ समर्थ नहीं है।

हे आयुष्मान् ! मैं तुम या अन्य कोई भी छद्मस्थ मनुष्य जिन पदार्थों को नहीं देखते । उन सभी का अस्तित्व नहीं माना जाय तो तुम्हारी मान्यतानुसार तो लोक के बहुत से पदार्थों का अभाव हो जायेगा ? इस प्रकार मद्रुक श्रमणोपासक ने उन अन्यतीर्थियों का पराभव किया और निरुत्तर किये। उन्हें निरुत्तर करके वह गुणशील उद्यान में श्रमण भगवान महावीर स्वामी की सेवा में आया और पाँच प्रकार के अभिगम से श्रमण भगवान महावीर स्वामी की पर्युपासना करने लगा।

भगवान महावीरस्वामी ने - हे मद्रुक ! इस प्रकार सम्बोधित कर कहा - तुमने अन्यतीर्थियों को ठीक उत्तर दिया है। हे मद्रुक ! जो व्यक्ति बिना जाने, बिना देखे और बिना सुने किसी अदृष्ट, अश्रुत, असम्मत, अविज्ञान अर्थ हेतु और प्रश्न का उत्तर बहुत से मनुष्यों के बीच में कहता है, बताता है, वह अरिहन्तों की अरिहन्त कथित धर्म की, केवलज्ञानियों की और केवलप्ररूपित धर्म की आशातना करता है। हे मद्रुक ! तुमने अन्यतीर्थियों को यथार्थ उत्तर दिया है।

भगवान की वाणी को सुनकर मद्रुक श्रमणोपासक अत्यंत आनंद विभोर बन गया और श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वन्दना नमस्कार करके, न अति दूर एवं न अति समीप पर्युपासना करने लगा। भ. महावीर ने मद्रुक श्रावक को एवं परिषद को मधुर ध्वनि में देशना सुनाई। तत्पश्चात् पर्षदा का विसर्जन हुआ। उस मद्रुक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान महावीर से धर्मोपदेश सुना, प्रश्न पूछे, अर्थ जाने और खड़े होकर भगवान को वंदन करके लौट गया।^{१८२}

इस प्रकार मद्रुक श्रावक भगवान महावीर का ज्ञानवान्, प्रज्ञावान्, श्रद्धावान् श्रावक था। तथा ज्ञान के बल पर अन्य दर्शनियों के हृदय में भी तत्त्व की श्रद्धा का स्थान स्थिर करवा दिया।

अतः अस्तिकाय भगवान महावीर की एक अनुपम अद्भुत देन है। तथा जिससे सम्पूर्ण लोक की संरचना व्यवस्थित बनती है और इसीलिए भगवानने कहा कि यह लोक भी पंचास्तिकायरूप है।

आधुनिक युग में विज्ञान ने अत्यधिक प्रगति की है। उसकी अपूर्व प्रगति विज्ञों को चमत्कृत कर रही है। विज्ञान ने भी दिक्, काल और पुद्गल इन तीन तत्त्वों को विश्व का मूल आधार माना है। इन तीनों तत्त्वों के बिना विश्व की संरचना सम्भव नहीं है। आइन्सटीन ने सापेक्षवाद के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि

दिक् और काल ये गति सापेक्ष है। गति सहायक द्रव्य जिसे धर्मद्रव्य कहा गया है, विज्ञान ने उसे 'ईथर' कहा है। आधुनिक अनुसंधान के पश्चात् 'ईथर' का स्वरूप भी बहुतकुछ परिवर्तित हो चुका है। अब 'ईथर' भौतिक नहीं, अभौतिक तत्त्व बन गया है। जो धर्मद्रव्य की अवधारणा के अत्यधिक सन्निकट है। पुद्गल तो विश्व का मूल आधार है ही। भले ही वैज्ञानिक उसे स्वतंत्र द्रव्य न मानते हो किन्तु वैज्ञानिक धीरे-धीरे नित्य नूतन अन्वेषण कर रहे हैं। सम्भव है कि निकट भविष्य में पुद्गल और जीव का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य करे।

इस प्रकार अस्तिकाय द्रव्य आज सर्वमान्य हो गया है।

निष्कर्ष रूप में आचार्य हरिभद्रने आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति, अनुयोगहारिभद्रीयवृत्ति, तत्त्वार्थ हारिभद्रीय दुपडीका टीका में अस्तिकाय विषयक जो विवेचन दिया है वह विवेचन मान्य है और स्पष्ट है। उसे सभी दृष्टि से चित्रित करने योग्य है। इन टीकाओं तथा वृत्तियों में अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशों का समूह ही स्वीकार किया है।

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय

इस चराचर विश्व का अवलोकन करने पर हमें जो कुछ दिखाई देता है वह दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। जड़ और चेतन। हमें जो पेड़ पौधे प्राणी और मनुष्यादि दिखाई देते हैं, वे सब चेतन अर्थात् सजीव हैं। उनमें से जब चेतन चला जाता है, तब वे अचेतन अर्थात् जड़ हो जाते हैं। अन्य दार्शनिकों ने जितने भी मूलतत्त्व माने हैं उन सब का समावेश सजीव और निर्जीव इन दो तत्त्वों में हो जाता है।

लेकिन जैन दार्शनिकों का चिन्तन इस विषय में कुछ और विशिष्ट है। उन्होंने अचेतन के विभिन्न गुणधर्मानुसार उसका भी वर्गीकरण किया है। उन्होंने अनुभव किया कि सचेतन और अचेतन अपने गुणधर्मानुसार कुछ न कुछ कार्य करते ही हैं। वे कहीं न कहीं स्थित रहते हैं और उनका अवस्थान्तर होता है। वे स्थानान्तरण करते हैं और कहीं स्थिर होते हैं। सचेतन, अचेतन के इन कार्यों में सहायक होनेवाले तत्त्व इनसे भिन्न गुणधर्मवाले हैं। अतः वे मूलतत्त्व हैं। ऐसे और मूलतत्त्व चार हैं। मूलतत्त्व ही मूलद्रव्य हैं।

जैन चिन्तकों ने मूल द्रव्य छह माने हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और जीव प्रदेशवान् हैं। अतः ये अस्तिकाय हैं। काल का कोई प्रदेश नहीं है। इसलिए काल अप्रदेशी काय होने से अस्तिकाय नहीं है।

यद्यपि धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और काल का समावेश अजीव तत्त्व में ही होता है। फिर भी इनमें से प्रत्येक के गुण, धर्म, कार्य भिन्न-भिन्न होने से मूल द्रव्य माने गये हैं।

यहाँ पर हमारा मुख्य बिन्दु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के विषय में चिन्तन करना है। यद्यपि दर्शन जगत में सर्वज्ञ काल-कर्म-सिद्धि आदि विषयों को लेकर सभी दर्शनकारों ने अपनी-अपनी मति-वैभवा के अनुसार चिन्तन मन्थन प्रस्तुत किया है। किन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय यह जैन दर्शन की मौलिक मान्यता है। इसके विषय में किसी दर्शनकारों ने न चर्चा की है और न ही कुछ आलेखन किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि

शायद वे लोग इस विषय से अपरिचित, अनभिज्ञ होंगे।

यहाँ धर्म-अधर्म से पुण्य-पाप को अथवा वैशेषिकों के माने हुए गुण विशेष को नहीं समझना चाहिए। किन्तु ये तो अपने आप में स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्य है जैसे कि आगे बताया जायेगा कि पुण्य-पाप तो कर्म के भेद है जिनका वर्णन कर्म मीमांसा में किया जायेगा। लेकिन महाप्राज्ञ जैनदर्शनकारों ने तो धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय की एक निरूपण एवं निराली व्याख्या निरूपित है जो हमें आगम ग्रंथों में हरिभद्रसूरि के ग्रंथों में एवं उत्तरकालीन जैनाचार्यों के साहित्य में स्पष्ट रूप से मिलते हैं - जैसे कि 'जीवानां पुद्गलानां च स्वभावत एव गति परिणामपरिणतानां तत्स्वभावधारणात् तत् स्वभावपोषणाद्धर्मः अस्त्यश्चेह प्रदेशाः तेषां कायः सद्भातः गणकाए य निकाए खंधे वग्गे तहेव रासी य इति वचनात् अस्तिकाय प्रदेशसद्भात इत्यर्थः धर्मश्चासौ अस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः।'^{१८३}

अपने स्वभाव से गतिपरिणाम प्राप्त किये हुए जीव और पुद्गलों के गतिस्वभाव को धारण करने, पोषण करने से धर्म कहलाता है तथा अस्ति अर्थात् प्रदेशों उनका काय अर्थात् समूह। कारण कि गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग तथा राशि ये पर्यायवाची शब्द हैं। अतः अस्तिकाय यानि प्रदेशों का समूह। इससे परिपूर्ण धर्मास्तिकाय रूप अवयवी द्रव्य कहलाता है। अवयवी अर्थात् उस प्रकार का संघातरूप परिणाम विशेष है। परंतु अवयव द्रव्यों से भिन्न द्रव्य नहीं है। कारण कि भिन्न स्वरूप में उसका बोध नहीं होता है। लम्बाई और चौड़ाई में संघात रूप से परिणाम विशेष को प्राप्त तन्तुओं को लोक में पट नाम से पुकारते हैं। लेकिन तन्तुओं से भिन्न पट नाम का द्रव्य नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों ने भी कहा - 'तन्तु आदि से भिन्न पटादि का ज्ञान नहीं होता है। परन्तु विशिष्ट तत्त्वादि का ही पटादि रूप में व्यवहार होता है। यही बात अनुयोग हारिभद्रीय^{१८४} तथा अनुयोगमलधारीयवृत्ति^{१८५} में भी है।

धर्मास्तिकाय से प्रतिपक्ष अधर्मास्तिकाय है। कारण कि स्थिर परिणाम को प्राप्त किये हुए जीव और पुद्गलों को स्थिति परिणाम में अवलंबन अमूर्त असंख्यात प्रदेशों का समूह अधर्मास्तिकाय है। जीवाजीवाभिग टीका,^{१८६} समवायांगवृत्ति^{१८७} में इसी प्रकार की व्याख्या मिलती है।

प्रदेश रूप में असंख्यात प्रदेशात्मक होने पर भी द्रव्यार्थ रूप से एकत्व होने से धर्मास्तिकाय एक है। गमन परिणाम को प्राप्त किये हुए जीव और पुद्गलों को गति में सहायक होने से धर्म और अस्तिप्रदेशों उनका समूह अर्थात् अस्तिकाय - धर्म+अस्तिकाय=धर्मास्तिकाय।

अधर्मास्तिकाय इससे विपरीत स्थिर करने में सहायक है।

धर्मास्तिकाय का लक्षण - भगवती में इस प्रकार मिलता है।

धर्मास्तिकाय से जीवों का आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष (आंखे खोलना) मनयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार दूसरे जितने भी चलभाव (गमनशील-भाव) है, वे सब धर्मास्तिकाय के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिरूप है। 'गड्लक्खणे णं धम्मत्थिकाए।'

अधर्मास्तिकाय से जीवों का स्थान, निषीदन, त्वग्वर्तन (सोना) मन को एकाग्र करना आदि तथा इसी प्रकार के अन्य जितने भी स्थित भाव है वे सब अधर्मास्तिकाय से प्रवृत्त होते हैं। अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थितिरूप है। 'ठाण लक्खणे णं अहम्मत्थिकाए।' ^{१८८}

इसी प्रकार का लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र, ^{१८९} उत्तराध्ययनबृहद् टीका, ^{१९०} स्थानांग, ^{१९१} स्थानांगवृत्ति, ^{१९२} प्रज्ञापनाटीका, ^{१९३} बृहद्द्रव्यसंग्रह, ^{१९४} पंचास्तिकाय, ^{१९५} प्रशमरति, ^{१९६} अनुयोगमलधारीयवृत्ति, ^{१९७} जीवाजीवाभिगवृत्ति ^{१९८} आदि में मिलता है।

तथा आचार्य हरिभद्रसूरि रचित तत्त्वार्थ टीका में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का लक्षण इस प्रकार मिलता है -

गतिलक्षणो धर्मास्तिकायः, स्थितिलक्षणश्च अधर्मास्तिकाय इति गतिस्थिती अपेक्षाकारणवत्यौ कार्यत्वाद् घटवत्, उपग्रहशब्दं व्याचष्टे उपग्रह इत्यादिना एते पर्यायशब्दाः। ^{१९९}

गतिमान पदार्थों की गति में और स्थितिमान पदार्थों की स्थिति में उपग्रह करना, निमित्त बनना, सहायता करना क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है। उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण ये पर्यायवाचक शब्द हैं।

अनुयोग हरिभद्रीय वृत्ति में - गतिपरिणामपरिणतानां जीव पुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायः मत्स्यानामिव जलं, तथा स्थितिपरिणामपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भकः अधर्मास्तिकायः मत्स्यानामिव मेदिनी। ^{२००}

षड्दर्शनसमुच्चय टीका में - तत्र धर्मो गत्युपग्रकार्यानुमेयः अधर्म स्थित्युपग्रहकार्यानुमेयः। ^{२०१}

शास्त्रवार्त्ता समुच्चय में - गगन-धर्मा-धर्मास्तिकायानामवगाहक-गन्तु स्थातृ द्रव्य संनिधानतोऽवगाहन-गति-स्थिति-क्रियोत्पत्तेर नियमेन स्यात्परप्रत्यय। ^{२०२}

उपरोक्त व्याख्या का भावार्थ यही है कि जिस प्रकार आकाश और काल स्वयं रहनेवालों तथा परिणमन करनेवाले पदार्थों में तटस्थ रूप से अपेक्षा कारण होते हैं उसी तरह ये धर्म और अधर्म द्रव्य स्वतः गति और स्थिति करनेवाले जीव और पुद्गलों की गति में अपेक्षा कारण होते हैं। ये पुद्गलों और जीवों की गति-स्थिति के निवर्तक कारण नहीं हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य तो स्वयं चलने तथा ठहरनेवाले जीव पुद्गलों के तटस्थ उपकारक हैं। जिस प्रकार नदी या तालाब या समुद्र आदि जलाशयों में जल के स्वभावतः बहने से स्वयं चलनेवाले मछली आदि का उपकार होता है। जल उनकी गति में साधारण अपेक्षा कारण होकर ही उपकार करता है। उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी चलनेवाले पदार्थों को गति में साधारण सहकारी होता है। जिस प्रकार परिणामिकारण मिट्टी से कुम्हार के घड़ा बनाने में दण्ड आदि साधारण निमित्त होते हैं या जिस प्रकार आकाश में विचरनेवाले पक्षी आदि नभचरों के उड़ने में आकाश अपेक्षा कारण उसी प्रकार धर्मद्रव्य गति में अपेक्षा कारण हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने ध्यानशतकवृत्ति में इस प्रकार लक्षण प्रस्तुत किया है -

जीवानां पुद्गलानां च गत्युपग्रहकारणम् ।
 धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥
 जीवानां पुद्गलानां च स्थित्युपग्रहकारणम् ।
 अधर्म पुरुषस्येव तिष्ठासोरवनिर्यथा ॥^{२०३}

जगत में छः द्रव्य एक दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र लक्षणवाले हैं और इससे कभी भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप में परिवर्तित नहीं होता है। धर्मास्तिकाय गति सहायक है जिस तरह आँखवाले को वस्तुदर्शन करने में दीपक सहायक है। इसी तरह जीव पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय सहायक है। इसलिए ये दो द्रव्य लोकाकाश के अन्त तक जा सकते हैं। आगे अलोक में नहीं, क्योंकि धर्मास्तिकाय लोकाकाश व्यापी है। स्थानांग में भी कहा है मछली गमन तो अपनी शक्ति से ही करती है पर उसमें पानी सहायक होने से पानी के किनारे तक ही वह जा सकती है। आगे नहीं या रेल पटरी गाडी की गति में सहायक होती है।

इसी तरह बैठने की इच्छावाले पुरुष को स्थिर बैठने में भूमि सहायक है वैसे ही जीव और पुद्गल को स्थिति या स्थिरता करने में अधर्मास्तिकाय सहायक है। अशक्त वृद्ध पुरुष को चलते हुए बीच में खड़े रहने के लिए लकड़ी सहायक होती है। इसी तरह घने जंगल में छायावाला पेड़ थके हारे यात्री की स्थिति में सहायक होता है। यात्री उस पेड़ के नीचे विश्रान्ति के लिए ठहर जाता है।

लेकिन यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जीव और पुद्गल गतिमान है। जिस समय ये गमनरूप क्रिया में परिणत होते हैं उस समय इनके उस परिणमन में बाह्य निमित्त कारण धर्म-अधर्म द्रव्य हुआ करता है। अर्थात् धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय पदार्थों को गति-स्थिति देने में उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नहीं है। प्रेरणा करके अथवा जबरदस्ती खींचकर किसी को नहीं ले जाता है और न हि ठहराता है। यदि प्रेरक कारण होता तो बड़ी गडबड़ी उपस्थित हो जाती है। न तो कोई पदार्थ गमन ही कर सकता, न ठहर ही सकता। क्योंकि धर्मास्तिकाय द्रव्य को यदि गमन करने के लिए प्रेरित करता तो उसका प्रतिपक्षी अधर्मास्तिकाय द्रव्य उन्हीं पदार्थों को ठहरने के लिए प्रेरित करता।

इसी प्रकार ये द्रव्य लोक मात्र में व्याप्त न होते तो युगपद् सम्पूर्ण लोक में पदार्थों का गमन और अवस्थान हुआ करता जो कि अशक्य है तथा ये द्रव्य आकाश के समान अनन्त भी नहीं है। यदि अनन्त होते तो लोक और अलोक का विभाग भी नहीं बन सकता तथा लोक का प्रमाण और आकार भी नहीं ठहर सकता।

अतः यह लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशों वाला है। अर्थात् धर्मद्रव्य लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशवाले सभी प्रदेशों में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त है। इसके भी लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेश हैं।^{२०४} जैसे कि तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने भी कहा है - 'असङ्ख्येया प्रदेशा धर्माधर्मयोः।'^{२०५}

पाँच द्रव्यों में से धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्यात प्रदेश है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य असंख्यात-असंख्यात है। धर्मद्रव्य भी असंख्यात और अधर्मद्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है। प्रदेश शब्द से आपेक्षिक और

सबसे सूक्ष्म परमाणु का अवगाह समझना चाहिए।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्य नित्य, अवस्थित तथा अरूपी है। नित्य शब्द का अभिप्राय अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है उसका नाश नहीं होना ही नित्य कहलाता है। अतः इनमें धर्मादि चार और जीव, इनमें से कोई द्रव्य ऐसा नहीं जो कि अपने स्वरूप को छोड़ देता हो, प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप को हमेशा कायम रखता है। कोई भी द्रव्य कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होता है। अतः द्रव्य का स्वरूप नित्य है।

द्रव्यास्तिक नय को प्रधानतया रूप में लक्ष्य रखकर आचार्यश्रीने नित्य शब्द के द्वारा वस्तु के ध्रौव्य अंश का प्रतिपादन किया। अतएव एकान्तवाद रूप नित्यत्व नहीं समझना चाहिए। द्रव्यों के समान उनके गुण भी नित्य हैं। वे भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि मुख्यतया द्रव्यों का और गौणतया द्रव्यों के आश्रित रहनेवाले गुणों का अस्तित्व ध्रुव है।

अवस्थित - द्रव्यों की संख्या अवस्थित अर्थात् निश्चित है। वह न कभी कम होती है और न कभी अधिक। क्योंकि सभी द्रव्य अनादि निधन है और उनका परिणमन कभी एक दूसरे रूप में नहीं हुआ करता है। सभी द्रव्य लोक में अवस्थित रहकर परस्पर में सम्बन्ध रखते हैं और सम्बन्ध होने पर भी कोई भी द्रव्य एक दूसरे रूप में परिणत नहीं होता और दूसरे द्रव्यों को अपने रूप में न हि परिणमाता है। अतएव इनकी संख्या अवस्थित है। अरूपी-तीसरा गुण धर्मादि द्रव्य का अरूपी विशेषण चार द्रव्यों में ही घटित हो सकता है। पुद्गल द्रव्य में नहीं। क्योंकि पुद्गल तो रूपी है और यहाँ अरूपी विशेषण देने के द्वारा चार्वाकों के प्रत्यक्षवाद का निरास हो जाता है।^{२०६}

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय असंख्यात प्रदेशी होने पर भी अखण्ड है। क्योंकि उसके समान जाति-गुण वाला द्रव्य अन्य कोई भी नहीं है तथा ये निष्क्रिय है। जैसे कि कहा - 'निष्क्रियाणि च।'^{२०७}

क्रिया दो प्रकार की होती है। एक तो परिणाम लक्षणा और दूसरी परिस्पन्दलक्षणा। अस्ति भवति आदि क्रियाएँ वस्तु के परिणाम मात्र को बतलाती है। उनको परिणामलक्षणा कहते हैं। जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक वस्तु को ले जाने में अथवा उसका आकारान्तर बनाने में कारण है। उसको परिस्पन्दलक्षणा क्रिया कहते हैं।

यदि प्रकृत में परिणामलक्षणा क्रिया ली जाय तो धर्मादिक द्रव्यों के अभाव का प्रसङ्ग आता है। क्योंकि कोई भी द्रव्य कूटस्थ नित्य नहीं हो सकता। तदनुसार धर्मादिक में भी कोई न कोई परिणमन पाया ही जाता है। 'अस्ति भवति गत्युपग्रहं करोति' आदि क्रियाओं का संभव व्यवहार धर्मादिक में भी होता है। अतएव परिस्पन्दलक्षणा क्रिया का ही धर्मादिक में निषेध समझना चाहिए। जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय है। क्योंकि ये गतिमान है और इनके अनेक आकाररूप परिणमन होते हैं। धर्मादिक द्रव्यों का जो आकार है वह अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक वही रहेगा। अर्थात् जीव पुद्गल के समान धर्म और अधर्म और आकाश द्रव्य का न तो आकारान्तर ही होता है और न क्षेत्रान्तर में गमन ही होता है।

ध्यानशतकवृत्ति के गुजराती विवेचन 'प्रवचन पराग' में धर्मास्तिकाय आदि छः ही द्रव्यों का अकार

बताने में आये है। जैसे कि - धर्मास्तिकाय का आकार लोकाकाश जैसा है। लोकाकाश का आकार नीचे उल्टी छाब जैसा मध्य में खंजरी जैसा तथा ऊपर संपुट जैसा होता है। जिससे क्रमशः नीचे से ऊपर तीनों हिस्सों में अधोलोक-मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक है। पुद्गल के पाँच जीव के साथ युक्त पुद्गल के छः आकार है।^{२०८}

धर्मास्तिकाय अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श, अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित और लोक का अंशभूत द्रव्य है। अर्थात् पंचास्तिकाय लोक का एक अंश है। वह संक्षेप में पांच प्रकार का है। जैसे कि-

(१) द्रव्य की अपेक्षा - धर्मास्तिकाय द्रव्य एक है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा - धर्मास्तिकाय द्रव्य लोक प्रमाण है।

(३) काल की अपेक्षा - धर्मास्तिकाय कभी नहीं था, ऐसा नहीं है। कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है। कभी नहीं होगा ऐसा भी नहीं है। अर्थात् तीनों काल में नित्य है।

(४) भाव की अपेक्षा - धर्मास्तिकाय अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श है।

(५) गुण की अपेक्षा - धर्मास्तिकाय गमनगुणवाला है।^{२०९}

आकाशास्तिकाय

आकाशास्तिकाय के विषय में जैन दर्शन की एक अनुत्तर विचारणा संप्राप्त होती है। अन्य दर्शनकारों ने जिसे शून्य बताकर उपेक्षा की, वही तीर्थंकर प्रणीत आगमों में उसे उपकारी एवं अवगाहक कहकर सम्मानित किया गया है।

सर्व प्रथम 'आकाश' शब्द की व्याख्या जैनागमों में हमें इस प्रकार समुपलब्ध हुई है।

भगवती सूत्र की टीका में 'आ मर्यादया-अभिविधिना वा सर्वेऽर्थाः काशन्ते प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम्।'^{२१०}

जहाँ पर सभी पदार्थ अपनी मर्यादा में रहकर अपने-अपने स्वभाव को प्राप्त करते हैं तथा प्रकाशित होते हैं वह आकाश है।

जीवाभिगम टीका में - चारों ओर से सभी द्रव्य यथावस्थित रूप से जिसमें प्रकाशित होते हैं वह आकाश है।^{२११}

प्रज्ञापना टीका में - मर्यादित होकर स्व-स्वभाव का परित्याग किये बिना जो प्रकाशित होते हैं तथा सभी पदार्थ व्यवस्थित स्वरूप से प्रतिभासित होते हैं वह आकाश है।^{२१२}

आचार्य हरिभद्र सूरि दशवैकालिक की टीका में आकाश की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि- आकाशन्ते दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तस्मिन् स आकाश।^{२१३}

अपने धर्म से युक्त आत्मादि जहाँ प्रकाशित होते हैं वह आकाश है।

अनुयोग हारिभद्रिय वृत्ति में एक विशिष्ट व्याख्या को समुल्लिखित की है वह इस प्रकार है -

“मर्यादामाकाशे भवन्ति भावाः स्वात्मनि च, तत्संयोगेऽपि स्वभाव एवावतिष्ठन्ते नाकाशभावमेव-यान्ति अभिविधौ तु सर्वभावव्यापनादाकाशं, सर्वात्मसंयोगादिति भावः।”^{२१४}

उपरोक्त परिभाषाओं से तो यह अभिव्यक्त होता है कि पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से प्रकाशित होते हैं जब कि बहुश्रुत आचार्य हरिभद्रने इस व्याख्या में एक नवीन विलक्षणता दिखाकर यह ज्ञात करवाया कि पदार्थों का जब उस आकाश के साथ संयोग होता है उस संयोगरूप अनुभव लक्षण से सभी पदार्थ जहाँ प्रकाशित होते हैं दीप्तिमान् होते हैं वह आकाश है।

अनुयोग मलधारीय टीका में भी आकाश की व्युत्पत्ति मिलती है। साथ ही आकाशास्तिकाय किसे कहते हैं यह भी बताया गया है।

आकाश प्रदेशों के समूह को आकाशास्तिकाय कहते हैं तथा वह लोक अलोक व्याप्य अनन्त प्रदेशात्मक अमूर्त द्रव्य विशेष है।

लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकोऽमूर्तद्रव्यविशेष इत्यर्थः।^{२१५}

आकाशास्तिकाय का लक्षण - भगवती में भगवान् गौतम से कहते हैं कि हे गौतम ! आकाशास्तिकाय जीव और अजीव द्रव्यों का भाजन-भूत (आश्रयरूप) है। अर्थात् आकाश से जीव और अजीव द्रव्यों के अवगाह की प्रवृत्ति होती है। जैसे कि गाथा में कहा है -

एणेण वि से पुण्णे दो हि, वि पुण्णे सयं पि माएज्जा।

कोडिसएण वि पुण्णे, कोडिसहस्सं वि माएज्जा ॥

आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश में १०० परमाणु भी समा सकते हैं और जो आकाश प्रदेश १०० करोड़ परमाणुओं से पूर्ण है। उसी एक आकाश प्रदेश में हजार करोड़ परमाणु भी समा सकते हैं। जैसे कि एक मकान में एक दीपक रखा है, वह उसके प्रकाश से भरा हुआ है। यदि दूसरा दीपक भी वहाँ रखा जाय, तो उसका प्रकाश भी उसी मकान में समा जाता है। इसी प्रकार सौ यावत् हजार दीपक भी उसमें रख दिये जाय तो उनका प्रकाश भी उसी में समा जाता है, बाहर नहीं निकलता। इसी प्रकार पुद्गलों के परिणाम की विचित्रता होने से एक, दो संख्यात, असंख्यात यावत् अनन्त परमाणुओं से पूर्ण, एक आकाश प्रदेश में एक से लेकर अनन्त परमाणु तक समा सकते हैं। इसी बात की स्पष्टता के लिए टीकाकार ने एक दूसरा दृष्टांत भी दिया है - औषधि विशेष से परिणमित एक तोले पारद की गोली सौ तोले सोने की गोलियों को अपने में समा लेती है। पारे में परिणत उस गोली से औषधि विशेष का प्रयोग करने पर वह तोले भर पारा पृथक् हो जाता है और वह सौ तोले भर सोना भी पृथक् हो जाता है। यह सब पुद्गल परिणामों की विचित्रता के कारण होता है। इसी प्रकार एक आकाश प्रदेश, जो कि एक परमाणु से भी पूर्ण है उसी प्रकार अनन्त परमाणु भी समा सकते हैं।^{२१६} पंचास्तिकाय में ऐसा ही कहा है।^{२१७}

लक्षण - उत्तराध्ययन सूत्र में - ‘भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं।’^{२१८}

सभी द्रव्यों का भाजन (आधार) आकाश है। वह अवगाह लक्षणवाला है।

स्थानांग,^{२१९} स्थानांगवृत्ति,^{२२०} न्यायालोक,^{२२१} अनुयोग मलधारीया वृत्ति,^{२२२} उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति,^{२२३} जीवाभिगम मलयगिरीयावृत्ति,^{२२४} लोकप्रकाश,^{२२५} षड् द्रव्य विचार^{२२६}। इन सूत्रों में तथा टीका में आकाश को आधार एवं आकाश के अवगाह गुण को बताया गया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति में आकाश का लक्षण यही किया है - 'अवगाहलक्षणमाकाशम्'^{२२७} तथा शास्त्रवार्त्ता समुच्चय की टीका,^{२२८} षड् दर्शनसमुच्चय की टीका^{२२९}, ध्यानशतक वृत्ति^{२३०} में तथा वाचक उमास्वाति रचित तत्त्वार्थ सूत्र 'आकाशस्य अवगाह'^{२३१} में अवग्रह लक्षण को स्वीकृत किया है।

तत्त्वार्थ सूत्र की हारिभद्रीय टीका में आ. हरिभद्रने एक ऐसा सुंदर रूपक दर्शित करते हुए प्रवेशदान से आकाश को एक उच्चतरीय महादानी रूप से समुल्लिखित किया है। वह इस प्रकार है - 'आकाशं अन्तः प्रवेश सम्भवेन स्वमध्ये धर्मादिप्रवेशदानेन, आकाशदेशाभ्यन्तरवर्तिनो हि धर्माधर्मप्रदेशाः।'

आकाश का उपकार लक्षण उपयुक्त और उचित सिद्ध कर आकाश की महानता का दिग्दर्शन दिया है। आकाश ने धर्माधर्म पुद्गल और जीव इनको अवकाश आश्रय दिया है।

आकाश इन सबको अपने अन्त-स्तल में प्रवेश देता है। जिस प्रकार घट बदरीफल को रहने के लिए अवकाश स्थान देता है। उसी प्रकार आकाश भी धर्म-अधर्म द्रव्यों को अपने अन्तः करण में रहने का अवकाश देता है। अवकाश देना उसका अंपना धर्म है तथा अवकाश वही दे सकता है जो उदार, महादानी होता है। आकाश ने सभी को स्थान दिया, किसी का तिरस्कार नहीं किया, फिर भी स्वयं निरालम्ब बनकर सुप्रतिष्ठित है।

धर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर रहता है और जो लोक के बराबर असंख्यात प्रदेशी होकर भी अखण्ड है। उसकी समान जाति का गति में सहकारी दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी एक ही है। वह भी लोक में व्याप्त होकर रहनेवाला अखण्ड द्रव्य है। अर्थात् दोनों द्रव्य आधेयरूप से आकाश में रहते हैं। और आधार बनकर आकाश उनको अवगाह प्रदान करता है। धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेशों का लोकाकाश के प्रदेश से कभी भी विभाग नहीं होता है। अतः इनके अवगाह में आकाश जो उपकार करता है वह अन्तः अवकाश देकर करता है। किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य में यह बात नहीं है, क्योंकि ये अल्पक्षेत्र-असंख्येय भाग को रोकते हैं और क्रियावान् होने से एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान में पहुंचते हैं। अतः अन्तः अवकाश देकर भी उपकार किया करता है और पुद्गल तथा जीवों के अवगाह में संयोग विभाग के द्वारा भी आकर उपकार किया करता है।^{२३२}

सामान्य से आकाश एक अखण्ड अनन्त प्रदेशी है यह पाठ स्थानांग^{२३३} में 'एगे लोए' से मिलता है तथा इसी प्रकार का पाठ समवायांग,^{२३४} भगवती^{२३५} तथा औपपातिक^{२३६} में मिलता है।

वाचक प्रमुख उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में यह बात निर्दिष्ट की है - 'आकाशादेकद्रव्याणीति'^{२३७}

आकाश एक द्रव्य ही है। इसी बात को आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थ टीका में स्पष्ट की है। 'एकद्रव्याण्येव, तेषां समानजातीयानि द्रव्यान्तराणि न सन्ति इत्यर्थ'।^{२३८}

आकाशादि एक ही द्रव्य है क्योंकि उसके समान जाति वाले अन्य द्रव्य नहीं होते हैं। तथा 'आकाशस्यानन्ताः' अनन्त प्रदेश है। तत्त्वार्थ टीका में आचार्य हरिभद्र ने इस सूत्र को विशेष स्पष्ट किया है।

लोकालोकाकाशस्य सामान्येनाखिलस्य किमित्याह अनन्ताः प्रदेशाः,^{२३९} अर्थात् लोकालोक के सामान्य से अनन्त प्रदेश है। अतः विशेष अपेक्षा से उसके दो भेद हैं - लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है, अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। वास्तव में ये दो भेद आकाश के उपचार से हैं। आकाश एक अखण्ड द्रव्य ही है।

जहाँ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य की प्रवृत्ति होती है वह लोकाकाश है और शेष अलोकाकाश।

धर्म-अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य आकाश के समान आत्मप्रतिष्ठ-निराधार है, अथवा आधार की अपेक्षा नहीं रखते हैं। यह निश्चयनय की अपेक्षा से परन्तु व्यवहार नय से तो धर्म-अधर्म-पुद्गल और जीवद्रव्य वास्तव में अपने आधार पर ही स्थित हैं। तथा लोकाकाश में प्रवेश करनेवाले पुद्गलादिकों का अवगाह होता है। सभी द्रव्य लोकाकाश में संस्थित हैं परन्तु उनका ठहरना दो प्रकार का है - सादि और अनादि। सामान्यतया सभी द्रव्य अनादिकाल से लोकाकाश में समाये हुए हैं। किन्तु विशेष दृष्टि से जीव और पुद्गल का अवगाह सादि कहा जा सकता है। क्योंकि ये दोनों द्रव्य सक्रिय एवं गतिशील हैं। इनमें क्षेत्रांतर हुआ करता है। अतः इनका लोकाकाश के अन्दर ही भिन्न-भिन्न क्षेत्र में अवगाह होता रहता है। परन्तु धर्म-अधर्म द्रव्य ऐसे नहीं हैं वे नित्य व्यापी हैं। अतएव उनका अवगाह सम्पूर्ण लोक में हमेशा तदवस्थ रहता है।

अवगाह दो प्रकार से सम्भव हो सकता है। एक तो पुरुष के मन की तरह, दूसरा दूध पानी की तरह। इसमें से दूध पानी का अवगाह प्रकृत अभीष्ट है। अथवा जिस प्रकार आत्मा शरीर में व्याप्त होकर रहती है उसी प्रकार धर्म-अधर्म भी लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं।

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार के हैं - अप्रदेश, संख्यप्रदेश, असंख्यप्रदेश और अनन्तप्रदेश। इनका लोक में अवगाह जो होता है वह एक से लेकर संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशों यथायोग्य होता है। जैसे कि - जो परमाणु अप्रदेश है उसका अवगाह एक प्रदेश में ही होता है क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशरूप ही है।

तथा लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उनके असंख्यातवे भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त में जीवों का अवगाह हुआ करता है। जैसे कि कोई एक जीव एक समय में लोक के एक असंख्यातवे भागों को रोकता है तो वही जीव दूसरे समय में अथवा कोई दूसरा जीव लोक के असंख्यातवे भागों को रोकता है। कभी तीन-चार संख्येय भागों को अथवा सम्पूर्ण लोक को भी रोकता है। क्योंकि जब केवली भगवान् समुद्धात करते हैं उस समय उनकी आत्मा के प्रदेश क्रम से दंड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण हुआ करते हैं।

दीपक के समान जीव द्रव्य प्रदेशों में संहार और विसर्ग अर्थात् संकोच और विस्तार का स्वभाव माना

है। इसी कारण उसका अवगाह लोक के असंख्यातवे भाग आदि में भी हो सकता है। क्योंकि शरीर की अवगाहना का जघन्य प्रमाण अंगुल के असंख्यातवे भाग ही है।^{२४०}

आकाशद्रव्य भी धर्म-अधर्म द्रव्य की तरह नित्य, निष्क्रिय, अवस्थित, अमूर्त तथा अस्तिकाय बहुप्रदेशी है। इतनी विशिष्टता है कि यह अनन्तप्रदेशी है तथा लोक-अलोक सर्वत्र व्याप्त है। लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों को मिलाकर अनन्त प्रदेश है, यदि विभाग की अपेक्षा से देखा जाय तो लोकाकाश प्रदेश धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य अथवा एक जीव द्रव्य के प्रदेशों के बराबर है। क्योंकि आकाश के जितने प्रदेश हैं उन्हीं में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और जीवद्रव्य के प्रदेश भी व्याप्त होकर अवगाह कर रहे हैं, और इसके भी प्रदेश असंख्य हैं। अतः लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है। शेष अलोकाकाश अनन्त अपर्यवसान है। क्योंकि अनन्त में से असंख्यात कम हो जाने पर भी अनन्त ही शेष रहते हैं। धर्म-अधर्म एक जीवद्रव्य और लोकाकाश इन चारों के प्रदेश समकक्ष हैं।

भगवती^{२४१} और स्थानांग में आकाशास्तिकाय का स्वरूप, आकाशास्तिकाय - अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श, अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित और लोकालोक रूप द्रव्य है।

वह संक्षेप में पाँच प्रकार का कहा गया है, जैसे -

(१) द्रव्य की अपेक्षा - आकाशास्तिकाय एक द्रव्य है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा - आकाशास्तिकाय लोक-अलोक प्रमाण सर्व व्यापक है।

(३) काल की अपेक्षा - आकाशास्तिकाय कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है, ऐसा नहीं है, कभी नहीं होगा, ऐसा नहीं है। वह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। अतः वह ध्रुव निश्चित, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

(४) भाव की अपेक्षा - आकाशास्तिकाय अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श है।

(५) गुण की अपेक्षा - आकाशास्तिकाय अवगाहना गुणवाला है।^{२४२}

कुछ लोक नैयायिक वैशेषिक आकाश का लक्षण शब्द मानते हैं। जैसे कि - 'शब्दगुणकमाकाशम्'। सांख्य प्रधान के विकार को आकाश कहते हैं। परन्तु ये सभी कल्पनाएँ मिथ्या हैं। शब्द तो पुद्गल का पर्याय है। जो आगे पुद्गलास्तिकाय बताया जायेगा और उसके गुण स्वभाव से सिद्ध है। शब्द यदि आकाश का गुण होता, तो इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता था और न मूर्त्त पदार्थ के द्वारा रुक सकता था, एवं न मूर्त्त पदार्थों के द्वारा उत्पन्न ही हो सकता था। अतएव पुद्गल के ही पर्याय है। जो प्रधान का विकार स्वीकारते हैं वह भी उचित नहीं है, क्योंकि नित्य, निरयव और निष्क्रिय प्रधान से अनित्य, सावयव और सक्रिय शब्दरूप परिणामन कैसे हो सकता है ?

बौद्ध-दर्शन मीमांसा में आकाश का वर्णन 'वसुबन्धु' ने 'अनावृत्ति' शब्द के द्वारा किया है 'तत्राकाशं अनावृत्तिः' अनावृत्ति का तात्पर्य है कि आकाश न तो किसी को आवरण करता है और न अन्य धर्मों के द्वारा

आवृत्त होता है। अर्थात् किसी भी समय किसी भी रूप को अपने में प्रवेश के समय रोकता नहीं है। अर्थात् कोई भी पदार्थ उसमें प्रवेश पा सकता है। वसुबन्धु का यह लक्षण कुछ जैन दर्शन के आकाश के लक्षण से साम्यता रखता है। प्रवेश के समय नहीं रोकना, अर्थात् पदार्थों को प्रवेश के लिए अवकाश देना। आकाश नित्य, अपरिवर्तनशील असंस्कृत धर्म है। इससे सांख्य के मत का निरास हो जाता है जो आकाश को प्रधान का विकार मानता है। इससे इसे भावात्मक पदार्थ मानना उचित है। यह शून्य स्थान नहीं है न भूत और भौतिक पदार्थों का निषेधरूप है और इस वाक्य से जो आकाश को शून्य मानकर तिरस्कार करते हैं उनका मत भी अपास्त हो जाता है।

स्थविरवादियों ने आकाश को महाभूतों से उत्पन्न धर्मों में माना है।

परंतु सर्वास्तिवादियों ने इसे बहुत ऊँचा स्थान दिया है। वे आकाश को दो प्रकार का मानते हैं। एक तो दिक् का तात्पर्यवाची है और दूसरा ईश्वर सर्वव्यापी सूक्ष्म वायु का पर्यायवाची। दोनों में महान् अन्तर है। एक दृश्य, सास्रव तथा संस्कृत है, तो दूसरा इससे विपरीत शंकराचार्य के खण्डन (शंकरभाष्य २/२) से प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में वैभाषिक लोग आकाश को अवस्तु अथवा आवरणभाव मात्र मानते हैं। इसलिए वे आकाश का भावत्व प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। परन्तु 'अभिधर्म कोष' से वह भाव पदार्थ ही प्रतीत होता है। यशोमित्र के कथन इस प्रकार है -

‘तदनावरणस्वभावमाकाशम्। तद् अप्रत्यक् विषयत्वादस्य धर्मानावृत्या अनुमीयते न तु आवरणाभावमात्रम्। अतएव च व्याख्ययते यत्र रूपस्य गतिरिति।’

इससे सिद्ध होता है कि आवरणभाव वैभाषिक मत में आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं है। वैभाषिक लोग भाव रूप मानते हैं। इसलिए कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रहपंजिका' में उन्हें बौद्ध मानने में संकोच दिखलाया है।^{२२३}

कुछ लोग आकाश को अवकाश के हेतु के साथ-साथ गति-स्थिति का हेतु भी मानते हैं। लेकिन उनकी यह मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि यदि आकाश गति-स्थिति का भी कारण हो तो, उस आकाश का लोक के बहिर्भाग में भी सद्भाव होने से वहाँ पर भी जीव पुद्गलों का गमन होने लगेगा। उससे अलोक का क्षेत्र कम होने लगेगा और लोक का क्षेत्र बढ़ने लगेगा। किन्तु वैसा तो हो नहीं सकता। इस से यह ज्ञात होता है कि आकाश द्रव्य, जीव और पुद्गलों की गमन और स्थिति का कारण नहीं है।

इसलिए धर्म और अधर्म ही गमन और स्थिति में कारण है आकाश नहीं ऐसा जिनेश्वरों ने लोकस्वभाव, वस्तुस्वभाव के जाननेवाले श्रोताओं को समवसरण में देशना देते हुए कहा है।^{२२४}

इस प्रकार आकाश का वास्तविक स्वरूप तो अवगाह रूप है जो जैनाचार्यों की अनुत्तर व्याख्या है।

जीवास्तिकाय

जीवास्तिकाय - जीव शब्द के विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ सभी दर्शनों में मिलती हैं। लेकिन यहाँ वे सब चर्चाएँ न करके जीवास्तिकाय को ही विशेष रूप से स्पष्ट करेंगे।

‘जीवास्तिकाय’ अर्थात् - ‘जीवन्ति, जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवाः ते च तेऽस्ति-कायाश्चेति समासः प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशात्मक सकललोकभाविनानाजीव द्रव्य समूह इत्यर्थः।’^{२४६}

जो जीते है, जीयेंगे और जीवित मिल रहे है वे जीव है वे कायवान् है। प्रत्येक असंख्यात प्रदेशात्मक सम्पूर्ण लोक में रहे हुए विविध जीवद्रव्य का समूह जीवास्तिकाय कहलाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनुयोगद्वार हारिभद्रीयवृत्ति में जीवास्तिकाय की यही व्याख्या की है।^{२४६}

लेकिन पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में दिगम्बराचार्य जयसेनसूरि ने जीव को शुद्ध निश्चय से विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावरूप चैतन्य प्राण शब्द से कहा है, जो प्राणों से जीता है वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मोदयजनित द्रव्य और भावरूप चार प्राणों से जीता है, जीवेगा और पूर्व में जीता था वह जीव है।^{२४७}

धर्मसंग्रहणी की टीका में आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है - जो जीता है, प्राणों को धारण करता है वह जीव है। प्राण दो प्रकार के है - द्रव्यप्राण और प्राणभाव। द्रव्यप्राण - इन्द्रियादि पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और ये दस प्राण भगवान् ने कहे है तथा भाव प्राण - ज्ञान दर्शन और चारित्र है।^{२४८}

प्रज्ञापना की टीका में जीव की यही व्याख्या मिलती है।^{२४९}

जीव का स्वरूप : आचार्य हरिभद्रसूरि ‘ध्यानशतक हारिभद्रीय वृत्ति’ में जीव का स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित किया है -

ज्ञानात्मा सर्वभावज्ञो भोक्ता कर्ता च कर्मणाम्।

नानासंसारि मुक्ताख्यो, जीव प्रोक्तो जिनागमे ॥^{२५०}

जीव ज्ञान स्वरूप है, सर्वभावों का ज्ञाता है, कर्म का भोक्ता व कर्ता है, भिन्न-भिन्न अनेक जीव संसारी और मुक्त रूप में है ऐसा जिनागमों में कहा है।

आचार्य हरिभद्रसूरि एक बहुश्रुतधर होकर धर्मसंग्रहणी में जीव के स्वरूप को इस प्रकार समुल्लिखित किया है।

जीवो अणादिणिहणोऽमुक्तो, परिणामी जाणओ कत्ता।

मिच्छतादिकत्तस्स य, णियकम्मफलस्स भोत्ता उ ॥^{२५१}

(१) जीव अनादि निधन है, (२) अमूर्त है (३) परिणामी है (४) ज्ञाता है (५) कर्ता है (६) तथा मिथ्यात्व आदि से उपार्जित अपने ही कर्मों का भोक्ता है।

इसी ग्रन्थ के समर्थ टीकाकार आचार्यश्री मलयगिरिने अपनी टीका में इसका स्पष्ट स्वरूप निर्दिष्ट किया है। जैसे कि -

(१) अनादि निधन - यह जीव अनादि निधन अर्थात् अनादि अनंत है। जिसकी आदि भी नहीं है और जिसका अन्त भी नहीं है, क्योंकि मोक्षगमन के पश्चात् उसका अस्तित्व अनंतकाल तक रहता है। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश निश्चित होता है। लेकिन जीव की उत्पत्ति के कारणों का अभाव होने से उसका

विनाश भी अशक्य है। तथा 'सत्' ऐसे जीव का सर्वथा विनाश संभवित नहीं है। अतः जीव अनादि निधन है।

(२) अमूर्त - जो रूपादि सस्थानों से संस्थित हो उसे मूर्त कहते हैं। और उससे जो विरहित हो वह अमूर्त। जीव का कोई आकार विशेष नहीं होने से अमूर्त है।

(३) परिणामी - कथञ्चित् अवस्थित रही हुई वस्तु के पूर्व-पर्याय का त्याग और उत्तरपर्याय की प्राप्ति-जैसे कि मनुष्यगति रूप पर्याय का त्याग कर देवगति रूप पर्याय को स्वीकार करना, यह जीव को परिणामी जब स्वीकारा जाता है तब ही घटित होता है। अन्य दर्शनों की भाँति कूटस्थ नित्य मानने पर जीव का परिणामी स्वरूप संभवित नहीं है।

(४) ज्ञायक - जीव ज्ञान स्वभाव वाला है, अन्यदर्शनकारों के द्वारा मान्य जीव ज्ञान से एकान्त भिन्न नहीं है।

(५) कर्ता - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग आदि कर्म बन्धन के हेतुओं से युक्त जीव उन-उन कर्मों का कर्ता तथा निवर्तक है।

(६) भोक्ता - मिथ्यात्व आदि के द्वारा बंध किये हुए स्वयं के कर्मों का भोक्ता है जो कर्म-बन्ध करता है वही उन कर्मों का भोक्ता भी होता है।^{२५३}

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने पारिणामिक भाव से जीव को अनादि-निधन बताया है। जैसे कि- जीव पारिणामिकभाव से अनादि निधन, औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भाव से सादिनिधन क्षायिकभाव से सादि अनन्त है। वह जीव पाँच मुख्य गुणों की प्रधानता वाला है। जीव को कर्म कर्तृत्व भोक्तृत्व, संयुक्तत्व आदि भी बताया गया है।^{२५३}

जीव का लक्षण - उत्तराध्ययन सूत्र में जीव का लक्षण इस प्रकार किया है - "जीवो उवओगलक्खणो। नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य ॥"^{२५४}

उपयोग (चेतना व्यापार) जीव का लक्षण है जो ज्ञान-दर्शन-सुख और दुःख से पहचाना जाता है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में जीव का लक्षण एवं स्वरूप इस प्रकार बताया है -

उवओग लक्खणाङ्गिहणमत्थंतरं सरीराओ।

जीवमरुविं कारि भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥^{२५५}

आत्मा उपयोग लक्षणवाला है अनादि अनन्त शरीर से भिन्न स्वयं कर्मों का कर्ता और स्वयं के किये हुए कर्मों का भोक्ता है।

ध्यानशतक की वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने इसको स्पष्ट किया है। वह इस प्रकार - जीव का लक्षण उपयोग है। यह ज्ञान-दर्शन दो प्रकार से है - ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग।

ज्ञानोपयोग - अर्थात् साकारोपयोग - ज्ञान यह विशेष उपयोग है और निराकार - यह दर्शनोपयोग है। अर्थात् सामान्य उपयोग। वस्तु को विशेष देश, काल, क्षेत्र, भाव से देखना साकारोपयोग कहलाता है और

सामान्य रूप से देखना यह निराकारोपयोग याने दर्शन कहलाता है।

संस्कार उपयोग आठ प्रकार का है - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान तथा मति अज्ञान श्रुत अज्ञान - विभंगज्ञान।

निराकार उपयोग चार प्रकार का है - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है - स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः।

यह उपयोग ही जीव का लक्षण।

काल स्थिति से अनादि अपर्यवसित है।

जीव शरीर से भिन्न - म्यान में तलवार की भाँति यह जीव शरीर से भिन्न है। म्यान से तलवार सर्वथा भिन्न है। उसी तरह शरीर से जीव भी सर्वथा भिन्न है। संसार की किसी सामग्री का संयोग उसको आवश्यक नहीं है। लेकिन कर्म-संयोग जब तक आत्मा के साथ संयुक्त है तब तक सभी सामग्री रहती है। कर्म से वियुक्त हो जाने पर जीव का स्वरूप अरूपी होता है।

जीव अरूपी कर्म का कर्ता और कर्म का भोक्ता है। यह स्वरूप पहले बता दिया है।^{२५६}

जीव का स्वरूप षड्दर्शन समुच्चय टीका में इस प्रकार समुल्लिखित किया है।

जीव चैतन है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रमाता है, प्रमेय है, असंख्यात प्रदेशवाला है, इसके मध्य आठ प्रदेश है, भव्य है, अभव्य है, परिणामी परिवर्तनशील है, अपने शरीर के बराबर ही परिणामवाला है। अतः आत्मा में ये सब अनेक सहभावी एक साथ रहनेवाले धर्म पाये जाते हैं तथा हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, मति आदि ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि दर्शन, देव, नारक, तिर्यच, और मनुष्य - ये चार अवस्थाएँ शरीर रूप से परिणत समस्त पुद्गलों से सम्बन्ध रखना, अनादि अनन्त होना, सब जीवों से सब प्रकार से सम्बन्ध रखना, संसारी होना, क्रोधादि असंख्य कषायों से विकृत होना, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि आदि भावों का सद्भाव, स्त्री पुरुष और नपुंसकों के समान कामी प्रवृत्ति, मूर्खता तथा अन्धा, लूला, लंगडा आदि क्रम से होनेवाले भी अनेक धर्म संसारी जीव में पाये जाते हैं।^{२५७}

षड्दर्शन समुच्चय में जीव के विषय में आचार्य हरिभद्र की कारिका इस प्रकार मिलती है -

तत्र ज्ञानादिधर्मैभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्।

शुभाशुभकर्म कर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च, चैतन्यलक्षणो जीवो ॥^{२५८}

जीव चैतन्य स्वरूप है - यह अपने ज्ञान दर्शन आदि गुणों से भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है। कर्मों के अनुसार मनुष्य पशु आदि पर्यायें धारण करता है। अपने अच्छे और बुरे विचारों से शुभ और अशुभ कर्मों को बांधता है तथा उनके सुख-दुःख रूप फलों को भोगता है।

इसी प्रकार जीव का ज्ञान और उपयोग रूप लक्षण प्रज्ञापना टीका,^{२५९} आचारंग टीका,^{२६०} उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति,^{२६१} पंचास्तिकाय,^{२६२} अनुयोग वृत्ति,^{२६३} नवतत्त्व^{२६४} आदि में भी मिलता है।

इस प्रकार जीव प्रदेशों के समूह को जीवास्तिकाय कहते हैं।

भगवती में गणधर गौतमस्वामी भगवान से पूछते हैं कि - भगवन् ! जीवास्तिकाय के द्वारा जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?

प्रत्युत्तर में भगवान कहते हैं - हे गौतम ! जीवास्तिकाय आभिनिबोधक ज्ञान की अनन्त पर्यायें श्रुतज्ञान की अनन्त पर्यायें प्राप्त करता है। जीवास्तिकाय में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है। वह अरूपी है, जीव है, शाश्वत है और अवस्थित लोकद्रव्य है। वह ज्ञान दर्शन उपयोग को प्राप्त करता है। जीव का लक्षण उपयोग है।^{२६५}

संक्षेप में वह पाँच प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण।

(१) द्रव्य की अपेक्षा से - जीवास्तिकाय अनन्त जीव द्रव्य रूप है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा से - लोक प्रमाण है।

(३) काल की अपेक्षा से - वह कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं होगा, नहीं है - ऐसा भी नहीं अर्थात् नित्य है।

(४) भाव की अपेक्षा से - जीवास्तिकाय में वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं और स्पर्श भी नहीं है।

(५) गुण की अपेक्षा से - उपयोग गुणवाला है।^{२६६}

ये पाँच भेद स्थानांग में भी बताये हैं।^{२६७}

जीव का उपयोग यह आभ्यन्तर असाधारण लक्षण कथित करने के पश्चात् जीव का बाह्य लक्षण तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति म.सा. सूत्र द्वारा बताते हैं - 'परस्परोग्रहो जीवानाम्।'^{२६८}

जीवों का अन्योन्य को अर्थात् एक दूसरे के लिए हित अहित का उपदेश देने द्वारा उपकार होता है। क्योंकि उपदेश के द्वारा हिताहित प्रवृत्ति जीवों में होती है।

इसी बात को आचार्य हरिभद्र तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका में विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं - 'परस्परस्य अन्योन्यं हिताहितोपदेशाभ्यामिति हितप्रतिपादनेन अहितप्रतिषेधेन च उपग्रहो जीवानामिति।'

भविष्य को जो भव्य बना सके, वर्तमान को जो दिव्य दिखा सके ऐसा हित-मित-शक्य और न्यायसंगत उपदेश हित समझना चाहिए। उससे जो विपरीत हो वह अहित उपदेश है। अतः प्रत्येक जीव परस्पर हितोपदेश की प्रधानता उसका प्रतिपादन जिन भावों की प्रधानता के साथ किया जाता, साथ ही अहित का प्रतिषेध भी उन्हीं भावों की पराकाष्ठा के साथ करना चाहिए। उपदेश के द्वारा जीवों का जैसा हित होता है वैसा धन-धान्यादिक बाह्य वस्तुओं के द्वारा नहीं हो पाता है। अतः उसी को यहाँ मुख्यतया उपकाररूप से बताया है। यहाँ उपकार का अर्थ निमित्त है। इसलिए अहितोपदेश एवं अहितानुष्ठान को भी यहाँ उपकार शब्द से कहा है। यह जीव का साधारण लक्षण है।^{२६९}

जीव द्रव्य का अवगाह लोककाश के जितने प्रदेश में है उनके असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण-लोक

पर्यन्त में होता है। क्योंकि दीपक के समान जीव द्रव्य के प्रदेशों में विसर्ग अर्थात् संकोच और विस्तार का स्वभाव माना है। क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि अवगाहना योग्य बड़े शरीरानुसार क्षेत्र को वह पाता है। उतने में ही अवगाह कर लेता है। जब वह शरीर रहित हो जाता है तब उसका प्रमाण अन्य शरीर से तीसरे भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में निमित्त के अनुसार व्याप्त हुआ करता है। कभी तो महान् अवकाश को छोड़कर थोड़े आकाश को संकुचित होकर घेरता है। और कभी थोड़े अवकाश को छोड़कर महान् अवकाश में विस्तृत होकर घेरता है। जघन्य अवकाश का प्रमाण लोक का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट सम्पूर्ण लोक है। मध्य की अवस्थाएँ अनेक है।

दीपक का दृष्टांत संकोच और विस्तार स्वभाव को दिखाने के लिये दिया है। उसका अभिप्राय यह नहीं है कि जिस प्रकार दीपक सम्पूर्ण लोक को व्याप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्मा भी नहीं कर सकता अथवा दीपक अनित्य है उसी प्रकार आत्मा भी अनित्य है इत्यादि क्योंकि दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक में सम्पूर्ण साम्यता अशक्य है। अन्यथा उसका भेद ही समाप्त हो जायेगा।

अथवा अनेकान्तवाद की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु उत्पदादि तीन धर्मों से युक्त है।^{२७०}

पाँच अस्तिकाय में अरूपी जीव में जीवास्तिकाय ही आता है। शेष अस्तिकाय अजीव है। जीवास्तिकाय का स्वरूप किसी दर्शन में नहीं मिलता है। भगवान महावीर की ही अनूठी देन है। जिसको आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने अपने शास्त्रों में सुन्दर-श्रेष्ठ भावों के साथ आलेखित किया।

पुद्गलास्तिकाय

पुद्गल की व्याख्या हमें अनेक ग्रन्थों में मिलती है। परम तारक परमात्मा ने भगवती सूत्र में अनंत परमाणु एवं स्कन्धों के समूह को पुद्गलास्तिकाय कहा है।

स्थानांग में पंच वर्ण, पंच रस, दो गंध, अष्टस्पर्शवाला रूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित और लोक का अंशभूत द्रव्य पुद्गलास्तिकाय है।^{२७१}

समवायांग की टीका में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले द्रव्य को पुद्गलास्तिकाय कहा गया है।^{२७२}

पंचास्तिकाय में जो कुछ भी दिखाई देता है तथा पाँच इन्द्रियों का विषय होने योग्य है उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं।

‘यद्दृश्यमानं किमपि पंचेन्द्रियविषययोग्यं स पुद्गलास्तिकायो भव्यते।’^{२७३}

वाचक उमास्वाति म.सा. ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - ‘स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।’^{२७४}

सभी पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवान् हुआ करते हैं। कोई पुद्गल ऐसा नहीं है जिसमें ये चारों गुण न पाये जाते हैं।

तत्त्वार्थ के टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थ टीका में जो सर्वशून्यवादी नास्तिक अथवा बार्हस्पत्य

सिद्धान्तवाले पुद्गल शब्द से जीव को कहते हैं अर्थात् उनके मत में पुद्गल और जीव दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। अथवा पुद्गल से भिन्न उपयोगलक्षण से संयुक्त जीव को वे लोग नहीं मानते। इसके सिवाय किसी के मत में जीव और पुद्गल दो द्रव्य तो माने हैं परन्तु उन्होंने पुद्गलों को स्पर्शादि गुणों से रहित माना है। उन सबका खण्डन करते हुए उपरोक्त व्याख्या का समर्थन हरिभद्र सूरि ने अपनी टीका में किया है कि पुद्गल स्पर्शादि गुणों से युक्त होते हैं।^{२०५}

ध्यान-शतक की वृत्ति में आ. हरिभद्र ने पुद्गल का स्वरूप इसी प्रकार प्रस्तुत किया है -
स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दमूर्त्तस्वभावका।

सङ्घातभेदनिष्पन्ना, पुद्गला जिनदेशिताः ॥^{२०६}

पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द स्वभाववाला और इसी से मूर्त्तस्वभाववाला तथा संयोजन और विभाजन से उत्पन्न होनेवाला है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

पुद्गल की इसी प्रकार की व्याख्या षड्द्रव्यविचार,^{२०७} प्रशमरति,^{२०८} अनादि विंशिका,^{२०९} षड्दर्शन समुच्चय^{२१०} की टीका में मिलती है।

पुद्गलास्तिकाय का लक्षण - भगवति में पुद्गलास्तिकाय का लक्षण एवं जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है इसका निरूपण इस प्रकार है - 'हे गौतम ! पुद्गलास्तिकाय से जीवों के औदारिक, वैक्रिय आहारक, तेजस, कार्मण, श्रोतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनिन्द्रिय, मनयोग, वचनयोग, काययोग और श्वासोश्वास का ग्रहण होता है। पुद्गलास्तिकाय का लक्षण 'ग्रहण' रूप है।^{२११}

उत्तराध्ययन सूत्र में पुद्गल का लक्षण निम्नोक्त प्रकार से कहा है -

सद्गन्धयार-उज्जोओ पहा छायाऽऽतवे इ वा।

वण्ण रस-गन्ध फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥^{२१२}

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये पुद्गल के लक्षण हैं।

वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र^{२१३} में, नवतत्त्व^{२१४} में, लोकप्रकाश^{२१५} में, षड्दर्शन समुच्चय की टीका^{२१६} में तथा प्रशमरति^{२१७} में इसके सिवाय संसारी जीवों के कर्म, शरीर, मन, वचन, क्रिया, श्वास, उच्छ्वास, सुख-दुःख देनेवाले स्कन्ध पुद्गल है। जीवन और मरण में सहायक स्कन्ध है। (यह सब पुद्गल के उपकार हैं।) अर्थात् ये सब पुद्गल के कार्य हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थ टीका में 'शब्द, बन्ध' आदि को लेकर विस्तृत विवेचन किया है वह इस प्रकार है -

(१) शब्द अर्थात् ध्वनि या कान से सुनाई देनेवाली आवाज अथवा जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो। सामान्य रूप से यह छः प्रकार का होता है।

१. तत्, २. वित, ३. घन, ४. शुषिर, ५. संघर्ष और ६. भाषा।

१. तत् - मृदङ्ग भेरी आदि चर्म के वाद्यों द्वारा उत्पन्न होनेवाले शब्द को तत् कहते हैं।
२. वितत - सितार, सारङ्गी आदि तार के निमित्त से बजनेवाले वाजिंत्रों के शब्द को वितत कहते हैं।
३. घन - मंजीरा, झालर, घंटा आदि कांसे के शब्द को घन कहते हैं।
४. शुषिर - बीन, शंख आदि फूंक अथवा वायु के निमित्त से बजनेवाले वाद्यों के शब्द को शुषिर कहते हैं।
५. संघर्ष - काष्ठादि के परस्पर होनेवाले शब्द को संघर्ष कहते हैं।
६. भाषा - वर्ण, पद, वाक्य रूप से व्यक्त अक्षररूप मुखद्वारा बोले हुए शब्द को भाषा कहते हैं।

(२) बन्ध - अनेक पदार्थों का एक क्षेत्रावगाह रूप में परस्पर सम्बन्ध हो जाने को बन्ध कहते हैं। तथा 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में बन्ध की व्याख्या इस प्रकार की है - 'बन्धः परस्पराश्लेषलक्षणः।'^{२८८} परस्पर चिपकने को बन्ध कहते हैं तथा वह बन्ध तीन प्रकार का होता है - (१) प्रयोगबन्ध, (२) विस्रसाबन्ध, (३) मिश्रबन्ध।

(१) प्रयोगबन्ध - जीव के व्यापार से होनेवाले बन्ध को प्रयोगबन्ध कहते हैं। जैसे कि - औदारिक शरीरवाले वनस्पतियों के काष्ठ और लाख का हो जाया करता है।

(२) विस्रसाबन्ध - जो प्रयोग के अपेक्षा के बिना ही स्वभाव से ही हो जाता है। उसे विस्रसाबन्ध कहते हैं। जैसे कि - हमारे स्थूल औदारिक आदि शरीर में अवयवों का बन्ध या परमाणुओं का बन्ध परस्पर स्वभाव से होता रहता है। यह दो प्रकार का है - सादि और अनादि। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुषादि के रूप में परिणत होनेवालों को सादि विस्रसाबन्ध कहते हैं तथा धर्म-अधर्म आकाश का जो बन्ध है, उसको अनादि विस्रसाबन्ध कहते हैं। जीव के प्रयोग का साहचर्य रखकर अचेतन द्रव्य का जो परिणमन होता है उसको मिश्रबन्ध कहते हैं। जैसे कि स्तम्भ, कुम्भ आदि।

(३) सौक्ष्म्य - सूक्ष्मता का अर्थ यहाँ पर बारीकपन, पतलापन या लघुता आदि है यह दो प्रकार का होता है - अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणुओं में अन्त्य सूक्ष्मता पायी जाती है और द्वयणुकादिक में आपेक्षिक सूक्ष्मता रहती है। आपेक्षिक सूक्ष्मता संघातरूप परिणमन की अपेक्षा से हुआ करती है, जैसे कि - आँवले की अपेक्षा बदरी फल में सूक्ष्मता पाई जाती है। अतएव यह सूक्ष्मता अनेक भेदरूप है।

(४) स्थूलता - स्थूलता अर्थात् गुरुता अथवा बडापन है। यह भी दो प्रकार से है अन्त्य और आपेक्षिक। अन्त्य स्थूलता सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर रहनेवाले महास्कन्ध में रहा करती है और आपेक्षिक स्थूलता सङ्घातरूप पुद्गलों के स्कन्धों के परिणमन विशेष की अपेक्षा से ही हुआ करती है। जैसे कि बदरीफल की अपेक्षा आँवले में स्थूलता पाई जाती है। अतः इसके भी बहुत भेद हैं।

(५) संस्थान - संस्थान अर्थात् आकृति विशेष। यह दो प्रकार की है - आत्मपरिग्रह और अनात्मपरिग्रह। आत्मपरिग्रह संस्थान विविध प्रकार का होता है। जैसे कि पृथ्वीकाय के जीवों के शरीर का आकार

मसूर की दाल के समान, अपकाय के जीवों के शरीर का आकार पानी के बिन्दु के समान, तेउकाय के जीवों के शरीर का आकार सूचिकलाप के समान, वाउकाय के जीवों के शरीर का आकार पताका के समान तथा वनस्पतिकाय के जीवों का आकार निश्चित नहीं होता है। अतएव उसको अनित्यभूत कहते हैं।

बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय जीवों के शरीर का आकार हुंडक होता है। पंचेन्द्रिय जीवों के शरीर का आकार संस्थान नामकर्म के उदय से छह प्रकार का होता है। समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन, हुंडक। इसका पाठ तत्त्वार्थसार में इस प्रकार मिलता है।

मसूराम्बुपृषत् सूचीकलापध्वजसंनिभा, धराप्तेजो मरुत्कायाः नानाकारास्तरुप्रसाः।^{२९९}

दंडक में - नाणाविह धय सूई बुब्बुय वण वाउ तेउ अप्काया
पुढवी मसूर चंदा-कारा संठाणओ भणिया
थावरसुर नेरइआ अस्संघयणा य विगल छेवट्टा
संघयण छगं गब्भय-नर तिरिएसु वि मुणेयव्वं।^{३००}

अनात्म परिग्रह आकार भी अनेक प्रकार का है - गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा सामान्यतया पुद्गल के अनेक आकार होते हैं।

(६) भेद - परस्पर संयुक्त बने हुए पदार्थों का पृथक्-पृथक् हो जाने को भेद कहा जाता है। यह पाँच प्रकार का है - (१) औत्कारिक (२) चौर्णिक (३) खण्ड (४) प्रतर (५) अणुचटन।

(१) औत्कारिक - लकड़ी आदि के चीरने या किसी के आघात से जो भेद होता है उसको औत्कारिक कहते हैं।

(२) चौर्णिक - गेहूं आदि के दलने या पीसने जो भेद होता है उसको चौर्णिक कहते हैं।

(३) खण्ड - मिट्टी आदि को फोड़कर जो भेद किया जाता है उसे खण्ड कहते हैं।

(४) प्रतर - मेघपटली की तरह बिखरकर भेद हो जाने को प्रतर कहते हैं।

(५) अणुचटन - ईक्षु आदि फल के उपर से छिलका उतार कर भेद करते हैं। उसको अणुचटन कहते हैं।

(७) अन्धकार - प्रकाश के विरोधी और दृष्टि का प्रतिबन्ध करनेवाले पुद्गल परिणाम को तम अन्धकार कहते हैं।

(८) छाया - किसी भी वस्तु में अन्य वस्तु की आकृति प्रतिबिम्बित होती है। उसे छाया कहते हैं। दो भेद हैं - प्रकाश के आवरणरूप और प्रतिबिम्बरूप।

(९) आतप - जिसकी प्रभा उष्ण हो उसको आतप कहते हैं।

(१०) उद्योत - जिसकी प्रभा ठंडी, आल्हादक हो उसको उद्योत कहते हैं।^{३०१}

तम, छाया, आतप और उद्योत पुद्गल द्रव्य के परिणमन विशेष के द्वारा निष्पन्न हुआ करते

है। अतएव ये भी उसी के धर्म है। न भिन्न द्रव्य है और न भिन्न द्रव्य के परिणाम है। शब्दादिक के समान ये भी पुद्गल ही हैं। क्योंकि उक्त स्पर्शादिक सभी गुण पुद्गलों में रहा करते हैं और इसीलिए पुद्गलों को तद्दान कहा गया है।

रूपादिक पुद्गल के लक्षण है। जो-जो पुद्गल होते हैं। वे-वे अवश्य रूपवान् होते हैं और जो-जो रूपादिवान् होते हैं वे-वे पुद्गल हुआ करते हैं। अतएव शब्दादिक या तम आदि को भी पुद्गल का ही परिणाम बताया है, क्योंकि इन विषयों में अनेक मतभेद है। कोई शब्द को आकाश का गुण, कोई विज्ञान का परिणाम और कोई ब्रह्म का विवर्त मानते हैं। किन्तु यह सब मिथ्या कल्पना है, न्याय-शास्त्रों में इसकी विशद चर्चाएँ मिलती हैं। शब्द मूर्त्त है यह बात युक्ति, अनुभव और आगम के द्वारा सिद्ध है। यदि वह आकाश का गुण होता, तो नित्य व्यापक होता और मूर्त्त इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता था। न दीवाल आदि मूर्त्त पदार्थों द्वारा रूक सकता था। आजकल लोक में भी देखा जाता है कि शब्द की गति इच्छानुसार चाहे जिधर की जा सकती है, और आवश्यकता अथवा निमित्त के अनुसार उसको रोक कर भी रखा जा सकता है जैसे कि ग्रामोफोन की चूड़ी में चाहे जैसा शब्द रोककर रख सकते हैं और उसको चाहे जब व्यक्त कर सकते हैं। टेलिग्राम या वायरलेस - बेतार के द्वारा इच्छित दिशा और स्थान की तरफ उसकी गति भी हो सकती है। इससे और आगम के कथन से सिद्ध है कि शब्द अमूर्त्त आकाश का गुण नहीं किन्तु मूर्त्त पुद्गल का ही परिणाम है।

इसी प्रकार अन्धकार के विषय में भी मतभेद है। कोई-कोई तम को द्रव्यरूप न मानकर अभावरूप मानते हैं। वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार तम को प्रकाश के अभावरूप कहा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकाश को तम के अभावरूप कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि तुच्छभाव कोई प्रमाणसिद्ध विषय नहीं है। अतएव प्रकाश को यदि अभावरूप भी माना जाए, तो भी किसी न किसी वस्तुस्वरूप ही उसको कहा जा सकता है उसके नील वर्ण को देखने से प्रत्यक्ष द्वारा ही उसकी पुद्गल परिणामता सिद्ध होती है। अतएव तम भी पुद्गल का ही परिणाम है। यह बात सिद्ध है, इसी तरह अन्य परिणामों के विषय में भी समझना चाहिए।

लोकप्रकाश में पुद्गल के दस परिणाम बंधन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु तथा शब्द बताये हैं।

उपरोक्त पुद्गल दो प्रकार के होते हैं। अणु और स्कन्ध। अणु का लक्षण पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है - 'कारणमेव तदन्त्यम्' वस्तु दो भागों में विभक्त होती है। कारणरूप और कार्यरूप में। जिसके विद्यमान होने पर ही किसी की उत्पत्ति होती है और न होने पर नहीं होती है। उसको कारण कहते हैं और जो इसके विपरीत हो उसको कार्य कहते हैं। तदनुसार परमाणु कारण ही है। क्योंकि उसके होने पर ही स्कन्धों की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। यदि परमाणु न हो तो स्कन्ध रचना नहीं हो सकती है। क्योंकि परमाणु से छोटा और भाग नहीं होता है। अतएव परमाणु ही कारण द्रव्य है और द्वयणुक से लेकर महास्कन्ध तक जितने भेद हैं वे सब कार्य द्रव्य है - परमाणु सबसे अन्त्य है उसका कोई भेद नहीं है वह इतना सूक्ष्म है कि हम सभी अपनी चर्मचक्षुओं से उसको

नहीं देख सकते वह तो दिव्य ज्ञानालोक से सर्वज्ञ देख सकते है। हम तो मात्र आगम वचन से ही जान सकते है। उसकी आकृति कभी नष्ट नहीं होती है और न वह स्वयं नाश होता है। द्रव्यास्तिनय की अपेक्षा से वह तदवस्थ ही रहता है। अतएव उसे नित्य माना गया है और उससे छोटा कुछ भी नहीं होने से उसे परमाणु कहते है।

‘सूक्ष्म सर्वलघुरतीन्द्रियः नित्यश्च तद्भावाव्ययतया भवति परमाणुरेवभूत इति।’^{२९२}

उक्त पाँच रसों में से कोई भी एक रस, दो प्रकार के गन्ध में से कोई भी एक गन्ध पाँच प्रकार के वर्ण में से कोई भी एक वर्ण और शेष चार प्रकार के स्पर्शों में से दो प्रकार के स्पर्श-शीत-उष्ण में से एक और स्निग्ध-रुक्ष में से एक ये गुण उस परमाणु में रहा करते है। हमारे दृष्टि के विषय बननेवाले जितने भी कार्य है उनको देखकर परमाणु का बोध होता है क्योंकि यदि परमाणु न होतो कार्य की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। परमाणु अनुमेय है और उसके कार्य लिङ्ग साधन है।

परमाणु की नित्यता कारणता तथा उपरोक्त गुणों की संस्थिति लोकप्रकाश^{२९३} तथा पञ्चास्तिकाय,^{२९४} षड्दर्शन समुच्चय टीका^{२९५} में भी कही गई है। पुद्गल के इन भेदों में से परमाणु बंध रहित तथा असंश्लिष्ट रहा करते है, जब उन परमाणुओं का संश्लेष होकर संघात बन जाता है तब उसको स्कन्ध कहते है। स्कन्ध भी दो प्रकार का होता है। बादर और सूक्ष्म। बादर स्कन्धों में आठों ही प्रकार के स्पर्श रहा करते है परन्तु सूक्ष्म स्कन्धों में चार स्पर्श ही रहते है।

स्कन्धों की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। संघात, भेद और संघातभेद।

(१) संघात - इन तीनों कारणों से द्विप्रदेशादिक स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। दो परमाणुओं से द्विप्रदेश स्कन्ध की प्राप्ति होती है और द्विप्रदेश एवं एक परमाणु से त्रिप्रदेश स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार संख्यात असंख्यात प्रदेशों के स्कन्धों से उतने ही प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते है।

(२) भेद - उसी प्रकार भेद में बड़े स्कन्ध का भेद होकर छोटा स्कन्ध उत्पन्न होता है और इस प्रकार सबसे छोटा द्विप्रदेश स्कन्ध होता है।

(३) संघातभेद - कभी-कभी एक ही समय में संघात और भेद दोनों के मिल जाने से द्विप्रदेशादिक स्कन्धों की उत्पत्ति हुआ करती है। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक तरफ से संघात होता है और दूसरी तरफ से भेद होता है। इस तरह एक ही समय में दोनों कारणों के मिल जाने से जो स्कन्ध बनते है वे संघातभेद कहे जाते है।

स्कन्धों की उत्पत्ति के जो तीन कारण बताये है वे उसमें परमाणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है संघात से नहीं। पहले जैसे कि परमाणु को कारण रूप कहा गया है वह द्रव्यास्तिक नय से ही समझना चाहिए, पर्यायास्तिक नय से तो परमाणु भी कार्यरूप होता है क्योंकि द्रव्यणुकादिक से भेद होकर उसकी उत्पत्ति भी होती है।^{२९६}

दिगम्बराचार्य ने कुन्दकुन्द विरचित पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में भी परमाणु को कार्यरूप एवं कारणरूप कहा है।

‘अत्र योऽसौ स्कन्धानां भेदको भणितः स कार्यपरमाणुरुच्यते यस्तु कारकः तेषां स कारणपरमाणुरिति कार्यकारणभेदेन द्विधा परमाणुर्भवति।’^{२९७}

यहाँ जिस परमाणु को स्कन्धों का भेदक कहा गया है उसे कार्यपरमाणु कहते हैं, और जिसको स्कन्धों का कारक कहा गया है उसे कारणपरमाणु कहते हैं। इस प्रकार कार्य परमाणु और कारणपरमाणु के भेद से परमाणु के दो भेद हैं। कहा भी गया है कि स्कन्ध को भेदनेवाला प्रथम कार्य परमाणु है, स्कन्धों को उत्पन्न करनेवाला दूसरा कारण परमाणु है।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इसी बात को स्पष्ट की गई है तथा टीकाकार सिद्धसेनगणि ने भी स्वीकार किया है तथा ‘भेदादणु’ इस सूत्र की टीका में लिखा है कि द्रव्यनय और पर्यायनय से कोई विरोध नहीं है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी ‘भेदादणु’ सूत्र की टीका में यही उल्लिखित किया है।

भेदादेव स्कन्धविचटनरूपात् परमाणुरुत्पद्यते, न संघातात् नापि संघातभेदात्, परमाणुत्वायोगादिति।^{२९८}

दो प्रकार के स्कन्धों में से जो चाक्षुष है वे भेद और संघात दोनों से निष्पन्न होते हैं। शेष जो अचाक्षुष है वे पूर्वोक्त तीनों ही कारणों से उत्पन्न होते हैं।

पुद्गलास्तिकाय का भगवति में इस प्रकार स्वरूप निर्दिष्ट किया है।

हे गौतम ! पुद्गलास्तिकाय में पाँच रंग, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध, रूपी, अजीव, शाश्वत और अवस्थित लोकद्रव्य है। संक्षेप में उसके पाँच प्रकार हैं। जैसे कि (१) द्रव्य की अपेक्षा (२) क्षेत्र की अपेक्षा (३) काल की अपेक्षा (४) भाव की अपेक्षा (५) गुण की अपेक्षा।

(१) द्रव्य की अपेक्षा - पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा - पुद्गलास्तिकाय लोक प्रमाण है। अर्थात् लोक में ही रहता है, बाहर नहीं।

(३) काल की अपेक्षा - पुद्गलास्तिकाय कभी नहीं था ऐसा नहीं, कभी नहीं है ऐसा भी नहीं, कभी नहीं होगा ऐसा भी नहीं है। वह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्यकाल में रहेगा। अतः वह ध्रुव, निश्चित, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

(४) भाव की अपेक्षा - पुद्गलास्तिकाय वर्णवान्, गन्धमान्, रसवान् और स्पर्शवान् है।

(५) गुण की अपेक्षा - पुद्गलास्तिकाय ग्रहण गुणवाला है। अर्थात् औदारिक आदि शरीर रूप से ग्रहण किया जाता है और इन्द्रियों के द्वारा भी ग्राह्य है। अथवा पूरण-गलन गुणवाला, मिलने बिछुड़ने का स्वभाववाला है।^{२९९}

स्थानांग में^{३००}, लोकप्रकाश^{३०१} में भी ऐसा ही स्वरूप मिलता है।

जिनेश्वर परमात्मा ने पुद्गलास्तिकाय के चार भेद बताये हैं - स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु।

स्कन्ध के अनन्त भेद हैं। कोई दो प्रदेश का, कोई तीन प्रदेश का, कोई चार प्रदेश का इस प्रकार बढ़ते-

बढ़ते संख्यात और असंख्यात प्रदेशों के स्कन्ध होते हैं। उपरोक्त अनंत स्कंध सूक्ष्म और बादर दोनों परिणामवाले होते हैं। तथा इसकी स्थिति एक क्षण होती है और बढ़ते-बढ़ते असंख्यात काल की भी होती है।

दो प्रदेश से अनन्तप्रदेश तक स्कन्धबन्ध जो विभाग वह स्कन्ध देश कहलाता है।

अविभाज्य और मात्र स्कन्धबद्ध ऐसा परमाणु विभाग वह प्रदेश कहलाता है।

परमाणु अप्रदेशी है। मात्र ज्ञानचक्षु से ही गोचर है और वह कार्यरूप से दिखता है। स्वयं किसी का कार्य नहीं है। लेकिन यह किसी का कारण तो है ही।^{३०२}

पंचास्तिकाय में पुद्गल पिण्डात्मक समूह रूप सम्पूर्ण वस्तु पुद्गल वह स्कन्ध है। उसके आधे भाग को देश कहते हैं, देश के आधे भाग को जहाँ तक वे आधे-आधे होते जाये प्रदेश कहते हैं। जो पुद्गल अविभागी है उसे परमाणु कहते हैं।^{३०३}

बादर और सूक्ष्मरूप हुए स्कन्धों को पुद्गल कहना यह व्यवहार है। वह इस प्रकार, जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से सत्ता-चैतन्य-अवबोधादि शुद्ध प्राणों से जो यह जीता है वह निश्चय से सिद्धरूप जीव है। व्यवहारनय से आयु आदि अशुद्ध प्राणों से जो यह जीता है, गुणस्थानमार्गणादि भेदों से भिन्न है वह जीव है। उसी प्रकार जो स्पर्श, रस, गन्ध वर्णवाले हैं, पूरण गलन स्वभाववाले हैं और स्कन्धरूप हो जाते हैं वे परमाणु पुद्गल कहलाते हैं।^{३०४} जैसे कि अनुयोग सूत्र की भलधारीय टीका में निर्दिष्ट है।

‘पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः परमाण्वादयोऽनन्ताणुकं स्कन्ध पर्यन्त ते हि कुतश्चिद् द्रव्यादु, लन्ति वियुज्यन्ते किञ्चित्तु द्रव्यं तत्संयोगतः पूर्यन्ति भावः ते च तेऽस्तिकायाश्चेति समासः।’^{३०५}

तथा श्री अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति में आ. हरिभद्र ने भी यही व्याख्या की है - ‘तथा पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः त एवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय।’^{३०६}

तथा पंचास्तिकाय में इस प्रकार है -

वर्णगन्धरसस्पर्शैः पूरणं गलनं च यत्।

कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः ॥^{३०७}

इस श्लोक में कथित पुद्गल के लक्षणवाले परमाणु वास्तव में निश्चय से पुद्गल कहे जाते हैं। व्यवहार नय से द्वि अणुकादि से अनन्त परमाणुओं तक के पिण्डरूप बादर सूक्ष्मरूप स्कन्ध भी पुद्गल है। ऐसा व्यवहार से कहते हैं।

द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से ये परमाणु चार प्रकार के होते हैं। इसमें भी चारों के चार-चार भेद से लक्षण बताये गये हैं। वे इस प्रकार -

(१) प्रथम द्रव्य परमाणु के चार प्रकार से लक्षण

१. अदाह्य, २. अग्राह्य, ३. अभेद्य, ४. अच्छेद्य।

(२) क्षेत्राणु के भी चार प्रकार से लक्षण

१. अप्रदेशी, २. अविभागी, ३. अमध्य, ४. अनर्ध।

(३) कालाणु के भी चार प्रकार से लक्षण

१. अरूपी, २. अचेतन, ३. अक्रिय, ४. अपरावर्तन।

(४) भावाणु के भी चार प्रकार से लक्षण

१. वर्णरहितता, २. गंधरहितता, ३. रसरहितता, ४. स्पर्शरहितता।^{३०८}

परमाणु के दो भेद है - द्रव्य से नित्य है क्योंकि अविनाशी है और पर्याय से अनित्य है, क्योंकि पूरण, गलन, विध्वंस आदि के प्रभाव से कुछ वर्णादि नाश होते है और उसकी जगह दूसरे परमाणु आ जाते है।

कुछ कहते है कि परमाणु नित्य है अतः पर्याय भी नित्य होने चाहिए। लेकिन उनकी यह बात युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि पाँचवे अंग में निम्नोक्त पाठ स्पष्ट मिलता है-

हे भगवंत ! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ?

हे गौतम ! ये शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत है।^{३०९}

पुद्गल में तीन प्रकार के परिणाम - भगवति में परिणमन की अपेक्षा पुद्गल के तीन प्रकारों का निर्देश है - (१) प्रयोगपरिणत, (२) मिश्र परिणत, (३) विस्रसा परिणत।

गोयमा ! तिविहा पोगला पन्नता, तं जहा - यओग परिणया, मीससापरिणया, वीससापरिणया य।^{३१०}

जीव के व्यापार से शरीर आदि रूप में परिणत पुद्गल 'प्रयोग परिणत' कहलाते है। प्रयोग और विस्रसा (स्वभाव) इन दोनों द्वारा परिणत पुद्गल मिश्रपरिणत कहलाते है।

विस्रसा अर्थात् स्वभाव से परिणत पुद्गल विस्रसा परिणत कहलाते है। प्रयोग परिणाम को छोड़े बिना स्वभाव से परिणामान्तर को प्राप्त हुए मृत-कलेवरादि पुद्गल मिश्र-परिणत कहलाते है। अथवा स्वभाव से परिणत औदारिक आदि वर्गणाएँ जब जीव के व्यापार से औदारिकादि शरीर रूप में परिणत होती है तब वे मिश्र-परिणत कहलाती है। यद्यपि औदारिकादि शरीर रूप से परिणत औदारिकादि वर्गणाएँ प्रयोग परिणत कहलाती है। क्योंकि उस समय उनमें विस्रसा परिणाम की विवक्षा नहीं की गई है, परन्तु जब प्रयोग और विस्रसा इन दोनों परिणामों की विवक्षा की जाती है तब वे मिश्र परिणत कहलाती है।

प्रयोग, मिश्र एवं विस्रसा परिणमन का सिद्धान्त चिन्तन, मन्थन करने पर कार्य-कारण के विषय में एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है, विस्रसा परिणत द्रव्य कार्य-कारण के नियम से मुक्त होता है क्योंकि उसमें स्वाभाविक परिणमन होता है, कारण की अपेक्षा नहीं होती है तथा प्रयोग परिणत द्रव्य निमित्त कारण के नियम से मुक्त होता है। क्योंकि इसमें जीव के व्यापार से शरीर आदि परिणत क्रिया होती है। किसी निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती है। मिश्र द्रव्य में निवर्तक और निमित्त कारण की संयोजना होती है। इस प्रकार जैन दर्शन

में कार्य-कारण का सिद्धान्त सापेक्ष है। प्रत्येक कार्य के पश्चात् कारण ढुंढने की अनिवार्यता नहीं है।

प्रयोग परिणाम से पुरुषार्थवाद और स्वभाव परिणाम से स्वभाववाद फलित होता है। जैन दर्शन अनेकांतवादी है इसलिए उसे सापेक्ष दृष्टि से पुरुषार्थवाद एवं स्वभाववाद दोनों मान्य है। गति में सहायक तत्त्व-जीव और पुद्गल की गति लोक में ही क्यों होती है ? तो इसका सीधा-सा उत्तर हम अलोक में धर्मास्तिकाय के अभाव को ही स्वीकारते हैं। लेकिन आगम में धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त भी अन्य कारणों का गति सहायक द्रव्य के रूप में उल्लेख है।

स्थानांग में चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक के बाहर नहीं जा सकते यह दिखाया गया है।

चउहिं ठाणेहिं य पोगला य णो संचाएति बहिया लोगंता गमणयाए, तं जहा-गति अभावेणं, णिरुवग्गहयाए लुक्खताए लोगाणुभावेणं।^{३११}

(१) गति के अभाव से लोकान्त से आगे इनका गति करने का स्वभाव नहीं होने से

(२) निरुपग्रहता - धर्मास्तिकाय रूप उपग्रह या निमित्त कारण का अभाव होने से

(३) रुक्ष होने से - लोकान्त स्थित पुद्गल भी रुक्ष रूप से परिणत हो जाते हैं। जिससे उनका आगे गमन सम्भव नहीं तथा कर्म-पुद्गलों के भी रुक्ष रूप से परिणत हो जाने के कारण संसारी जीवों का भी गमन सम्भव नहीं रहता। सिद्ध जीव धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकान्त से आगे नहीं जाते।

(४) लोकानुभाव से - लोक की स्वाभाविक मर्यादा ऐसी है कि जीव और पुद्गल लोकान्त से आगे नहीं जा सकते।

भगवती में एक प्रश्न उपस्थित किया गया कि लोकान्त में रहकर महर्द्धिक देव अलोक में अपने हाथ यावत् उरु को संकोचने एवं पसारने में समर्थ नहीं है, क्योंकि जीवों के अनुगत आहारोपचित, शरीरोपचित और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं तथा पुद्गलों के आश्रित ही जीवों और अजीवों की गति पर्याय कही गई है, अलोक में जीव नहीं है और पुद्गल भी नहीं है। अतः पूर्वोक्त देव यावत् पसारने में समर्थ नहीं है। इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि यहाँ पर जीव और परमाणु की गति में कारण पुद्गल को माना गया है, यहाँ कहा जा सकता है कि आगमकालीन युग में गति सहायक तत्त्व में धर्मास्तिकाय के सिवाय अन्य कारणों की भी स्वीकृति है। उत्तरकालीन जैन साहित्य में गतितत्त्व के सहायक के रूप में मात्र धर्मास्तिकाय का ही उल्लेख है। चिन्तन के परिप्रेक्ष्य देखे तो ऐसा संभव लगता है कि उत्तरकालीन जैन दार्शनिक जैन मान्यताओं को एक सुव्यवस्थित आकार दे रहे थे। गति सहायक तत्त्व के रूप में प्राप्त कारणों में धर्मास्तिकाय ही असाधारण एवं मुख्य कारण था क्योंकि इतर कारणों में गति सहायक द्रव्य के रूप में स्वीकृत धर्मास्तिकाय जैसा असाधारण नहीं था। अतः असाधारण कारण होने से उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगम में प्राप्त अन्य कारणों की उपेक्षा करके धर्मास्तिकाय को ही गति में सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।^{३१२}

पुद्गल की एक समय में गति - परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त

में पश्चिम चरमान्त से पूर्व चरमान्त में, दक्षिण चरमान्त से उत्तर चरमान्त में, उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त में, उपर के चरमान्त से नीचे के चरमान्त में, और नीचे के चरमान्त से उपर के चरमान्त में जाता है।^{३१३}

काल

इस मनुष्य क्षेत्र में सतत गगन मंडल में सूर्यचंद्रादि ज्योतिषचक्र लोक के स्वभाव से घूमते रहते हैं। उनकी गति से काल की उत्पत्ति होती है और काल विविध प्रकार का है।

ज्योतिष करंडक नाम के ग्रंथ में भी कहा है कि - लोक के स्वभाव से यह ज्योतिषचक्र उत्पन्न हुआ और उसकी ही गति विशेष से विविध प्रकार का काल उत्पन्न होता है ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।^{३१४}

षड्दर्शन समुच्चय की टीका में कहा है - सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र के उदय एवं अस्त होने से काल उत्पन्न होता है।^{३१५}

काल लक्षण - धर्मसंग्रहणी में काल का लक्षण स्पष्ट करते हैं -

जं वत्तणादिरुवो कालो दव्वस्स चेव पज्जातो।

सो चेव ततो धम्मो कालस्स व जस्स जोलोए॥^{३१६}

वर्तनादिरूप काल धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य के ही पर्याय है उससे वह वर्तनादिरूप काल यह उसका लक्षण एवं धर्म है।

क्योंकि अभिधान राजेन्द्र कोष में वर्तनादि को ही काल का लक्षण बताया है - 'वर्तना लक्षणः कालः पर्यवद्रव्यमिष्यते।'^{३१७}

तत्त्वार्थ की टीका में आचार्य हरिभद्रसूरिने काल का लक्षण इस प्रकार किया है - 'वर्तनादिलक्षण उपकार कालस्येति।'^{३१८}

काल का वर्तना परिणाम क्रिया आदि उपकार है। तत्त्वार्थकार ने काल की पहचान वर्तनादि से ही दी है।

'वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।'^{३१९}

इसी प्रकार लोकप्रकाश,^{३२०} उत्तराध्ययन,^{३२१} श्री अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति,^{३२२} बृहद्द्रव्यसंग्रह^{३२३} आदि में भी काल का लक्षण मिलता है।

वैशेषिक आदि ने काल को एक व्यापक और नित्य द्रव्य माना है और वह काल नामका पदार्थ विशेष जीवादि वस्तु से भिन्न किसी स्थान में प्राप्त नहीं होता है।^{३२४} लोक प्रकाश में भी कहा है कि - अन्य आचार्यों के मतानुसार जीवादि के पर्याय ही वर्तना आदि काल है। उससे काल नामक अन्य पृथक् द्रव्य नहीं है। लेकिन यह बात युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि कालद्रव्य नहीं मानने से पूर्व, अपर, परत्व, अपरत्व आदि कुछ भी घटित नहीं होगा और यह प्रत्यक्ष विरोध हो जायेगा, क्योंकि हम स्वयं नया, पुराना वर्तना आदि अनुभव करते हैं और नित्य

मानने पर तो कुछ भी फेर-फार नहीं हो सकता है।^{३२५} अतः पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न माना जाए तो काल पर्याय से विशिष्ट जीवादि वस्तु भी काल शब्द से वाच्य बन सकता है।^{३२६} जिसके लिए आगम पाठ भी साक्षी रूप में है - किमयं भंते। कालोत्ति पवुच्चइ ? गोयमा।

‘जीवा चेव अजीवा चेवति।’ हे भंते ! काल किसे कहते है ? हे गौतम ! जीव और अजीव काल स्वरूप है।

कुछ आचार्यों के मत से यह धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य से भिन्न और अढी द्वीप समुद्र अन्तर्वर्ती छट्टा काल द्रव्य है। अतः एक समय रूप होकर भी उसमें द्रव्य-गुण और पर्याय रूप अवस्थाएँ पायी जाती है। यद्यपि काल में प्रतिक्षण परिणमन होने से उत्पाद और नष्ट होने से व्यय, फिर भी द्रव्य दृष्टि से वह जैसा का तैसा रहता है उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। वह कभी कालान्तर या अकाल रूप में नहीं बनता, वह क्रम से तथा एक साथ होनेवाली अनन्त पर्यायों में भी अपनी अखण्ड सत्ता रखता है। इसलिए द्रव्य से अपनी समस्त पर्यायों के प्रवाह में पूरी तरह व्याप्त होने के कारण वह नित्य है। अतीत वर्तमान या भविष्य कोई भी अवस्था क्यों न हो सभी में ‘काल’ यह साधारण व्यवहार होता है। जिस प्रकार परमाणु के परिवर्तित होते रहने से अनित्य होता है फिर भी द्रव्य रूप से कभी भी अपने परमाणुत्व को न छोड़ने के कारण नित्य है सदा सत् है कभी भी असत् नहीं है उसी तरह समय रूप काल भी द्रव्यरूप से नित्य है वह भी अपने कालत्व को नहीं छोड़ता है।^{३२७}

यह काल न तो निवर्तक कारण है और न परिणामी कारण ही किन्तु अपने आप परिणमन करनेवाले पदार्थों के परिणमन में ये परिणमन इसी काल में होने चाहिए दूसरे काल में नहीं। इस रूप से अपेक्षा कारण होता है। बलात्कार किसी में परिणमन नहीं कराता। काल के द्वारा पदार्थों के वर्तना आदि का निरूपण किया जाता है।^{३२८}

काल का उपकार वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व है। वह इस प्रकार है प्रथम समय के आश्रय से होनेवाली गति, स्थिति, उत्पत्ति और वर्तना ये शब्द एकार्थवाचि है। काल के आश्रय से सम्पूर्ण पदार्थों का जो वर्तन होता है वह वर्तना है।^{३२९}

परिणाम दो प्रकार का है। अनादि और अनादिमान्। क्रिया शब्द से गति को ग्रहण करना है वह तीन प्रकार की है - (१) प्रयोग गति (२) विसर्मागति और (३) मिश्रगति। परत्वापरत्व तीन प्रकार का है। १. प्रशंसाकृत, २. क्षेत्रकृत, ३. कालकृत। धर्म महान् है, ज्ञान महान् है, अधर्म निकृष्ट है, अज्ञान निष्कृष्ट है। इस प्रकार किसी भी वस्तु की प्रशंसा-निंदा करने पर प्रशंसाकृत परत्वापरत्व होता है। एक समय में एक ही दिशा में अवस्थित पदार्थों में से दूरवर्ती को परत्व कहा जाता है। तथा निकटवर्ती को अपरत्व कहा जाता है। यह क्षेत्रकृत परत्वापरत्व है। सोलह वर्ष की उम्रवाले से सौ वर्ष की उम्रवाला पर कहा जाता है। इसको कालकृत परत्वापरत्व कहते है। इनमें से प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत, परत्वापरत्व को छोड़कर कालकृत परत्वापरत्व वर्तना, परिणाम तथा क्रिया यह कालद्रव्य का उपकार है।

सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हमेशा वर्तते है। किन्तु इसको वर्ताने वाला काल द्रव्य है।

यह भी धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की भांति उदासीन कारण है। फिर भी यदि काल कारण न माना जायेगा तो सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के क्रमभावी परिणमन युगपद् उपस्थित होंगे। वर्तमान भूत-भविष्य आदि भी घटित नहीं होंगे। अतः काल भी एक कारणभूत द्रव्य मानना अत्यावश्यक हो जाता है।^{३३०} जैसे कि -

चावल पकाने के लिए चावलों को बटलोई आदि में डाल दिये, उसमें प्रमाणसर पानी तथा नीचे अग्नि प्रज्वलित है इत्यादि सभी कारणों के मिल जाने पर भी पाक प्रथम समय में सिद्ध नहीं होता। उचित समय पर ही सम्पन्न हुआ करता है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि प्रथम क्षण उस पाक का अंश भी सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि इस कथन से द्वितीयादि क्षण में भी पाक की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः हमें यह कहना ही होगा कि वर्तना की वृत्ति प्रथम क्षण से ही उसमें घटित हो जाती है। क्षणवर्ती पर्याय इतना सूक्ष्म है कि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है। इसलिए उसके आकार आदि का वर्णन अशक्य है। लेकिन वह अनुमानगम्य हो सकता है जिससे उसके सत्ता का बोध होता है।^{३३१}

इसी प्रकार वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में 'कालश्चेत्यके'^{३३२} सूत्र बनाकर यह ही सूचित किया है कि काल नाम का द्रव्य कोई आचार्य स्वीकार करते हैं क्योंकि उपरोक्त वर्तना आदि उपकार बताये वे उपकारक के बिना कैसे संभवित हो सकते हैं तथा समय, घड़ी, घंटा आदि व्यवहार है। वह भी उपादान कारण के बिना नहीं हो सकता है तथा पदार्थों के परिणमन में भी क्रमवर्तित्व कोई कारण भी होना चाहिए तथा सिद्धान्तों में छः द्रव्यों का उल्लेख भी मिलता है।

जैसे कि - भगवती में बताया है - कति णं भंते ! दव्वा पण्णता । गोयमा छ दव्वा पण्णता, तं जह धमत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए, अद्धासमए।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन,^{३३३} लोकप्रकाश,^{३३४} बृहद्द्रव्यसंग्रह,^{३३५} षड्दर्शन समुच्चय टीका^{३३६} आदि में भी छः द्रव्य की प्ररूपणा तीर्थकरों के द्वारा की गई है।

आ. हरिभद्रसूरि रचित ध्यानशतकवृत्ति^{३३७} में काल को भिन्न द्रव्य न मानने में क्या कारण ? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान इस प्रकार किया है - काल का पंचास्तिकाय में समावेश होने से उसे भिन्न द्रव्य न कहा है। वह इस प्रकार कि काल का कार्य वस्तु में जैसे-जैसे उन-उन कारणों से दूसरे पर्याय उत्पन्न होते (जैसे ही सूर्य-चन्द्रादि की क्रिया के सम्बन्ध से काल पर्याय यानि एक सामयिक, द्विसामयिक आदि और नया-पुराना आदि पर्याय उत्पन्न होते हैं और पर्याय द्रव्य में भेदाभेद सम्बन्ध से आश्रित है। अतः द्रव्य से कश्चित् अभिन्न यानि एकरूप होने से काल का नम्बर अलग न गिनकर विश्वान्तर्गत बताए हुए द्रव्य-पर्याय में उसका समावेश कर लिया है।

इस बात को लोक प्रकाश में इस तरह अभिव्यक्त की है कि वर्तनादि चार पदार्थ कहे वह द्रव्य के पर्याय ही है और उसे काल से कह सकते हैं। इसके बारे में आगम में भी कहा है कि हे भगवान ! काल यानि क्या ?

गौतम ! जीव और अजीव यही काल कहा जाता है। इस सूत्र से द्रव्य से अभेदरूप में रहा हुआ वर्तनादि मुख्य विवक्षा से वर्तनादि पर्यायरूप काल को भी जीव और अजीव ही कहा है। अतः वर्तनादि द्वारा प्राप्त काल द्रव्य अलग कैसे हो सकता है।

यदि पर्याय को भिन्न द्रव्य रूप स्वीकारे तो अनवस्था दोष आता है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के अनंत पर्याय होने से द्रव्य का नियतरूप बन नहीं सकेगा। इससे पर्याय रूप काल को अलग द्रव्य कहना वह असंभवित है। इस बात को इसी प्रकार स्वीकारनी होगी अन्यथा सर्वत्र व्यापक आकाश को जिस प्रकार अस्तिकाय कहा जाता है उसी तरह सर्वत्र व्यापक वर्तनादि स्वरूप वाले काल को भी अस्तिकाय रूप में स्वीकारना पड़ेगा और यह बात तो तीर्थकरों को भी इष्ट नहीं है। उन्होंने कहा भी नहीं है कारण कि सिद्धान्त में पुनः पुनः पाँच ही अस्तिकाय कहे हैं। इससे काल नामका पृथक् द्रव्य नहीं सिद्ध होता है।

इस विषय में अन्य तो इस प्रकार कहते हैं कि अहो ! सर्वत्र द्रव्यों में रहे हुए वर्तनादि पर्याय को शायद काल नाम के द्रव्य न कहो परंतु मनुष्यादि क्षेत्र में सूर्यादि की गति स्पष्ट ज्ञात होनेवाले काल परमाणु के समान कार्य द्वारा अनुमान प्रमाण से कैसे सिद्ध न हो ? जिस प्रकार द्रव्य शुद्ध एक ही शब्द से कहा जाता हो तो वह सत् यानि विद्यमान ही है। ऐसे अनुमान प्रमाण से भी काल नामका छद्म द्रव्य सिद्ध होता है। उसे कौन रोक सकता ?

जो काल नामका अलग द्रव्य न हो तो उस काल के समयादि जो विशेष है वह कैसे कह सकेंगे ? क्योंकि सामान्य का अनुसरण करनेवाले ही विशेष होते हैं। अर्थात् सामान्य के बिना विशेष नहीं हो सकते।

जो पृथ्वी पर नियामक कालरूप भिन्न द्रव्य न हो तो वृक्षों का एक ही साथ में पत्र, पुष्प और फल की उत्पत्ति होनी चाहिए।

बालक का शरीर कोमल, युवान पुरुष का शरीर देदीप्यमान और वृद्ध का शरीर जीर्ण होता है। यह सभी बाल्यादि अवस्था काल के बिना कैसे घटित होगी।

छः ऋतुओं का अनेक प्रकारका परिणाम पृथ्वी पर अत्यंत प्रसिद्ध है। वह भी काल के बिना संभवित नहीं है।

विविध प्रकार का ऋतुभेद जगत में प्रसिद्ध है। वह हेतु बिना नहीं हो सकता है। जिससे काल ही उसका कारण है। जैसे कि आम्र आदि वृक्ष अन्य सभी कारण होने पर भी फल रहित होते हैं। इससे वे विविध शक्तिवाले कालद्रव्य की अपेक्षा रखते हैं।

कालद्रव्य यदि न स्वीकारे तो वर्तमान, भूत, भविष्य का कथन भी नहीं होगा तथा पदार्थों का परस्पर मिश्र हो जाने की संभावना बन जायेगी। कारण कि पदार्थों का नियामक काल न हो तो अतीत अथवा अनागत पदार्थ भी वर्तमान रूप में कह सकते हैं। उससे नियामक काल है ही यह मानना योग्य है।^{३३८}

तथा काल नामका छद्म द्रव्य उपाध्याय यशोविजयजी कृत द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में भी उल्लिखित है।

आ. हरिभद्रसूरि ने भी धर्मसंग्रहणी में काल द्रव्य की सिद्धि उल्लिखित की है - “कालस्स वा जस्स जो लोए” कहकर तथा धर्मसंग्रहणी के टीकाकार मलयगिरि ने भी की है वह इस प्रकार - जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो वही सत् है। यह सत् का लक्षण कालद्रव्य में घटित होता है और गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है। यह लक्षण भी सिद्ध होने से काल पदार्थ सत् द्रव्यरूप से सिद्ध होता है। हेमन्त आदि ऋतु के परिणमन में कालद्रव्य ठंडी-गरमी आदि परिणामों के प्रति अपेक्षा कारण बनता है। जैसे कि बतक के जन्म में मेघगर्जना का अवाज कारण है। इस प्रकार काल लोक प्रसिद्ध है।^{३३९}

यह बात शास्त्रवार्ता समुच्चय में आ. हरिभद्रसूरि ने इस प्रकार प्रस्तुत की है -

न काल व्यतिरेकेण गर्भबालयुवादिकम्।

यत्किंचिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥

किंच कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते।

स्थाल्यदिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ॥

कालाभावे च गर्भादि सर्व स्यादव्यवस्थया।

परेष्ट हेतु सद्भाव मात्रादेव तदुद्भवात् ॥^{३४०}

इस संसार में गर्भाधान, बाल्यकाल, जवानी आदि जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब काल की सहायता से ही उत्पन्न होता है। काल के बिना नहीं। क्योंकि काल एक समर्थ कारण है। बटलोई इन्धन आदि पाक की सामग्री मिल जाने पर भी जब तक उसमें काल अपनी सहायता नहीं करता तब तक मूंग की दाल का परिपाक नहीं देखा जाता। अतः यह मानना ही होगा कि मूंग की दाल का परिपाक काल ने ही किया है। यदि दूसरों द्वारा मान गये हेतु के सद्भाव से ही कार्य हो काल को कारण न माना जाय तो गर्भाधान आदि की कोर्न व्यवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् यदि ऋतुकाल की कोई अपेक्षा नहीं है तो मात्र स्त्री-पुरुष के संयोग से ही गर्भाधान हो जाना चाहिए।

महाभारत में इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥^{३४१}

“काल पृथिवी आदि भूतों के परिणमन में सहायक होता है, काल ही प्रजा का संहार करता है। अर्थात् उन्हें एक अवस्था में से दूसरी अवस्था में ले जाता है। सदा जागृत काल ही सुषुप्ति दशा में प्राणियों की रक्षा करता है। अतएव यह काल दुरतिक्रम है अर्थात् उसका निराकरण अशक्य है।”

लोकतत्त्व निर्णय में आचार्य प्रवर अपनी काल संबंधी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि -

कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥^{३४२}

इस प्रकार काल विषयक मान्यता अन्य दर्शनकारों की और जैनदर्शन की भी मिलती है। जैसे कि सांख्यकारिका माठरप्रवृत्ति^{३४३}, सन्मतितर्कटीका^{३४४}, गोम्मटसार कर्मकाण्ड^{३४५}, माध्यमिकवृत्ति^{३४६}, चतुःशतकम्^{३४७}, मैत्र्याव्युपनिषद्वाक्यकोष^{३४८}, नन्दीसूत्र मलयगिरि टीका^{३४९} आदि।

काल शब्द के ग्यारह निक्षेपे हैं - (१) नामकाल (२) स्थापनाकाल (३) द्रव्यकाल (४) अद्भ्यकाल (५) यथायुष्ककाल (६) उपक्रमकाल (७) देशकाल (८) कालकाल (९) प्रमाणकाल (१०) वर्षाकाल (११) भावकाल।^{३५०}

अनास्तिकाय द्रव्यकाल - कालद्रव्य मनुष्यलोक में विद्यमान है। जम्बूद्वीप, घातकीखण्ड तथा अर्धपुष्करावद्वीप इस प्रकार ढाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं। अतः इन ढाई द्वीप को ही मनुष्यलोक कहते हैं। काल द्रव्य का परिणमन या कार्य इस ढाई द्वीप में देखा जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा अविभागी एक समय शुद्ध कालद्रव्य है। यह एक प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय नहीं कहा जाता है। क्योंकि प्रदेशों के समुदाय को अस्तिकाय कहते हैं। यह एक समय मात्र होने से निःप्रदेशी है। षड्दर्शन समुच्चय की टीका में इसका उल्लेख मिलता है।

तस्मान्मानुषलोकव्यापी कालोऽस्ति समय एक इह।

एकत्वाच्च स कायो न भवति कायो हि समुदायः ॥^{३५१}

कालद्रव्य एक समय रूप है तथा मनुष्य लोक में व्याप्त है, वह एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काय तो प्रदेशों के समुदाय को कहते हैं। आचार्य हरिभद्र सूरिने भी तत्त्वार्थ वृत्ति में काल को एक समय रूप में निरूपित किया है - समयक्षेत्रवर्ती समय एव निर्विभाग तस्य प्रतिषेधार्थं, स हि समय एव न काय इत्यर्थः।^{३५२}

आचार्य हरिभद्रसूरि कृत् धर्मसंग्रहणी की टीका में काल के स्वरूप को अनंत बताया है - काय पर्याय प्रत्येक द्रव्य का भिन्न भिन्न है उसको द्रव्य अनंत होने से काल भी अनंत है।^{३५३}

तत्त्वार्थ भाष्यकार ने - कालोऽनन्तसमय वर्तनादिलक्षण इत्युक्तम्^{३५४} तथा आचार्य हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थ टीका में - 'काल सोऽनन्त समयो द्रव्यविपरिणतिहेतु' यह कहकर काल को अनंत बताया है।^{३५५}

वैसे काल के तीन भेद हैं - संख्यात, असंख्यात, अनंत।

सबसे छोटा विभाग समय है। जिसका स्वरूप इस प्रकार है - निर्विभाग पुद्गल द्रव्य को परमाणु कहते हैं। उसकी क्रिया जब अतिशय सूक्ष्म अलक्ष्य हो, और जब वह सबसे जघन्य गतिरूप में परिणत हो उस समय अपने अवगाहन के क्षेत्र के व्यतिक्रम करने में जितना काल लगता है उसको समय कहते हैं। परमाणु और उसके अवगाहित आकाश प्रदेश की अपेक्षा संक्रान्ति के काल समय को भी अविभाग, परम, निरुद्ध और अत्यंत सूक्ष्म कहते हैं। सातिशय ज्ञान को धारण करनेवाले भी इसको कठिनता से जान सकते हैं। इसके स्वरूप का

वर्णन अनिर्वचनीय है जो परमर्षि है, वे आत्मप्रत्यक्ष के द्वारा उसको जान सकते हैं। लेकिन उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करके दूसरों को बोध नहीं करा सकते। जो परमात्मा अनुत्तर लक्ष्मी के धारक और छद्मस्थ अवस्था को नष्ट कर लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त हो चुके हैं, वे भगवान भी ज्ञेयमात्र को विषय करनेवाले अपने केवलज्ञान के द्वारा उसको जान लेते हैं परन्तु दूसरों को उसके स्वरूप का निदर्शन नहीं कर सकते। क्योंकि वह परम निरुद्ध है। उसके स्वरूप का निरूपण जिनके द्वारा हो सकता है, ऐसी भाषा वर्णनाओं को वे केवली भगवंत जब तक ग्रहण करते हैं तब तक असंख्यात समय हो जाते हैं। समय इतना परम निरुद्ध-अत्यल्प है कि उसके विषय में पुद्गल द्रव्य की भाषावर्णनाओं का ग्रहण और परित्याग करने में इन्द्रियों का प्रयोग होना दुशक्य है।

इस प्रकार समय का स्वरूप है। यह काल की सबसे छोटी जघन्य पर्याय है। असंख्यात समय की एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास अथवा एक निःश्वास होता है। हृष्ट, पुष्ट, तन्दुरस्त निश्चित तथा मध्यमवय को धारण करनेवाले मनुष्य की एक धड़कन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते हैं, ऐसे सात प्राणों के समूह को एक स्तोक, सात स्तोक प्रमाण काल को एक लव, साडे अडतीस लव की एक नाली, दो नाली का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष ये दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है, पाँच वर्ष का एक युग होता है।

इस प्रकार अनुक्रम से आगे गिनते हुए पूर्वाङ्ग, अयुत, कमल, नलिन, कुमुद, तुटि, अडड, अवव, हाहा और हूहू भेद माने हैं। यहाँ तक संख्यात काल के भेद हैं क्योंकि ये गणित शास्त्र के विषय हो सकते हैं।^{३५६}

भाष्यकार ने जो स्थान बताये हैं वे अत्यल्प हैं। आगम में जो क्रम है वह इस प्रकार है - तुटपङ्ग, तुटिका, अडडाङ्ग, अड्डा, अववाङ्ग, अववा, हाहाङ्ग, हाहा, हूहूङ्ग, हुहुका, उत्पलाङ्ग, उत्पल, पचाङ्ग, पच, नलिनाङ्ग, नलिन, अर्थनियूराङ्ग, अर्थनिपूर, चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग, शीर्षप्रहेलिका - ये सब चौरासी लाख गुण हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में पूर्व के ऊपर लताङ्ग लेकर शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त गणित शास्त्र का विषय बताया है।^{३५७}

एक योजन लम्बा और एक ही योजन चौड़ा तथा एक ही योजन ऊँचा-गहरा एक गोल गड्ढा बनाना चाहिए। उसमें एक दिन या रात्रि से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न मेढे के बच्चे के बालों से उस गड्ढे को दबाकर अच्छी तरह पूर्ण भरना चाहिए। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार उन बालों के ऐसे टुकड़े करना जिनका फिर कैंची से दूसरा टुकड़ा न हो सके ऐसे बालों से गड्ढा भरना चाहिए। पुनः सौ सौ वर्ष में उन बालों में से एक एक बाल निकाले। इस तरह निकालते जब वह खाली हो जाए और उसमें जितना काल व्यतीत होता है वह पत्य है।^{३५८} दिगम्बर सम्प्रदाय में इस प्रकार ३ भेद माने हैं - व्यवहारपत्य, उद्धारपत्य और अद्धापत्य। इनके उत्तर भेद अनेक हैं। पत्य के दस कोडाकोडी से गुणा करने पर एक सागर होता है। चार कोडाकोडी सागर का एक सुषमसुषमा, तीन

कोडाकोडी सागर का सुषमा, दो कोडाकोडी सागर का सुषमादुषमा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर का दुषम सुषमा, इक्कीस हजार वर्ष का दुषम और इक्कीस हजार वर्ष का दुषमदुषमा काल माना है।

इस प्रकार छः आरा का काल दश कोडाकोडी सागर का है। इस दश कोडाकोडी सागर के अनुलोम सुषम सुषमा से लेकर दुषमदुषमा तक के काल को अवसर्पिणी कहते हैं। दस कोडाकोडी सागर के ही प्रतिलोम दुषमदुषमा से लेकर सुषमसुषमा पर्यन्त काल को उत्सर्पिणी कहते हैं। दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन की भाँति अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का भी क्रम चलता रहता है। २० कोडाकोडी सागरोंपम को एक कालचक्र कहते हैं।

उपमान असंख्यातरूप है वह करके नहीं बताया जा सकता। अतः उपमा देकर छोटे बड़े का बोध कराया जाता है। जैसे कि पत्थ और सागर। ऐसा प्रयोग न तो किसी ने किया है और न हो सकता है। यह तो बुद्धि के द्वारा कल्पना करके समझाया जाता है।

सामान्य से अनन्त उसको कहते हैं कि जिस राशि का कभी अन्त न आवे। पुद्गलपरावर्तनादिक अनन्तकाल कहलाता है।^{३५९}

इस प्रकार काल का संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त तीन प्रकार का विवरण नाम मात्र से तत्त्वार्थटीका में 'पुनिस्त्रिविधः संख्येय असंख्येयोऽनन्त इति।'^{३६०} अभिधान राजेन्द्र कोष में - इस प्रकार है - 'संखेजमसंखेज्जा, अणतकालो णु णिदिट्ठो।'^{३६१}

लोकप्रकाश के चौथे भाग में अर्थनिर्घर के आगे अयुतांग, अयुत नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत। उसके बाद चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका। इस प्रकार संख्याता का क्रम बताया है। अंकस्थान माथुरी वाचना के अनुसार है।^{३६२}

श्री भगवती सूत्र,^{३६३} तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि में भी इस प्रकार का अंक का क्रम दिया हुआ है।

वल्लभी वाचना में इस प्रकार है - ८४ लाख पूर्व के ऊपर एक लताङ्ग, ८४ लाख लताङ्गे एक लता, ८४ लाख लता से एक महालतांग उसको ८४ से गुणा करने पर महालता। इस प्रकार शीर्ष प्रहेलिका तक गुणना। उसके नाम नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानिल, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडांग, महाअडड, उहांग, उह, महाउहांग, महाउंग, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका इस प्रकार संख्याता होता है।^{३६४}

संख्याता का पूर्वोक्त स्वरूप अभिधान राजेन्द्र कोष में भी मिलता है।^{३६५} तथा ध्यानशतकवृत्ति में अत्यल्प संख्याता का स्वरूप दिखाया है। वह इस प्रकार है -

कालो परमो निरुद्धो, अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।

समया य असंखेज्जा भवंति ऊसास निसासा ॥

हठस्स अणवगलस्स, णिरूवकिट्ठस्स जंतुणो ।

एणे ऊसास नीसासे, एक पाणुत्ति वुच्चइ ॥

सत पाणूति नीसासे सत्त थोवाणि सेलवे ।

लवाणं सत्तहत्तरीए स मुहूत्ते वियाहिए ॥^{३६६}

भारतीय गणित में भारतीय गणित की संख्या में दस गुने की संख्या की परिपाटी है। जिसमें एक, दश, सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड, दस करोड, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, पद्म, दश पद्म, नील, दस नील, शंख, दस शंख तक गणना प्रसिद्ध है। पर अमल सिद्धि और लीलावती ग्रन्थ में इसके आगे की कुछ संख्याओं के भी नाम मिलते हैं। लीलावती के अनुसार दस शंख के बाद की संख्याओं को क्षिति, महाक्षिति, निधि, महानिधि, कल्प, महाकल्प, घन, महाघन, रूप, महारूप, विस्तार, महाविस्तार, उंकार, महाउंकार और औंकार शक्ति तक की संख्याओं के नाम होते हैं।

असंख्याता के भेद - (१) जघन्यपरीत असंख्यातु (२) मध्यमपरीत असंख्यातु (३) उत्कृष्टपरीत असंख्यातु (४) जघन्ययुक्त असंख्यातु (५) मध्यमयुक्त असंख्यातु (६) उत्कृष्टयुक्त असंख्यातु (७) जघन्य असंख्यात असंख्यातु (८) मध्यम असंख्यात असंख्यातु (९) उत्कृष्ट असंख्यात असंख्यातु। इस प्रकार नव प्रकार के असंख्याता हैं।

अनंत के भेद - (१) जघन्यपरीत अनंतु (२) मध्यमपरीत अनंतु (३) उत्कृष्टपरीत अनंतु (४) जघन्ययुक्त अनंतु (५) मध्यमयुक्त अनंतु (६) उत्कृष्टयुक्त अनंतु (७) जघन्य अनंतानंतु (८) मध्यम अनंतानंतु (९) उत्कृष्ट अनंतानंतु। नव प्रकार का अनंत है।^{३६७}

सिद्धान्त के मत में अनंत के आठ भेद हैं^{३६८}। नव अनंत में कोई वस्तु नहीं होती है। अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति में भी इसका वर्णन मिलता है।^{३६९}

लघुक्षेत्र समास आदि में असंख्याता, अनंता आदि का स्वरूप विस्तार से बताने में आया है।^{३७०}

लौकिक पुरुषों के समान ही काल विभाग तीन प्रकार का इस प्रकार भी है। भूत-भविष्य और वर्तमान काल का ठाणांग में वर्णन मिलता है। जैसे कि -

तिविहे काले पन्नते । तं जहा - तीते पडुप्पन्ने अणागए।^{३७१}

इसी प्रकार लोकप्रकाश, तत्त्वार्थ टीका आदि में भी प्राप्त होता है।

बृहद् द्रव्य संग्रह में काल का दो प्रकार से निरूपण किया गया है। वह इस प्रकार है - जो द्रव्य परिवर्तन रूप है वह व्यवहार काल है - 'दव्वपरिवट्टरुवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।' वह परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व से जाना जाता है। इसलिए 'परिणामादीलक्खो' अर्थात् परिणाम से लक्ष्य।

“वट्टणलक्खो य परमट्टो” वर्तना लक्षण काल है। वह परमार्थ अर्थात् निश्चय काल है।^{३७२}

जीव तथा पुद्गल के परिवर्तन रूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है उस पर्याय की समय घटिका आदिरूप

स्थिति है, वही जिसका स्वरूप है वह द्रव्यपर्यायरूप व्यवहार काल है।

अपने-अपने उपादानरूप कारण से स्वयं ही परिणामन को प्राप्त होते हुए पदार्थों के जैसे कुम्भकार के चक्र के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है, अथवा शीतकाल में छात्रों के अध्ययन में अग्नि सहकारी है इस प्रकार जो पदार्थपरिणति में सहकारिता है उसी को वर्तना कहते हैं और वह वर्तना ही है लक्षण जिसका उस वर्तन लक्षण का धारक कालाणुद्रव्य निश्चयकाल है।^{३७३}

लोकप्रकाश के अन्तर्गत प्रमाण योग शास्त्र के प्रथम प्रकाश की टीका में ज्योतिष शास्त्रों में जिस समयादि का मान कहा हुआ है वह व्यवहार काल है तथा पदार्थों के परिवर्तन के लिए लोकाकाश प्रदेश में जो भिन्न भिन्न काल के अणु स्थित है वह मुख्य काल है।^{३७४}

अभिधान राजेन्द्र कोष में भी दिगम्बर प्रक्रिया के अनुसार काल के दो भेद बताये हैं।

मन्दगत्याऽप्यणुर्यावत् प्रदेशे नभसः स्थितौ ।

याति यत्समयस्यैव स्थानं कालाणुरुच्यते ॥^{३७५}

तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका में - एक समय रूप काल वर्तमान कहलाता है और वर्तमानकाल निश्चयकाल है शेष सभी व्यवहार काल है।

जो लोकाकाश के एक एक प्रदेशपर रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न-भिन्न होकर एक एक स्थित है वे कालाणु है असंख्यात द्रव्य है।

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।

रयणाणं रासी इव कालाणू असंख दव्वाणि ॥^{३७६}

लोक के बाह्य भाग में कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश में परिणाम कैसे हो सकता है ? इसका सुन्दर समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चाक के एक देश में विद्यमान दंड की प्रेरणा से सम्पूर्ण कुम्भकारके चाक का परिभ्रमण हो जाता है उस तरह से अथवा जैसे एक देश में प्रिय ऐसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का अनुभव करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है उस प्रकार लोक के मध्य में स्थित जो कालाणुद्रव्य को धारण करनेवाला एक आकाश है उससे भी सर्व आकाश में परिणामन होता है।

समय की गति - यहाँ कोई कहता है कि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है उतने काल का नाम समय है। यह शास्त्रों में कहा है और इस दृष्टिकोण से चौदह रज्जुगमन करने में जितने आकाश प्रदेश है उतने समय ही लगने चाहिए, परन्तु शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह रज्जुपर्यन्त गमन करता है। यह कथन कैसे संभव हो सकता है ? इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार है कि आगम में परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश में गमन करना कहा है, वह तो मन्द गमन की अपेक्षा है और जो परमाणु का एक समय में चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से। इस कारण परमाणु को शीघ्रातिशीघ्र चौदह रज्जु प्रमाण गमन करने में भी एक ही समय लगता है। इस विषय को दृष्टान्त से समझाते हैं - जिस प्रकार जो देवदत्त

मन्द गमन से सौ योजन सौ दिन में जाता है वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गमन आदि करके सौ योजन एक दिन में भी जाता है। इसी प्रकार शीघ्र गति से चौदह रज्जु गमन करने में परमाणु को एक ही समय लगता है।

समय क्षेत्र के अन्दर तो काल को सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन योगशास्त्र की टीका के अनुसार समयक्षेत्र (अद्वीद्वीप) के बाहर भी काल को स्वीकारा है। तत्त्व तो केवली भगवंत जानते है। इस प्रकार काल द्रव्य का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया।

काल बौद्ध दार्शनिकों के लिए नितान्त विवाद का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की इस विषय में विभिन्न मान्यता रही है।

सौगान्तिकों की दृष्टि में वर्तमान काल ही वास्तविक सत्यता है। भूतकाल की और भविष्यकाल की सत्ता निराधार एवं काल्पनिक है।

विभज्यवादियों का कथन है कि वर्तमान धर्म तथा अतीत विषयों में जिन कर्मों के फल अभी तक उत्पन्न नहीं हुये है वे ही दोनों पदार्थ वस्तुतः सत् है। वे भविष्य का अस्तित्व नहीं मानते तथा अतीत विषयों का भी अस्तित्व नहीं मानते जिन्होंने अपना फल उत्पन्न कर दिया है। काल के विषय में इस प्रकार विभाग मानने के कारण सम्भवतः यह समुदाय विभज्यवादी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सर्वास्तिवादियों का काल सम्बन्धी सिद्धान्त उसके नाम के अनुरूप ही है। उनके मत में समग्र धर्म त्रिकाल स्थायी होते है। वर्तमान, भूत तथा भविष्य इन तीनों कालों की वास्तविक सत्ता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त बसुबन्धु ने चार युक्तियाँ प्रदर्शित की है।

त्र्यध्वंकास्ते तदुक्ते द्वयात् सद्विषयात् फलात्

तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः ॥

(क) तदुक्ते - भगवान बुद्ध ने संयुक्तागम (३/१४) में तीनों कालों की सत्ता का उपदेश दिया है। जैसे कि - 'रूपमनित्यं अतीतम् अनागतं कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य।' रूप अनित्य होता है, अतीत और अनागत होता है। वर्तमान के लिए कहना ही क्या ?

(ख) द्वयात् - विज्ञान दो हेतुओं से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय तथा विषय से। चक्षुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रिय तथा रूप से उत्पन्न होता है। श्रोतविज्ञान श्रोत तथा शब्द से, मनोविज्ञान मन तथा धर्म से। यदि अतीत और अनागत धर्म न हो तो मनोविज्ञान दो वस्तुओं से कैसे उत्पन्न हो सकता है।

(ग) सद्विषयात् - विज्ञान के लिए विषय की सत्ता होने से विज्ञान किसी आलम्बन विषय को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि अतीत तथा भविष्य वस्तुओं का अभाव हो तो विज्ञान निरालम्बन (निर्विषय) हो जायेगा।

फलात् - फल उत्पन्न होने से फल की उत्पत्ति के समय विपाक का कारण अतीत हो जाता है, अतीत कर्मों का फल वर्तमान में उपलब्ध होता है। यदि अतीत का अस्तित्व नहीं है तो फल का उत्पाद ही सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सर्वास्तिवादियों की दृष्टि में अतीत अनागत की सत्ता उतनी ही वास्तविक है जितनी वर्तमान की।^{३९}

इस प्रकार काल विषय चर्चा बौद्ध दर्शन में विस्तार से दी गई है। पर यहाँ इतना जानना ही आवश्यक होने से विस्तार को विराम देते हैं।

जैन की काल सम्बन्धी मान्यता एक सूक्ष्मगम्य है। आ. हरिभद्रसूरि ने काल विषयक विवेचन बहुत ही विवेकपूर्ण एवं वैशिष्ट्य युक्त किया है।

तत्त्व विचार

जैन शासन में सर्वज्ञ भगवंत जब मोक्ष मार्ग की प्ररूपणा करते हैं तब यह आवश्यक हो जाता है कि मोक्षपथ पर समारूढ होनेवाले मुमुक्षुओं को उन साधनों का जानना, क्योंकि साधनों के जाने बिना साध्य की संप्राप्ति संभव नहीं है। अतः उन जीवों के हित के लिए नव-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

जैन वाङ्मय के कल्पतरु समान द्वादशांगी के दूसरे सूत्रकृतांग तथा तीसरे अंग ठाणांग में स्वयं गणधर भगवंतों उनकी रचना करते हैं। जिससे उसकी उपादेयता और बढ़ जाती है।

जैन शासन में मोक्ष मुख्य साध्य है ही। अतः उसको तथा उसके कारणों को जाने बिना मुमुक्षुओं की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति अशक्य है। इसी प्रकार यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी (बन्ध और आश्रव) तत्त्वों और उनके कारणों का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ पर अस्खलित प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ? और उस प्रकार की ज्ञान की संपूर्ति के लिए जैन वाङ्मय में नव तत्त्वों की विचारणा विस्तृत रूप से विवेचित की गई है।

नव तत्त्व के विषय में गहन एवं रहस्य युक्त चिन्तन आगमों में प्रस्तुत किया गया है। यह तत्त्व-विचार जैन दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यता है।

जीवतत्त्व के कथन द्वारा जीव को मोक्ष का अधिकारी बताया गया है तथा अजीव तत्त्व से यह सूचित किया गया है संसार में ऐसा भी कोई तत्त्व है जिसे मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दिया जाता है तथा यह तत्त्व जीव पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ है। यदि जीव अपने आत्म स्वरूप और ज्ञान-चेतना से विमुख बन जाये तो। बंध से मोक्ष के विरोधी भावों का और आश्रव तथा पाप से उक्त विरोधी भावों के कारणों का निर्देश किया गया है। संवर और निर्जरा द्वारा मोक्ष के साधनों को सूचित किया गया है। पुण्य तत्त्व कथंचित् हेय एवं कथंचित् उपादेय तत्त्व है, जो निर्जरा में परम्परा से सहायक बनता है।

जैन दर्शन में नवतत्त्व है। उसी को सात तत्त्वों में दो तत्त्वों में अन्तर्भूत करके दिखाया है। अन्यदर्शनकारों की भी तत्त्व-मीमांसा है। लेकिन उनका विचार विमर्श विभिन्न रूप से किया गया है।

श्री स्थानांग में नव-तत्त्व का उल्लेख इस प्रकार मिलता है - 'णव सब्भावपयत्था पण्णता तं जहा जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, णिज्जरा, बंधो, मोक्खो।' ^{३७८}

सद्भावरूप पारमार्थिक पदार्थ नव है - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

इसी प्रकार नव-तत्त्व का पाठ उत्तराध्ययन सूत्र, ^{३७९} नवतत्त्व, ^{३८०} पंचास्तिकाय^{३८१} आदि में भी मिलता है।

तत्त्ववेत्ता आचार्य हरिभद्रसूरि ने उन्हीं पूर्वधरों का अनुसरण करते हुए षड्दर्शन समुच्चय में नव तत्त्व का समुल्लेख किया है।

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ।

बन्धो विनिर्जरा मोक्षौ, नव तत्त्वानि तन्मते ॥^{३८२}

षड्दर्शन समुच्चय की टीका में इन तत्त्वों पर विशेष विश्लेषण किया गया है, वह इस प्रकार-

जीव का लक्षण सुख-दुःख तथा उपयोग है। जिसमें जानने देखने की शक्ति का सामर्थ्य हो वह जीव है। तथा इससे विपरीत धर्मास्तिकायादि अजीव है। जीव और अजीव इन दोनों तत्त्वों में समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है।

वैशेषिक के द्वारा माने गये ज्ञान, सुख, दुःख, रूप, रस आदि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय आदि सात पदार्थ भी जीव और अजीव से भिन्न अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते हैं। वे इन्हीं के स्वभावरूप होने से जीव-अजीव में अंतर्गत हो जाते हैं। कोई प्रमाण गुण आदि पदार्थों को द्रव्य से सर्वथा भिन्न रूप में नहीं जाना जा सकता। वे तो द्रव्यात्मक ही हैं। यदि गुण आदि पदार्थ द्रव्य से भिन्न माने जावे तो जैसे गुण रहित द्रव्य का अभाव हो जाता है उसी प्रकार द्रव्यरूप आश्रय (आधार) के बिना गुणादि निराधार होकर असत् हो जायेंगे। अतः गुण आदि का द्रव्य से तादात्म्य संबंध मानना चाहिए।

इसी प्रकार बौद्धों के द्वारा माने गये दुःख, समुदय आदि चार आर्यसत्य का भी जीव और अजीव में समावेश हो जाता है। अर्थात् जगत के समस्त पदार्थ जीवराशि में या अजीव राशि में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इससे अलग तीसरी कोई राशि नहीं है। जो इन दो राशियों में सम्मिलित नहीं है वे मानों खरगोश के सिंग की भांति असत् है। बौद्धों के दुःख तत्त्व का बन्ध में, समुदय का आश्रव में, निरोध का मोक्ष में तथा मार्ग का संवर और निर्जरा में अन्तर्भाव हो जाता है।

वस्तुतः नव तत्त्वों में दो ही तत्त्व मौलिक हैं। शेष तत्त्वों का इनमें समावेश हो जाता है। जैसे कि - पुण्य और पाप दोनों कर्म हैं। बन्ध भी कर्मात्मक और कर्म पुद्गल के परिणाम है तथा पुद्गल अजीव है। आश्रव मिथ्यादर्शनादि रूप परिणाम है और जीव का है। अतः आश्रव आत्मा (जीव) और पुद्गलों से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। संवर आश्रव के निरोधरूप है। वह देशसंवर और सर्वसंवर के भेद से आत्मा का निवृत्ति परिणाम है। निर्जरा कर्म का एकदेश से क्षयरूप है। जीव अपनी शक्ति से आत्मा से कर्मों का पार्थक्य संपादन करता है। मोक्ष भी समस्त कर्म रहित आत्मा है। अर्थात् जीव-अजीव इन दोनों में शेष सभी समाविष्ट हो जाते

है फिर नव तत्त्वों का कथन व्यर्थ में किस लिए किया गया ?

इसका समाधान शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है कि यद्यपि ये सभी जीव और अजीव में ही अन्तर्भूत है फिर भी लोगों को पुण्य पाप आदि में सन्देह रहता है। अतः उनके सन्देह को दूर करने के लिए पुण्य-पाप का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। संसार के कारणों का स्पष्ट कथन करने के लिए आश्रव और बन्ध का तथा मोक्ष और मोक्ष के साधनों का विशेष निरूपण करने के लिए संवर तथा निर्जरा का स्वतन्त्र रूप से कथन किया है। आगमों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

नव-तत्त्व के भेद प्रभेदों का वर्णन निम्नोक्त प्रकार से मिलता है -

(१) जीवतत्त्व - जीव शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या, लक्षण आदि जीवास्तिकाय में विस्तार से कह दिया है। अतः यहाँ केवल दिशा निर्देश के लिए पुनः कथन किया जा रहा है। जो चेतनागुण से युक्त है अथवा जो ज्ञान दर्शनरूप उपयोग को धारण करनेवाला है उसे जीव कहते हैं। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार लक्षण किया है -

‘त्रिकालविषयजीवानुभावनाज्जीव।’ अथवा

‘चेतनास्वभावत्वात्तद्विकल्प लक्षणो जीवः।’^{३८३}

प्राण पर्याय के द्वारा तीनों काल के विषय का अनुभव करने से वह जीव कहलाता है अथवा जिसका इतर द्रव्यों से भिन्न एक विशिष्ट चेतना स्वभाव है तथा उसके विकल्प ज्ञान-दर्शन आदि गुण है और उसके सानिध्य से आत्मा ज्ञाता दृष्टा, कर्ता, भोक्ता होता है उस लक्षण से युक्त वह जीव है।

चार्वाक मतवाले जीव को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते। अतः वे उपरोक्त कथन से असहमत होकर इस प्रकार चर्चा करते हैं कि इस संसार में आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। पृथिवी जल आदि का एक विलक्षण रसायनिक मिश्रण होने से शरीर में चेतना प्रकट हो जाती है। इन चैतन्य के कारणभूत शरीराकार भूतों को छोड़कर चैतन्य आदि विशेषणोंवाला परलोक गमन करनेवाला कोई भी आत्मा नहीं है।

कूटस्थ नित्य, जैसा का तैसा, अपरिवर्तनशील मानना भी युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध है।

सांख्य आत्मा को कर्ता नहीं मानता है। उनके मत में यह करना धरना प्रकृति का काम है। पुरुष तो आराम करने के लिए भोगने के लिए ही है वह भी उस बिचारी प्रकृति पर दया करके ही उपचार से भोक्ता बनता है। उनकी यह मान्यता भी प्रमाण शून्य है। आत्मा वस्तुतः कर्मों का कर्ता है, क्योंकि वह अपने किये हुए कर्मों के फल को भोगता है। जो अपने कर्मों के फल को भोगता है वह कर्ता भी होता है। जैसे अपनी लगायी हुई खेती को काटकर भोगनेवाला किसान। यदि सांख्य पुरुष को कर्ता नहीं मानता है तो उनका पुरुष वस्तु ही नहीं बन सकेगा। सांख्य के द्वारा माना गया पुरुष सत् न होकर आकाशपुष्प की भाँति असत् बन जायेगा।

जीव दो प्रकार के है। जैसे कि उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में निर्दिष्ट है - ‘संसारिणो मुक्ताश्च।’^{३८४} संसारी और मुक्त।

(१) संसारी - संसरति इति संसार, जिसमें जीवों का परिभ्रमण चालू रहता है अर्थात् जो चार-गतिरूप संसार में भ्रमण करनेवाले है अथवा भ्रमण के कारण रूप कर्मों का सम्बन्ध जिसमें अवस्थित हो, उसे संसारी कहते हैं, उससे विरहित को मुक्त।

यद्यपि जीवों के इन दोनों भेदों में प्रथम स्थान पूजनीय होने से मुक्त का सूत्र के आदि में होना चाहिए। लेकिन विशेष अभिप्राय को ज्ञात करवाने हेतु पहले उल्लेख संसारी शब्द का किया गया है। क्योंकि संसारपूर्वक ही मोक्ष हुआ करता है। प्रत्येक मुक्त पहले संसारि अवस्थापन्न ही होता है। उसके सिवाय एक यह भी है कि सूत्रकार को आगे संसारी जीवों का वर्णन करना है। अतः यह पाठ उचित है।

संसारी जीवों के संक्षेप में दो भेद हैं। संज्ञि अर्थात् मन सहित और असंज्ञि यानि मन रहित।

नारक, देव गर्भज मनुष्य और तिर्यच ये समनस्क हैं और उसके सिवाय सभी संसारी जीव अमनस्क हैं। जो शिक्षा-क्रिया-कलाप आदि को समझ सके, ग्रहण कर सके। मन भी दो प्रकार का है - द्रव्यमन और भावमन। मनो-वर्णाओं द्वारा अष्टकमल दल के आकार में बने हुए अन्तःकरण को द्रव्यमन कहते हैं और जीव के उपयोगरूप परिणाम को भावमन कहते हैं।

पुनः संसारी जीव दो प्रकार के हैं - त्रस और स्थावर।

जो त्रसनाम कर्म के उदय से स्पष्ट सुख-दुःख का अनुभव करता है वह त्रस है तथा स्थावर नामकर्म के उदय से जिनको अस्पष्ट सुखादि का अनुभव होता है वह स्थावर है। यहाँ कोई इन शब्दों का निर्युक्ति के अनुसार 'त्रस्यन्ति इति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावराः।' जो चल-फिर सकता है वह त्रस है तथा जो एक जगह स्थिर हो वह स्थावर है, तो अर्थ युक्ति संगत नहीं बैठेगा। क्योंकि फिर तेज वायुकाय को भी त्रस कहने का प्रसंग आयेगा तथा कुछ बेइन्द्रिय जीव भी ऐसे हैं जो एक ही जगह स्थिर रहते हैं तो उनको स्थावर कहना पड़ेगा। अतः जो सुखादि का लक्षण है वह स्पष्ट है।

पृथ्वीकाय आदि स्थावर को लेकर दर्शनकार शंका उठाते हैं कि उनमें जीव नहीं है। यह उनकी मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि पृथ्वीकाय आदि में भी बढ़ना, जीर्णहोना, नष्ट होना आदि अवस्थाएँ पायी जाती हैं। तथा पाश्चात्य विद्वान् भी इस तथ्य को स्वीकारने के लिए अपनी सहमती प्रकट करते हैं।

संसारी जीवों के दो भेद त्रस और स्थावर हैं। स्थावर एकेन्द्रिय के दो भेद सूक्ष्म और बादर। उनके दो भेद पर्याप्त और अपर्याप्त। वनस्पतिकाय के दो भेद - प्रत्येक और साधारण। त्रस के - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ८ भेद। इस प्रकार $4+2+8=14$ भेद। फिर एकेन्द्रिय के पृथ्वीकायादि ५ भेद जोड़ने से तथा पंचेन्द्रिय के जलचर आदि ५ भेद अथवा नारक के १४, तिर्यच के ४८, देव के १९८ तथा मनुष्य के ३०३ कुल ५६३। इस प्रकार जीव के अनेक भेद प्रभेद होते हैं।

अजीव के धर्मास्तिकाय आदि मुख्य ५ भेद हैं। इसके भेद-प्रभेदों से इसकी संख्या बढ़कर ५६० हो जाती है। धर्मास्तिकाय आदि का वर्णन पूर्व में अस्तिकाय आदि में कर लिया है।

अजीव तत्त्व का ज्ञान जीव स्वरूप के ज्ञान प्राप्ति में कारण बनता है। जीव जब अजीव ऐसे जड़ पुद्गलों के साथ सम्बन्ध बांधकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है, जब वह उसका ज्ञान प्राप्त कर लेगा और अपना स्वरूप जान लेगा तब उससे मुक्त बनने का श्रेष्ठ प्रयत्न करेगा।

पुण्य तत्त्व - जीवों को इष्ट वस्तु का जब समागम होता है तब परम आह्लाद की प्राप्ति होती है। तथा सुख की जो अनुभूति करता है उसका मूल शुभकर्म का बंध वह पुण्य और वही पुण्य तत्त्व कहलाता है। अथवा शुभ कर्मबंध के कारणभूत क्रियारूप शुभ आश्रव - ये भी अपेक्षा से पुण्य कहलाता है। क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रकार आ. उमास्वाति म.सा. ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - 'शुभ पुण्यस्य।' शुभयोग पुण्य का आश्रव है। पुनाति - जो पवित्र करता है वह पुण्यतत्त्व है। पुण्य का बंध नव प्रकार से होता है - (१) अन्नपुण्य, (२) पानपुण्य (३) आलयपुण्य (४) शयनपुण्य (५) वस्त्रपुण्य (६) मनपुण्य (७) वचनपुण्य (८) कायपुण्य (९) नमस्कारपुण्य। नव कारणों से पुण्यबंध होता है। ४२ शुभ प्रकृतियों से वह भोगा जाता है।^{३८}

पुण्य के भेद - शातावेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, प्रथम के तीन शरीर के उपांग, प्रथम संघयण, प्रथम संस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, श्वासोश्वास, आतप, उद्योत, शुभविहायोगति, निर्माण, त्रसदशक, देव आयुष्य, मनुष्य आयुष्य, तिर्यच आयुष्य और तीर्थकर कुल ४२ भेद पुण्यतत्त्व के हैं। इनका उदय होने से जीव पुण्य को भोगता है और पुण्य के कारण वे शुभ आश्रव कहलाते हैं।

यद्यपि पुण्य तत्त्व सोने की बेडी के समान है। फिर भी संसार अटवी के महाभयंकर उपद्रववाले मार्ग को पार करने में अथवा जीतने में समर्थ योद्धा के समान है।

(४) पाप तत्त्व - पुण्य तत्त्व से विपरीत पापतत्त्व है अथवा अशुभ कर्म वह पापतत्त्व। अथवा जिसके द्वारा अशुभ कर्मों का ग्रहण होता है ऐसी अशुभ क्रिया (चोरी, जुगार, दुर्ध्यान, हिंसादि) वह पापतत्त्व है। इस कर्म के उदय से जीवों को अशुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। अत्यंत उद्वेग, खेद, दुःख आदि को प्राप्त करता है। नरकादि दुर्गति में गमन करवाता है। पाशयति, मलिनयति, जीवमिति पापम् - जो जीव को मलिन करता है, आत्मा को आच्छादन करता है वह पाप है।

जिस प्रकार पुण्यबंध के ९ प्रकार हैं उसी प्रकार पाप बंध के १८ प्रकार हैं। जिसे अठारह पापस्थान कहते हैं - (१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादन (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) रति-अरति (१६) परपरिवाद (१७) माया-मृषावाद (१८) मिथ्यात्वशल्य - इन अठारह कारण से ८२ प्रकार से बांधा हुआ पाप ८२ प्रकार से भोगा जाता है।

पापतत्त्व के ८२ भेद - ज्ञानावरण पाँच, दर्शनावरण नव, अंतराय पाँच, नीच गोत्र, अशातावेदनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, स्थावर दशक, नरकत्रिक, पच्चीस कषाय, तिर्यचद्विक, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय, अशुभ विहायोगति, उपघात, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, प्रथम सिवाय संघयण और संस्थान।

पुण्यपाप की चतुर्भंगी इस प्रकार है -

- (१) पुण्यानुबंधि पुण्य (२) पुण्यानुबंधि पाप
(३) पापानुबंधि पुण्य (४) पापानुबंधि पाप

(५) आश्रव तत्त्व - 'आ' अर्थात् समन्तात् चारो तरफ से 'श्रव' यानि आना अथवा आश्रूयते उपादीयते - कर्म ग्रहण होना अथवा अश्नाति-आदत्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः - जीव जिसके द्वारा कर्मों को ग्रहण करता है वह आश्रव है अथवा आ यानि चारों तरफ से श्रवति क्षरति जलं सूक्ष्मरन्ध्रेषु यैस्ते आश्रवाः अर्थात् सूक्ष्म छिद्रों में से होकर जल रूप कर्म प्रवेश करते हैं वह आश्रव। जिस प्रकार नाव में रहे हुए क्षुद्र छिद्रों द्वारा जल का प्रवेश होने पर नाव जल में डूब जाती है। उसी प्रकार हिंसादि छिद्रों द्वारा जीवरूपी नाव में कर्मरूपी जल के प्रवेश होने पर जीव संसाररूप समुद्र में डूब जाता है। अतः कर्म आना ही आश्रव है। अथवा जिस क्रियाओं के द्वारा शुभाशुभ कर्म आते हैं ऐसी क्रियाएँ भी आश्रव तत्त्व हैं। जिस प्रकार सरोवर में द्वारमार्ग से वर्षा का जल प्रवेश करता है उसी प्रकार जीवरूपी सरोवर में भी हिंसादि द्वारमार्ग से कर्मरूपी वर्षाजल प्रवेश करता है।

आश्रव के भेद - पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत, तीन योग, पच्चीस क्रियाएँ कुल ४२ आश्रव के भेद हैं।

आत्मा के शुभाशुभ परिणाम तथा योग के द्वारा होनेवाला आत्म प्रदेशों का कम्पन भावाश्रव कहलाता है और उसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मप्रदेशों का ग्रहण होता है वह द्रव्याश्रव कहलाता है।

संवरतत्त्व - आश्रव का निरोध करना वह संवर कहलाता है। अर्थात् आने वाले कर्मों को रोकना। जिसके द्वारा कर्मों को रोका जाता है ऐसे व्रत-पचकखाण तथा समिति-गुप्ति संवर कहलाते हैं।

'संत्रियते कर्म कारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः।' अर्थात् कर्म और कर्म के कारण प्राणातिपात आदि जो आत्म परिणाम के द्वारा रोके जाय वह संवर। तत्त्वार्थ टीका में संवर की व्याख्या इस प्रकार की - 'आश्रवदोष परिवर्जनं संवरः।' ^{३८६}

आश्रव के दोषों को छोड़ना ही संवर है। अथवा संवर यानि 'आत्मनः कर्मादानहेतुभूत परिणामाभावः संवरः।' आत्मा के कर्मादान हेतुभूत परिणाम का अभाव होना संवर है। संवर दो प्रकार का है - सर्वसंवर और देशसंवर। बादर सूक्ष्मनिरोध के समय सर्वसंवर होता है। शेषकाल अर्थात् चारित्र स्वीकार करने पर देशसंवर होता है।

संवर के भेद - तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस यति धर्म, बाईस परिषह, बारह भावना - इस प्रकार संवर के ५२ भेद हैं। आश्रव के निरोधरूप संवर की सिद्धि इन कारणों से होती है।

(७) निर्जरा तत्त्व - कर्मों का आत्म प्रदेशों से दूर होना, नाश होना निर्जरा कहलाता है। जिसके द्वारा कर्मों का नाश होता वह तपश्चर्या विगरे निर्जरा कहलाती है। अथवा

‘निर्जरणं निर्जरा आत्मप्रदेशेभ्योऽनुभूतरसकर्मपुद्गलपरिशाटनं निर्जरा इति।’^{३८०} आत्म प्रदेशों के द्वारा अनुभवित रसयुक्त कर्म पुद्गलों का विनाश होना निर्जरा कहलाती है।

शुभ अथवा अशुभ कर्म का देश से क्षय होना द्रव्य निर्जरा, अथवा सम्यक्त्व रहित अज्ञान परिणामवाली निर्जरा द्रव्यनिर्जरा अथवा सम्यक् परिणाम रहित तपश्चर्या वह द्रव्य निर्जरा कहलाती है और कर्मों के देशक्षय में कारणरूप आत्मा का अध्यवसाय वह भाव निर्जरा अथवा सम्यक् परिणाम से युक्त तपश्चर्यादि क्रियाएँ भाव निर्जरा कहलाती है।

अज्ञान तपस्वियों की अज्ञान कष्टवाली जो निर्जरा वह अकामनिर्जरा तथा वनस्पति आदि सर्दी, गर्मी आदि कष्ट सहन करते है वह भी अकाम निर्जरा यही द्रव्य निर्जरा भी कहलाती है। तथा सम्यक्त्व दृष्टिवंत जीवों की, देश विरति सर्व विरति आत्माओं की सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित पदार्थों को जानने के कारण विवेक चक्षु जागृत हो जाने के कारण उनकी इच्छापूर्वक तपश्चर्यादि क्रियाएँ सकाम निर्जरा कहलाती है और अनुक्रम से मोक्षप्राप्ति वाली होने से भावनिर्जरा कहलाती है।

निर्जरा के भेद - बारह प्रकार का तप, छः बाह्य, छः अभ्यंतर।

इन बारह प्रकार के तप से कर्मों की निर्जरा होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है - ‘तपसा निर्जरा च।’ तप से निर्जरा होती है।

बन्ध - जीव के साथ कर्म का क्षीर-नीर समान परस्पर सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है।

आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का संबंध होना वह द्रव्यबन्ध और उस द्रव्यबन्ध के कारणरूप आत्मा का जो अध्यवसाय वह भावबन्ध कहलाता है।

बन्ध चार प्रकार है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, प्रदेशबन्ध। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जैसे कि नीम की प्रकृति कटु-कडवी और ईख की प्रकृति मधुर होती है। उसी प्रकार कर्मों की भी प्रकृति होती है। ग्रहण की हुई कर्मवर्गणाओं में अपने योग्य स्वभाव के पड़ने को प्रकृतिबन्ध कहते है। जिस कर्म की जैसी प्रकृति होती है वह उसी प्रकार के आत्मा के गुणों का घात करती है। जैसे ज्ञानावरणीय प्रकृति ज्ञान गुण का आच्छादन करती है।

एक समय में बंधनेवाले कर्मपुद्गल आत्मा के साथ कब तक सम्बन्ध रखेंगे ऐसे काल के प्रमाण को स्थिति और उसके उन बंधनेवाले पुद्गलों में पड़ जाने को स्थिति बंध कहते है।

बंधनेवाले कर्मों में फल देने की शक्ति के तारतम्य पड़ने को रसबन्ध कहते है। और उन कर्मों की वर्गणाओं अथवा परमाणुओं की हीनाधिकता को प्रदेशबंध कहते है।

जिस समय कर्म का बन्ध होता है उस समय पर चारों ही प्रकार का बन्ध होता है।^{३८१}

मोक्ष तत्त्व - ‘कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः।’^{३८२} सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना मोक्षतत्त्व कहलाता है। तत्त्वार्थ टीका में मोक्ष तत्त्व की व्याख्या इस प्रकार मिलती है - ‘सकलकर्म विमुक्तस्य ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणस्यात्मनः

स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः।' सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से ज्ञान-दर्शन के उपयोग के लक्षण वाले आत्मा का अपनी आत्मा में रहना, रमण करना ही मोक्ष कहलाता है।

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं। आठ कर्मों में से चार कर्म पहले ही क्षीण हो जाते हैं और उस समय केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। शेष चार अघाति कर्मों का क्षय होने पर केवलीभगवान का औदारिक शरीर से भी वियोग हो जाता है। जिससे पुनर्जन्म का ही अभाव हो जाता है। यह अवस्था कर्मों के सर्वथा क्षयरूप है, इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष तत्त्व के नव अनुयोगद्वार से नव भेद है - सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव, अल्पबहुत्व।

(१) सत्पदप्ररूपणा - मोक्ष मार्ग विद्यमान है या नहीं ? इसके संबंध में प्रतिपादन करना सत्पद प्ररूपणा कहलाती है।

(२) द्रव्य प्रमाण - सिद्ध के जीव कितने हैं ? उसकी संख्या का विचार करना द्रव्यप्रमाण द्वार।

(३) क्षेत्र द्वार - सिद्ध के जीव कितने क्षेत्र में अवगाहित रहते हैं। वह निश्चय करना क्षेत्रद्वार।

(४) स्पर्शना - सिद्ध के जीव कितने आकाश प्रदेशों का स्पर्श करते हैं उसका विचार करना स्पर्शनाद्वार।

(५) कालद्वार - सिद्धत्व कितने काल तक रहता है उसका चिन्तन करना कालद्वार।

(६) अन्तरद्वार - सिद्धों में अंतर है या नहीं अर्थात् परस्पर अन्तर है या नहीं उसका विचार करना अन्तरद्वार।

(७) भागद्वार - सिद्ध के जीव संसारी जीवों से कितने भाग में है वह विचार करना भागद्वार।

(८) भावद्वार - उपशम आदि पाँच भावों में सिद्धों को कौनसा भाव घटता है उसका विचार करना भावद्वार।

(९) अल्पबहुत्वद्वार - सिद्ध के १५ भेद में से सिद्ध होनेवाले सिद्ध एक दूसरे से कौन कम ज्यादा है वह विचार करना अल्प बहुत्व द्वार।^{३९०}

इस प्रकार नवतत्त्व की विचारणा नवतत्त्व-पंचास्तिकाय तथा उत्तराध्ययन सूत्र एवं टीका में विस्तारपूर्ण मिलती है। लेकिन वाचक उमास्वाति म.सा. ने तत्त्वार्थ सूत्र में आ. हरिभद्रसूरि ने ध्यानशतकवृत्ति में शुभ कर्म का आश्रव पुण्य और अशुभ कर्म का आश्रव पाप इस प्रकार पुण्य-पाप का आश्रव तत्त्व में समावेश हो जाने से सात तत्त्व भी सिद्ध किये हैं। वह इस प्रकार है - जीवादिपदार्थविस्तरोपेतं जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा मोक्षाख्य पदार्थप्रपञ्चसमन्वितं समयसद्भावमिति योगः।^{३९१}

जीवादि पदार्थों में जीव-अजीव-आश्रव-बंध-संवर-निर्जरा व मोक्ष नामक वस्तुओं का विस्तार है।

आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित बृहद्द्रव्य संग्रह में सात तत्त्व इस प्रकार बताये हैं -

आसव-बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।

जीवाजीवविसेसो ते वि समासेण पभणामो ॥^{३९२}

आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात जीव और अजीव के भेदरूप पदार्थ है। इन्होंने पुण्य और पाप को आश्रव में अन्तर्भाव न करके जीव अजीव के भेदरूप सात तत्त्व की सिद्धि की है। वैसे इन्होंने इसमें नव पदार्थों की व्याख्या की है।

नवतत्त्व का इस प्रकार ७, ५, और २ में भी समावेश होता है। अन्यमत में तत्त्व विचारणा- बौद्धदर्शन में चार आर्य सत्य को तत्त्वरूप में स्वीकार किये गये है। जिसका जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है।

नैयायिकों के मत में प्रमाण आदि सोलह तत्त्व है। (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) संशय (४) प्रयोजन (५) दृष्टांत (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति (१६) निग्रह स्थान।^{३९३}

कर्म-पुण्य-पाप आत्मा के विशेषगुणरूप है। शरीर विषय इन्द्रिय, बुद्धि, सुख-दुःख आदि का उच्छेद करके आत्मत्वरूप में स्थिति होना मुक्ति है। न्यायसार में आत्यन्तिक दुख निवृत्ति करके नित्य अनुभव में आनेवाले विशिष्ट सुख की प्राप्ति भी मुक्ति माना है।

(१) प्रकृति (२) बुद्धि (३) अहंकार (४) स्पर्शन (५) रसन (६) घ्राण (७) चक्षु (८) श्रोत्र (९) मलस्थान (१०) मूत्रस्थान (११) वचन के उच्चारण करने के स्थान (१२) हाथ और (१३) पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ (१४) मन (१५) रूप (१६) रस (१७) गन्ध (१८) स्पर्श और (१९) शब्द- ये पाँच तन्मात्राएँ। इन पाँच भूतों की उत्पत्ति - (२०) अग्नि (२१) जल (२२) पृथ्वी (२३) आकाश (२४) वायु। इस प्रकार सांख्य मत में चौबीस तत्त्व तथा प्रधान से भिन्न पुरुषतत्त्व इस प्रकार २५ तत्त्व है।^{३९४}

सांख्यमत में न तो प्रकृति कारण रूप है और न कार्यरूप है। अतः उसको न बन्ध होता है न मोक्ष और न संसार है। वैशेषिक मत में छः तत्त्व माने गये है।

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम्।

विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं तु तन्मते ॥^{३९५}

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय ये छह तत्त्व वैशेषिक मत में है। कोई आचार्य अभाव को भी सातवाँ पदार्थ मानते है।

आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यंत उच्छेद होना ही मोक्ष है। मीमांसक तो अद्वैतवादी होने से ब्रह्म को ही स्वीकार करते है। ब्रह्म के सिवाय कुछ भी नहीं है तथा ब्रह्म में लय हो जाना ही मोक्ष है।

उपरोक्त अन्यदर्शनकारों के द्वारा मान्य तत्त्व जैन दर्शन के नव अथवा दो तत्त्वों में समावेश हो जाता है। क्योंकि चराचर जगत में जीव अथवा अजीव के सिवाय एक भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसका इनमें अन्तर्भाव न हो। सात अथवा नौ भेदों की कल्पना विशेष रूप से बोध देने हेतु की गई है। जिससे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त हो सके। आचार्य हरिभद्रसूरि ने नौ तत्त्वों की बहुत ही सुन्दर एवं मार्मिक विवेचना की है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी, समदर्शी परम परमात्मा के विषय में हमारे आगम ग्रन्थ सप्रमाण विवेचन देते हैं। आद्य अंग आचार्य में परमात्मा को 'सर्वज्ञ' विशेषण से व्यक्त किया है। इसी प्रकार 'नमुत्थुणं' में भी 'सर्वज्ञ', 'सर्वदरिसिणं' ऐसा पाठ सर्वमान्य रहा है। ललितविस्तराकार आचार्य हरिभद्र ने परमात्मा को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहकर सर्वोपरी तीर्थकरत्व को अभिव्यक्त किया है। ऐसे सर्वज्ञ के विषय में अन्यान्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में सर्वज्ञ महत्त्व को सर्वाधार बनाया है।

भगवान् महावीर का काल सर्वज्ञवाद के विचारों से विशेष बना हुआ था। उस युग में प्रत्येक परमपुरुष ने अपनी सर्वज्ञता अभिव्यक्त करने का क्रम शोभनीय बनाया था।

भगवान् महावीर के समकालीन तथागत पूर्णकश्यप आदि सर्वज्ञता की कोटि में गिने गये।

यह सर्वज्ञ शब्द इतना प्रिय एवं साथ ही दुरुह हो गया कि प्रत्येक दार्शनिक इस शब्द से स्थित प्रज्ञ बनकर इस पर विविध विचारणाएँ व्यक्त करने लगा, लेकिन सर्वज्ञता को स्पर्श करने में कितने ही शिथिल रहे और कितने ही तर्कजाल के सम्मोह में उलझे रहे।

सर्वज्ञ की व्युत्पत्ति सर्व जानन्तीति सर्वज्ञाः।^{३९६}

सर्वज्ञ वे कहे जाते हैं जो समस्त द्रव्य एवं पर्याय को जानते हैं समस्त जानने का कारण यह है कि वे ज्ञानावरणादि कर्मों से बिलकुल मुक्त हो गये हैं और केवलज्ञान-केवलदर्शन के स्वभाव को प्राप्त कर लिया है।

अन्यदर्शन में सर्वज्ञ का स्वरूप - सौगत-नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-वेदान्ती आदि दर्शनकारों ने भी अपनी मान्यता अनुसार सर्वज्ञ की सिद्धि की है। लेकिन उनके द्वारा प्रतिपादित सर्वज्ञ का स्वरूप यथार्थ नहीं है।

सौगत बौद्धों ने सर्वज्ञ को इष्ट अर्थ मात्र को जाननेवाला ही स्वीकारा है। सभी पदार्थों के दृष्टा नहीं माना है।^{३९७}

बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने लिखा है कि बुद्ध चतुरार्यसत्य का साक्षात्कार करते हैं और उसके अन्तर्गत मार्ग सत्य यानि धर्म में अपने अनुभव के द्वारा अन्तिम प्रमाण भी है। वे करुणा युक्त होकर कषायों से संतप्त जीवों के उद्धार के लिए अपने देखे गये मार्ग का उपदेश देते हैं।^{३९८} कोई पुरुष संसार के सभी पदार्थों को जाने या न जाने हमें इस निरर्थक बात से कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो इतना ही देखना है कि वह इष्टत्व का साक्षात्कार करता है या नहीं? वह धर्मज्ञ है या नहीं? मोक्षमार्ग में अनुपयोगी कीड़े-मकोड़े की संख्या के परिज्ञान से धर्म का क्या संबंध? धर्मकीर्ति सिद्धान्ततः सर्वज्ञ का विरोध न करके उसे निरर्थक अवश्य कहते हैं।^{३९९} धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म का साक्षात्कार मानकर अर्थात् प्रत्यक्ष से होनेवाली धर्मज्ञता का समर्थन करके वीतराग धर्मज्ञ पुरुष का ही धर्म में अन्तिम प्रमाण और अधिकार माना है। धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त ने सुगत को धर्मज्ञ के साथ साथ सर्वज्ञ त्रिकालवर्ती यावत् पदार्थों का ज्ञाता भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगत की तरह अन्य भी

सर्वज्ञ हो सकते है यदि वे रागादिमुक्ति की तरह सर्वज्ञता के लिए भी प्रयत्न करे और जिसने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे थोड़े प्रयास से भी सर्वज्ञ बन सकते है।^{४००}

शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता-साधन के साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करके इसे वे शक्तिरूप से सभी वीतरागों में मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहे तब किसी भी वस्तु को अनायास जान सकता है।^{४०१}

बुद्धने स्वयं को कभी सर्वज्ञ नहीं कहा। उन्होंने अनेक आत्मादि पदार्थों को अव्याकृत कहकर उनके विषय में मौन रहे। उन्होंने कहा मैंने धर्म का साक्षात्कार किया है और उसका ही उपदेश मैं देता है।^{४०२}

वेदान्तीओं ने भी सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।' आदि श्रुति द्वारा एक ही सर्व अन्तर्यामी सम्पूर्ण जगत के नियन्ता परमात्मा को सर्वज्ञ मानते है और दूसरे सभी पदार्थ को मायाकल्पित असत्य कहते है। उसके साथ ही रागद्वेषादि कर्म समूह से रहित शुद्ध स्फटिक समान निर्मल समवस्थित सर्वज्ञ को नहीं मानते।

नैयायिकों भी सर्वज्ञ को जगत का कर्ता मानते हैं। लेकिन ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान केवलदर्शन से विभूषित सर्वज्ञ को नहीं मानते है।

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः।

विभुर्नित्यैक सर्वज्ञो नित्यबुद्धि समाश्रयः॥^{४०३}

नैयायिक मत में जगत की सृष्टि तथा संहार करनेवाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ, तथा नित्यज्ञानशाली शिव देवता है। इन्होंने इसे सर्वज्ञ इस प्रकार माना है कि सभी पदार्थों का सभी स्थितियों में साक्षात्कार करना ही ईश्वर की सर्वज्ञता है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो तब उसे उत्पन्न किये जाने वाले क्लार्यों की रचना में उपयोगी होने वाले जगत् के स्थान स्थान पर फैले हुए विचित्र परमाणु कणों का सम्यग् परिज्ञान न होने से उन्हें जोड़कर पदार्थों का यथावत् पालन करना कठिन हो जायेगा। सर्वज्ञ होने पर वह सभी के उपभोग योग्य वस्तुओं को बराबर जुटा लेगा और उनके पुण्य पाप के अनुसार साक्षात्कार करके सुख-दुखरूप फल भोगने के लिए उन्हे स्वर्ग -नरक आदि में भेज सकेगा, इस तरह ईश्वर सर्वज्ञ होने से उचित का उल्लंघन नहीं करता।

इनके मतमें ईश्वर सदैव एक अद्वितीय सर्वज्ञ रहा है दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं है। इस अनादि ईश्वर को छोड़कर कोई भी कभी भी सर्वज्ञ नहीं हुआ। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य योगी यद्यपि संसार के समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों को जानते है, पर वे अपने स्वरूप को नहीं जानते उनका ज्ञान अस्वसंवेदी है, अतः ऐसे अनात्मज्ञ योगी सर्वज्ञ कैसे हो सकते है

मीमांसक मतानुयायी जैमिनीय कहते है कि सर्वज्ञत्व आदि विशेषणों वाले कोई सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग या सृष्टिकर्ता नहीं है तथा जैनदर्शन में बताया हुए एक भी देव की सत्ता नहीं है जिनके वचन प्रमाणभूत माने जाय, जब बोलने वाला अतीन्द्रियार्थ का प्रतिपादन करने वाला कोई देव ही नहीं है तब कोई भी आगम सर्वज्ञ प्रणीत कैसे कहा जा सकता है ? अतः यह अनुमान स्पष्ट किया जा सकता है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह मनुष्य है जैसे कि गली -गली में चक्कर काटनेवाला मूर्ख आदमी।^{४०४}

सांख्यों में भी कार्य कारणत्व से रहित कमल पत्र के समान अलिप्त सर्वभोक्ता आत्मा को स्वीकारते हैं लेकिन ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट सर्वज्ञ को नहीं मानते।

तथा जो शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को स्वीकारते ही नहीं ऐसे चार्वाकों के साथ सर्वज्ञ विषयक चर्चा करना ही व्यर्थ है।^{४०५}

अन्यदर्शन कार के प्रत्यक्षादि एक भी ऐसा प्रमाण नहीं है जो सर्वज्ञ की सिद्धि कर सके अतः अभाव प्रमाण के द्वारा उसका अभाव ही सिद्ध होता है ऐसा मानते हैं, यह बात उनकी युक्तिशून्य एवं प्रलापमात्र है क्योंकि जगत के प्रत्येक पदार्थ इन्द्रियप्रत्यक्ष जन्य बोधविलय ही हो ऐसा नहीं है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है जैसे कि समुद्र जल में स्थित रत्नादिक मीन आदि किसी को तो प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होते हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं जैसे कि घट आदि में रहनेवाले उसके रंग रूप आदि इस अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है। जो वस्तु सत् होती है वह किसी न किसी प्रमाण का विषय होती है। जो वस्तु सद्वावग्राही प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणों का विषय नहीं होती वह अभाव प्रमाण का विषय होती है। अतः समुद्र के जल में रत्नादिक अभाव प्रमाण का ही विषय हुआ तब भी वह प्रमेय तो है ही। यदि समुद्र जल के रत्नादिक में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति रहने पर भी अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति न हो तो अभाव प्रमाण व्यभिचारी हो जायेगा, उसका यह नियम दूर हो जायेगा कि जहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण प्रवृत्त नहीं होंगे वहाँ मैं भी प्रवृत्ति करूँगा। इस तरह समुद्र जल में स्थित रत्नादिक प्रमेय है तब उसका किसी न किसी महापुरुष को साक्षात्कार अवश्य होगा। और जिसको उसका साक्षात्कार होगा वही सर्वज्ञ है।^{४०६}

तथा कोई आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला है। भट्ट अकलंक ने उसको सिद्ध करने के लिए “ज्योति ज्ञानाविसंवाद” हेतु का प्रयोग किया है। वे कहते कि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके तो ग्रहों की दशाओं और चन्द्रग्रहण आदि का भी उपदेश कैसे हो सकेगा? ज्योतिज्ञान अविसंवादि देखा जाता है। अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका उपदेश त्रिकाल दर्शी है। जैसे सत्य स्वप्नदर्शन इन्द्रिय व्यापार आदि की सहायता के बिना ही भावी राज्य लाभ आदि का यथार्थ भान कराता है। उसी तरह सर्वज्ञ ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों में स्पष्ट होता है। जैसे प्रश्न विद्या या ईक्षणिका विद्या से अतीन्द्रिय पदार्थों का भान होता है। उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों का भासक होता है। क्योंकि दोष तो आगन्तुक है आत्मा के स्वभाव नहीं है। अतः प्रतिपक्षी साधनाओं से उनका समूल नाश हो जाता है और जब आत्मा निरावरण और निर्दोष हो जाता है, तब उसका पूर्ण ज्ञान स्वभाव खिल उठता है। जैसे कि न्यायविनिश्चय में लिखा है।

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थवलोकनम्॥^{४०७}

ज्ञानावरणादि का विच्छेद होने पर ज्ञेय कुछ भी अवशेष नहीं रहता है तथा सम्पूर्ण अप्राप्यकारी पदार्थों का बोध उससे हो जाता है।

इन साधक प्रमाणों को बताकर उन्होंने सर्वज्ञ सिद्धि में एक, जिस मुख्य हेतु का प्रयोग किया है वह है “सुनिश्चिता संभवद्बाधकत्व” अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण न हो। जैसे कि - मैं सुखी है। इसका सबसे बड़ा साधक प्रमाण यही है कि उसके कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः उसका निर्बाध सद्भाव सिद्ध होता है। तथा अनुमान प्रमाण तो डंके की चोट के साथ सर्वज्ञ की सिद्धि करता है। उसी प्रकार उपमान आगम तथा अनुपलब्धि से भी सर्वज्ञ की सिद्धि सार्थक होती है।^{४०८}

फिर भी अन्य दर्शनकार कुछ बाधक प्रमाण इस प्रकार देते हैं जिसका निराकरण सर्वज्ञ-सिद्धि आदि में मिलता है।

अरिहंत सर्वज्ञ नहीं है। क्योंकि वे वक्ता है और पुरुष है। जैसे कोई गली में घूमनेवाला आवारा मनुष्य।^{४०९}

वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व का कोई विरोध नहीं है। वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। यदि ज्ञान के विकास में वचनों का हास देखा जाता तो उसके अत्यन्त विकास में वचनों का अत्यन्त हास होता, पर देखा तो इससे उल्टा ही जाता है। ज्यों-ज्यों ज्ञान में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों वचनों में प्रकर्षता ही देखी जाती है।^{४१०}

वक्तृत्व का सम्बन्ध किसी भी विवक्षा से है। अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञ में वचनों की सम्भावना कैसे ? क्योंकि इच्छा तो मोह का ही पर्याय है।^{४११}

विवक्षा का वक्तृत्व से कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्र विवक्षा रखते हैं। पर वे शास्त्र का व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्त मूर्च्छित आदि अवस्थाओं में विवक्षा न होने पर भी वचनों का उच्चार देखा जाता है। अतः वचन और विवक्षा में अविनाभाव नहीं है। चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता ही वचन-प्रवृत्ति में कारण होती है और इनका सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा वचनों और विवक्षा में सम्बन्ध मान भी लिया जाय तो निर्दोष और हितकारक वचनों की प्रवृत्ति करानेवाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है ? इसी तरह निर्दोष पुरुषत्व का सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं है। पुरुष भी हो और सर्वज्ञ भी। यदि इस प्रकार के व्यभिचारी हेतु से साध्य की सिद्धि की जाय तो इन्हीं हेतुओं से जैमिनी में वेदार्थज्ञता का भी अभाव सिद्ध हो जायेगा।

हमें किसी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता है। अतः अनुपलब्ध का अभाव ही मानना आवश्यक हो जाता है।

पूर्वोक्त अनुमानों से जब सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है तब उसे अनुपलम्भ कैसे कहा जा सकता है अथवा अनुपलम्भ आपको है या संसार के सभी जीवों को ? ‘हमारे चित्त में इस समय क्या विचार है’ इसका अनुपलम्भ आपको है या पर इससे हमारे चित्त के विचारों का अभाव नहीं किया जा सकता। अतः यह स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। ‘सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है’ यह बात तो सर्वज्ञ ही जान सकता है असर्वज्ञ नहीं।

आगम में कहे गये साधनों का अनुष्ठान करके सर्वज्ञता प्राप्त होती है और सर्वज्ञ के द्वारा आगम कहा

जाता है। अतः सर्वज्ञ और आगम दोनों अन्योन्याश्रित है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने षोडशकम् में कहा है कि आगम वचन ही सर्वज्ञ वचन है। अर्थात् आगम वचन ये असर्वज्ञ के वचन नहीं है, परंतु सर्वज्ञ के वचन है।

‘सर्वज्ञवचनमागमवचनं यत्परिणते ततस्तस्मिन् नाऽसुलभमिदं सर्वं, ह्युभयमल परिक्षयात् पुंसाम्।’^{११३}

आगम वचन सर्वज्ञ वचन है। उसी कारण आगम वचन परिणत होने पर विधिस्वरूप अध्यात्म के लाभ से क्रियामल और भावमल दोनों का उच्छेद होने पर जीवों को दस प्रकार की संज्ञाओं आदि का परिहार निश्चय रूप से दुर्लभ नहीं है।

सर्वज्ञ आगम का कारक है। प्रकृत सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से उत्पन्न होता है। पूर्वसर्वज्ञ को उससे पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। इस प्रकार यह परंपरा अनादि से चलती है। इसमें अन्योन्याश्रित दोष का संभव नहीं है।

सर्वज्ञ पद के लिए सामान्य व्यक्ति अधिकारी हो सकता है ? सभी को श्रेष्ठतम बनने का मनोरथ रहता है। परंतु सभी सर्वज्ञ पद पर पहुँचने में समर्थ नहीं दिखते हैं। अतः शास्त्र-सिद्धान्त लक्षणाएँ एक ऐसे लक्ष्य को निर्दिष्ट करती हैं कि आपको प्रतिकूल रहने का पराक्रम प्रकटित करना पड़ेगा। कायिक सुखों से, इन्द्रिय जन्य संतोषों से पराङ्मुख बनने का प्रारंभ करना पड़ेगा। मन के संकल्प-विकल्पों को संत्यक्त कर अपने शुद्ध स्वरूप आत्मभाव में परिणत होने के लिए ध्यानयोग-ज्ञानयोग-तपयोग-त्यागयोग और संयमयोग को सुसाधित करने का सुनिश्चय निर्धारित करना होगा।

प्रायः यह मार्ग उपदेश का विषय बना है। पर आचरण में लाने का उद्यम कतिपय जनों में उपलब्ध हुआ है। कोई जन्म-जन्मांतर के संस्कारों को लेकर इसी मनुष्यभव में महान् होने का एक सुदृढ संकल्प साकार करता है।

संसार की सुविधाओं से मुख को पराङ्मुख कर एकाग्रता से एकान्त में स्थिर होकर स्वयं को शुद्ध-बुद्ध स्वरूप में स्थिर बनाने का अभ्यास जगाता है। परंतु सांसारिकता का सर्वथा त्याग शक्य नहीं होता है। फिर भी ऐसे अशक्य कार्यकलापों को विसर्जित करने के लिए विरति विज्ञान के वैभव में व्युत्पन्न होने का साहस स्वीकार करता है। वैराग्यवान् बनकर, विज्ञानवान् होकर, महातपमय अपने आपको समुज्ज्वल करता हुआ सर्वज्ञता की पगदंडी पर एक पथिक बनने का पुनीत प्रयास बढ़ाता है। जैन दर्शन कर्मक्षय पर क्रमिक आत्मोन्नति का उच्चमार्ग प्रतिपादित करता है। जैसे-जैसे कर्म-बंधों का हास होता जायेगा वैसे-वैसे ज्ञान में, तप में विरति और चारित्र भावनाएँ भूषित बनती जायेगी। ये भावना ही भव्य होकर एक दिन उसे भव्य पुरुष बनने का अवसर देती है। ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणी में उल्लेख किया है। साथ में ही इसी पुष्टि हेतु दृष्टांत देकर समझाते हैं कि जैसे सुवर्ण के मेल को तपाकर दूर किया जाता है, शारीरिक रोग को उपचार से दूर करते हैं, वैसे ही कर्म प्रकृतियों से मुक्त बनने के लिए भी महाउद्यमशील बनना पड़ता है। जिससे आत्मा कर्मों से मुक्त बनकर सर्वज्ञ पद प्रतिष्ठित बन सके।^{११३}

सर्वज्ञ पद लिप्सु लौकिक आचारों का अनुपालन करने में उत्कंठित न रहकर पारलौकिक पारदर्शित्वपद पर आरूढ होने का एक अभिनव आयाग स्वीकार करके, एकाकी, स्वावलंबी, सक्षम रहकर स्वयं सिद्ध सत्यवान् बनता हुआ सर्वज्ञता की सिद्धि का एक साधक, समाराधक होकर संस्कृति साहित्य में और समाज में सर्वज्ञता की सिद्धि का एक महास्रोत होकर दिग् दिगन्त तक दूरदर्शी रहने का एक रम्य अभिगम्य आदर्श उद्भावित करता सर्वदर्शित्व के सुयोग्य गुणों को स्वान्त में सर्जित करता सर्वज्ञता के सर्वोच्च पद का एक पथिक बन जाता है। उसका दृष्टिविज्ञान पारलौकिक परमार्थ से पवित्रतम होता हुआ प्रत्येक जीव के जीवन का ज्ञाता होता हुआ स्वयं का ज्ञाता रहकर सभी का सन्मार्ग दर्शन एक श्रेष्ठतर सर्वज्ञपद पर समलंकृत हो जाता है।

युग-युग से दार्शनिक जगत में यही एक आवाज उद्भवित होती रही है कि क्या व्यक्ति अप्रीतिमान रह सकता है ? क्या अनासक्त योग से जीवन जी सकता है ? क्या एकाकी बनकर अपने आप के सुख को संचित कर सकता है ? यह प्रश्न संसार के है, समाज के है, स्वात्म परिवार के सदस्यों के है। इन सबका प्रत्युत्तर एक ही वाक्य में उद्बोधित करने का प्रयास सर्वज्ञ पुरुषों ने किया 'प्रतिपक्ष भावना तो रागादि क्षय।'***

प्रतिपक्ष भाव को पूर्णतया परिपालन करने से राग, द्वेष, मोह, भय से मुक्त हो सकते हैं। मुक्त रहना महत्त्वपूर्ण है। कहीं पर कभी भी बन्धनों में न आकर सर्वथा स्वयं को त्यक्त, विरक्त, विवेकी रखने का संप्रयास सर्वज्ञों के जीवन में मिलेगा। लेकिन कहीं कोविद ऐसे इस देश में जन्मे जिन्होंने मनुष्य को सर्वज्ञ होने का सर्वथा निषेध किया। उसमें महामीमांसक कुमारिल भट्ट अग्रगण्य है।

मनुष्यता में सर्वज्ञता के सुंदर बीज सदा से समाये हुए हैं। ऐसा स्याद्वाद सिद्धान्त ने संसार के सामने एक सिद्धान्तमय संघोषणा की है। दर्शन जगत चकित हुआ। आश्चर्यों से अपने आप में आलोकित होने लगा। क्या यह संभव है ? है, तो कैसे इसको संभाव्य बनाया जाय ? ऐसी विस्मयपूर्ण विवेचना केवल एक विभु में ही दर्शित हो सकती है। अन्य में नहीं। ऐसी महामान्यता अक्षपाद कणाद जैसे वैशेषिक, नैयायिक दार्शनिकों ने वाङ्मय में प्ररूपित की। परंतु जैन दर्शन इन सभी मान्यताओं का अनुशीलन करता हुआ अग्रसर हुआ और सर्वज्ञ होने का सभी को अधिकार उपलब्ध करने का अवसर देता रहा। कर्मयोग के तारतम्य से आगे-पीछे रहने की संभावनाएँ अवश्य स्थिरा बनीं। परंतु सर्वज्ञ की सिद्धि में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं जगी। आचार्य हरिभद्र दार्शनिक जगत में समदर्शी होकर लोकतत्त्व निर्णय में अपनी उदारता प्रकट करते हुए कहते हैं कि -

अवश्यमेषां कतमोऽपि सर्ववित् जगद्धितैकान्त विशालशासनः

स एव मृग्यो मतिसूक्ष्मचक्षुषा, विशेषमुक्तैः किमनर्थं पंडितैः ॥***

जगत के जीवों का हित करने में ही विशाल शासन जिसका हो इन में से सर्वज्ञ कोई भी हो, सूक्ष्मबुद्धि दृष्टिकोण से उसे अवश्य खोजना चाहिए। विशेष बातें करनेवाले ऐसे अनर्थ पंडितों से क्या ? अर्थात् अन्य देवों के विषय में विभिन्न बातें करनेवाले लेकिन जगत हित की आकांक्षा से रहित ऐसे देव सर्वज्ञ की कोटि में नहीं आ सकते हैं।

महामुनि कपिल सांख्य दर्शन में पुरुष को कूटस्थ, तटस्थ और ज्ञानशून्य रूप में स्वीकार कर सर्वज्ञता के प्रकाश से वंचित बना देते हैं। जबकि जैन दर्शन पुरुष को परम तत्त्वदर्शी सर्वज्ञ सिद्ध पुरुष घोषित करते हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने आत्म-पुरुष को क्लेश कर्म विपाकों असंस्पर्शित कहते हुए ईश्वर विशेष कहा है - यह एक व्याख्या सर्वज्ञता के समकक्षता में आ जाती है। जैन दर्शन सर्वज्ञ सर्वदर्शी मुक्त पुरुष तीर्थ प्रणेता तीर्थंकर रूप से संपूजित स्तवनीय सिद्ध करता है।

इस परिपुष्टि में प्राचीन आचार्य सिद्धसेन जैसे प्रखर प्राच्यविदों ने परमपुरुष रूप से सर्वज्ञ को सर्वश्रद्धेय घोषित किया है। सर्वदर्शी सर्वज्ञ को सिद्धान्तों से संसिद्ध करने में जैनाचार्यों ने अपनी आत्म-प्रतिभा से सर्वज्ञवाद का लेखन श्रेष्ठतर बनाया है।

दृष्टशास्त्राविरुद्धार्थं, सर्वसत्य सुखावहम्।

मितं गम्भीरमाह्लादि वाक्यं यस्य स सर्ववित् ॥^{११६}

आचार्य हरिभद्र सर्वविद् सर्वज्ञ की श्रद्धेय सुपरिभाषा सर्वज्ञ सिद्धि में दे रहे हैं। जिन सर्वदर्शी सर्वज्ञ का वाक्य दर्शित पठित शास्त्र से अविरुद्ध अर्थ प्रतिपादक होता है। सभी प्राणियों को सुख उपजाने में सहकारी बनता है। वाक्य परिमित होता है और गम्भीर गूढ गहन रहता है। साथ में अंतःकरण को आह्लादित करनेवाला रहता है।

यह सर्वज्ञ वचन की एक परिचयात्मक प्रहेली है। आचार्य हरिभद्र ने सर्वज्ञ वचन में सभी के हितों का समावेश करके आत्मीय आह्लाद गुणों को अभिवर्धित करनेवाला एक अनूठा गुण संपादित किया है।

सर्वदर्शी सर्वज्ञ का एवम्भूतपद से परिचय देते हुए आचार्य हरिभद्र सर्वज्ञ सिद्धि में कहते हैं कि जिनका वाक्य राग-द्वेषादि तत्त्वों का विजेता बनकर जैनत्व की उपयोगिता प्रतिपादित करता है। ऐसा कथन स्याद्वाद के बलपर कहनेवाला केवल सर्वज्ञ ही हो सकता है अन्य नहीं। अनेकान्त शैली से उच्चारित कर अपने सर्वज्ञ स्वरूप को सिद्ध करने में जिनका सर्वतोमुखी उदारभाव सदा के लिए जगत में निगमागम रूप से निश्चित हुआ है।

एवम्भूतं तु तद्वाक्यं जैनमेव ततः स वै।

सर्वज्ञो नान्य एतच्च, स्याद्वादोक्त्यैव गम्यते ॥^{११७}

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि भी सर्वज्ञता को सर्वशक्तिमान् भाव से स्वीकार करते सूत्ररूप में परिचय देते हैं।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥^{११८}

रजसू-तमो-मल शून्य बुद्धि सत्त्व परम स्वच्छ भाव होने पर परवशीकार अवस्था में वर्तमान सत्त्व तथा पुरुष के भिन्नता ख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित, सर्वभाव अधिष्ठातृ होता हुआ ग्रहण ग्राह्यात्मक सर्वस्व रूप में गुण समूह क्षेत्रज्ञ स्वामी होता है।

जैन तार्किको ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल, त्रिलोकवर्ती जितने भी ज्ञेय पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने वालों में सर्वज्ञता स्वीकारी है और उसका समर्थन भी किया है जैसे कि आचारांग में - 'से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुआ सुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ। तं आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणो माणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं चणं विहरइ।'^{४९९}

बौद्ध परम्परा में जिस प्रकार धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विश्लेषण करके धर्मज्ञता पर विशेष भार दिया गया है। उसी तरह जैन परम्परा में केवल धर्मज्ञता का समर्थन न करके पूर्ण सर्वज्ञता ही सिद्ध की गई है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में केवलज्ञान को युगपत् अनन्त पदार्थों का जाननेवाला बताया है। तथा कहते हैं कि जो एक को जानता है वह सभी को जानता है। इस आत्मज्ञान की परम्परा की झलक 'यः आत्मवित् स सर्ववित्' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में तथा आचारांग सूत्र में भी कहा है - 'जे एणं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एणं जाणइ।' - जो एक को जानता है वह सभी को जानता है तथा जो सभी को जानता है वह एक को जानता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की ऐसी मान्यता है - केवली भगवान व्यवहारनय से सभी पदार्थों को जानते हैं और देखते हैं पर निश्चयनय की दृष्टि में अपनी आत्मा को जानते और देखते हैं।

इस प्रकार साधक ऐसी विविध युक्तियों के निरूपण के द्वारा भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में स्थित समस्त पदार्थों के विषय में अबाधित ज्ञानवान् सर्वज्ञ है और सर्वज्ञप्रतिपादित वाक्य से तीर्थंकर देव ये ही सर्वज्ञ है। क्योंकि सम्पूर्ण राग द्वेष रहित ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। जिससे उनका वचन प्रमाणसिद्ध होता है। क्योंकि असत्यता के कारण राग द्वेष का अभाव है।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति का मौलिक मूलभूत आधार तीर्थंकर सर्वज्ञ ही है। इन्हीं के आज्ञामय निर्देशों का नैष्टिक अनुपालन परंपरा से चलता आ रहा है। अन्यान्य दर्शनों ने सर्वज्ञता के विषय में दुष्टक प्रयुक्त किये गये। फिर भी आ. हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने सर्वज्ञता को सिद्धि में सम्पूर्ण बौद्धिक कौशल को युक्तियुक्त बनाते हुए सर्वज्ञता की सिद्धि की है। ऐसे सर्ववित् सर्वज्ञ को सम्मान देने में जैन परम्परा अभी तक अचल रही है। सर्वज्ञता के अस्तित्व को इष्टदेवता रूप में स्वीकार करती जैन परंपरा उनके वचनों का अनुसरण कर रही है। सर्वज्ञता की यहीं सबसे बड़ी विशेषता रही है कि वह सर्वदोष द्वेष क्लेश से रहित अपनी आत्मवाणी का उपयोग करती अनेकान्त व्यवस्था देती रही है। यही अनेकान्त व्यवस्था आविर्भूत होकर सम्पूर्ण विश्व को आज विश्वस्त बनाने में विवेक सम्मत विचार प्रयुक्त करने में प्राञ्जल रही है। क्योंकि इतिहास की धुरि को धरती पर चिरंतन बनाने में सर्वज्ञवचन विशेष प्रमाणभूत रहे हैं। सर्वज्ञों ने समय-समय पर अस्तित्व को सर्वोपरि सिद्ध करके सभी के मन्तव्यों को सम्मान रूप से समादृत करने का अनेकान्तिक प्रयोग प्रथम स्वीकारा है। यह उनकी दार्शनिकता दूरदर्शिता बनकर दार्शनिक घटकों को वैचारिक विसंवादो से विमुक्त बनाती रही है।

सर्वज्ञता को ही सर्वोपरि सम्मान देते हुए आचार्य हरिभद्र ने ललित विस्तार में अनेक विशेषणों से युक्त परमात्म वैशिष्ट्य को विवेचित कर विश्व के साहित्य में सर्वज्ञता को समादरणीय सिद्ध किया है। ऐसी सर्वज्ञ की सिद्धि और प्रसिद्धि के सम्पूर्ण पक्षधर आचार्य हरिभद्र हुए जिनका समदर्शित्व विपक्ष भी स्वीकार करता है।

सर्वज्ञ श्रद्धेय भी है, सम्माननीय भी है और शिरोधार्य भी है। आचार्य हरिभद्र ने ससम्मानभाव से सर्वज्ञ की वाङ्मयी पूजा की है और श्रद्धा से नतमस्तक होकर नय-न्याय गुणों से उनके शासन की सुप्रशंसा की है। तथा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर उनके शासन की जयपताका फहराई है। यही हरिभद्र का हितकारी जीवन उनके साहित्य में स्वर्णिम अक्षरों से संलेखित मिल रहा है।

सर्वज्ञ सर्वज्ञाता होकर सभी पदार्थों को प्रमाण प्रमेय से प्रस्तुत करने में प्रवीण रहे है। धर्मसंग्रहणी में अपने विद्वत्ता से उनको इतना संवारा है कि आज भी वे गाथाएँ हरिभद्र की समदर्शित्व को उजागर कर रही है।

सर्वज्ञ-सिद्धि में समुन्नत सुवाक्यों से प्रमाणों को प्रमेयों को प्रकटीकृत करते हुए परमात्म विज्ञान को पारदर्शिता से प्रस्तुत किया है।

योगदृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्रने सर्वज्ञ को एक उत्तम कोटि के वैद्य समान बताये है।

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।

यस्मादेते महात्मानो, भवव्याधिभिषग्बराः ॥^{४२०}

यद्यपि सभी सर्वज्ञ एक है फिर भी सर्वज्ञ पुरुषों की देशना शिष्यों के हित के लिए चित्र-विचित्र होती है। कारण कि ये महात्माएँ संसारों जीवों के भवरोग दूर करने में श्रेष्ठ वैद्य समान है।

सर्वज्ञ की देशना अवन्य फलवाली होती है। क्योंकि वे अचिन्त्य पुण्य के प्रभाव वाले होते है। अतः जीव देशविरति, सर्वविरति आदि धर्म को प्राप्त करते है। कपिल, बुद्ध आदि भी औपचारिक सर्वज्ञ है। लेकिन वे उत्कट अचिन्त्य पुण्य प्रभाववाले नहीं होते है। फिर भी सामान्यकोटि के जीवों से विशेष ज्ञानी होते है और योगाभ्यास होने से कुछ विशिष्ट पुण्यवाले भी होते हैं। अतः उनकी देशना भी जीव को उपकारी बनाती है और जीव बोध भी पाते है।

इस प्रकार सर्वज्ञ विशिष्ट ज्ञानवान्, अचिन्त्य पुण्यवान्, परोपकारवान् के रूप में माने गये है।

अनेकान्तवाद

किसी भी बात को सर्वथा एकान्त से नहीं कहने का, और न ही स्वीकार करने का संलक्ष्य जैन दर्शन में मिलता है। इसी से जैन दर्शन को अनेकान्तवाद से आख्यायित किया गया है। स्याद्वाद स्वरूप से चरितार्थ बनाया है।

विचार और आचार इन दोनों से दर्शन धर्म की सिद्धि कही गई है। ऐसे दर्शन धर्म में आचारों को नियमबद्ध नीति से पालने का आदेश मिलता है। विचारों की स्वाधीनता सर्वत्र सुमान्य कही गई है पर वह भी

दार्शनिक तथ्यों से नियंत्रित पायी गई है।

अनेकान्तदर्शन एक नियमबद्ध दार्शनिकता को दर्शित करता अनेकान्तता का आकार आयोजित करता है। एकान्त से किसी भी विचार को दुराग्रहपूर्ण व्यक्त करने का निषेध करता है पर ससम्मान समादर भाव से संप्रेक्षण करता सत्यता का सहकारी हो जाता है।

पूर्वकाल के दार्शनिक वातावरण में परस्पर विरोधों का वचन-व्यवहार पाया गया है। श्रमण भगवान महावीर ने निर्विरोध विचारों को उच्चारित कर आक्षेप रहित सिद्धान्तों को संगठित करके निर्मल नयवाद को अभिनव रूप दिया, यह अभिनवता ही अनेकान्तवाद की छबि है। स्याद्वाद सिद्धि का साक्षात्कार है और समन्वयता का संतुलित शुद्ध प्रकार है जो निर्विरोध भाव से विभूषित होता विश्वमान्य दर्शन की श्रेणि में अपना सम्माननीय स्थान बनाता गया। इस अनेकान्तवाद के सूक्ष्मता से उद्गाता तीर्थंकर परमात्मा हुए, गणधर भगवंत हुए एवं उत्तरोत्तर इस परंपरा का परिपालन चलता रहा।

इस सिद्धान्त स्वरूप को नयवाद से न्यायसंगत बनाने में मल्लवादियों का महोत्कर्ष रहा, सिद्धसेन दिवाकर का प्रखर पाण्डित्य उजागर हुआ, वाचकवर उमास्वाति ने इसी विषय को सूत्रबद्ध बनाया, समदर्शी आचार्य हरिभद्र अनेकान्तवाद के स्वतन्त्र सुधी बनकर 'अनेकान्तजयपताका' जैसे ग्रन्थ के निर्माण में अविनाभाव से अद्वितीय रहे।

आज अभी अनेकान्तदर्शन की जो महिमा और जो मौलिकता मतिमानों के मानस मूर्धन्यता से माधुर्य को महत्त्व दे रही है इसका एक ही कारण है कि जैनाचार्यों ने समग्रता से अन्यान्य दार्शनिक संविधानों का सम्पूर्णता से स्वाध्याय कर समयोचित निष्कर्ष को निष्पादित करते हुए अनेकान्त की जयपताका फहराई।

वह अनेकान्त किसी एकान्त कोणे का धन न होकर अपितु विद्वद्-मण्डल का महतम विचार संकाय बना। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के संवादों को आत्मसात् बनाने का स्याद्वाद दर्शन ने सर्व प्रथम संकल्प साकार किया और समदर्शिता से स्वात्मतुल्य बनाने का आह्वान किया। इस आह्वान के अग्रेसर, अनेकान्त के उन्नायक आचार्य हरिभद्र हुए जिन्होंने समदर्शिता को सर्वत्र प्रचलित बनायी।

प्रचलन की परंपराएँ प्रतिष्ठित बनाने में प्रामाणिकता और प्रमेयता इन दोनों का साहचर्यभाव सदैव मान्य रहा है। उपाध्याय यशोविजय जैसे मनीषियों ने प्रमाण प्रमेय की वास्तविकताओं से विद्याक्षेत्रों को निष्कंटक, निरुपद्रव बनाने का प्रतिभाबल निश्चल रखा, जब कि नैयायिकों ने छल को स्थान दिया पर अनेकान्तवादियोंने आत्मीयता का अपूर्व अनग्ररूप अभिव्यक्त किया।

स्याद्वाद को नित्यानित्य, सत्-असत्, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, अभिलाष्य-अनभिलाष्य से ग्रन्थकारों ने समुल्लिखित किया है। वही समुल्लिखित स्याद्वाद अनेकान्तवाद से सुप्रतिष्ठित बना। इसकी ऐतिहासिक महत्ता क्रमिक रूप से इस प्रकार उपलब्ध हुई है।

सर्व प्रथम आचार्य सिद्धसेन ने आगमिक स्याद्वाद को अनेकान्तरूप से आख्यायित करने का शुभारंभ

किया। तदनन्तर मल्लवादिओं ने अनेकान्तवाद की भूमिका निभाई।

इसी स्याद्वाद को स्वतन्त्रता से ग्रन्थरूप देने का महान् श्रेय आचार्य हरिभद्र के अधिकार में आता है। इन्होंने अधिकारिता से अनेकान्तजय पताका में अनेकान्त को सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष और अभिलाष्य-अनभिलाष्य इन सभी को लिपिबद्ध करके अनेकान्त के विषय को विरल और विशद एवं विद्वद्गम्य बनाने का बुद्धिकौशल अपूर्व उपस्थित किया है। इन्हीं के समवर्ती आचार्य अकलक जैसे विद्वानों ने अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि को विलक्षण बनायी है।

ऐसे ही वादिदेवसूरि श्रमण संस्कृति के स्याद्वाद सिद्धान्त के समर्थक-सर्जनकार के रूप में अवतरित हुए हैं। उन्होंने स्याद्वाद को अनेकान्तवाद रूप में आलिखित करने का आत्मज्ञान प्रकाशित किया है।

आ. रत्नप्रभाचार्य 'रत्नाकरावतारिका' में भाषा के सौष्ठव से अनेकान्तवाद को अलंकृत करने का क्रियात्मक प्रयास किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी स्याद्वाद के स्वरूप को निरूपित करने में नैष्ठिक निपुणता रखते हुए अनेकान्त संज्ञा से सुशोभित किया है।

अनेकान्त परंपरा को नव्य-न्याय की शैली से सुशोभित करने का श्रेय उपाध्याय यशोविजयजी म. के हाथों में आता है और अपर हरिभद्र के नाम से अपनी ख्याति को दार्शनिक जगत में विश्रुत बन गये।

वर्तमानकाल में विजयानंदसूरि (आत्मारामजी) श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि, नेमिसूरि, भुवनभानुसूरि, यशोविजय सूरि, अभयशेखर सूरि आदि श्रमणवरों ने अनेकान्तवाद की विजय पताकाएँ फैलाई है।

स्याद्वाद जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। स्याद्वाद का सरल अर्थ यह है कि अपेक्षा से वस्तु का बोध अथवा प्रतिपादन जब तर्क, युक्ति और प्रमाणों की सहाय से समुचित अपेक्षा को लक्ष में रखकर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है तब उनमें किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश नहीं रहता। क्योंकि जिस अपेक्षा से प्रवक्ता किसी धर्म का किसी वस्तु में निदर्शन कर रहा हो यदि उस अपेक्षा से उस धर्म की सत्ता प्रमाणादि से अबाध्य है तो उसको स्वीकारने में अपेक्षावादिओं को कोई हिचक का अनुभव नहीं होता।

सर्वज्ञ-तीर्थंकरों के उपदेशों में से प्रतिफलित होनेवाले जैनदर्शन के सिद्धान्तों की यदि परीक्षा की जाय तो सर्वत्र इस स्याद्वाद का दर्शन होगा। स्पष्ट है कि स्याद्वाद ही जैन दर्शन की महान् बुनियाद है। सभी सिद्धान्तों की समीचीनता का ज्ञान करानेवाला स्याद्वाद है। जिसमें सकल समीचीन सिद्धान्तों की अपने-अपने सुयोग्य स्थान में प्रतिष्ठा की जाती है।

संक्षेप में कहे तो प्रमाण से अबाधित सकल सिद्धान्तों का मनोहर संकलन ही स्याद्वाद है। अप्रामाणिक सिद्धान्तों का समन्वय करना स्याद्वाद का कार्य नहीं है। इस महान् स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन जैन-आगमों में मिलता है तथा उसके पश्चात् रचे जानेवाले निर्युक्ति ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

हमारा गणिपिटक (द्वादशांगी) जितना गहन है उतना ही गंभीर है। इसीलिए यह द्वादशांगी श्रमण-

संस्कृति की सर्वाधार है। इसी द्वादशांगी में स्याद्वाद का स्वरूप स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यह स्याद्वाद एक सिद्धान्तमय निरूपण है ऐसी निरूपणता सम्पूर्णता से स्वच्छ है जिसको निष्कर्ष स्वीकार किया जा सकता है। इसीको औपपातिक सूत्र में इस रूप से वर्णित किया है।

इच्चयं गणिपिडगं, निच्चं दव्वड्डियाएँ नायव्वं
पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवादो

इस गणिपिटक को नित्य द्रव्यास्तिकाय जानना चाहिए। पर्याय से अनित्य रहनेवाला और नित्यानित्य की संज्ञा को धारण करनेवाला स्याद्वाद है।

जो सियवायं भासति प्रमाणपेसलं गुणाधारं ।

भावेइ से ण णसयं सो हि पमाणं पवयणस्स ॥

जा सियवाय निंवति पमाणपेसलं गुणाधारं ।

भावेण दुड्ढभावो, न सो पमाणं पवयणस्स ॥^{४२१}

प्रमाणों से सुंदर, गुणों का आधार ऐसे स्याद्वाद का जो प्रतिपादन करता है वह भावों से नाश नहीं होता है और वही प्रवचन का प्रमाण है। तथा इससे विपरीत जो प्रमाणों से मनोहर गुणों का भाजन ऐसे स्याद्वाद की निंदा करता है वह दुष्ट भाववाला होता है तथा प्रवचन का प्रमाण नहीं बनता।

यह स्याद्वाद अनेकान्तवाद से ही एक नियोजित निश्चय है क्योंकि उत्तर आचार्यों ने इस स्याद्वाद सिद्धान्त को ही अनेकान्तवाद से पुष्पित, प्रफुल्लित किया है। आचार्य हरिभद्र सूरि शास्त्रवार्ता समुच्चय में सप्तभंगी प्रमाण से अनेकान्तवाद का निश्चय निर्धारित करते हुए कहते हैं कि -

अनेकान्त एवातः सम्यग्मानव्यवस्थितेः ।

स्याद्वादिनो नियोगेन, युज्यते निश्चयः परम् ॥^{४२२}

स्याद्वाद अनेकान्तवाद से ही एक नियोजित निश्चय है। वह पृथक् बनकर पर नहीं रह सकता है। अतः सप्तभंगी प्रमाण से अनेकान्तवाद सिद्ध होता है।

दार्शनिक दुनिया का अनेकान्तवाद जितना, आस्थेय है उतना ही अवबोधदायक भी है। क्योंकि अनेकान्त-दृष्टि एक ऐसी अद्भुत पद्धति है जिसमें सम्पूर्ण दर्शन समाहित हो जाते हैं जैसे हाथी के पैर में अन्य पशुओं के पैर, माला में मोती तथा सरोवर में सरिताएँ समाविष्ट हो जाती हैं। जैसे कि सिद्धसेनदिवाकर सूरि ने द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका में कहा -

उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वं दृष्ट्यः ।

न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥^{४२३}

सभी नदी जिस प्रकार महासागर में जाकर मिलती है। परंतु भिन्न-भिन्न स्थित नदीओं में महासागर नहीं दिखता है। उसी प्रकार सर्व दर्शनरूपी नदियों स्याद्वादरूपी महासागर में सम्मिलित होती है,

परन्तु एकान्तवाद से अलग-अलग रहे हुए उन-उन दर्शनरूपी नदीओं में स्याद्वादरूपी महासागर दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस सम्बन्ध में सन्त आनन्दधनजी ने नमिनाथ भगवान के स्तवन में अपने उद्गारों को इस प्रकार प्रगट किये है -

जिनवरमां सघलां दरिसण छे, दर्शन जिनवर भजना।

सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनी सागर भजना रे ॥^{४२४}

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि एक विशाल दृष्टिकोण है। अनेकान्तदृष्टि एक वस्तु में अनन्त धर्मों का दर्शन करती है। जैसा कि आचार्य हरिभद्र ने अपने षड्दर्शन समुच्चय में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है -

‘अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह।’^{४२५}

अनन्त धर्मवाली वस्तु प्रमाण का विषय होती है, प्रमाण के द्वारा अनन्तधर्मात्मक जाना जाता है। अनन्तधर्मवाली वस्तु प्रमेय है। अनेक धर्म या अंश ही जिसका आत्मा (स्वरूप) हो वह पदार्थ अनेकान्तात्मक कहा जाता है। चेतन या अचेतन सभी वस्तुएँ अनन्त धर्मवाली होती है। इसी विषय संबंधी प्रमाण स्याद्वादमंजरी,^{४२६} अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण,^{४२७} प्रमाणनय तत्त्वालोक,^{४२८} अनेकान्तजयपताका,^{४२९} षड्दर्शनसमुच्चय टीका^{४३०} आदि में भी मिलते है।

अथवा जिसमें अनन्त तीनों कालों में रहनेवाले, अपरिमित, सहभावी अथवा क्रमभावी धर्मस्वभाव पाये जाते है वह वस्तु अनन्तधर्मक या अनेकान्तात्मक कहलाती है। परम तारक सर्वज्ञ देव महावीर परमात्मा ने बताया कि जब तक उसके विराट् स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है तब तक साधारण व्यक्ति अनन्त धर्मों का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। अतः वस्तु के एक-एक अंश को जानकर अपने में पूर्णता का दूरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तु में नहीं है लेकिन विवाद तो देखनेवालों की दृष्टि में है। उन्होंने बताया कि प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मों से अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि-अनन्त स्थिति की दृष्टि से नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्व के रंगमञ्च से एक कण का भी समूल नष्ट हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण पर्याय बदल रहा है, उसके गुण-धर्मों में सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः अनित्य है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तु की निजी सम्पत्ति है।

सभी प्रमाण या प्रमेय रूप वस्तु में स्व-पर द्रव्य की अपेक्षा क्रम और युगपत् रूप से अनेक धर्मों की सत्ता पायी जाती है वस्तु की अनेकान्तात्मकता तो सभी प्राणियों को सदा अनुभव में आती है। जैसे कि घड़ा अपने द्रव्य में है, अपनी जगह, अपने समय में है तथा अपने पर्याय से सत् है। लेकिन दूसरे द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् असत् भी है। घड़ा, घड़ा रूप में है कपड़ा चटाई रूप में नहीं है जैसे कि आचार्य हरिभद्रसूरिने अनेकान्तजय पताका में उसको सुन्दर रूप से घटित किया है। - ‘यतस्स्वद्रव्यक्षेत्रकाल-भावरूपेण सद्वर्तते परद्रव्यक्षेत्र कालभावेण चासत् ततश्च सच्चासच्च भवत्यन्यथा तदभावप्रसङ्गात् तथा च तद्द्रव्यतः पार्थिवत्वेन सत् नाबादित्वेन तथा क्षेत्र त इहत्यत्वेन न पाटलिपुत्रकादित्वेन तथा कालतो घटकालत्वेन न

मृत्पिण्डादिकालत्वेन तथा भावतः श्यामत्वेन न रक्तत्वादिनेति ।^{१३१}

कारण कि प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से सत् होती है और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से असत् होती है अपेक्षा भेद से सत् और असत् धर्म घटित होता है अन्यथा वस्तु के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। जैसे कि द्रव्य से घड़ा पृथिवी का बना हुआ है। जल, हवा आदि का नहीं। अतः पार्थित्व से घड़ा सत् जलत्व धर्म से वह असत् है। क्षेत्र की अपेक्षा से घड़ा यहाँ स्थित। अतः यहाँ अमुक आकाश प्रदेश की अपेक्षा से सत् है। लेकिन परपर्याय से तो लोक में असंख्य प्रदेश होंगे। उसकी अपेक्षा से असत् है। अर्थात् वहाँ घड़ा का अस्तित्व नहीं है। अथवा अमुक देश का घड़ा है। लेकिन पाटलीपुत्र का घड़ा नहीं है। काल से घटकालत्व से सत् है। लेकिन मृत्पिंडक पालादि रूप से असत् है। भाव से घट श्यामरूपत्व से सत्, लेकिन रक्तत्व रूप से असत् है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत्-असत् आदि विरुद्ध धर्मों से युक्त हो सकती है।

उसी प्रकार वस्तु सामान्य और विशेष रूप भी है तथा अभिलाष्य और अनभिलाष्य भी है।

यही बात अनेकान्तप्रवेश^{१३२} षड्दर्शनसमुच्चय^{१३३} की टीका आदि में उल्लिखित है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि अनेकान्त सिद्धान्त को एक व्यवहारिक दृष्टांत देकर समझाते हैं जो आबालगोपाल प्रसिद्ध है एवं मान्य है।

गुड़ कफ का कारण होता है और सूठ पित्त का कारण बनता है। लेकिन इन दोनों का संमिश्रण रूप औषध में एक भी दोष संभवित नहीं है। उसी प्रकार नित्यानित्य आदि धर्म भी नयविवेक्षा से ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं आती है क्योंकि नित्य द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहा जाता और अनित्य पर्यायार्थिक नय की विविक्षा से कथित किया जाता है। अतः एक ही वस्तु में दोनों धर्म रह सकते हैं।^{१३४}

अनेकांत के समर्थन में दूसरा मेचक का दृष्टांत देते हैं। चित्र-विचित्र अर्थात् पंचवर्णात्मक रत्न में, कपड़े में, विरुद्ध परस्पर विरोधी वर्णों का संयोग देखा जाता है। उसी प्रकार नरसिंह में भी।

इस प्रकार यदि दुराग्रह निकाल कर प्रामाणिकता से दृष्टि डाली जाय तो अवश्य उस वस्तु में सत् के साथ असत् विशेष के साथ सामान्य तथा भेदाभेद आदि धर्म मिल सकते हैं। लेकिन इतना निश्चित है कि वस्तु की सीमा और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। यदि जड़ में चेतनत्व और चेतन में जड़त्व खोजने जायेंगे तो कभी भी नहीं मिल सकते। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने निजि धर्म निहित हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। लेकिन सर्वधर्मात्मक नहीं है। चेतन के गुण धर्म अचेतन में नहीं पाये जाते और अचेतन गुण-धर्म चेतन में मिलने असंभवित है। लेकिन कुछ ऐसे प्रमेय ज्ञेय आदि सामान्य धर्म हैं जो दोनों में पाये जाते हैं। अतः क्षुद्र दृष्टि से एक धर्म का आग्रह करके दूसरे का तिरस्कार करना अपना कदाग्रह ही है। इससे अधिक कुछ नहीं है। अतः आचार्य हरिभद्र सूरि दार्शनिक जगत में एक समदर्शिरूप में अवतरित होकर अपनी उदात्त भावना को इस प्रकार व्यक्त करते हैं -

आग्रही बत निनीषती युक्तिं तत्र-यत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥^{४३५}

आग्रही व्यक्ति अपने मत को पुष्ट करने के लिए युक्तियाँ ढूँढता है। युक्तियों को अपने मत की ओर ले जाते हैं। पर पक्षपात रहित मध्यस्थ व्यक्ति सिद्ध वस्तु स्वरूप को स्वीकार करने में अपनी मति की सफलता मानता है।

अनेकान्त भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तु स्वरूप की ओर अपने मत को लगाओ, न कि अपने निश्चित मत की तरफ वस्तु और युक्ति की खींचतानी करके उन्हें बिगाड़ने का दुष्प्रयास न करो और कल्पना की उड़ान इतनी लम्बी न लो जो वस्तु की सीमा को ही लाँघ जाय।

अनेकान्त दर्शन ही एक ऐसा विराट एवं निष्पक्ष दर्शन है जिसका विरोध अन्यदर्शन करते हुए भी उनको अनिच्छा से स्वीकार करना पड़ता है। उनका प्रतिक्षेप करने के लिए वे समर्थ नहीं हैं। आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार आचार्य गुणरत्नसूरि ने इस प्रकार समुल्लिखित किया है।

(१) बौद्ध निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण रूप भी मानते हैं तथा अप्रमाणरूप भी उनका एक ही दर्शन को प्रमाण और अप्रमाण दोनों रूप मानना अनेकान्तवाद का ही समर्थन करना है। धर्मकीर्ति नामके बौद्धाचार्यने स्वयं न्यायबिन्दु में कहा है कि - “समस्त चित्त सामान्य अवस्था को ग्रहण करनेवाले ज्ञान तथा चैत विशेष अवस्थाओं के ग्राहक ज्ञानों का स्वरूप संवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्प होता है।” अतः एक विकल्प ज्ञान को बाह्य नीलादि की अपेक्षा सविकल्प तथा स्वरूप की अपेक्षा निर्विकल्प। इस तरह निर्विकल्प और सविकल्प दोनों ही रूप स्वीकारना अनेकान्त के बिना कैसे समर्थ हो सकता है। एक ही अहिंसाक्षण को अपनी सत्ता आदि में प्रमाणात्मक तथा स्वर्ण प्रापणशक्ति या क्षणिकता में अप्रमाण मानने वाले बौद्धों ने अनेकान्त को स्वीकार किया ही है। इसी तरह सीप में चाँदी का भान कराने वाली मिथ्या विकल्प चाँदी रूप बाह्य अर्थ का प्रापक न होने से भ्रान्त है। परन्तु वैसा मिथ्या ज्ञान हुआ तो अवश्य है, उसका स्वरूप संवेदन तो होता ही है। अतः वह स्वरूप की दृष्टि से अभ्रान्त है। इस तरह एक ही मिथ्याविकल्प को बाह्य अर्थ में भ्रान्त तथा स्वरूप में अभ्रान्त मानना स्पष्ट अनेकान्त को स्वीकार करना है।

एक ही चित्र पट ज्ञान को अनेक आकार वाला मानना एक को ही चित्र-विचित्र मानने वाला बौद्ध अनेकान्त का निषेध नहीं कर सकता है। यदि वह अनेकान्त का अपलाप करे तो उसको बलवद् अनिष्ट आ जाता है। फिर वह ज्ञान का एक आकार अनेक आकार मिश्रित है, यह भी उसके लिए अस्वीकृत हो जायेगा। इस तरह सुगत द्वारा एक ही ज्ञान को सर्वाकार मानना भी अनेकान्त का समर्थन है।

नैयायिक और वैशेषिकों का अनेकान्त में समर्थन

इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से धूम का प्रत्यक्ष होता है तथा धूमज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है। यहाँ इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है तथा धूमज्ञान उसका फल है - एक ही धूमज्ञान में प्रत्यक्ष की दृष्टि से फलरूपता और अग्निज्ञान की दृष्टि से प्रमाण रूपता स्वयं वैशेषिकों ने मानी है। इस तरह एक ज्ञान में

प्रमाणता तथा फलरूपता मानना अनेकान्त का ही समर्थन है। एक ही नाना रंगवाले चित्र पट रूप अवयवी में चित्र-विचित्र रूप मानते हैं। अर्थात् एकरूप वाला होने पर भी अनेक स्वरूप ऐसा चित्ररूप प्रमाणिक है, ऐसा कथन करने वाले नैयायिक और वैशेषिक भी अनेकान्त का अनादर नहीं कर सकते हैं। एक ईश्वर को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, रूप अष्टमूर्ति मानना अनेकान्तवाद का ही रूप है।

इसी तरह एक ही परमाणु में सामान्यरूपता तथा विशेषरूपता पायी जाती है जिससे अनेकान्तात्मकता की पूरी-पूरी सिद्धि होती है।

सांख्य एक ही प्रधान को त्रिगुणात्मक मानते हैं। यह प्रधान परस्पर विरोधी सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से संयोजित किया गया है। अर्थात् त्रयात्मक है। एक प्रकृति में संसारी जीवों की अपेक्षा उन्हें सुख-दुखादि उत्पन्न करने के लिए प्रवृत्तिरूप स्वभाव तथा मुक्ति जीवों को अपेक्षा निवृत्तिरूप स्वभाव माना जाता है। इस तरह एक ही प्रधान को त्रिगुणात्मक तथा एक प्रकृति को भिन्न जीवों की अपेक्षा प्रवृत्ताप्रवृत् आदि विरुद्ध धर्मवाली माननेवाले सांख्य अपने को अनेकान्त का विरोधी कैसे कह सकते हैं। उनका यह मानना ही अनेकान्त का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करना है।^{४३६}

आचार्य के समर्थन में उपरोक्त मतों का निरूपण अध्यात्म उपनिषद्^{४३७} तथा स्याद्वाद रहस्य में भी मिलता है।

आचार्यश्री बौद्धों के द्वारा मान्य दृष्टांत के द्वारा ही एक ही वस्तु में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों को घटित करते हुए कहते हैं कि “जिस तरह मोर के अण्डे में नीलादि अनेक रंग परस्पर मिश्रित होकर कंथचित् तादात्म्य रूप से रहते हैं। उसी तरह एक ही वस्तु में नामघट, स्थापनाघट आदि रूप नामादि चार निक्षेपों का व्यवहार हो जाता है। उसमें चारो ही धर्म परस्पर सापेक्ष भाव से मिलकर रहते हैं। उपनिषद् में साक्षात् अनेकान्त का स्वीकार किया गया है जैसे कि अर्थर्वशिखर उपनिषद् में बताया गया है कि मैं भित्त्याभित्त्य हूँ। मैं व्यक्त-अव्यक्त बलस्वरूप हूँ। बृहद्-आरण्यक में कहा है कि उस ब्रह्म तत्त्व का ही ‘स्याद्’ पद स्वरूप धन जानकर जीव पाप कर्म से लिप्त नहीं होता है। छान्दोग्योपनिषद् में वह आकाश में रमता है, वह आकाश में नहीं रमता है। ऋक् सूत्र संग्रह में उस समय वह असत् भी नहीं था और सत् भी नहीं था। सुबाल उपनिषद् में वह सत् नहीं, वह असत् नहीं, वह सदसत् नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में श्रेष्ठ तत्त्व सदसत् है। तेजोबिन्दु उपनिषद् में आत्मा द्वैताद्वैत स्वरूप है और द्वैताद्वैत रहित है। मैत्रयी उपनिषद् में - मैं भाव और अभाव से रहित हूँ। तेज से अर्थात् प्रकाश से रहित होने पर भी प्रकाशमान हूँ। ये सभी उपनिषद् वचन अनेकान्त के सिवाय संभवित नहीं हो सकते।

भारतीय विद्वान् तथा पाश्चात्य विद्वान् ने भी अनेकान्तवाद को ससम्मान स्वीकार किया है।

पंडित हंसराजजी शर्मा ने ‘दर्शन और अनेकान्तवाद’ नाम के पुस्तक में लिखा है कि “अनेकान्तवाद अथवा अपेक्षावाद का सिद्धान्त कुछ नवीन अथवा कल्पित सिद्धान्त नहीं किन्तु अति प्रचीन तथा पदार्थों की उनके स्वरूप के अनुरूप यथार्थ व्यवस्था करनेवाला सर्वानुभवसिद्ध सुव्यवस्थित और सुनिश्चित सिद्धान्त है।

तात्त्विक विषयों की समस्या में उपस्थित होनेवाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपेक्षावाद के समान उसकी कोर्टि का दूसरा कोई सिद्धान्त नहीं है।

विरुद्धता और विविधता का भान कराकर उसका सुचारु रूप से समन्वय करने में अनेकान्तवाद - अपेक्षावाद का सिद्धान्त बड़ा ही प्रवीण एवं सिद्धहस्त है।^{४३८}

काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक भिक्खनलाल आत्रेय एम.ए.डी. लिट्. स्याद्वादमंजरी के प्राक् कथन में अनेकान्त के विषय में कहते हैं कि - “सत्य और उच्च भाव और उच्च विचार किसी एक जाति या मजहबवालों की वस्तु नहीं है। इन पर मनुष्य मात्र का अधिकार है। मनुष्य मात्र को अनेकान्तवादी स्याद्वादवादी और अहिंसावादी होने की आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में भी।^{४३९}

सर विलियम हेमिल्टन आदि पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि - पदार्थ मात्र परस्पर सापेक्ष है। अपेक्षा के बिना पदार्थत्व ही नहीं बनता। अश्व कहते हैं वहाँ अनश्व की अपेक्षा हो ही जाती है। दिन कहने पर रात्रि की अपेक्षा होती है। अभाव कहने पर भाव की अपेक्षा रहती है।^{४४०}

सशास्त्र के विद्वान् प्रो. विलियम जेम्स ने भी लिखा है - ‘साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओं का एक दूसरे से असम्बद्ध तथा अनपेक्षित रूप से ज्ञान करता है। पूर्व तत्त्ववेत्ता वही है, जो संपूर्ण दुनियाओं से एक दूसरे से सम्बद्ध और अपेक्षित रूप में जानता है।^{४४१}

एक तरफ अनेकान्तवाद का समर्थन भी जोर-शोर हुआ तो दूसरी ओर कुछ दर्शनकारों ने, विद्वानों ने अनेकान्तवाद की कड़वी आलोचना भी की है। डॉ. सर राधाकृष्ण इण्डियन फिलॉसोफी में स्याद्वाद के ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि - ‘इसमें हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्य का ही ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद से हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते।^{४४२}

इसी तरह प्रो. बलदेव उपाध्याय राधाकृष्ण का अनुसरण करते यहाँ तक लिखा है कि - ‘इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोबीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षण के लिए विस्मम्भ तथा विराम देनेवाले विश्राम गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।^{४४३}

इसी तरह श्रीयुत हनुमन्तराव एम.ए. ने अपने ‘JAIN INSTRUMENTAL THEORY OF KNOWLEDGE’ नामक लेख में लिखा है कि - ‘स्याद्वाद सरल समझौते का मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता।’

आचार्य शंकाराचार्य ने भी शंकरभाष्य में अनेकान्तवाद का बहुत खण्डन किया है। लेकिन ये सब एक ही प्रकार के विचार हैं जो स्याद्वाद के स्वरूप को न समझने के या वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने के परिणाम हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय, अनेकान्त-जयपताका आदि में अनेकान्त के विरोधियों का खण्डन किया है तथा अनेकान्तवाद का मण्डन डंके की चोट के साथ किया है जैसे उनका यह

कथन अनेकान्तवाद को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करता है।

नान्वयः स हि भेदित्वात्र भेदोऽन्वयवृत्तिः।

मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं घटः ॥

मिट्टी के घड़े में न तो मिट्टी और घड़े का सर्वथा अभेद ही माना जा सकता और न भेद ही। मिट्टीरूप में सर्वथा अभेद नहीं कह सकते, क्योंकि वह मिट्टी दूसरी थी यह दूसरी है, अवस्था भेद तो है ही। उनमें सर्वथा भेद भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मिट्टीरूप से अन्वय पाया जाता है। पिण्ड भी मिट्टी का ही था और घड़ा भी मिट्टी का ही है। तात्पर्य यह है कि घड़ा सर्वथा अभेद और सर्वथा भेद रूप दो जातियों से अतिरिक्त एक कथंचित् भेदाभेद रूप तीसरी जाति का ही है। न सर्वथा उसी अवस्थावाली मिट्टी रूप है और न मिट्टी से सोने का बन गया है, किन्तु द्रव्यरूप से उस मिट्टी का उसमें अन्वय है तथा पर्यायरूप से भेद है।

यह निरूपण आ. हरिभद्र ने अनेकान्त प्रवेश^{१११} एवं अनेकान्तजयपताका^{११२} में किया है।

इस प्रकार 'अनेकान्त' शब्द वस्तु के अनन्त धर्म का उद्घोष करता है, किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों को एक ही शब्द से एक समय में युगपद् नहीं कहा जा सकता। इसीलिए जैनदर्शन में स्याद्वाद का विकास हुआ। स्याद्वाद कथन करने की एक निर्दोष भाषा पद्धति है। यह वस्तु के अनेक धर्मता का अपेक्षाभेद से कथन करती है। स्याद् शब्द अव्यय जो अनेकान्त का द्योतक है अतः स्याद्वाद को अनेकान्त भी कहा जाता है।

'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है। उसमें उसके अतिरिक्त धर्म भी विद्यमान है। अर्थात् अविवक्षित शेष धर्मों का प्रतिनिधित्व स्याद् शब्द करता है। स्याद् का अर्थ शब्द या सम्भावना नहीं किन्तु निश्चय है। अर्थात् 'घड़ा रूपवान् है' इस वाक्य में रूप के अस्तित्व की सूचना तो रूपवान् शब्द दे ही रहा है पर उन उपेक्षित शेष धर्मों के अस्तित्व की सूचना 'स्यात्' शब्द से होती है। 'स्यात्' 'रूपवान्' को पूरी वस्तु पर अधिकार जमाने से रोकता है और कह देता है कि वस्तु विराट है उसमें एक रूप ही नहीं है बल्कि अनन्त गुण धर्म स्थित है।

स्याद् शब्द एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं होने देता। वह उन अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है। 'स्याद्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तु के शेषांश का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि अस्ति नाम के धर्म को जिस शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है वह पूरी वस्तु को हड़प न जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर जाय इसलिए वह प्रति वाक्य में चेतावनी देता रहता है - हे अस्ति ! भाई तुम एक अंश हो, तुम अपने अन्य भाइयों के अधिकार को लेने की चेष्टा मत करना। इस भय का कारण है - नित्य ही है, अनित्य ही है। आदि अंशवाक्यों ने पूर्ण अधिकार वस्तु पर जमा कर अनधिकार चेष्टा की और जगत में अनेक तरह से वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये। इसके फल स्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-विवाद के अनेक मतवादों की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, परमता, सहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्याद्' शब्द

वाक्य के उस विष को निकाल देता है जिससे अभिमान का सर्जन होता है। वस्तु के अन्य धर्मों के अस्तित्व को इन्कार करने से पदार्थ के साथ अन्याय होता है।

स्याद् शब्द एक न्यायाधीश के समान न्याययुक्त कथन कहता है कि - हे अस्ति ! तुम अपने अधिकार की सीमा में रहो। स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जिस प्रकार तुम घट में रहते हो उसी तरह पर द्रव्यादि की अपेक्षा 'नास्ति' नाम का तुम्हारा भाई भी घट में रहता है। जिस समय जिसकी मुख्यता होती है उसका नाम लिया जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद पद्धति के कथन का आधार सप्तभंगी है। जैन दर्शन में सप्तभंगी का अभिप्राय भाषा अभिव्यक्त के सात प्रकार है। स्याद्वाद जहाँ वस्तु का विश्लेषण करता है वही सप्तभंगी वस्तु के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म की विश्लेषण करने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करती है। इसे 'सप्तभंगीन्याय' भी कहा जाता है।

सप्तभिः प्रकारैः वचन विन्यासः सप्तभंगीतिगीयते।^{१४६}

वस्तु के स्वरूप कथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाना ही सप्तभंगी है।

प्रत्येक वस्तु में कथंचित् 'नित्यत्व' आदि सात धर्म प्रत्यक्ष जाने जाते हैं - सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यात्वादया सप्त धर्माः प्रत्यक्षं प्रतीयन्ते।^{१४७}

सप्त यानि सात और भंग अर्थात् विकल्प प्रकार या भेद ये सप्तभंग किसी भी वस्तु धर्म पर घटित किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त आठवाँ वचन प्रयोग नहीं हो सकता।

सप्त भंगी के मूल भंग तीन हैं। स्यात् अस्ति, स्याद् नास्ति और स्याद् अवक्तव्यम्। इसके उत्तर भेद चार हैं। इस सप्तभंगी का विवेचन आचार्य हरिभद्र रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका में अति विस्तार से वर्णन किया है। जैसे कि -

एवं चेह सप्तभङ्गी प्रवर्तते, तामिदानीं दिङ्मात्रेण दर्शयामः तथाहि - स्यादस्त्येव, (१) स्यान्नास्त्येव (२) स्यादवक्तव्यमेव (४) स्यादस्त्येव स्याद्नास्त्येव (५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव (६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव (७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव इत्युल्लेखः।

वस्तु कथंचित् 'सत्' होती है। (२) वस्तु कथंचित् 'असत्' होती है। (३) वस्तु कथंचित् 'अवाच्य' होती है। (४) वस्तु कथंचित् सत् है ही और कथंचित् असत् ही (५) वस्तु कथंचित् सत् और कथंचित् अवक्तव्य होती है (६) वस्तु कथंचित् असत् और कथंचित् अवाच्य होती है (७) वस्तु कथंचित् सत् है ही कथंचित् असत् है ही और कथंचित् अवाच्य होती ही है।^{१४८}

इसी प्रकार स्याद्वाद सप्तभंगी का स्वरूप स्याद्वाद^{१४९} रहस्य आदि अनेक ग्रन्थों में निरूपित है।

स्याद्वाद का उद्गम स्थल अनेकान्त वस्तु है और उस अनेकान्त वस्तु को व्यवस्थित रीति से व्यक्त करने की प्रक्रिया सप्तभंगी है यह वस्तु में स्थित विरोधि धर्मयुगलों को अपेक्षा भेद से दूर करती है। इस प्रकार स्याद्वाद अनेकान्त और सप्तभंगी एक दूसरे के आश्रित हैं और आचार्य हरिभद्र ने भी अपने ग्रन्थों में विशाल दृष्टिकोण रखते हुए इन तीनों को त्रिवेणी संगम की भांति संकलित किये हैं जो आज भी विद्वद्बर्ग वर्ग हृदय से आदर करता

है तथा उसे पाकर आनंद से पुलकित हो उठता है तथा इन ग्रन्थों को पाकर अपने को धन्य समझता है !

आचार्य श्री हरिभद्र ने इन तीनों का विशद विश्लेषण किया ही है । लेकिन साथ में नयवाद से भी अछूते नहीं रहे । इन्होंने नयवाद को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है क्योंकि नयवाद जैनदर्शन की नींव है जिस पर अनेकान्त का भव्य राजमहल अटल अवस्थित रहा है । नयवाद और अनेकान्त एक दूसरे से परस्पर भिन्न नहीं है । लेकिन एक दूसरे के समाश्रित ही है । जैन दर्शन में एक भी सूत्र-अर्थ ऐसा नहीं है जो नयवाद से शून्य है । लेकिन यह नयवाद भी अत्यंत गहन और गम्भीर है । सरलता से उसे नहीं जाना जा सकता है ।

अन्यदर्शनकारों ने जहाँ एक-एक नयवाद का आश्रय लेकर वस्तु के वास्तविक स्वरूप से दूर रहे और वस्तु के साथ घोर अन्याय किया वहाँ जैनदर्शन के जैनाचार्यों ने सातों ही नय को समादर दिया और वस्तु के वास्तविक स्वरूप को दर्शन जगत के सामने उपस्थित किया ।

मैं जहाँ तक मानती हूँ वहाँ तक यदि प्रत्येक व्यक्ति इन सप्तनय सप्तभंगी को स्वीकार कर ले तो अनेक प्रकार के विसंवाद, वितण्डावाद, विखवाद दूर हो सकते हैं और समस्त भाव की सिद्धि प्राप्त हो सकती है । अतः प्राज्ञ पुरुष को स्याद्वाद चिन्तामणि के लाभ की चाह है उसे सदैव गुरु उपदेश के अनुसार स्याद्वाद तत्त्व को समझने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए ।

स्याद्वाद चिन्तामणिलब्धिलुब्धः प्राज्ञः प्रवर्तेत यथोपदेशम् ॥^{१५०}

स्याद्वाद चिन्तामणि के प्राप्ति के इच्छुक बुद्धिमान व्यक्ति को सदैव गुरु उपदेश से उस तत्त्व को समझना चाहिए । जिससे उसकी प्रज्ञा प्रकर्ष बनकर ज्ञेयाज्ञेय को सम्पूर्ण रीति से जान सके ।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय में सर्व प्रथम सत् की अवधारणा को उत्तरोत्तर उच्चतर बनाने के लिए ऐसे उद्धरणों को उल्लिखित करते हुए सत् को साकार रूप देने का संकल्प सत्यवान् बनाया है । तत्त्वरुचि सम्पन्न-आचार्य हरिभद्र के वाङ्मय में तात्त्विकताओं को तात्पर्याय अर्थों से उजागर करने का उत्तरदायित्व उच्चता से निभाया है । यह ललित लेखन आचार्य की कृतियों में यत्र तत्र तत्त्व सुरभियों को प्रसारित करता हुआ प्राप्त होता है । उपलब्ध तत्त्व राशियों की अवधारणाएँ अद्यावधि अस्खलित मिल रही है ।

तत्त्व रुचि रसिक होते हुए आचार्य श्री लोक प्रवाद का सम्मान सुरक्षित रखते हुए लोकवाद विषयक विचारणाएँ विविधता से व्यक्त करते हुए जैनदर्शन के सारभूत सत्यों को कथित करने में कर्मठ कोविद रहे हैं । लोक विषयक मान्यताएँ भिन्न-भिन्न मिल रही हैं । आचार्य हरिभद्र इन सभी मान्यताओं को मथित करते अर्हत् मान्यता का परिष्कार करते हुए एक पारदर्शी प्राज्ञ पुरुष रूप से अपनी कृतियों में कृतज्ञ बने हैं ।

जैन दर्शन का मौलिक मुख्य और मूर्धन्य विषय है - द्रव्यवाद । इस द्रव्यवाद को दूरदर्शिता से दार्शनिक

रूप देकर द्रव्यानुयोग के कलेवर को कोविद प्रिय बना दिया। द्रव्यवाद आत्मवाद का ही रूपान्तर है इसमें षड्द्रव्य की विचारणा है। द्रव्यवाद हमारे आगमों का सारभूत विषय है। पुरातन काल से द्रव्यवाद आर्हतों का मूलधन रहा है। इसकी संवृद्धि करने में समय-समय सभी जैनाचार्यों ने अपने आत्म-विज्ञान का विशेष सार गर्भित किया है।

जैन दर्शन कदाग्रह और हठाग्रह से हमेशा मुक्त रहा है। उसका मौलिक लक्ष्य सदा सापेक्षवाद से सक्षम एवं सारभूत सत्यवान् संदर्शित हुआ है। प्रत्येक पदार्थों के ऊपर अनेकान्त दृष्टि से निरीक्षण करते हुए उसके उभय पक्ष को न्याय मार्ग से संतुलित रखते हुए सर्वश्रेष्ठ सापेक्षवाद से संसिद्धि करने का सुप्रयास अनेकान्तवादियों ने अनवरत अक्षत रखा। इसी तरह आचार्य हरिभद्र जैसे मूर्धन्य महामेधावी अनेकान्तवादी मन्त्र के महान् कलाकार बनकर अपनी आत्म कृतियों में अजरामर हो गये। यह अनेकान्त वाद आज भी जैन दर्शन का आदर्श सिद्धान्त रूप से चरितार्थ होकर के अपनी यशोकीर्ति सर्वत्र सम्प्रसारित कर रहा है।

ईश्वरीय अनुसंधान में और अन्वेषण में अनादि काल से इस भारत की धरापर भव्यात्माओं का भगीरथ प्रज्ञा पुरुषार्थ रहा है। तीर्थनायक सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए आचार्य हरिभद्र ने ग्रन्थ का निरूपण किया। सर्वज्ञता की अर्चा का और चर्चा का सुविषय प्रतिष्ठित कर अपने मति वैभव का विधिवत् उल्लेख कर विद्वत् समाज को सर्वज्ञवाद से आकर्षित करवाया। ऐसे महापुरुष सदा-सदा के लिए वन्दनीय, अभिनन्दनीय बन गये हैं।



द्वितीय अध्याय की संदर्भ सूचि

| | |
|--|--------------------------------|
| १. स्थानांग वृत्ति | स्था. ४, उद्देश. २, सूत्र. २९७ |
| २. उत्पादादि सिद्धिनामधेयं टीका | पृ. २ |
| ३. उत्पादादि सिद्धिनामधेयं प्रकरणम् | श्लो. १ |
| ४. वीतराग स्तोत्र | प्रकाश. ८ श्लो. १२ |
| ५. प्रशामरति सूत्र | श्लो. २०४ |
| ६. योगशतक ग्रन्थ | गा. ७१ |
| ७. तत्त्वार्थ सूत्र | अध्याय ५, सू. २९ |
| ८. शास्त्रवार्ता समुच्चय | श्लो. ४७८, ४७९ |
| ९. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ३५० |
| १०. न्याय विनिश्चय | पृ. ४३६ |
| ११. आप्त मीमांसा | श्लो. ५९ |
| १२. मीमांसा श्लोकवार्तिक | पृ. ६१३ |
| १३. ध्यानशतकवृत्ति | पृ. ४४ |
| १४. द्रव्य-गुण-पर्याय रास | ढाल ९, गा. ३, ९ |
| १५. आनंदघन ग्रन्थावली | पद ५९ |
| १६. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. २८१ |
| १७. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय डुपडिका टीका | पृ. २३४ |
| १८. शास्त्रवार्ता समुच्चय | स्तबक - ७/गा. २ |
| १९. बृहद्द्रव्य संग्रह | गा. १४ |
| २०. न्याय विनिश्चय | श्लोक. ११७ |
| २१. वही | श्लोक ११९ |
| २२. वही | श्लोक. १५४ |
| २३. षड्दर्शन समुच्चय | कारिका. ५७ |
| २४. सन्मति तर्क टीका | पृ. ४४८ |
| २५. ध्यानशतकवृत्ति | पृ. ४५ |
| २६. नय रहस्य | पृ. ९० |
| २७. प्रशस्तपादभाष्य व्योमावतारीका | पृ. १२९ |
| २८. प्रमाणवार्तिकालंकार | २/३ |
| २९. उत्पादादि सिद्धि नामधेयं टीका | पृ. १ |
| ३०. ऋग्वेद | ऋ.मं. १० सूत्र. १२९ |
| ३१. कठोपनिषद् | २/२० |

| | |
|---|-----------------------|
| ३२. ब्रह्मवर्तपुराण | श्रीकृष्णखण्ड - अठ ४३ |
| ३३. पतञ्जल महाभाष्य | सूत्र २/३० |
| ३४. वही | सूत्र. २/३२ |
| ३५. पञ्चास्तिकाय | गाथा - १५ |
| ३६. वही | गा. १७ |
| ३७. भगवद् गीता | २/१६ |
| ३८. शास्त्रवार्ता समुच्चय | श्लो. १/७६ |
| ३९. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. २स३ |
| ४०. तत्त्वार्थसूत्र | अ. ५/३ |
| ४१. वही | ५/३० |
| ४२. तत्त्वार्थभाष्य | पृ. २८२ |
| ४३. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका | पृ. २४० |
| ४४. जैन दर्शन भा वैज्ञानिक रहस्यो | पृ. १९८ |
| ४५. दशवैकालिक टीका | पृ. ५८ |
| ४६. पंचम कर्मग्रंथ | गाथा. ५/९७ |
| ४७. श्री भगवती सूत्र | श्लो. १३, उद्दे. ४ |
| ४८. श्रीमदावश्यकसूत्रनियुक्तेरवचूर्णि | पृ. ३३ |
| ४९. अनुयोगवृत्ति | पृ. ७६ |
| ५०. लोकप्रकाश | सर्ग १२/८ |
| ५१. लोकप्रकाश | सर्ग १२/८ |
| ५२. शान्तसुधारस | भावना-११ |
| ५३. आवश्यक निर्युक्ति (शिष्याहिता टीका) | पृ. ५०० |
| ५४. स्थानांग - समवाथांग सूत्र | पृ. ५६३ टिप्पण |
| ५५. बृहत्संग्रहणी | गा. १३७ |
| ५६. लोकप्रकाशान्तर्गत अभिप्राय भाग-२ | सर्ग-१२ पृ. २, ३ |
| ५७. अनुयोगवृत्ति हरिभद्रीय | पृ. ७७ |
| ५८. अनुयोग मलधारीयवृत्ति | पृ. ७७ |
| ५९. लोकप्रकाश | गाथा. ९ से १४ |
| ६०. शान्तसुधारस | ढाल ११/श्लो. २ से ५ |
| ६१. योगशास्त्र | गाथा ४/१०६ |
| ६२. लोक प्रकाश | गाथा ६ |
| ६३. तत्त्वार्थभाष्य | गाथा ६ |
| ६४. श्री भगवती सूत्र | पृ. १५८ |

| | |
|---------------------------------------|-------------------------------|
| ६५. स्थानांग सूत्र | सूत्र १६३, २८६, ४९८, ६००, २०४ |
| ६६. वही | स्था २/सू. १०३ |
| ६७. शास्त्रवार्ता समुच्चय | स्त. ७/श्लो. १ |
| ६८. हारिभद्रीय नन्दीवृत्ति | पृ. ३ |
| ६९. ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. २९ |
| ७०. श्री भगवती सूत्र | श. १३, उदे. २१, पृ. ११०३ |
| ७१. अनादि विशिका | शा. १ |
| ७२. लोक प्रकाश प्रथम भाग | सर्ग २, गा. ३ |
| ७३. दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ७० |
| ७४. ध्यानशतक हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ४५ |
| ७५. अनुयोग मलधारीयावृत्ति | पृ. ८० |
| ७६. तत्त्वार्थहारिभद्रीयटीका | पृ. १६५ |
| ७७. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५० |
| ७८. ललित विस्तरावृत्ति | पृ. १०२ |
| ७९. ध्यानशतक | गा. ५३ |
| ८०. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. १५९ |
| ८१. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५० |
| ८२. अंगुत्तर निकाय | ९/३८ |
| ८३. स्थानांग | स्था. ३, सूत्र १५३ |
| ८४. श्री भगवती सूत्र | श. ११, उदे. १०, पृ. ११९ |
| ८५. तत्त्वार्थभाष्य | पृ. १५९ |
| ८६. लोकप्रकाश | शा. ३७ |
| ८७. ध्यानशतक | गा. ५३ |
| ८८. शान्त सुधारस | भा. ११, श्लो. ३ |
| ८९. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४९ |
| ९०. तत्त्वार्थ हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. १६५ |
| ९१. ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४६ |
| ९२. श्री भगवती सूत्र | श. ११, उदे. ९, पृ. ९१८ |
| ९३. स्थानांग सूत्र | प+था. सूत्र. ४२० |
| ९४. लोकप्रकाश | २ सर्ग / गा. २ |
| ९५. आवश्यक निर्युक्ति (शिष्यहिताटीका) | गा. १०५७ पृ. ४९४ |
| ९६. स्थानांग सूत्र | |
| ९७. ध्यान शतक हारिद्रीय वृत्ति | पृ. ४६ |

| | |
|---------------------------------------|--------------------------------|
| ९८. स्थानांग सूत्र | स्था ३, उद्दे. २, सूत्र. ५९ |
| ९९. वही | स्था.३, उद्दे.२, सूत्र. ६० |
| १००. वही | स्था.३, उद्दे.२, ढा. ६२, ६३ |
| १०१. लोकप्रकाश | सर्ग १२, गाथा. ३९,४०,४१ |
| १०२. आवश्यकनिर्युक्ति शिष्यहिता टीका | पृ. ४९५ से ४९७ |
| १०३. श्री भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) | श. ११, उद्दे. १० |
| १०४. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. १६९ |
| १०५. तत्त्वार्थ वृत्ति | पृ. १६६ |
| १०६. श्री ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४४ |
| १०७. तत्त्वार्थवृत्ति | पृ. १६६ |
| १०८. प्रशमरति | श्लो. २११ |
| १०९. योगशास्त्र | श्लो. १०५ |
| ११०. श्री भगवतीजी सूत्र | श. ११, उद्दे. १० |
| १११. ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४४ |
| ११२. लोकप्रकाश | सर्ग. १२, गा. ४५, ४६, ४७ |
| ११३. श्री भगवतीजी | श. ११, उद्दे. १०, पृ. ९१२ |
| ११४. लोकतत्त्वनिर्णय | श्लोक. १२ |
| ११५. वही | श्लोक ५१ |
| ११६. वही | श्लोक १३५ |
| ११७. वही | श्लोक. १४१ |
| ११८. वही | श्लोक. १३७ |
| ११९. षड्दर्शनसमुच्चय टीका | पृ. ३० |
| १२०. वीतराग स्तोत्र | प्र. ७/८ |
| १२१. सूत्रकृतांग | अध्य. १, उद्दे. ३, गा. ५, ६, ७ |
| १२२. ललितविस्तरावृत्ति | पृ. २०५ |
| १२३. धर्मसंग्रहणी | गा. १६१ |
| १२४. शास्त्रवार्त्तासमुच्चय टीका | स्त. ३, पृ. ३४ |
| १२५. नन्दीसूत्र हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. १०८ |
| १२६. विशेषावश्यक कोट्याचार्यवृत्तौ | पृ. १८ |
| १२७. अभिधान राजेन्द्र कोष | पृ. २४६२ |
| १२८. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ८ |
| १२९. नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ३ |
| १३०. नन्दीसूत्र | पृ. २ |

| | |
|---|--------------------------------------|
| १३१. आवश्यकसूत्रावचूर्णि | पृ. ४ |
| १३२. पंचास्तिकाय और वृत्ति | गाथा. ९, पृ. २६ |
| १३३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक | प्र.अ. २९/१ |
| १३४. द्रव्यास्तिकाय | अध्याय- २/१ |
| १३५. तत्त्वार्थ राजवार्तिक | पृ. २१, २२ |
| १३६. पंचास्तिकाय | गा. १० |
| १३७. अनेकान्त व्यवस्था प्रकरणम् | पृ. ४ |
| १३८. वही | पृ. ८५ |
| १३९. द्रव्यगुण पर्याय रास | ढाल २/१ |
| १४०. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २८/८ |
| १४१. न्याय विनिश्चय | श्लो. ११५ |
| १४२. न्याय विनिश्चय | गा. ५७ |
| १४३. श्री भगवती टीका | प्रथम भाग. पृ. ५२ |
| १४४. श्रीमदावश्यकसूत्रनिर्युक्ति अवचूर्णि | पृ. ४ |
| १४५. नन्दीवृत्ति हारिभद्रीय | पृ. ३ |
| १४६. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ८ |
| १४७. आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ७६८ |
| १४८. नन्दीसूत्र | पृ. २ |
| १४९. विशेषावश्यक भाष्य | पृ. ६४५ |
| १५०. सम्मति तर्क प्रथम काण्ड | गा. १२ |
| १५१. लोकतत्त्व-निर्णय | श्लो. ११ |
| १५२. वही | श्लो. ११८ |
| १५३. तत्त्वार्थसूत्र | अ. ७/३७ |
| १५४. द्रव्य-गुण-पर्याय रास | ढाल २/३ |
| १५५. ललित विस्तरा | पृ. ३३९ |
| १५६. द्रव्य-गुण-पर्याय रास | ढाल ३/१५ |
| १५७. श्री भगवतीजी सूत्र | श. २५, उद्दे. २ |
| १५८. अनुयोगसूत्र | सू. १४३ |
| १५९. श्री भगवतीजी सूत्र | श. २५, उद्दे. ४ |
| १६०. उत्तराध्ययनसूत्र | २८/७, ८ |
| १६१. स्थानांगवृत्ति | स्था. ४, उद्दे. २, सूत्र २५२ पृ. ३३० |
| १६२. अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग. १, पृ. ५१३ |
| १६३. आचारांग टीका | श्रु. २, अ. ४, उद्दे. ४ |

| | |
|--|----------------------------|
| १६४. श्री भगवतीजी टीका | श.२, उद्दे.१०, पृ. ३०७ |
| १६५. प्रज्ञापना टीका | स्था.२, पद.२, पृ.२० |
| १६६. समवायांग टीका (स्था. हिन्दी अनुवाद) | स्था.५, सूत्र. २७, पृ. १३ |
| १६७. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २४९ |
| १६८. जीवाजीवाभिगम टीका | प्रथम पद. पृ.५ |
| १६९. अनुयोग मलधारीयवृत्ति | पृ. ९७ |
| १७०. स्थानांग टीका | स्था.४, उद्दे.१, सू. २५२ |
| १७१. आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ७६८ |
| १७२. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४१ |
| १७३. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय डुपडिका टीका | पृ. २१२ |
| १७४. ध्यानशतक हारिभद्रीय टीका | पृ. ४५ |
| १७५. पंचास्तिकाय | गा. ५ |
| १७६. पंचास्तिकायतात्पर्यवृत्ति | पृ. १९ |
| १७७. प्रज्ञापना की प्रस्तावना (अस्तिकाय एक चिन्तन) | पृ. ४१ |
| १७८. स्थानांगसूत्र | स्था.५, उद्दे.३, सू. १६९ |
| १७९. तत्त्वार्थ हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. २१५ |
| १८०. स्थानांग सूत्र | स्था.४, उद्दे.१, सू. ९९ |
| १८१. श्री भगवती सूत्र | श.७, उद्दे.१० |
| १८२. वही | श.१८, उद्दे.७ |
| १८३. प्रज्ञापना सूत्र | प्रथम पद पृ.२० |
| १८४. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ.४१ |
| १८५. अनुयोगमलधारीयवृत्ति | पृ. ६७ |
| १८६. जीवाजीवाभिगम टीका | पृ. ६ |
| १८७. समवायांगवृत्ति | स्था.५, उद्दे.३, सूत्र.१७४ |
| १८८. श्री भगवतीजी सूत्र | श.१३, उद्दे.४ |
| १८९. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २८/९ |
| १९०. उत्तराध्ययनबृहद्टीका | पृ. ५७१ |
| १९१. श्री स्थानांग सूत्र | स्था.५, उद्दे.३, सू. ४४१ |
| १९२. स्थानांगवृत्ति | पृ. ४५७१ |
| १९३. प्रज्ञापना टीका | पृ. २० |
| १९४. बृहद्द्रव्यसंग्रह | गाथा १७,१८ |
| १९५. पंचास्तिकाय | गा. ९१ से ९३ |
| १९६. प्रशमरति | गा. २१५ |

| | |
|--|-----------------------------|
| १९७. अनुयोग मलधारीयवृत्ति | पृ. ६७ |
| १९८. जीवाजीवा भिगमवृत्ति | पृ. ६ |
| १९९. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका | पृ. २२० |
| २००. अनुयोग हरिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४२ |
| २०१. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २६० |
| २०२. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका | प्र.स्त.पृ. ९ |
| २०३. ध्यानशतक हरिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४५ |
| २०४. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. २६१ |
| २०५. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ५/७ |
| १०६. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय टीका | पृ. २१३ |
| २०७. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ५/६ |
| २०८. प्रवचन पराग (ध्यानशतकवृत्तिका अनुवाद) | पृ. २१६ |
| २०९. स्थानांग सूत्र | स्था. ५, उद्दे. ३, सू. १६९. |
| २१०. श्री भगवतीजी टीका | श. २, उद्दे. १ |
| २११. जीवाजीवाभिगम मलयगिरियावृत्ति | पृ. ५ |
| २१२. प्रज्ञापना टीका | प्रथम पद पृ. २१ |
| २१३. दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका | पृ. ६९ |
| २१४. अनुयोग हरिभद्रीय वृत्ति | पृ. ४२ |
| २१५. अनुयोग मलधारीय वृत्ति | पृ. ६७ |
| २१६. श्री भगवतीजी टीका | श. १३, उद्दे. ४ |
| २१७. पंचास्तिकाय टीका | पृ. १३५ |
| २१८. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २८/९ |
| २१९. स्थानांग सूत्र | स्था. ५, उद्दे. ३ |
| २२०. स्थानांगवृत्ति | स्था. ५, उद्दे. ३, पृ. ५७१ |
| २२१. न्यायालोक तृतीय प्रकाश | पृ. ३२४ |
| २२२. अनुयोग मलधारीयवृत्ति | पृ. ६८ |
| २२३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति | पृ. ५६० |
| २२४. जीवाजीवाभिगममलयगिरियावृत्ति | पृ. ७ |
| २२५. लोकप्रकाश | सर्ग १/११ |
| २२६. षड्द्रव्यविचार | पृ. १५ |
| २२७. अनुयोग हरिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४२ |
| २२८. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका | स्त.न.पृ. ९ |
| २२९. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २६१ |

| | |
|---|--------------------------|
| २३०. ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४५ |
| २३१. तत्त्वार्थ हारिभद्रीयवृत्ति | अ. ५/१८ |
| २३२. तत्त्वार्थ हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. २२१ |
| २३३. स्थानांगसूत्र | स्था.३, उद्दे.१, सूत्र.५ |
| २३४. समवायांग सूत्र | सम.१, सूत्र.७ |
| २३५. श्री भगवतीजी सूत्र | श.१२, उद्दे.७, सू.७ |
| २३६. औपपातिक सूत्र | सूत्र ५६ |
| २३७. तत्त्वार्थसूत्र | अ. ५१५ |
| २३८. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २१४ |
| २३९. वही | पृ. २१६ |
| २४०. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. २५७ |
| २४१. श्री भगवतीजी सूत्र | श.२, उद्दे. १० |
| २४२. स्थानांगसूत्र | स्था.५, उद्दे.३, सू. १७२ |
| २४३. बौद्धदर्शन मीमांसा | पृ. १९८ |
| २४४. पंचास्तिकाय | गा.१०१, १०२ |
| २४५. अनुयोग मलधारीयवृत्ति | पृ. ६७ |
| २४६. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४२ |
| २४७. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति | पृ. ५५ |
| २४८. धर्मसंग्रहणी टीका भाग प्रथम | पृ. ४० |
| २४९. प्रज्ञापना टीका स्था. हिन्दी अनुवाद | जीव प्रज्ञापना. पृ. ३५ |
| २५०. ध्यानशतकवृत्ति हारिभद्रीय | पृ. ४५ |
| २५१. धर्मसंग्रहणी प्रथम भाग | गा. ३५ |
| २५२. धर्मसंग्रहणी की टीका | पृ. ४० |
| २५३. पंचास्तिकाय | गा. ५९ |
| २५४. उत्तराध्ययन सूत्र | २८/१० |
| २५५. ध्यानशतक | गा. ५५ |
| २५६. ध्यानशतक हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ४७ |
| २५७. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ३३७ |
| २५८. षड्दर्शन समुच्चय | का. ४८, ४९ |
| २५९. प्रज्ञापना टीका (स्था.हिन्दी अनुवाद) | प्रथम पद पृ. ३० |
| २६०. आचारांग टीका (हिन्दी आहोरी टीका) | पृ. ५८ |
| २६१. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति | पृ. ५६१ |
| २६२. पंचास्तिकाय | गा. २७ |

| | |
|--|----------------------------|
| २६३. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ६० |
| २६४. नवतत्त्व | गा. ५ |
| २६५. श्री भगवतीजी सूत्र | श. १३, उद्दे. ४ |
| २६६. वही | श. २, उद्दे. १० |
| २६७. श्री स्थानांग सूत्र | स्था-५, उद्दे. ३, सु. १७३ |
| २६८. तत्त्वार्थसूत्र | अ. ५/२१ |
| २६९. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २२५ |
| २७०. वही | पृ. २१८-१९ |
| २७१. स्थानांग | स्था. ५, उद्दे. ३, सु. १७४ |
| २७२. समवायांग टीका (स्था. हिन्दी अनुवाद) | स्था. २७, पृ. १४ |
| २७३. पंचास्तिकायवृत्ति | गा. ३, पृ. १६ |
| २७४. तत्त्वार्थसूत्र | अ. ५/२३ |
| २७५. तत्त्वार्थ हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. २७, २८ |
| २७६. ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४५ |
| २७७. षड्द्रव्य विचार | पृ. १७ |
| २७८. प्रशमरति | गा. २०७ |
| २७९. अनादि विशिंका | गा. २/२ |
| २८०. षड्दर्शन समुच्चय | पृ. २५४ |
| २८१. श्री भगवती | श. १३, उद्दे. ४ |
| २८२. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २८/१२ |
| २८३. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ५/२४ |
| २८४. नवतत्त्व | सर्ग. गा. ११ |
| २८५. लोकप्रकाश | सर्ग. ११/१२, १३ |
| २८६. षड्दर्शनसमुच्चय टीका | पृ. २६६ |
| २८७. प्रशमरति | गा. २१५, १६ |
| २८८. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. १७८ |
| २८९. तत्त्वार्थसार | गा. ५७ |
| २९०. दंडकसूत्र | गा. ११, १२, १३ |
| २९१. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २२९ से २३१ |
| २९२. वही | पृ. २३२ |
| २९३. लोकप्रकाश | सग ११/११ से १३ |
| २९४. पञ्चास्तिकाय | गा. ८८ |
| २९५. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५५ |

| | |
|----------------------------------|----------------------------|
| २९६. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २३२ |
| २९७. पंचास्तिकाय तात्पर्य टीका | पृ. १२३ |
| २९८. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २३३ |
| २९९. श्री भगवतीजी | श. २, उद्दे. २ |
| ३००. स्थानांग सूत्र | स्था. ५, उद्दे. ३, सू. १७४ |
| ३०१. लोकप्रकाश | सर्ग ११/ २ से ४ |
| ३०२. वही | सर्ग ११/६ से ११ |
| ३०३. पंचास्तिकाय | गा. ८०, ८१ |
| ३०४. वही | गा. ८३ |
| ३०५. अनुयोग मलधारीयवृत्ति | पृ. ६७ |
| ३०६. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४२ |
| ३०७. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति | पृ. ११८ |
| ३०८. लोकप्रकाश | सर्ग ११/१५ |
| ३०९. श्री भगवती सूत्र | श. २० उद्दे. ५ |
| ३१०. वही | श. ८, उद्दे. १ |
| ३११. स्थानांग सूत्र | स्था. ४, उद्दे. ८ |
| ३१२. श्री भगवतीजी | श. १६, उद्दे. ८ |
| ३१३. वही | श. १६, उद्दे. ८ |
| ३१४. लोकप्रकाश | सर्ग. २८/शा. ३, ४ |
| ३१५. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५१ |
| ३१६. धर्मसंग्रहणी प्रथम भाग | गा. ३२ |
| ३१७. अभिधान राजेन्द्र कोष | पृ. ४७१ |
| ३१८. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २२५ |
| ३१९. तत्त्वार्थसूत्र | अ. ५/२२ |
| ३२०. लोक प्रकाश भाग-४ | २८/गा. ६ |
| ३२१. उत्तराध्ययन सूत्र | सर्ग/२८/१० |
| ३२२. अनुयोग हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ६० |
| ३२३. बृहद् द्रव्य संग्रह | गा.श. पृ. ७० |
| ३२४. धर्मसंग्रहणी टीका प्रथम भाग | पृ. ३६ |
| ३२५. लोक प्रकाश भाग-४ | स. २८, गा. ५ |
| ३२६. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. ३८ |
| ३२७. धर्मसंग्रहणी टीका प्रथम भाग | पृ. ३८ |
| ३२८. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५२ |

| | |
|-------------------------------------|------------------|
| ३२९. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. २६७ |
| ३३०. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २२५ |
| ३३१. बृहद् द्रव्य संग्रह | पृ. ४८ |
| ३३२. तत्त्वार्थ संग्रह | पृ. २८ |
| ३३३. श्री भगवतीजी सूत्र | |
| ३३३. उत्तराध्ययन सूत्र | गा. २८/७ |
| ३३४. लोकप्रकाश | सर्ग. १/११ |
| ३३५. बृहद् द्रव्य संग्रह | गा. २० |
| ३३६. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५० |
| ३३७. ध्यान शतक वृत्ति (गु. अनुवाद) | पृ. १४४ |
| ३३८. लोकप्रकाश भाग-४ | गा. ११से २५ |
| ३३९. धर्मसंग्रहणी भाग १ | पृ. ३८ |
| ३४०. शास्त्रवार्ता समुच्चय | श्लो. १६५ से १६८ |
| ३४१. महाभारत | |
| ३४२. लोकतत्त्व निर्णय | श्लो. १/६१ |
| ३४३. सांख्य कारिका माठरवृत्ति | पृ. ७६ |
| ३४४. सन्मति तर्कटीका | पृ. ७११ |
| ३४५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड | गा. ८७९ |
| ३४६. माध्यमिकावृत्ति | पृ. ३८६ |
| ३४७. चतुः शतकम् | पृ. ३८ |
| ३४८. मैत्र्याण्युपनिषद्वाक्यकौष | ६/१५ |
| ३४९. नन्दीसूत्र मलयगिरिटीका | पृ. २२५ |
| ३५०. लोकप्रकाश | गा. ९३, ९४ |
| ३५१. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. २५१ |
| ३५२. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. २१२ |
| ३५३. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. ३८ |
| ३५४. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. २०९ |
| ३५५. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. १९३ |
| ३५६. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. १९४ से १९७ |
| ३५७. तत्त्वार्थ भाष्य टिप्पणी | पृ. २१३ |
| ३५८. श्री राजेन्द्रसूरि स्मारकग्रंथ | पृ. ५७४ |
| ३५९. तत्त्वार्थभाष्य टिप्पणी. ४, ५ | पृ. २१३, २१६ |
| ३६०. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. १९४ |

| | |
|--|-------------------------|
| ३६१. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-३ | पृ. ४७४ |
| ३६२. लोकप्रकाश भाग-४ | सर्ग. २९/ उसे१२ |
| ३६३. श्री भगवतीजी सूत्र | श. ६, उद्दे. ७, पृ. ४२३ |
| ३६४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति | सर्ग २९/१३ से २१ |
| ३६५. अभिधान राजेन्द्र कोष-भाग-३ | पृ. ४७६ |
| ३६६. ध्यानशतक हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४ |
| ३६७. राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ में लेख | पृ. ५६७ |
| ३६८. कर्मग्रंथ- ४ (अर्थ सहित) | पृ. २१५ |
| ३६९. अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ११२ से ११५ |
| ३७०. लघुक्षेत्र समास | पृ. ४८ |
| ३७१. स्थानांग सूत्र | स्था-३, उद्दे-४ |
| ३७२. बृहद्द्रव्य संग्रह | ना. २१ |
| ३७३. बृहद्द्रव्य संग्रह टीका | पृ. ४७ |
| ३७४. लोकप्रकाश भाग-४ | सर्ग. २८/१९९, २०० |
| ३७५. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-३ | पृ. ४७३ |
| ३७६. बृहद्द्रव्य संग्रह | गा. २२ |
| ३७७. बौद्ध दर्शन मीमांसा | पृ. २०० |
| ३७८. स्थानांग सूत्र | स्था. ९, सू. ६ |
| ३७९. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २८ |
| ३८०. नवतत्त्व | गा. १ |
| ३८१. पंचास्तिकाय | गा. ११६ |
| ३८२. षड्दर्शन समुच्चय | का. ४७ |
| ३८३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक | अ. १/४ का ७, १४ |
| ३८४. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. २/१० |
| ३८५. उत्तराध्ययन सूत्र (स्था हिन्दी टीकामें) | पृ. ४४६ |
| ३८६. तत्त्वार्थ टीका | पृ. ४५५ |
| ३८७. वही | पृ. ४५६ |
| ३८८. तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. ३५५ |
| ३८९. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. १०/३ |
| ३९०. नवतत्त्व सार्थ | पृ. १५१ से १५२ |
| ३९१. ध्यानशतकवृत्ति | पृ. ५० |
| ३९२. बृहद्द्रव्य संग्रह | गा. २८ |
| ३९३. षड्दर्शन समुच्चय | का. १४, १५, १६ |

| | |
|---------------------------------|----------------|
| ३९४. वही | का. ४२ |
| ३९५. वही | का. ६० |
| ३९६. ललित विस्तरा वृत्ति | पृ. २१२ |
| ३९७. सर्वज्ञ सिद्धि | पृ. ३ |
| ४९८. प्रश्न वार्तिक | १/१४७/४८ |
| ४९९. वही | १/३३, ३५ |
| ४००. प्रश्न वार्तिक काल | पृ. ३२९ |
| ४०१. तत्त्वसंग्रह | श्लो. ३३०९ |
| ४०२. वही | श्लो. ३६२८-२९ |
| ४०३. षड्दर्शन समुच्चय | का. १३ |
| ४०४. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ४३२ |
| ४०५. सर्वज्ञ सिद्धि टीका | पृ. ४ |
| ४०६. वही | पृ. २३ |
| ४०७. न्याय विनिश्चय प्रस्तावना | पृ. २६ |
| ४०८. सर्वज्ञ सिद्धि मूल | श्लो. १८ |
| ४०९. सर्वज्ञ सिद्धि टीका | पृ. ९५ |
| ५१०. सर्वज्ञ सिद्धि मूल | श्लो. २१ |
| ४११. सर्वज्ञ सिद्धि टीका | पृ. १५ |
| ४१२. षोडशक | गा. ५/११ |
| ४१३. धर्मसंग्रहणी | गा. ११६६, ११६७ |
| ४१४. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. २४५ |
| ४१५. लोकतत्त्व निर्णय | श्लो. ३९ |
| ४१६. सर्वज्ञ सिद्धि | श्लो. ४९ |
| ४१७. वही | श्लो. ५० |
| ४१८. पातञ्जल योगदर्शन | सी. ३/४९ |
| ४१९. आचारांग | अ. ३, श्ल. ३ |
| ४२०. योगदृष्टि समुच्चय | गा. १३४ |
| ४२१. औपपातिक सूत्र | गा. ६३, ६४, ६५ |
| ४२२. शास्त्रवार्ता समुच्चय | श्लो. २४ |
| ४२३. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका | श्लो. ४ |
| ४२४. नमिजिन स्तवन | गा. ६ |
| ४२५. षड्दर्शन समुच्चय | का. ५५ |
| ४२६. स्याद्वाद मञ्जरी | श्लो. २२ |

ज्ञान मीमांसा



- * ज्ञान की व्युत्पत्ति
- * ज्ञान के भेद
- * ज्ञान के प्रभेद
- * ज्ञान स्वपर प्रकाशक
- * पांचज्ञान की सिद्धि
- * लक्षणादि सातभेद से मतिश्रुत का भेद
- * पांच प्रकार से मतिश्रुत का साधर्म्य
- * अवधि मनपर्यवज्ञान के क्रम में प्रयोजन
- * केवलज्ञान अन्तिम क्यों ?
- * ज्ञान की प्रकाशक सीमा कहाँ तक
- * प्रकृष्ट ज्ञान में सभी पदार्थ ज्ञेय
- * सिद्ध जीवों में ज्ञान का सद्भाव
- * ज्ञान का वैशिष्ट्य

3

तृतीय
अध्याय

तृतीय अध्याय

ज्ञान मीमांसा

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि की ज्ञान मीमांसा एक दार्शनिकता को उद्घाटित करती हुई साहित्य जगत में उजागर हुई है। उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में ज्ञान-विषयक विवरण हमें प्राप्त होता है। क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने जीवन में ज्ञान को जाना था। उसकी गरिमा का आस्वाद लिया था। ज्ञानदृष्टि उद्घाटित हो जाने के बाद एक दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तथा चिंतन की दृष्टि बन जाने के बाद क्रमशः दिशाएँ दिगंत अनंतरूप लेती है और जीवन का उत्थान-उत्क्रान्ति का रूप लेता है। अतएव ज्ञान ज्योति है, मार्गदर्शक है, स्वतत्त्व को ज्ञात कराता है। तत्त्व विभाकर बनकर ज्ञान निर्णायक शक्ति का प्रकटीकरण करता है।

आचार्य श्री हरिभद्र ने दार्शनिक साहित्य में ज्ञान का एक जीवन्त स्वरूप खड़ा किया है जिसे सैंकड़ों आत्माओं ने नतमस्तक होकर स्वीकारा है। उनकी उदारता एवं समदर्शिता ने उनके साहित्य को विद्वद्बर्ष के लिए हृदयगम्य बना दिया है।

ज्ञान की कक्षा जितनी विस्तृत होगी उतनी श्रद्धा गहरी बनेगी। ज्ञान से मिथ्यात्व का परिहार और सम्यक्त्व का दर्शन होता है। सम्यग् श्रद्धा की अभिव्यक्ति में ज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है।

श्री हरिभद्रसूरि विद्वान् तो थे ही साथ में वे ज्ञानी भी थे। विद्वान् तो कभी तर्कों के जाल में फँस जाता है लेकिन ज्ञानी ज्ञानमार्ग पर आरूढ होकर योगसिद्धि को प्राप्त करता है क्योंकि उसको यह ज्ञान है कि तत्त्वज्ञान ही योगसिद्धि, इष्टसिद्धि का मुख्य सोपान है।

इस रहस्य को उन्होंने “योगशतक” की कृति में दिखाया है।

एयं खु तत्तणाणं असप्पवित्तिविणिवित्तिसंजणग।

थिरचित्तगारि लोगदुगसाहगं बेति समयण्णु ॥^१

श्रुतज्ञान, चिन्ताज्ञान और भावनामयज्ञान - यह तीनों प्रकार का तत्त्वज्ञान आत्मा को असत् प्रवृत्तियों से निवृत्ति दिलाता है, चित्त को स्थिर बनाता है तथा दोनों लोक का साधक बनता है - ऐसा समयज्ञ पुरुष कहते हैं।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के जीवन की यह महानता थी कि वे जो कुछ लिखते थे वहाँ स्वयं को अज्ञ देखाकर पूर्वाचार्यों को विद्वज्ञ बताते थे और यह नम्रता का गुण ज्ञान के बल पर ही आ सकता है। जिस प्रकार फलों से लदा (युक्त) वृक्ष नम जाता है - झुक जाता है, वैसे ही हरिभद्रसूरि ज्ञानगुणों से नम्रतर नम्रतम बनते गये और इस ज्ञान की नम्रता ने ही उनको ज्ञान के उच्चस्थान पर आरूढ कर दिया था।

१४४४ ग्रंथ आज भी उनकी ज्ञान गरिमा को गौरवान्वित करने में अपनी सफलता प्रदर्शित कर रहे है। आज भी ये ग्रंथ हमें प्रेरणा दे रहे है कि आचार्य श्री हरिभद्रसूरि का जीवन ज्ञान की सरिता में कितना आकंठ निमग्न होगा। ज्ञान को जीवन में कितना स्थान दिया होगा। जो हमारे जीवन में अत्यावश्यक है, ज्ञान के बिना जीवन शून्य है। 'ज्ञानाद् ऋते न मुक्तिः।' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है।

ज्ञान की व्युत्पत्ति - आगम शास्त्रों में ज्ञान की व्युत्पत्ति हमें इस प्रकार मिलती है।

ज्ञातिर्ज्ञानमिति भाव साधन संविदित्यर्थ।

ज्ञायते वाऽनेनास्माद्वेत्ति ज्ञानं, तदावरणक्षयक्षयोपशमपरिणाम युक्तो जानाति इति वा ज्ञानम्।^२

जानना वह ज्ञान है। यहाँ भाव में अनट् प्रत्यय है। अथवा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से जो बोध होता है वह ज्ञान कहलाता है। अथवा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम रूप परिणाम युक्त जो बोध होता है वह ज्ञान है।

यही व्याख्या आचार्य श्री हरिभद्रसूरि रचित 'नन्दीसूत्र वृत्ति'^३ में भी मिलती है। उन्होंने लिखा है कि ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति भावसाधन करणसाधन और कर्तृसाधन से भी शक्य है। "ज्ञातिर्ज्ञानम्" इसमें भाव में 'अनट्' होने से भाव साधन से ज्ञान की व्याख्या है, अर्थात् जानना यह ज्ञान है, लेकिन क्या जानना, कितना जानना, कैसा जानना, किसके पाससे जाना ? इन सभी का प्रत्युत्तर केवलज्ञानी प्ररूपित धर्मशास्त्र के बिना एक भी शास्त्र समर्थ नहीं है।

"ज्ञायते अनेनास्माद्वेत्ति ज्ञानं" - अर्थात् करण (साधन) के द्वारा जो ज्ञान होता है वह करण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम ही है क्योंकि वह कर्म अनादिकाल से आत्मा के प्रत्येक प्रदेश रूप में स्थित है जब साधक मुनियों, योगियों का समागम करता है तब आवरणीय कर्म का सर्वथा क्षय अथवा क्षयोपशम होता है तब उसे यथार्थज्ञान का सर्वांश या अल्पांश प्राप्त होता है।

"ज्ञायतेऽस्मिन्निति ज्ञानम्" - यह व्याख्या भी सुसंगत इसीलिए है कि आत्मा स्वयं ही ज्ञानवंत है क्योंकि यह हम साक्षात् देखते है कि सूर्य रहित किरणें या किरण रहित सूर्य कभी नहीं होता है ऐसा न कभी अतीत में हुआ है और न भविष्य में होगा, इस सत्य अनुभव में यदि कोई तार्किक शिरोमणि भी अपने तर्क जालों से खण्डन करने जाय तो आबाल गोपाल भी उस पंडित की हँसी-मजाक किये बिना नहीं रहेगा! हाँ ! इतना निश्चित है कि आवरण के आच्छादन के कारण ज्ञान का प्रकाश पुञ्ज जितना प्रकाशित होना चाहिए उतना नहीं हो पाता है लेकिन जैसे-जैसे आवरण का आच्छादन पुरुषार्थ के द्वारा दूर होता है वैसे-वैसे सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित होता है। आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने इसी बात को एक सुंदर दृष्टांत देकर "धर्मसंग्रहणी" में समझाई है -

पवणदरवियलिर्हिं घणघणजालेहिं चंदिम व्व तओ।

चंदस्स पसरइ भिसं जीवस्स तहाविहं नाणं ॥^४

जिस प्रकार तीव्र पवन के संपर्क से चलित अति गाढ बादलों के समूह में से चन्द्रमा की चाँदनी अपनी

सौम्यता को प्रकाशित करती है उसी प्रकार ज्ञानावरण के क्षय होने से क्षय के अनुरूप अत्यंत ज्ञान का प्रकाश प्रसारित होता है। इस प्रकार जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान अल्पांश या सर्वांश मात्रा में अवश्य है और जहाँ ज्ञान, चेतन, वृद्धि, हानि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है वहाँ आत्मा और चेतन शक्ति के मध्य व्यर्थ में जो समवाय लाते है, उससे क्या फायदा ?

ज्ञान तो सूक्ष्म निगोद के जीवों को भी होता है, और सिद्धशिला में विराजमान सिद्धों को भी, लेकिन इतना अवश्य है कि किसी में वह सम्यक्त्व विशेषण से विशिष्ट होता है और किसी में मिथ्यात्व से युक्त होता है।

जिसके द्वारा यथावस्थित पदार्थों का बोध होता है उसे ज्ञान कहते है। तात्पर्य हेय, ज्ञेय, उपादेय जैसा पदार्थ का स्वरूप है वैसा ही बोध होता है, यह आचारांग सूत्र का अभिधेय वचन है।¹⁴

“ज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमसमुत्थः तत्त्वावबोधो ज्ञानं।”¹⁵

आचार्य श्री हरिभद्र ने तत्त्वार्थ की ‘हारिभद्रीय टीका’ में ज्ञान की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी है कि ज्ञानावरण के क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाला तत्त्व का जो बोध उसे ज्ञान कहते है। इसके द्वारा उन्होंने मिथ्यात्व युक्त कितना ही ज्ञान हो लेकिन वह ज्ञान की कक्षा में नहीं आ सकता है, यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया। आ. श्री हरिभद्र सूरि ने ज्ञान की इस व्याख्या में अपने ही अनुभव की झलक दिखा दी है क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में लौकिक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जब लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति की, तब दोनों ज्ञानों के तारतम्य में लोकोत्तर ज्ञान की पराकाष्ठा चरम सीमा में देखी और उसे ही तत्त्वज्ञान की श्रेणि में स्थान दिया और उस तत्त्वज्ञान को ज्ञान रूप में स्वीकारा, अन्य को अज्ञान में।

“ज्ञायते प्रधान्येन विशेष गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम्।”¹⁶

आचार्य श्री गुणरत्नसूरिकृत ‘षड्दर्शन समुच्चय टीका’ में ज्ञान की व्युत्पत्ति का स्वरूप कुछ ऐसा मिलता है कि प्रधान रूप से गृहीत होता है विशेष अंश जिससे वह ज्ञान कहलाता है। इस ‘ज्ञान’ विशेषण से ज्ञान से भिन्न अर्थात् अज्ञानरूप सामान्यमात्र का आलोचन करनेवाले तथा प्रवृत्ति आदि व्यवहार के अनुपयोगी जैन आगम में प्रसिद्ध दर्शन और नैयायिक द्वारा माने गये अचेतनात्मक सन्निकर्ष आदि में भी प्रमाणता का व्यवच्छेद हो जाता है क्योंकि दर्शन चेतन होकर भी ज्ञानरूप नहीं है तथा सन्निकर्ष तो अचेतन होने से स्पष्ट ही अज्ञान रूप है।

अन्तिम में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने ‘आवश्यक शिष्य हिता टीका’ में ज्ञान की व्याख्या में एक महत्वपूर्ण कथन समुल्लिखित किया है, वह इस प्रकार है -

ज्ञायतेऽनेन यथावस्थितं वस्त्विति ज्ञानं, तज्ज्ञानं भावोद्योतः।¹⁷

जिसके द्वारा यथावस्थित वस्तु का बोध होता है वह ज्ञान तो है ही लेकिन वह ज्ञान भाव उद्योत स्वरूप बन जाता है। अर्थात् वह ज्ञान केवलज्ञान के स्वरूप को धारण कर लेता है। इस व्याख्या में इन्होंने यथावस्थित ज्ञान को केवलज्ञान की कोटि में पहुँचा दिया।

आचार्य श्री हरिभद्र की ज्ञान विषयक भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति उनकी अपनी निराली देन है। उनकी प्रत्येक व्याख्या में अलग-अलग भाव भरे हुए हैं जो ज्ञान की प्रकृष्टता को ही प्रकट करते हैं। उन्होंने ज्ञान की उत्कृष्टता को जीवन में उतारा और अज्ञानी जीवों के बोध के लिए ग्रन्थों में ग्रंथित किया।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ज्ञान की गरिमा से गौरवान्वित होकर तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित, पूर्वाचार्यों द्वारा रचित 'नन्दीसूत्र' प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार जैसे ग्रन्थों पर टीका लिखकर ज्ञान की महत्ता प्रदर्शित की। एवं "आवश्यक शिष्यहिता टीका" जैसे विशालकाय ग्रंथ में तथा 'ज्ञान पञ्चक व्याख्यान' में ज्ञान की व्युत्पत्ति एवं स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य श्री हरिभद्र सूरि की ज्ञान की व्युत्पत्ति को उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकारी है तथा जो आज तक सुग्राह्य बनी है।

ज्ञान के भेद - जैन आगमों तथा पूर्वाचार्य रचित ग्रन्थों में ज्ञान के पाँच भेद उपलब्ध होते हैं। जिसका सकल काल में स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं के समूह को साक्षात् करनेवाले केवलज्ञान की प्रज्ञा से तीर्थकरों ने पाँच ज्ञान का उपदेश दिया है तथा गणधर भगवंतों ने उन पाँच ज्ञानों को सूत्र में निबद्ध (ग्रंथित) किये हैं। आचार्य श्री हरिभद्र सूरि रचित 'नन्दीसूत्र हारिभद्रीय टीका' में इस प्रकार पाठ मिलता है।

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं।

सासणस्स हियड्ढाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥^१

अर्थ से तीर्थकर भगवान् उपदेश देते हैं और गणधर भगवन्त सुन्दर सूत्र रूप में रचना जीवों के हित के लिए करते हैं उसी से सूत्र प्रवृत्त होता है। अर्थात् यहाँ आचार्य श्री हरिभद्रसूरि कहते हैं कि यहाँ जो पाँच ज्ञानों का निरूपण किया जा रहा है वह अपनी मति कल्पना से नहीं परन्तु पूर्वाचार्यों के कथित मार्ग का अनुसरण है।

आगम ग्रन्थों आदि में ज्ञान के पाँच भेद उल्लिखित हैं।

णाणं पंचविहं पणत्तं - तं जहा - आभिनिबोहियाणं, सुयणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं केवलणाणं ॥^२
मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान - ये पाँच प्रकार ज्ञान के हैं।

इसी प्रकार के भेद अभिधान राजेन्द्र कोष^३, उत्तराध्ययन सूत्र^४, नन्दीसूत्र^५, विशेषावश्यकभाष्य^६, तत्त्वार्थ सूत्र^७, धर्मसंग्रहणी^८ और कर्म ग्रंथ^९ आदि सूत्रों में भी निर्दिष्ट है।

आगम ग्रन्थ आदि में ज्ञान के पाँच भेद देखने को मिलते हैं लेकिन उसके कारण नहीं मिलते, कि पाँच ही भेद क्यों? आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपने रचित धर्मसंग्रहणी में पाँच ज्ञान के निरूपण के साथ उसके कारण भी विशेष रूप से बताये हैं -

पंचविहावरणखओवसमादि निबंधणं इह नाणं।

पंचविहं चिय भणियं, धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥^{१०}

धीर - वीर अनंतज्ञानी तीर्थकर भगवन्तो ने कहा है कि मतिज्ञानावरणादि पाँच प्रकार के आवरण हैं। अतः उसके क्षयोपशमादि से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी पाँच प्रकार का ही है क्योंकि उसमें कारणभूत आवरण

क्षयोपशम आदि पाँच प्रकार का ही होता है। तथा कार्यभेद हमेशा कारणभेद पर ही आधारित है।

आ. श्री हरिभद्रसूरि ने इस गाथा में ज्ञान और ज्ञान के हेतुओं में कार्य-कारण भाव बताकर अपनी दार्शनिकता को उजागर की है। दार्शनिकता उनके ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर हमें देखने को मिलती है। चाहे वह दर्शन सम्बन्धी, ज्ञान सम्बन्धी या कर्म सम्बन्धी विषय क्यों न हो !

पाँचों ज्ञानों का विवेचन इस प्रकार मिलता है - (१) आभिनिबोधिक - द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन के निमित्त से नियतरूप से रूपी और अरूपी द्रव्यों को जानना आभिनिबोधिक ज्ञान^{१९} है।

इन्द्रियों के क्षयोपशम से उत्पन्न शक्ति जहाँ तक पहुँचती है ऐसे नियत स्थान में रहे हुए पदार्थों का जो ज्ञान वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।^{२०}

आचार्य श्री मल्लिसेनसूरि रचित धर्मसंग्रहणी में आभिनिबोधिक ज्ञान अर्थात् अर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः अभिनिबोध एवाभिनिबोधिकम्।^{२१}

अर्थ के सन्मुख जो बोध वह अभिनिबोध - इसी अभिनिबोध ज्ञान के आवरक कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।

इसी को विशेष स्पष्ट आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने नन्दीसूत्रवृत्ति में किया है - अर्थ के अभिमुख जो निश्चित ज्ञान वह अभिनिबोध। क्षयोपशम से रहित जो अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है वह अभिनिबोध नहीं हो सकता है। इसीलिए निश्चित ऐसा विशेषण दिया है। यदि अर्थाभिमुख ऐसा विशेषण नहीं दिया होता तो तैमिरिकादि दोषवाले को एक चन्द्र होने पर भी दो चन्द्र का निश्चित बोध होता है। परंतु वह ज्ञान अर्थ के अभिमुख नहीं होने से सत्यज्ञान नहीं है। इन दोनों को निरस्त करने के लिए तीर्थंकर गणधरों ने अर्थाभिमुख और नियत ऐसे बोध को अभिनिबोध कहा और वही आभिनिबोधिक ज्ञान है, अर्थात् अर्थ के अभिमुख निश्चय रूप से आत्मा जिसे जाने, वह अवग्रहादिरूप ज्ञान अभिनिबोध अथवा उस अभिनिबोध में कारणभूत उसको आवृत करनेवाले कर्मों का क्षयोपशम, जिससे आत्मा घट-पटादि को जानता है अथवा उन आवरणीय कर्मों के क्षयोपशम होने पर आत्मा जानता है, ये तीनों व्युत्पत्ति से उसके आवरण का क्षयोपशम वह अभिनिबोध इस व्याख्या से आत्मा यही आभिनिबोधिक है क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी कथंचित् अभिन्न है अर्थात् ज्ञानी के बिना ज्ञान गुण नहीं रह सकता है।^{२२}

श्रुतज्ञान - द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन के निमित्त से शब्द या अर्थ को मतिज्ञान से ग्रहण कर स्मरण कर उसमें जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध की पर्यालोचना पूर्वक शब्दोल्लेख सहित शब्द और अर्थ जानना ही श्रुतज्ञान है।^{२३}

जो सुना जाता है अथवा जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमें भी इन्द्रिय और मन ही काम करते हैं। पत्थर की गाय से भी नैसर्गिक (स्वाभाविक) गाय का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शब्द जड होने पर भी जितने प्रमाण में धारणा शक्ति का संचय किया होगा उतना ही श्रुतज्ञान होगा। मतिज्ञान की शुद्धता,

शुद्धतरता, शुद्धतमता पर ही श्रुत ज्ञान की शुद्धता आदि निश्चित होती है।^{२४}

मति विणा श्रुत नवि लहे कोई प्राणी समकितवंतनी एह निशानी।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने 'नन्दीसूत्र हारिभद्रीय टीका' में श्रुतज्ञान की व्याख्या विशेषरूप से उल्लिखित की है।

“श्रूयते इति श्रुतं - शब्द एव भावश्रुतकारणत्वात् कारणे कार्योपचारादिति भावार्थः, श्रूयते वा अनेनेति श्रुतं तदावरणकर्मक्षयोपशम इति हृदयं, श्रूयतेऽस्मादिति वा श्रुतं तदावरणक्षयोपशम एव श्रूयतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति श्रुतं, आत्मैव श्रुतोपयोग परिणामान्यत्वाच्छृणोति इति श्रुतं च तद् ज्ञानं श्रुतज्ञानं।”^{२५}

जो सुना जाता है वह श्रुत है, वही श्रुतरूप शब्द भावश्रुत का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार किया गया है। अथवा श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के द्वारा जो सुना जाता है, वह श्रुत। अथवा क्षयोपशम से जो सुना जाता है, वह श्रुत अथवा क्षयोपशम होने पर ही सुना जाता है वह श्रुत, आत्मा ही श्रुत के उपयोग में अनन्य परिणामवाली हो के सुनती है। अतः वह श्रुत ही श्रुतज्ञान है। यहाँ शब्द श्रुतज्ञान का कारण है, क्षयोपशम श्रुतज्ञान का हेतु है, और आत्मा श्रुत से कथंचित् अभिन्न है। अतः उपचार से उसको श्रुत कहा है।

आ. श्री मल्लिसेनसूरिने भी धर्मसंग्रहणी की टीका में श्रुतज्ञान की व्याख्या को इसी प्रकार आलेखित की है। अर्थात् इन्होंने भी आचार्य श्री हरिभद्र का ही अनुसरण किया है।^{२६}

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि 'षोडशक प्रकरण' में श्रुतज्ञान का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'शुश्रूषा' यह श्रुतज्ञान का प्रथम लक्षण है। शुश्रूषा के अभाव में जिनवचन का श्रवण मात्र पानी की सेर रहित भूमि में कूप खनन के समान है। जैसे कि -

शुश्रूषा चेहाद्यं लिङ्गखलु वर्णयन्ति विद्वांसः।

तदभावेऽपि श्रावणमसिरावनि कूपखननसमम् ॥^{२७}

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि यहाँ भी अपनी उदारता, नम्रता को प्रकट करते हुए कहते हैं कि धर्म श्रवण करने में अनुराग, तीव्र इच्छा यह श्रुतज्ञान का प्रथम लक्षण है। ऐसा विचक्षण पुरुष कहते हैं। मैं अपनी बुद्धि कल्पना से नहीं कहता हूँ, क्योंकि सुनने की इच्छा न होने पर भी शिष्य को गुरु सुनाते हैं तो वह जलप्रवाह रहित भूमि में कूप खोदने के समान निष्फल जायेगा। जिस प्रकार जल प्रवाह यह कूप खोदने का फल है उसी प्रकार ज्ञान प्रवाह आदि धर्म श्रवण का फल है। जिस प्रकार जल प्रवाह न हो और उस भूमि में कूप खनन करने से जल का प्रवाह नहीं निकलता है उसी प्रकार धर्म श्रवण विषय इच्छा स्वरूप सेर न हो तो बोध रूपी प्रवाह शक्य नहीं है। अतः श्रवण की इच्छा रहित जीव को धर्म सुनाना वह जल प्रवाह रहित जमीन में कूप खनन के समान भ्रममूलक मात्र परिश्रम स्वरूप क्लेश को ही देनेवाला होता है। उससे कुछ लाभ नहीं मिलता है।

यही कथन योगदृष्टि समुच्चय^{२८}, दानविंशिका^{२९}, कथारत्न कोश^{३०} आदि में भी मिलता है।

श्रुतज्ञान का यह प्रथम लक्षण सम्यग्दर्शन का भी प्रथम लिङ्ग है।

इयञ्च शुश्रूषा सम्यग्दर्शनस्याप्याद्यं लिङ्गम् ।^{३१}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी योगबिन्दु^{३२}, पञ्चाशक^{३३}, सम्बोध प्रकरण^{३४}, श्रावकप्रतिमा-विंशिका^{३५} आदि में कहा है।

शुश्रूषा के बिना श्रवण-ग्रहण-धारणा आदि की सिद्धि संभव नहीं है।

शुश्रूषा आदि से श्रुत आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं। वह इस प्रकार है - उह, अपोह से रहित जो ज्ञान होता है वह प्रथम श्रुतज्ञान, उहापोह से युक्त ज्ञान चिन्तामय दूसरा ज्ञान तथा कल्याणकारी फलवाला तृतीय भावनाज्ञान है। तथा इन तीन ज्ञानों में जिसका समावेश न हो वह मिथ्याज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान की तीन विशेषता आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'षोडशक' में बतायी है। वह इस प्रकार है -
वाक्यार्थमात्रविषयं कोष्ठगतबीजसन्निभं ज्ञानम् ।

श्रुतमयमिह विज्ञेयं, मिथ्याभिनिवेशरहितमलम् ॥^{३६}

जिस विषय का प्रतिपादन जिस वाक्य द्वारा हो रहा हो उसी विषय का प्रतिपादन करनेवाले सभी ही शास्त्र वचन परस्पर एकवाक्यता आपन्न कहलाते हैं। वैसे वचनों का जो विषय - अर्थ होता है उससे अतिरिक्त ऐसे अर्थ के प्रतिपादक ही ऐसे शास्त्रवचन का अर्थमात्र का जो ज्ञान होता है जिसमें नय-निक्षेप-प्रमाण-सप्तभंगी आदि अपेक्षा का अवगाहन न होता हो वह श्रुतमय कहलाता है। अर्थात् सभी शास्त्रों, वचनों के साथ जिसका विरोध न हो ऐसे निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले कुछ शास्त्र वाक्य का यथाश्रुत अर्थ का ज्ञान, जैसे कि - 'सर्वे जीवा न हतव्या' किसी-जीव को नहीं मारना चाहिए ऐसा ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। इसमें नय-प्रमाण आदि का अवगाहन नहीं होता है। इससे अन्य ज्ञान में संशयादि स्वरूप होने की संभावना होने से अज्ञान स्वरूप होता है। अतः उसका ज्ञान में समावेश नहीं हो सकता है। जैसे कि कोई नयविषयक हो, कोई सप्तभंगी विषयक हो, कोई स्वदर्शनपरक वचन हो, कोई परदर्शनप्रतिपादन परक हो कोई काल-ज्योतिषविषयक हो, कोई कर्म विषयक तो कोई मंत्र विषयक ऐसे भिन्न-भिन्न विषयवाले शास्त्रों के वचनों के कोई-कोई पदमात्र का आग्रह करके उस पदार्थ का ज्ञान होता है वह संशय-भ्रम स्वरूप होने के कारण अज्ञान स्वरूप ही है। अतः श्रुतज्ञान में इस वाक्य के द्वारा उसका व्यवच्छेद होता है। दूसरी महत्त्व की बात यह है कि श्रुतज्ञान यह भविष्य में होनेवाले चिन्ताज्ञान का कारण है। अतः जब तक चिन्ताज्ञान प्रगट न हो वहाँ तक श्रुतज्ञान रहना अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार भविष्य में यदि वृक्षारोपण तथा पाक के लिए उसका बीज जरूरी है, कृषक नया पाक लेने के लिए बीज को कोठार, गोदाम में सुरक्षित रखता है। वह नाश न हो जाय, उसका पूर्ण ध्यान रखता है। नये मौसम में उस बीज में से पाक प्राप्त कर सके उसी प्रकार श्रुतज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उहापोह, नय-प्रमाण आदि की पर्यालोचना से चिन्ताज्ञान जब तक प्रगट न हो तब तक श्रुतज्ञान स्थिर रहना चाहिये। श्रुतज्ञान चिन्ताज्ञान को उत्पन्न न कर सके उस श्रुतज्ञान का क्या महत्त्व ? अतः कोठार में सुरक्षित बीज की भाँति श्रुतज्ञान भी स्थिर होना ही चाहिये। और वह गुरु भक्ति, विधिपरायणता, यथाशक्ति पालन, बहुमानगर्भित श्रवण आदि शुश्रूषा द्वारा

उत्पन्न ज्ञान अवश्य टिकता है।

तीसरी इसकी विशेषता यह है कि वह श्रुतज्ञान चिंताज्ञान का कारण है अतः पदार्थज्ञान से उत्पन्न असंगति दूर करने में श्रुतज्ञान परायण है और वह असंगति तब ही दूर हो सकती है जब कि वह श्रुतज्ञान वाला व्यक्ति दुराग्रह-कदाग्रह से सर्वथा मुक्त हो। और वह कदाग्रह से मुक्त नहीं होगा तो असंगति दूर नहीं हो सकती जिससे भविष्य में चिंताज्ञान भी प्रगट नहीं हो सकता।

इससे आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने यह सूचित किया है कि ज्ञान के विषय में सांप्रदायिक आग्रह नहीं होना चाहिये। क्योंकि वह ज्ञान चिंताज्ञान एवं भावनाज्ञान प्रगट नहीं करवा सकता। आचार्यश्रीने स्वयं ने कहीं पर आग्रह, कदाग्रह का पक्ष नहीं किया है। उन्होंने साहित्य जगत में सत्यता को सचोट रूप में संदर्शित की है। इसीसे वे एक 'समदर्शी आचार्य' के रूप में माननीय बन गये। इसी भावना से प्रेरित बनकर 'व्याख्यात पण्डित सुखलालजी संघवी डी लिट्.' ने 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' शीर्षक को लेकर बम्बई यूनिवर्सिटी सञ्चालित ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला में पांच व्याख्यान दिये। जिनको सुनकर सभी गद्गद् हो गये। अतः चिंताज्ञान और भावनाज्ञान को प्राप्त करना ही है तो श्रुतज्ञान को कदाग्रहरूपी कर्दम से कलंकित नहीं करना चाहिये। यह ज्ञान पानी के समान होता है। जो प्यास को बुझाता है लेकिन क्षुधा और मृत्यु से विराम नहीं होता है। चिंताज्ञान जो ज्ञान महावाक्यार्थ से उत्पन्न होता है। अर्थात् शब्द द्वारा प्रदर्शित और शब्द द्वारा अप्रदर्शित इस प्रकार सभी धर्मों को वस्तु में सिद्ध करके सर्वधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन अनेकान्तवाद करता है उसी का विशिष्ट निरूपण महावाक्यार्थ कहलाता है। उसीसे चिन्ताज्ञान उत्पन्न होता है जो अत्यंत सूक्ष्म सुंदर युक्तियों के चिन्तन से संयुक्त होता है तथा पानी में तेल की बिन्दु की भांति विस्तारता को प्राप्त होता है। जिस प्रकार तेल का बिन्दु पानी में फैलता जाता है उसी प्रकार चिंताज्ञान भी अनेक शास्त्र प्रमाण - नय आदि के द्वारा बढ़ता जाता है और सर्वव्यापी बना हुआ चिन्ताज्ञान भावनाज्ञान को लाता है। दूध के समान है। इससे क्षुधा और तृषा का शमन होता है। लेकिन मृत्यु का विराम नहीं होता है।

भावनाज्ञान - विश्व में तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं। हेय, ज्ञेय और उपादेय। हेय और उपादेय विषय का यथार्थ ज्ञान तो प्रत्येक सम्यक्त्वी को मिथ्यात्व के क्षयोपम, दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा आदि के प्रभाव से स्वतः ही हो जाता है। आप्त पुरुषों के उपदेश के बिना भी वे विषय-कषाय को अंतर से हेय-छोड़ने योग्य और त्याग - तितिक्षा ब्रह्मचर्य आदि को अंतर से उपादेय - ग्रहण करने योग्य मानते हैं। परन्तु ज्ञेय पदार्थ के विषय में ज्ञानावरण के उदय से प्रायः विपर्यास-संशय आदि होना संभव है, कारण कि ज्ञेय पदार्थ छद्मस्थ के लिए संशय रहित, अविपर्यस्त स्वसंवेदन का स्वतः विषय नहीं है। जिस प्रकार 'आलू, निगोद आदि में अनंत जीव है, अभव्य जीव अनंत है, अनादि निगोद में जाति भव्य अनंत होते हैं' इन सभी ज्ञेय पदार्थों में छद्मस्थ की बुद्धि मार खा जाती है। अथवा इसकी बुद्धि से परे होता है, अतः सभी ज्ञेय पदार्थों को स्वीकारने में सर्वज्ञ की आज्ञा ही प्रधान है, आज्ञा ही परम धर्म है ऐसा तात्पर्य विषयक जो ज्ञान होता है वह भावनाज्ञान कहलाता है।

इस ज्ञानवाला जीव विधि विधान में परम आदरवाला होता है। जैसे कि दान के सम्बन्ध में पूर्व विधि, उत्कृष्ट दान, दाता के पाँच भूषण, सुपात्र को दान अत्यंत आदर पूर्वक देने के लिए भावनाज्ञानवाला प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान अमृत के समान है। जिससे क्षुधा-तृषा एवं मृत्यु तीनों का निवारण हो जाता है।^{३७}

इन तीनों ज्ञान का स्वरूप धर्मबिन्दु^{३८}, उपदेशपद^{३९}, देशनाद्वात्रिंशिका^{४०} तथा अध्यात्मउपनिषद्^{४१} में भी मिलता है।

अवधिज्ञान - द्रव्यइन्द्रिय और द्रव्यमन के बिना केवल आत्मा से रूपी पुद्गल द्रव्यों को जानना।^{४२}

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा को लेकर इन्द्रियों और मन की अपेक्षा रहित जो आत्मा द्वारा ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है।^{४३}

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि उपर्युक्त व्याख्या को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि - “अवधीयतेऽनेनेत्यवधिः - ‘अव’ पूर्व ‘धि’ इन दोनों शब्दों से ‘अवधि’ पद बनता है। ‘अव’ शब्द अनेकार्थवाची है। इसी से ज्ञान के द्वारा ‘अव’ यानि नीचे-नीचे विस्तार से रूपी वस्तु ‘धि’ अर्थात् जानता है, वह अवधि अथवा ‘अव’ यानि मर्यादा वाचक लेने पर इतने क्षेत्र में इतने द्रव्य, इतने काल तक ही वह जानता है, देखता है। अथवा उस कर्म के आवरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने पर उस ज्ञान के बल से मर्यादा में रहे हुए साक्षात् रूपी द्रव्यों को देखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

तात्पर्य यही है कि जिस आत्मा को जितना अवधिज्ञान होता है, वह उस अवधि अर्थात् मर्यादा में रहे हुए रूपी पदार्थों को देखता है। इसमें वह सभी को समानरूप से नहीं होता जिसको जितना क्षयोपशम होता है, उतना ही जानता है। कोई मनुष्य लोक में अमुक भाग ही देखता है, कोई देव और नरक को भी देखता है। लेकिन देवों को यह भव प्रत्यय होता है, भव प्रत्यय होने पर भी सभी देव समान नहीं देखते हैं। जितना जितना स्थान ऊँचा होगा उतना ज्यादा देखेंगे। जैसे दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथा वाला अधिक देखता है, अपने से नीचे का तो देखता ही है। लेकिन ऊर्ध्वभाग में अपने ध्वजा तक ही देख सकता है।^{४४}

मनःपर्यवज्ञान - द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन के निमित्त बिना ही केवल आत्मा से रूपी द्रव्य मन में परिणत पुद्गल द्रव्य को देखता है। वह मनः पर्याय ज्ञान है।^{४५}

मनः पर्यायावरणीय कर्मों के क्षयोपशम की अत्यंत आवश्यकता है इस की प्राप्ति में, इस ज्ञानवाला जीवात्मा अङ्गी द्वीप में स्थित संज्ञी मनुष्यों के मानसिक भावों को जान सकता है। यह ज्ञान पाँच महाव्रत, अप्रमत्त अवस्था वाले को ही प्राप्त हो सकता है। इसमें बाह्याचार की अपेक्षा आभ्यंतर शुद्धि विशेषरूप से आवश्यक होती है।^{४६}

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने उपरोक्त कथन तो मनः पर्यायज्ञान के विषय में कहा ही है। लेकिन इसके साथ कुछ विशेषता और नन्दी हरिभद्रीयवृत्ति में लिखी है - वह इस प्रकार - ‘परि’ अर्थात् चारों ओर से ‘अव’ अर्थात् गति, गमन, वेदन अर्थात् चारों प्रकार से जानना। लेकिन किसको जानना ? तो मनोद्रव्य को चारों ओर

से जानना। उसे ही मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। अथवा मन के पर्याय उसका ज्ञान, वह मनः पर्यायज्ञान है। जैसे कि 'इस मनुष्य ने इस वस्तु का चिन्तन इस प्रकार किया।' इस प्रकार का ज्ञान मनःपर्यवज्ञान है। अप्रमत्त साधु बिना यह किसी को नहीं होता।^{१९} तथा जिस आत्मा ने चरम मनुष्य भव के पूर्व तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया होता है, वही आत्मा अपने चरम मनुष्य भव में आत्मा के उत्कृष्ट विशुद्धि के कारण दीक्षा ग्रहण करते ही यह ज्ञान पा लेते हैं। इसीलिए तीर्थंकर परमात्मा जन्म से ही तीन ज्ञानयुक्त होते हैं, और प्रव्रज्या ग्रहण करने के साथ ही इस चतुर्थ ज्ञान के धनी बन जाते हैं।

तीर्थंकर जब व्रत धरे निश्चय हुवे ए नाण।^{२०}

इस ज्ञान के पश्चात् निश्चित ही आत्मा को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान होता है।

केवलज्ञान - द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन की अपेक्षा बिना ही आत्मा के द्वारा रूपी और अरूपी द्रव्यों को सम्पूर्णतया जानना ही केवलज्ञान है।^{२१}

इस अद्भुत, अलौकिक ज्ञान में क्षयोपशम काम नहीं आता है, लेकिन क्षयशक्ति ही कार्य करती है। आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित करनेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय- इन चारों घाति कर्मों का सम्पूर्ण, समूल क्षय होता है, तब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और ऐसी विभूति ही 'सर्वज्ञ' नाम से जानी जाती है।

केवलज्ञान की विशिष्टताएँ :-

१. केवलज्ञान होने के बाद उसके साथ अन्य चारों क्षयोपशमिक ज्ञान की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती।
२. यह परिपूर्ण रूप से एक ही साथ उत्पन्न होता है, पहले थोड़ा फिर अधिक, ऐसा केवलज्ञान में नहीं होता है।
३. इसमें संसार के सम्पूर्ण ज्ञेय को जानने की शक्ति होती है।
४. इसकी तुलना में दूसरा कोई ज्ञान नहीं है।
५. स्वयं प्रकाशी होने से दूसरे ज्ञान की मदद की सर्वथा आवश्यकता नहीं रहती।
६. विशुद्ध कर्मों की सत्ता क्षय हो जाने से अब तक एक भी परमाणु अवरोधक नहीं बन सकता।
७. सूक्ष्म तथा स्थूल सभी पदार्थों को जानने की शक्तिवाला है।
८. लोकाकाश और अलोकाकाश को यथार्थरूप से जानता है।
९. ज्ञेय अनन्त होने से केवलज्ञान के पर्याय भी अनन्त होते हैं।
१०. अनन्त भूत-भविष्य और वर्तमान काल में रहे हुए समस्त 'सत्' पदार्थों का उनके पर्यायों सह ज्ञान होता है।

इन सभी कारणों के कारण ही 'स्व पर व्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्' तथा 'यथार्थ ज्ञानं प्रमाणम्' आदि

विषयक सम्यग् ज्ञान प्रमाण की कोटि में आते हैं। केवलज्ञान का उपयोग नहीं करना पड़ता है उनको सभी साक्षात् दिखता है। यह ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् कभी भी वापिस चला नहीं जाता। यह ज्ञानवाला जीवात्मा शेष चार घाति कर्मों का क्षय करके अजर-अमर बन जाता है। अर्थात् मोक्षगति को प्राप्त करता है।^{१०}

आचार्य श्री हरिभद्र रचित 'नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति'^{११} तथा 'विशेषावश्यक-भाष्य'^{१२} में भी केवलज्ञान का ऐसा ही विवेचन मिलता है।

ज्ञान के प्रभेद - ज्ञान के प्रभेदों की चर्चाएँ हमें आगमों में तथा पूर्वाचार्य रचित ग्रन्थों में मिलती हैं। मत्यादिज्ञान के वैसे तो असंख्य भेद-प्रभेद हो सकते हैं। लेकिन यहाँ मुख्य प्रभेदों का संक्षेप से निरूपण ही उचित है।

मतिज्ञान - मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, संज्ञाज्ञान, चिन्ताज्ञान और आभिनिबोधिक ज्ञान ये पाँचों ही समान अर्थ के द्योतक हैं। वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न विषयों के प्रतिपादक हैं, इसी से इनके लक्षण भी भिन्न-भिन्न हमें देखने को मिलते हैं। तथा अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा तर्क और अनुमान इसके अपर नाम हैं।

१. इन्द्रिय एवं मन की अपेक्षा से किसी को जो आद्य (प्रथम) ज्ञान होता है, उसको अनुभव अथवा मतिज्ञान कहते हैं।
२. कालान्तर में उस जाने हुए पदार्थ को तत् - वह है, इस तरह से जो याद आता वह स्मरण अथवा स्मृतिज्ञान है।
३. अनुभव एवं स्मृति दौनों के जुड़ जाने पर जो ज्ञान होता है, वह संज्ञा ज्ञान अथवा प्रत्यभिज्ञा है - जैसे कि यह वही देवदत्त है।
४. साध्य और साधन के अविनाभाव रूप व्याप्ति से जो ज्ञान होता है, वह चिन्ताज्ञान अथवा तर्क होता है। जैसे कि पर्वत में अग्नि। अग्नि और धूम का अविनाभाव है।
५. साधन के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है उसे अनुमान अथवा आभिनिबोधिक कहते हैं। जैसे कि - अग्नि का साधन धूम है। धूम को देखकर अग्नि रूप साध्य का ज्ञान होता है।^{१३}

उपरोक्त पाँच प्रकार का ज्ञान दो प्रकार का होता है - इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक।

इन्द्रिय निमित्तक ज्ञान पाँच प्रकार का होता है - वे इस प्रकार हैं। स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान, रसनेन्द्रिय से रस का ज्ञान, घ्राणेन्द्रिय से गंध का ज्ञान, चक्षुरिन्द्रिय से वर्ण का ज्ञान और श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान। ये पाँचों इन्द्रिय के निमित्त से होनेवाले ज्ञान हैं। मन की प्रवृत्तियों अथवा विचारों को यद्वा समूहरूप ज्ञान को अनिन्द्रिय निमित्तक कहते हैं।^{१४}

ये निमित्त भेद से दो भेद हुए। अब स्वरूप अथवा विषय की अपेक्षा से भेदों का विश्लेषण करते हैं।

ऊपर जो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक मतिज्ञान बताया, उसमें प्रत्येक के चार-चार भेद हैं - अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। अवग्रहादि में अवग्रह दो प्रकार का है। व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह।

व्यञ्जन पदार्थ का अवग्रह ही होता है ईहा आदि नहीं होते । इस तरह से अवग्रह तो दोनों ही प्रकार के पदार्थ का हुआ करता है । व्यञ्जन का भी और अर्थ का भी, जिसको कि क्रम से व्यञ्जनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं । ईहा आदि शेष तीन विकल्प अर्थ के ही होते हैं ।

जिस प्रकार मिट्टी के किसी सकोरा आदि बर्तन के ऊपर जल की बूंद पड़ने से पहले तो वह व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से वह धीरे-धीरे क्रम से पड़ते-पड़ते व्यक्त होती है । जैसे कि सकोरे में ९९ बूंद अव्यक्त होती है, १०० वीं बूंद व्यक्त होती है । अतः ९९ तक व्यञ्जनावग्रह कहलायेगा और १०० वां अर्थावग्रह में आयेगा । उसी प्रकार कहीं-कहीं कानों पर पड़ा हुआ शब्द आदि पदार्थ भी पहले तो अव्यक्त पदार्थ को व्यञ्जन और व्यक्त को अर्थ कहते हैं । व्यक्त के अवग्रहादि चारों होते हैं और अव्यक्त का अवग्रह ही होता है ।

व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन के द्वारा नहीं होता है । वह केवल स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र- इन चारों इन्द्रियों के द्वारा ही हुआ करता है ।

अपनी-अपनी इन्द्रियों के द्वारा यथायोग्य विषयों का अव्यक्त रूप से जो आलोचनात्मक अवधारण ग्रहण होता है उसको अवग्रह कहते हैं । अवग्रह के द्वारा पदार्थ के एकदेश का ग्रहण कर लिया गया है । जैसे कि - 'यह मनुष्य है' इत्यादि, इस ज्ञान के बाद उस पदार्थ को विशेष रूप से जानने के लिए जब यह शंका हुआ करती है, कि 'यह मनुष्य तो है' परन्तु दाक्षिणात्य है, अथवा औदीच्य है ? तब उस शंका को दूर करने के लिए उसके वस्त्र आदि की तरफ डालने से यह ज्ञान होता है कि दाक्षिणात्य होना चाहिए, इसी को ईहा कहते हैं । जब उस मनुष्य के समीप आ जाने पर बातचीत सुनने से यह दृढ निश्चय होता है कि यह दाक्षिणात्य ही है, तब उसको अपाय कहते हैं । तथा उसी ज्ञान में ऐसे संस्कार का हो जाना कि जिसके निमित्त से वह अधिककाल तक ठहर सके, उस संस्कृत ज्ञान को धारणा कहते हैं । इसके होने से ही कालान्तर में जाने हुए पदार्थों का स्मरण होता है । धारणा में तीन भेद हैं - अविच्युति, वासना और स्मृति । अवग्रह आदि के द्वारा निश्चित किये गये उसी अर्थ के विषय में उपयोगवान् रहना उससे चलित न होना यही अविच्युति है, और अविच्युति से उत्पन्न होनेवाले संस्कार विशेष वासना है तथा इस वासना के सामर्थ्य से भविष्य में भूतपूर्व अनुभव विषयक 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होना स्मृति है ।

अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा - ये पाँचों इन्द्रिय और मन छः द्वारा होता है । अतः $४ \times ६ = २४$ व्यञ्जनावग्रह के चार भेद इस तरह मतिज्ञान के २८ भेद होते हैं ।

अवग्रह आदि ज्ञानरूप क्रियाएँ हैं । अतः उनका कर्म भी अवश्य होता है । वे इस प्रकार हैं -

(१) बहु (२) अबहु (३) बहुविध (४) अबहुविध (५) क्षिप्र (६) अक्षिप्र (७) निश्चित (८) अनिश्चित (९) उक्त (१०) अनुक्त (११) ध्रुव (१२) अध्रुव ।

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्चितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।

बहु आदि का विशेष स्पष्टीकरण आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने 'तत्त्वार्थ हारिभद्रीय वृत्ति' में किया है । वह

इस प्रकार है - एक जाति की दो से अधिक संख्यावाली वस्तु को बहु कहते हैं और एक जाति की दो संख्या तक की वस्तु को अबहु कहते हैं। दो से अधिक जातिवाली वस्तुओं को बहुविध कहते हैं और दो तक की जातिवाली वस्तुओं को एकविध अथवा अल्पविध कहते हैं। शीघ्रगतिवाली वस्तु को क्षिप्र और मंद गतिवाली को अक्षिप्र कहते हैं। अप्रकट को अनिश्चित और प्रकट को निश्चित कहते हैं। बिना कहे हुए कथन को अनुक्त, कहे हुए कथन को उक्त कहते हैं। तदवस्थ को ध्रुव तथा उससे प्रतिकूल को अध्रुव कहते हैं।

यह बारह ही अवग्रह ईहा अपाय और धारणा के होते हैं। उपरोक्त 2×12 से गुणा करने पर ३३६ तथा चार बुद्धि औत्पातिकी, वैनयिकी, कायिकी, पारिणामिकी संयुक्त करने पर ३४० भेद होते हैं।

तात्पर्यार्थ - मतिज्ञान के निमित्त अपेक्षा से दो भेद - (१) इन्द्रिय निमित्तक (२) अनिन्द्रिय निमित्तक।

अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा की अपेक्षा से चार भेद हैं। ये सभी मन और इन्द्रियों से होने के $4 \times 6 = 24$ और व्यञ्जनावग्रह के ४, $24 + 4 = 28$ भेद मतिज्ञान। इन २८ भेदों को बहु आदि से गुणा करने पर ३३६ तथा चार बुद्धि संयुक्त करने पर ३४० भेद मतिज्ञान के होते हैं।^{५५} इस प्रकार के भेदों का वर्णन नन्दि हारिभद्रीयवृत्ति,^{५६} तर्कभाषा,^{५७} तत्त्वार्थसूत्र,^{५८} कर्मग्रंथ^{५९} आदि में मिलता है।

श्रुतज्ञान - श्रुतज्ञान का विषय मतिज्ञान की अपेक्षा से महान् है। श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य। इसमें अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।

अंगबाह्य में जैसे कि - सामायिक, चतुर्विंशति, वन्दना, प्रतिक्रमण, कार्योत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, निशीथसूत्र, महानिशीथसूत्र, चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति इत्यादि इसी प्रकार ऋषियों के द्वारा कहे हुए और भी अनेक भेद हैं।

अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। श्रुतज्ञान के भेद वक्ता की विशेषता की अपेक्षा से हैं।

अपने स्वभावानुसार प्रवचन की प्रतिष्ठापना करना ही जिसका फल है, ऐसे तीर्थंकर नामकर्म के उदय से सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहंत भगवान ने अपनी मधुर देशना में जो कुछ प्रतिपादन किया, जिनकी उत्तम अतिशयों से युक्त वचनऋद्धि तथा बुद्धिऋद्धि से परिपूर्ण अरिहंत भगवान के सातिशय शिष्य गणधरों के द्वारा जो रचना की गई, उसको अंग प्रविष्ट कहते हैं।

गणधर भगवन्तों के अनन्तर होनेवाले प्रज्ञावान् आचार्यों के द्वारा जिनकी वचन शक्ति एवं मतिज्ञान की शक्ति परमोच्च प्रकर्ष को प्राप्त कर चुकी है, तथा जिनका आगम श्रुतज्ञान अत्यंत विशुद्ध है, काल दोष से एवं संहनन और आयु की कमी आदि दोषों से जिनकी मेधाशक्ति अत्यंत कम हो गई ऐसे शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए जिनकी रचना हुई, उनको अंग बाह्य कहते हैं।^{६०}

श्रुतज्ञान के चौदह एवं बीस भेद शास्त्रों में बताये हैं।

अक्खर सन्नी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।

गमियं अंगपविट्ठं सत्त वि ए ए सपडिवक्खा ॥^{६१}

अक्षरश्रुत, संज्ञीश्रुत, सम्यक्श्रुत, सादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत, गमिकश्रुत, अंगप्रविष्टश्रुत - इन सातों के प्रतिपक्ष भेदों सहित (अनक्षर असंज्ञीश्रुत, मिथ्याश्रुत, अनादिश्रुत, अपर्यवसितश्रुत, अगमिकश्रुत, अंगबाह्यश्रुत) चौदह भेद श्रुतज्ञान के हैं।

१. अक्षरश्रुत अनुपयोग में भी जो चलित नहीं होते हैं वे अक्षर हैं। यद्यपि सभी ज्ञान अक्षर हैं फिर भी रूढिवश यहाँ वर्ण को अक्षर कहा गया है।
२. अनक्षर - उच्छवास, निःछ्वास, खांसी, छींक, अनुस्वार, और चपटी आदि बजाना अनक्षर श्रुत है।
३. संज्ञी - संज्ञी जीवों का जो श्रुत, वह संज्ञिश्रुत कहलाता है।
४. असंज्ञीश्रुत - एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी को जो अस्पष्ट, अव्यक्त ज्ञान होता है, वह असंज्ञिश्रुत है।
५. सम्यक्श्रुत - अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य यह सम्यक् श्रुत।
६. मिथ्याश्रुत - लौकिकश्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है। लेकिन इतना विशिष्ट है कि ग्राहक की अपेक्षा लौकिक और लोकोत्तर की भजना होती है। जैसे कि - सम्यग्दृष्टि के द्वारा ग्रहण किया हुआ भारतादि सम्यक् श्रुत कहलाता है। क्योंकि वह उसके यथावस्थित वस्तुतत्त्व के बोध से विषय-विभाग की योजना करता है। जिससे वह सम्यग्श्रुत बन जाता है। जैसा कि आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में सम्यग् ज्ञान के विषय में कहा है -

यथावस्थित तत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा ।

योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥^{६२}

यथावस्थित अर्थात् जैसा है वैसा ही तत्त्वों का संक्षेप से अथवा विस्तार से जो बोध होता है उसे ही मनीषी सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि के द्वारा ग्रहण किया गया आचारांगादिक श्रुत भी मिथ्याश्रुत बन जाता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि आचारांगादि के विषय में यथावस्थित तत्त्वबोध के अभाव में विपरीत अर्थ जोड़ देता है। जिससे वह मिथ्याश्रुत हो जाता है, मिथ्यादृष्टि के लिए। अपर्यवसित - द्रव्यास्तिकाय की अपेक्षा से, पंचास्तिकाय के समान श्रुत अनादि अनंत है। जिस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा से पंचास्तिकाय अनादि काल से है, और अनंतकाल रहेगा, उसी प्रकार श्रुतज्ञान की अनादि काल से है और अनंतकाल तक रहेगा।

सादि सपर्यवसित - पर्यायास्तिक नय के अभिप्राय से गति आदि पर्यायों से जीव के समान श्रुत भी सादि सान्त है। जैसे कि मनुष्यगति, देवगति आदि की अपेक्षा से जीव का आदि और अन्त होता है उसी श्रुतज्ञान का आदि और अन्त होता है।

गमिकश्रुत - भांगा और गणित आदि जिसमें बहुत हो अथवा कारणवश से समान जिसमें बहुत हो, वह गमिकश्रुत कहलाता है।

अंगमिकश्रुत - गाथा, श्लोकादि असदृश पाठ जिसमें हो, वह अंगमिकश्रुत, प्रायः कालिकश्रुत में होते हैं।

अंगप्रविष्ट - गौतमस्वामी आदि गणधरों के द्वारा रचित द्वादशाङ्गी रूप श्रुत अंगप्रविष्ट है।

अंगबाह्य - भद्रबाहुस्वामी आदि वृद्ध आचार्यों के द्वारा रचित आवश्यकनिर्युक्ति आदि श्रुत अंगबाह्यश्रुत है।^{६३}

अथवा तीन बार गणधर भगवन्तो द्वारा पूछे गये प्रश्नों का तीर्थकर द्वारा कथित उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप त्रिपदी से बनी हुई द्वादशाङ्गी अंग प्रविष्ट श्रुत है और बिना पूछे अर्थ के प्रतिपादन से रचे गये 'आवश्यकदि श्रुत' अंगबाह्य है।^{६४}

चौदह भेद विशेषावश्यक भाष्य^{६५} एवं तर्क भाषा^{६६} में मिलते हैं।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद के सिवाय बीस भेद भी कर्मग्रन्थ,^{६७} 'गोम्मटसार' आदि ग्रन्थों में उल्लिखित है।

पञ्चायकखरषद संघादं पडिवत्तियाणजोगं च ।

दुगवारपाहुडं च य पाहुड यं वत्थु पुव्वं च ॥

तेसिं च समासेहिं य वीस विहं वा हु होदि सुदणाणं ।

आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंति ति ॥^{६८}

(१) पर्यायश्रुत (२) पर्यायसमासश्रुत (३) अक्षरश्रुत (४) अक्षरसमासश्रुत (५) संघातश्रुत (६) संघातसमासश्रुत (७) प्रतिपत्तिश्रुत (८) प्रतिपत्तिसमासश्रुत (९) अनुयोगश्रुत (१०) अनुयोगसमासश्रुत (११) प्राभृतप्राभृतश्रुत (१२) प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत (१३) प्राभृतश्रुत (१४) प्राभृतसमासश्रुत (१५) पदश्रुत (१६) पदसमासश्रुत (१७) वस्तुश्रुत (१८) वस्तुसमासश्रुत (१९) पूर्वश्रुत (२०) पूर्वसमासश्रुत ।

अवधिज्ञान - यह प्रत्यक्षज्ञान है। इसके दो प्रकार 'स्थानांग सूत्र' की टीका में समुल्लिखित हैं-

अवधिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं । तद् यथा भवप्रत्ययिकं चैव क्षायोपशमिकं चैव ।^{६९}

अवधिज्ञान दो प्रकार है - भवप्रत्यय एवं क्षायोपशमनिमित्तक । नारकों और देवताओं को जो अवधिज्ञान होता है, वह भव प्रत्यय कहा जाता है। नारक और देवों के अवधिज्ञान में उस भव में उत्पन्न होना ही कारण माना है जैसे कि - पक्षियों के आकाश में गमन करना स्वभाव से उस भव में जन्म लेने से ही आ जाता है। उसके लिए शिक्षा एवं तप कारण नहीं है। उसी प्रकार जो जीव नरक एवं देवगति में उत्पन्न होते हैं उनको अवधिज्ञान स्वतः ही प्राप्त होता है। लेकिन इतना जरूर है कि सभी देवताओं के देखने का मर्यादा क्षेत्र समान नहीं होता।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान छः प्रकार का होता है। यह भेद अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से है। इसके स्वामी मनुष्य और तिर्यंच है। अर्थात् अवधिज्ञान मनुष्यों और तिर्यंचो को यथायोग्य क्षायोपशम होने पर होता है। छः भेद इस प्रकार है - अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति, अप्रतिपाति ।

आ. हरिभद्रसूरि ने 'नन्दीहारिभद्रीयवृत्ति' में अवधिज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है। अनुगामी -
 "अनुगमनशीलं, अनुगामिकं अवधिज्ञानं लोचनवद् गच्छन्तमनुगच्छतीतिभावार्थः।"^{१०}

'अनुगमन' अर्थात् पीछे-पीछे अनुसरण करने का स्वभाववाला, जिस जीव को जिस क्षेत्र में अवधिज्ञान होता है, वह जीव यदि क्षेत्रान्तर को चला जाय तो भी छूटता नहीं है, उत्पन्न होने के स्थान में और स्थानान्तर में दोनों जगह वह अपने योग्य विषयों को जान सकता है। जैसे कि सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता हुआ सूर्य-प्रकाश पूर्व दिशा के पदार्थों को भी प्रकाशित करता है और अन्य दिशा के पदार्थों को भी प्रकाशित है। उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। अननुगामी - इससे विपरीत है। जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उस स्थान पर ही वह देख सकता है। उस स्थान को छोड़ देने के बाद अपने विषय को जानने में समर्थ नहीं हो सकता, उसे अननुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे कि - संकलाप्रतिबद्धदीपकवद् - सांकल से बांधा हुआ दीपक उसी स्थान पर प्रकाश कर सकता है, अन्यत्र नहीं। वर्धमान अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवे भाग आदि जितने विषय का प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ था, उस प्रमाण से बढ़ता ही चला जाय उसको वर्धमान कहते हैं। जैसे कि - नीचे और उपर अरणि के संघर्षण से उत्पन्न अग्नि की ज्वाला शुष्क पत्र, ईन्धन आदि को पाकर बढ़ती ही रहती है, उसी प्रकार यह अवधिज्ञान जितने प्रमाण को लेकर उत्पन्न हुआ है, उससे अंतरङ्ग बाह्य निमित्त पाकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त बढ़ता ही जाता है।

हीयमान अवधिज्ञान - असंख्यात द्वीप समुद्र, पृथ्वी, विमान और तिरछा अथवा उपर नीचे के जितने क्षेत्र का प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, क्रम से उस प्रमाण से घटते-घटते जो अवधिज्ञान अङ्गुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण विषयवाला रह जाये उसे हीयमान कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि की ज्वालाएँ पहले तो जोरों से उठती और बाद में उसका उपादान कारण न मिलने पर धीरे-धीरे कम हो जाती है।

प्रतिपाति अवधिज्ञान - यह अवधिज्ञान एकरूप में न रहकर अनेक रूपों को धारण करता है या तो कभी उत्पन्न प्रमाण से घटता ही जाय, या कभी बढ़ता ही जाय अथवा कभी घटे भी और बढ़े भी या कभी छूट भी जाय और उत्पन्न भी हो जाय। जिस प्रकार किसी जलाशय की लहरें वायुवेग का निमित्त पाकर अनेक प्रकार की छोटी-मोटी या नष्टोत्पन्न हुआ करती है। उसी प्रकार इस अवधि के विषय में समझना चाहिए। शुभ या अशुभ या उभयरूप जैसे भी परिणामों का इसको निमित्त मिलता है उसके अनुसार उसकी हानि वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएँ हुआ करती है।

अप्रतिपाति अवधिज्ञान - यह अवधिज्ञान जितने प्रमाण क्षेत्र के विषय में उत्पन्न हो, उससे वह तब तक नहीं छूटता जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाय अथवा उसका वर्तमान मनुष्य जन्म छूटकर जब तक उसको भवान्तर की प्राप्ति न हो जाय।

अवधिज्ञान के इसी प्रकार छः भेद श्री तत्त्वार्थ सूत्र,^{११} कर्म ग्रन्थ,^{१२} नन्दीसूत्रवृत्ति,^{१३} तर्कभाषा^{१४} आदि में भी बताये हैं।

इसके अतिरिक्त अवधिज्ञान का तरतम रूप दिखाने के लिए देशावधि परमावधि एवं सर्वावधि इसके तीन भेद भी बताये हैं। देव, नारक, तिर्यच और सागार मनुष्य इनको देशावधि ज्ञान ही हो सकता है। शेष दो भेद परमावधि और सर्वावधि मुनिओं को ही हो सकता है।

मनःपर्यवज्ञान - यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है - इसके दो भेद हैं। (१) ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान (२) विपुलमति मनःपर्यवज्ञान।

(१) ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान - सामान्य से दो या तीन पर्यायों को ही ग्रहण कर सकता है। तथा इस ज्ञानवाला जीव केवल वर्तमानकालवर्ती जीव के द्वारा ही चिन्त्यमान पर्यायों को विषय कर सकता है, अन्य नहीं।

(२) विपुलमति मनःपर्यवज्ञान - बहुत से पर्यायों को जान सकता है। तथा त्रिकालवर्ती मनुष्य के द्वारा चिन्तित, अचिन्तित, अर्ध चिन्तित ऐसे तीनों प्रकार के पर्यायों को जान सकता है।

ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान से विपुलमति मनःपर्यायज्ञान विशुद्धि और अप्रतिपाति इन कारणों से विशिष्ट है। क्योंकि ऋजुमति का विषय अल्प और विपुलमति का उससे अत्यधिक है। ऋजुमति जितने पदार्थों को जितनी सूक्ष्मता के साथ जान सकता है विपुलमति उसी पदार्थ को नाना प्रकार से विशिष्ट गुण पर्यायों के द्वारा अत्यंत अधिक सूक्ष्मता से जान सकता है। अतः विपुलमति की विशुद्धता निर्मलता ऋजुमति से अधिक है। इसी प्रकार ऋजुमति के विषय में यह नियम नहीं है कि वह उत्पन्न होकर न जाय, लेकिन विपुलमति के विषय में यह निश्चित नियम है कि जिस संयमी साधु को विपुलमति मनः पर्यायज्ञान प्राप्त होता है उसको उसी भव में केवलज्ञान प्रगट होकर मोक्षपद भी प्राप्त होता है।^{५५} ये भेद तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका,^{५६} तत्त्वार्थसूत्र,^{५७} तर्कभाषा,^{५८} में भी है।

केवलज्ञान - परमार्थ से केवलज्ञान का कोई भेद नहीं है। क्योंकि सभी केवलज्ञान वाले आत्मा समान रूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-रूप सभी पदार्थों को ग्रहण करते हैं। भवस्थ केवली, सिद्ध केवली - इसके दो भेद सयोगी केवली अयोगी केवली ये सभी उपचार से भेद हैं।^{५९}

पंचज्ञान की सिद्धि - वैसे ज्ञान में स्वभाव से कोई भेद नहीं है। लेकिन ज्ञप्ति, बोध, आवरणकर्म आदि को लेकर ज्ञान के भेद होते हैं जो युक्तियुक्त ही हैं। जैसे कि सूर्य के प्रकाश में स्वभाव से ही भेद नहीं है। वह जब शरद ऋतु में बादलों से सर्वथा मुक्त होता है तब समान रूप से सर्वत्र सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। परंतु जब उस पर मेघ रूप आच्छादन आ जाता है तब उसका प्रकाश अवश्य रहता है। वह मन्द प्रकाश भी एक में एक सा प्रवेश नहीं करता है। वह भिन्न प्रकार का होता है। यदि द्वार खुला हो और द्वार से जो प्रकाश आता है वह भिन्न होता है, झरोखे से जो आता वह प्रकाश भी भिन्न है। जाली से जो प्रकाश आता है वह भी भिन्न होता है, पर्दे से जो प्रकाश आता वह भी भिन्न होता है, क्योंकि द्वार, झरोखा, जाली और पर्दा, सूर्य के उस मन्द प्रकाश के इन आवरणों में और इन आवरणों में स्थित सूर्य प्रकाश के मार्गों में भिन्नता है। इस प्रकार प्रकाश के आवरणों में

और उन आवरणों में रहे छिद्रों में भेद के कारण से सूर्य के उस मन्द प्रकाश में भी भिन्न-भिन्न भेद बन जाते हैं।

वैसे ही आत्मा में स्वभाव से कोई भेद नहीं है। जब आत्मा, ज्ञानावरण से सर्वथा रहित हो जाती है तब वह समान रूप से सर्व क्षेत्र में स्थित सभी पदार्थों को जानती है। उसका यह ज्ञान 'केवलज्ञान' कहलाता है। किन्तु उसके ऊपर केवलज्ञानावरण कर्म आ जाता है। इससे उसका केवलज्ञान आच्छादित हो जाता है। परन्तु ज्ञान सर्वथा नहीं ढकता है मन्द ज्ञान अवश्य रहता है। वह मन्द ज्ञान भी एक सा नहीं होता। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो मतिज्ञान रूप आत्मा में मन्दज्ञान प्रकट होता है वह भिन्न होता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान के आवरणीय कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा में जो मन्द रूप प्रकाश प्रकट होता है वह भिन्न होता है। कारण कि इन चारों के मन्द ज्ञान के आवरणों में और चारों आवरणों के क्षयोपशम में भिन्नता है। इन भिन्नता के कारण चारों भेद भिन्न-भिन्न हैं।

इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद बनने का कारण आवरणों की विचित्रता और क्षयोपशम की विचित्रता है।

२. यह अनुभव सिद्ध है कि प्रत्येक जीव में ज्ञान की हानि-वृद्धि प्रत्यक्ष रूप से सभी को दिखती है। इसमें मात्र कोई कारण हो तो ज्ञान की ज्ञप्ति में भिन्नता है। अभ्यास करनेवाले के जीवन में ज्ञान उत्कर्षता एवं न करनेवाले के जीवन में उसकी अपकर्षता ज्ञप्ति के विचलित स्वभाव के कारण ही उपलब्ध होती है।

उसी से आगम प्रसिद्ध और परिस्थूल निमित्त भेदों से ज्ञान के आभिनिबोधिक भेद युक्त ही है।

३. ज्ञानभेद में कारणभूत निमित्तभेद भी भिन्न-भिन्न है। जो ज्ञानादि गुणों का नाश करते हैं वे घाती कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय - ये चारों घाति-कर्म हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति में इन चारों कर्मों का सम्पूर्ण विच्छेद ही निमित्त है। क्योंकि इनका क्षय होते ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। और आमबौध्दि आदि लब्धिओं में कारणभूत उस प्रकार का अप्रमत्त मनःपर्यायज्ञान का निमित्त है। अप्रमत्त मनःपर्याय वाले मुनि को ही ये लब्धियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसा आगम में कहा है। अतीन्द्रिय ऐसे रूपी द्रव्यों के प्रति जो ज्ञान का क्षयोपशम वह अवधिज्ञान का निमित्त है। अर्थात् अवधिज्ञान होने पर भी अतीन्द्रिय रूपी द्रव्यों का बोध होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के भेद लक्षणादि भेद से है, लक्षणादि भेद मति-श्रुत ज्ञान के निमित्त भेद है। इस प्रकार परिस्थूल भेदों से मति ज्ञानादि भेद युक्ति संगत है।

केवलज्ञान सर्व विषयक होने पर भी परिस्थूल निमित्त भेदों से भेद होने के कारण मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानों के ज्ञेय में विशेष भेद सिद्ध ही है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने-अपने धर्म से प्रतीत होती है। प्रसिद्ध होती है। जैसे कि वर्तमान काल भावी और स्पष्टरूपवाली वस्तु मतिज्ञान से ज्ञात होती है। जबकि अल्प स्वरूपवाली त्रिकालभावी वस्तु श्रुतज्ञान से ज्ञात होती है। इस प्रकार ज्ञेय विशेष भी ज्ञान के पाँच भेद को साधने में इष्ट है।

बोध, विशेष भी पाँच भेदों की कल्पना को सत्य साबित करता है। क्योंकि मतिज्ञान में जो बोध होता है उससे भिन्न बोध श्रुतज्ञान में होता है।

मतिज्ञानादि चार आत्मधर्मरूप होने से क्षीण आवरणवाले को भी होते हैं। लेकिन जिस प्रकार नक्षत्र,

ग्रह, तारा, चन्द्र आदि का अपना प्रकाशरूप फल होने पर भी सूर्य का उदय होने पर उसका अपना प्रकाश निष्फल हो जाता है उसी प्रकार मतिज्ञान आदि सफल होने पर भी केवलज्ञान की उपस्थिति में वे निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार रात्रिरूप सहकारी कारण के अभाव में नक्षत्र आदि अपने कार्य में निष्फल होते हैं उसी प्रकार छद्मस्थ भावरूप सहकारी कारण का अभाव होने से मतिज्ञानादि का केवलज्ञान के समय अपने कार्य में निष्फल होते हैं। मति ज्ञानादि का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जब तक केवलज्ञान प्रगट नहीं होता है वहाँ तक अपने कार्य में सफल होते हैं और केवलज्ञान प्रगट होने के बाद निष्फल हो जाते हैं। लेकिन उनका अपना अस्तित्व अपने स्थान पर पूर्णरूप से अवस्थित रहता है। इसी कारण आगमों में पाँच ज्ञान का स्वरूप मिलता है।

इन सभी कारणों से ज्ञान की पंचविधता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।^{६०} धर्मसंग्रहणी^{६१} टीका में विशेष स्पष्ट किया है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान - इन चारों ज्ञानों की सिद्धि अन्तिम केवलज्ञान में समाहित रही हुई है। प्रत्येक ज्ञान अपने अस्तित्व से अवस्थित एवं मर्यादित है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान - इन दोनों का अत्यधिक उपयोग मनुष्य जीवन में उपलब्ध होता है। मति और श्रुतज्ञान से प्रायः संसार चल रहा है। कोई ऐसा उच्चकोटि का विरल जीव मति-श्रुत से आगे बढ़ता हुआ अवधिज्ञान का अधिकारी बनता है और उससे आगे बढ़कर मनःपर्यव का अधिकारी होता है और कोई उससे भी आगे बढ़कर केवलज्ञान की सीमा को छूता है।

इन ज्ञानों का संस्मरण नन्दिसूत्र की टीका में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने विस्तृत रूप से किया है।

यह तो निश्चित है कि ये पाँचों ज्ञान केवल जैन दर्शन के वाङ्मय में ही इस प्रकार की श्रेणी से उपलब्ध हैं। अन्य दर्शनकारों ने ज्ञान की सिद्धि स्वीकार की है परन्तु जैसी इन पाँच ज्ञानों की विचारणा जैन साहित्य में मिलती है वैसी अन्यत्र सुलभ नहीं है।

ये पाँचों ज्ञान जैन परम्परा में प्राचीन हैं। इनकी प्राचीनता यत्र-तत्र-सर्वत्र पूर्णतया प्रशंसनीय है, प्रमाणित है और प्रत्येक काल में उपयोगी है। ज्ञान की सिद्धि के बिना हमारा जीवन शून्य है। ज्ञानमय जीवन हमारा अभ्युदय करता है। जहाँ सिद्धि है वहाँ प्रसिद्धि है, पाँचों ज्ञान सिद्ध भी और प्रसिद्ध भी हैं। अतः सर्व मान्य हैं।

लक्षणादि सात भेद से मतिश्रुत का भेद - यद्यपि जहाँ मति होता है वहाँ श्रुत अवश्य होता है तथा इन दोनों की कुछ कारणों को लेकर समानता होते हुए लक्षणादि सात कारणों से दोनों में वैधर्म्य भी है। अर्थात् भेद भी है। उसी के कारण आगमों में शास्त्रों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व हमें मिलता है।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि रचित 'धर्मसंग्रहणी' में इस विषय को प्रस्तुत करती हुई गाथा इस प्रकार है-
 "मतिसुयनाणाणं पुण लक्षणभेदादिणा भेओ।"^{६२}

मति और श्रुत ज्ञान का लक्षणादि कारणों से भेद है।

इस विषय को 'धर्मसंग्रहणी' के टीकाकार आचार्य श्री मल्लिसेन ने विशेष रूप से स्पष्ट किया है।

लक्षणभेदाद्धेतुफलभावतो भेदेन्द्रिय विभागात्।

वल्काक्षर मूकेतर भेदाद्भेदो मतिश्रुतयोः ॥^{६३}

(१) लक्षणभेद (२) हेतुफलभाव (३) भेद (४) इन्द्रियकृत विभाग (५) वल्क (६) अक्षर (७) मूक।

(१) लक्षणभेद - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के लक्षण में भेद है। जैसे कि जो ज्ञान वस्तु को जानता है वह मतिज्ञान और जिसको जीव सुनता है वह श्रुतज्ञान। दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से दोनों ज्ञान में भेद है।

(२) हेतुफलभाव - मतिज्ञान हेतु (कारण) है, और श्रुतज्ञान फल (कार्य) है। क्योंकि यह समातन नियम है कि मतिज्ञान के उपयोग पूर्वक ही श्रुतज्ञान का उपयोग होता है। लेकिन साथ में इतना निश्चित है कि मति-श्रुत की क्षयोपशम लब्धि एक साथ होती है उसी से वे दोनों उस रूप में एक साथ रहते हैं और इन दोनों का काल भी समान होता है। लेकिन उपयोग लब्धि के सामर्थ्य से वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने का विशेष पुरुषार्थ दोनों का साथ में नहीं हो सकता है, क्योंकि यह सैद्धान्तिक नियम है कि दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते - जैसे कि स्तवन में कहा है -

सिद्धान्तवादी संयमी रे भाषे एह विरतंत।

दो उपयोग होवे नहीं रे एक समय मतिवंत रे प्राणी ॥^{६४}

अर्थात् सिद्धान्तवादी संयमियों का यह मत है कि एक समय में दो उपयोग संभव नहीं है।

(३) भेद - मतिज्ञान के २८ भेद एवं श्रुतज्ञान के १४ अथवा २० भेद है। इस प्रकार प्रभेदों में भेद होने से दोनों में भेद है।

(४) इन्द्रियकृत विभाग - श्रोतेन्द्रिय की उपलब्धि द्वारा होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान और शेष इन्द्रियों में अक्षरबोध को छोड़कर होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान है।

(५) वल्क - मतिज्ञान वृक्ष की छाल समान है, क्योंकि यह कारणरूप है और श्रुतज्ञान शुम्ब (दोरी) के समान है। क्योंकि यह मतिज्ञान का कार्यरूप है। छाल से दोरी बनती है। छाल रूप कारण होगा, तो ही दोरी बनती है। उसी प्रकार मतिज्ञान का बोध होने के बाद ही श्रुतज्ञान की परिपाटी का अनुसरण होता है।

(६) अक्षर - मतिज्ञान साक्षर और अनक्षर दोनों प्रकार से होता है। उसमें अवग्रहज्ञानादि अनिर्देश्य सामान्यरूप से प्रतिभास होने से निर्विकल्प है, अनक्षर है, क्योंकि अक्षर के अभाव में शब्दार्थ की पर्यालोचना अशक्य है। अतः अक्षर और अनक्षरकृत भेद है।

(७) मूक - मतिज्ञान स्व का बोध ही करवा सकता है। अथवा मतिज्ञान अपनी आत्मा को बोध कराता है। अतः वह मूक है अर्थात् मूक के समान है, जबकि श्रुतज्ञान वाचातुल्य है, क्योंकि यह स्व और पर दोनों का बोध कराने में समर्थ है। विशेषावश्यकभाष्य^{६५} में विस्तार से इसका वर्णन मिलता है।

पाँच प्रकार से मतिश्रुत का साधर्म्य - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में यद्यपि उपरोक्त सात कारणों से वैधर्म्य है, फिर भी इन दोनों में स्वामी आदि पाँच कारणों से साधर्म्य है, जिसका स्वरूप आचार्य श्री हरिभद्रसूरि

ने 'धर्मसंग्रहणी' एवं नन्दीहारिभद्रीय वृत्ति में बहुत ही सुंदर रूप से किया है।

जं सामिकालकरण विसय परोक्खत्तणेहि तुल्लाइं।

तब्भावे सेसाणि य, तेणाइए मतिसुताइं ॥^{६६}

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान - (१) स्वामी (२) काल (३) कारण (४) विषय (५) परोक्षत्व - इन पाँच कारणों से समान है।

(१) स्वामी - मतिज्ञान के जो स्वामी है वे ही श्रुतज्ञान के स्वामी है और श्रुतज्ञान के जो स्वामी है वे ही मतिज्ञान के स्वामी है क्योंकि कहा -

जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं।

जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं ॥^{६७}

जहाँ मतिज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान होता है और जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहाँ मतिज्ञान होता है।

(२) काल - मतिज्ञान का जितना स्थितिकाल है उतना ही श्रुतज्ञान का है, प्रवाह की अपेक्षा से अतीत, अनागत और वर्तमान रूप सम्पूर्ण काल मतिश्रुत का है। अर्थात् तीनों काल में मति-श्रुत विद्यमान है। एक जीव में सतत अपतितभाव की अपेक्षा साधिक छासठ सागरोपम होता है। जैसे कि -

दो वारे विजयाइसुं, गयस्स तिन्नऽच्चुते अहव ताइं।

अइरेगं नरभवियं, णाणा जीवाणं सव्वद्धं ॥^{६८}

दो वार विजयादि में (सर्वार्थसिद्ध के सिवाय चार अनुत्तर में) जहाँ ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है अथवा तीनबार अच्युतादि में (१२मां देवलोक में) जहाँ २२ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। वहाँ गये जीव को मनुष्य भव के काल को जोड़ने पर साधिक "सागरोपम मति-श्रुत होता है और सभी जीव की अपेक्षा से हमेशा होता है।

(३) कारण - जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रियों के निमित्त से होता है। अथवा जिस प्रकार मतिज्ञान क्षयोपशमजन्य है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी क्षयोपशमजन्य है।

(४) विषय - जिस प्रकार देश से मतिज्ञान का विषय सर्वद्रव्य विषयक है उसी प्रकार श्रुतज्ञान का विषय भी सर्वद्रव्य विषयक है।

(५) परोक्षत्व - इन्द्रिय आदि के निमित्त से होने के कारण मतिज्ञान जिस प्रकार परोक्ष है वैसे ही श्रुतज्ञान भी परोक्ष है। क्योंकि द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य पुद्गल स्वरूप होने से आत्मा से भिन्न है। कहा है कि-

जीवस्स पोगलभया जं दव्विंदिय मणा परा होंति ति ॥^{६९}

पुद्गलमय द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन जीवन से भिन्न है। उसी से यह इन्द्रिय और मन से होनेवाला ज्ञान धूम से अग्नि का अनुमान के समान परोक्ष है। अर्थात् धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान अनुमान से हम करते हैं। अतः वह परोक्ष है। उसी प्रकार यहाँ इन्द्रिय और मन के द्वारा ज्ञान का बोध होने से यह भी परोक्ष है।

सभी ज्ञानों में मति और श्रुत आदि में क्यों ?

यह प्रश्न स्वाभाविक हो सकता है। उसका समाधान आचार्यश्री ने बहुत ही सूक्ष्मता से दिया है एवं अल्प शब्दों में गंभीरार्थ प्रस्फुटित किया है। जैसा कि नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति में -

“इह स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वसाधर्म्यात् तद्भावे च शेषज्ञानभावादादावेव मतिश्रुतज्ञानयोरुपन्यास इति ॥”^{१०}

स्वामि, काल, कारण, विषय और परोक्षत्व का साधर्म्य होने से तथा उसके सद्भाव में शेष ज्ञान होते हैं। अतः मतिश्रुत को सभी ज्ञानों के पहले रखा है। तथा तीनों काल में किसी भी जीवात्मा को मति-श्रुत ज्ञान होता ही है। उसी से मति और श्रुत की उपस्थिति यदि हो तो ही अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। अन्यथा नहीं। अतः मति श्रुत को आदि में अपना स्थान मिला है। उसमें भी मति को प्रथम स्थान और श्रुत को द्वितीय स्थान। क्योंकि शास्त्रों का कथन है कि मतिपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। अथवा मतिज्ञान का विशिष्ट भेद ही श्रुतज्ञान है। इसी कारण से मतिज्ञान को प्रथम रखा गया है।

मइपुव्वं जेणसुयं तेणाईए मई विसिद्धो वा।

मइभेओ चेव सुयं तो मइ समणंतरं भणियं ॥”^{११}

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि रचित ‘धर्मसंग्रहणी’ तथा धर्मसंग्रहणी की टीका में भी इसके स्वरूप का प्रतिपादन इसी प्रकार किया गया है।

आचार्य श्री हरिभद्र के साहित्य की विशेषता है कि अल्पाक्षरों में बहुत कुछ कह देते हैं।

अवधिमनःपर्यव के क्रम में प्रयोजन - मतिश्रुत का चार कारणों से अवधिज्ञान के साथ साधर्म्य है। उसीसे मतिश्रुत के बाद तुरन्त अवधिज्ञान का उपन्यास किया है।

(१) **काल** - सभी जीवों की अपेक्षा से अथवा एक जीव की अपेक्षा से मतिश्रुत की जो कालस्थिति है वही अवधिज्ञान की भी है। जैसे कि एक जीवन की अपेक्षा साधिक छासठ सागरोपम मति श्रुत का है, उतना ही अपतितपरिणामी अवधिज्ञानवाले एक जीव का भी काल है।

(२) **विपर्यय** - जिस प्रकार सम्यग् दर्शन की उपस्थिति में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं वे ही मिथ्यात्व के उदय में मति-अज्ञान, श्रुत अज्ञान रूप में विपर्यय को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार अवधिज्ञान भी विभंगज्ञानरूप में परिवर्तित होता है। जिससे विपर्यय की अपेक्षा से दोनों में साधर्म्य है।

“आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तमिति ॥”^{१२}

मिथ्यात्व से संयुक्त होने पर आदि के तीनों ज्ञान, अज्ञानरूप में परिणत हो जाते हैं।

(३) **स्वामी** - मति श्रुतज्ञान के जो स्वामी हैं वे ही अवधिज्ञान के भी स्वामी हैं।

(४) **लाभ** - इन तीनों ज्ञानों का लाभ भी एक साथ ही होता है, क्योंकि मिथ्यात्व के कारण विभंगज्ञानवाले देवादि को जब सम्यक्त्व प्राप्त होता है तब मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान ये तीनों-

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान में हो जाते हैं। अतः लाभ से भी इनका साधर्म्य है। अर्थात् उस सम्यग्दृष्टि देव को तीनों अज्ञान, ज्ञानरूप में परिणत हो जाते हैं।

अवधिज्ञान के बाद मनःपर्यवज्ञान का प्रयोजन अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान का चार कारणों से साधर्म्य होने से (१) छद्मस्थ (२) विषय (३) भाव (४) प्रत्यक्षत्व।

(१) छद्मस्थ - अवधिज्ञान जिस प्रकार छद्मस्थ को होता है। वैसे ही मनःपर्यवज्ञान भी छद्मस्थ को ही होता है। अतः दोनों के स्वामी समान हैं।

(२) विषय - अवधिज्ञान पुद्गल मात्र को विषय बनाती है। उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान भी पुद्गल मात्र को ही विषय बनाता है।

(३) भाव - दोनों ज्ञान क्षायोपशमिक भाव में वर्तते हैं।

(४) प्रत्यक्ष - दोनों ज्ञान इन्द्रियों एवं द्रव्यमन के बिना आत्मा से ही होते हैं। अर्थात् साक्षात्दर्शी होने से प्रत्यक्ष साधर्म्य वाले भी हैं।^{१३}

इन्हीं कारणों के कारण अवधि के बाद मनःपर्यवज्ञान कहा गया है। तत्त्वार्थ हारिभद्रीयवृत्ति,^{१४} धर्मसंग्रहणी,^{१५} विशेषावश्यकभाष्य^{१६} आदि में भी इनका साधर्म्य मिलता है।

केवलज्ञान अंतिम क्यों ? अतीत अनागत और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान वस्तुएँ और उनके सभी पर्याय के स्वरूप को जानने के कारण केवलज्ञान सर्वोत्तम है। उससे उसका उपन्यास अंत में किया है, अथवा मनःपर्यायज्ञान का स्वामी अप्रमत्त यति है, उसी प्रकार केवलज्ञान के स्वामी भी अप्रमत्त यति है। इस प्रकार स्वामित्व की सादृश्यता के कारण भी मनःपर्यव के बाद केवलज्ञान कहा है, तथा सभी ज्ञानों के बाद अन्तिम केवलज्ञान होता है। अतः उसे अन्तिम रखा गया है।^{१७}

मति आदि पाँच ज्ञानों में आदि के दो मति और श्रुत परोक्ष है और शेष अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। इस प्रकार संक्षेप से इन पाँचों ज्ञानों का दो भेद में समावेश हो सकता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष। दो भेदों का प्रमाण आगम शास्त्रों में भी मिलता है।

दुविहे नाणे पन्नते । तं जहा पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव ।^{१८}

तं समासओ दुविहं पन्नतं पच्चक्खं च परोक्खं च ।^{१९}

प्रत्यक्षज्ञान - अर्थव्यापन अर्थात् अर्थ के अनुसार आत्मा ज्ञानादि सभी पदार्थों में व्याप्त है तथा तीनों लोकों में स्थित देवलोक की समृद्धि आदि अर्थों को भोगने से वह अक्ष (जीव) कहा जाता है। उसके प्रति साक्षात् इन्द्रिय और मन से रहित जो ज्ञान प्रवृत्त होता है वह प्रत्यक्षज्ञान है। अर्थात् साक्षात् आत्मा से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है और वे तीन हैं - अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

वैशेषिक आदि मतवाले 'अक्ष' का अर्थ इन्द्रिय कहते हैं और इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

केसिंचि इंदिआइं, अक्खाइं तदुवलद्धि पच्चक्खं ।

तं नो ताइं जमचेअणाइं, जाणंति न छडोव्व ॥^{१००}

कुछ वैशेषिक दर्शनवाले 'अक्ष' अर्थात् इन्द्रिय कहते हैं। लेकिन अक्ष का अर्थ जीव नहीं स्वीकारते हैं। इसी से वे इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् घटादि पदार्थों की उपलब्धि ज्ञान उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और उसके सिवाय अन्य को परोक्ष मानते हैं। लेकिन उनका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि घटादि के समान इन्द्रियाँ अचेतन होने से वस्तु के स्वरूप को जान नहीं सकती हैं। व्यतिरेक व्याप्ति भी ऐसी बनती है कि जो-जो अचेतन है वे घटादि के समान वस्तु के स्वरूप नहीं जान सकते हैं। इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं। अतः उनको ज्ञान कैसे हो सकता है और यदि इन्द्रियों से ज्ञान ही जब नहीं होता तो इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे कह सकते हैं? इन्द्रियाँ तो मूर्तिमान और स्पर्शादि सहित होने से ज्ञानशून्य हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का 'नन्दिसूत्र' में कहा है -

से किं तं पच्चक्खं । पच्चक्खं दुविहं पण्णतं तं जहा इंदियपच्चक्खं, नोइंदियपच्चक्खं च ।^{१०१}

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष (२) नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।

किसी भी अन्य की अपेक्षा के बिना स्वयं की अपनी निजी शक्ति से जानना प्रत्यक्ष कहलाता है।

अक्ष के दो अर्थ होते हैं - इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (आत्मा) इसी से प्रत्यक्ष के दो भेद हैं।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष - अन्य किसी की सहायता के बिना स्व इन्द्रिय से जानना इन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष - दूसरे किसी सहायता के बिना स्व आत्मा से जानना अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पाँच भेद हैं। (१) श्रोतेन्द्रिय प्रत्यक्ष (२) चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष (३) घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष (४) जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा (५) स्पर्शेन्द्रिय प्रत्यक्ष।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष में किसी गुरु आदि से सुने-पढ़े बिना किसी लिंग, चिह्न आदि के संकेत से अनुमान किये बिना स्वयं की इन्द्रिय से पदार्थ विशेष को जानता है। वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे कि पर्वत की गुफा में रही हुई अग्नि को अपनी आँख से देखना इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। लेकिन व्यक्ति विशेष के कहने से पर्वत में अग्नि को जाना तो यह ज्ञान सुनने से उत्पन्न हुआ अतः प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है। अथवा किसी स्थान पर पढ़ा कि पर्वत में आग लग गई, इस प्रकार अग्नि को जाना तो यह ज्ञान पढ़ने से हुआ, अतएव प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष है, अथवा पर्वत में धुआँ उठ रहा है यह धूमरूप लिङ्ग को देखकर अग्नि का ज्ञान हुआ। अतः प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष है। क्योंकि अनुमान से किया है।

श्रोतेन्द्रिय आदि जो पाँच प्रत्यक्ष हैं उनका विषय शब्द रूप, गन्ध, रस और स्पर्श है। शरीर में जो श्रोत आदि पाँच द्रव्य इन्द्रियाँ दिखाई देती हैं। जिनकी सहायता से आत्मा शब्दादि का ज्ञान करती है, लेकिन वास्तव में इन्द्रियाँ जीव की अपनी नहीं परन्तु पर है, क्योंकि वे जीव से पर अजीव पुद्गल द्रव्यों से निर्मित हैं। अतएव आत्मा द्रव्य इन्द्रियों के निमित्त जो कुछ भी जानता है वह परमार्थ से प्रत्यक्ष नहीं है परन्तु व्यवहार में कर्म संयोग

के कारण आत्मा के साथ संलग्न होने से श्रोतादि इन्द्रियाँ 'पर' होते हुए भी 'स्व' मानी जाती है। इसी से उनके द्वारा होनेवाला ज्ञान भी व्यवहार में 'प्रत्यक्ष' माना जाता है। उस व्यवहार नय का ज्ञान करने के लिए शास्त्रकार ने यहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कह दिया है। लेकिन पारमार्थिक रूप से प्रत्यक्ष नहीं है।^{१०२}

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष - अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकार का शास्त्रों में बताया है -

से किं तं नोइन्द्रियपच्चक्खं - नोइन्द्रियपच्चक्खं तिविहं पण्णतं तं जहा - ओहिनाण पच्चक्खं मण-
पज्जवनाणपच्चक्खं केवलणाणपच्चक्खं।^{१०३}

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेद आगमों में मिलते हैं - (१) अवधिज्ञान प्रत्यक्ष (२) मनःपर्यव प्रत्यक्ष
(३) केवलज्ञान प्रत्यक्ष

किसी से सुने बिना, पढ़े बिना, किसी लिङ्ग, संकेत आदि से अनुमान किये बिना मात्र आत्मा से ही पदार्थ विशेष को जानना अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। जैसे कि गगन मंडल में सूर्य के उदय को आत्मा से ही जानना, कि सूर्य का उदय हो गया है। तो वह अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। यदि किसी से सुना कि सूर्य का उदय हो गया है, अथवा कहीं पढ़ा कि सूर्य उदय हो गया है और उससे जाना कि सूर्य उदय हो गया, तो वह परोक्ष है अथवा सूर्य की किरणों को देखकर अनुमान लगाया कि सूर्य उदय हो गया है तो वह भी परोक्ष ही है, यहाँ तक अपनी आंखों से सूर्योदय को जानना भी परोक्ष है। परन्तु मात्र आत्मा से सूर्योदय जाना गया तो वही पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

इन्द्रिय निमित्त और नोइन्द्रिय निमित्त इस पाठ से सिद्धान्त में मनोनिमित्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि नोइन्द्रिय अर्थात् मन, वहाँ मन शब्द एकदेशवाची है और मन इन्द्रिय का एकदेश है। अतः मनोनिमित्त प्रत्यक्ष यह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष हुआ वह परोक्ष कैसे हो सकता है? यदि ऐसा कोई कहे तो वह योग्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान के प्रसंग में नोइन्द्रिय शब्द में 'नो' शब्द का अर्थ एकदेशवाची नहीं है। परन्तु सर्वनिषेधवाची है उसी नोइन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय का सर्वथा अभाव यही अर्थ समझना होगा, लेकिन नोइन्द्रिय यानि मन यह अर्थ ग्राह्य नहीं होगा। अतः नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा रहित साक्षात् आत्मा को प्रत्यक्ष। अतः नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधि मनःपर्यव और केवलज्ञान जो सर्वथा इन्द्रिय तथा मन के बिना होते हैं उसी को लेना है न कि मन से होनेवाले ज्ञान।

यदि हम नोइन्द्रिय से मन ऐसा अर्थ करेंगे, तो नोइन्द्रिय निमित्त यानि मनोनिमित्त प्रत्यक्ष ऐसा अर्थ होगा, जिससे अवधि आदि ज्ञान मन से उत्पन्न होनेवाले हो जायेंगे और वैसा होने से मनः पर्याप्त से अपर्याप्त देव और मनुष्य को अवधिज्ञान घटित नहीं होगा, क्योंकि उस समय उनको मन का अभाव है। अतः आपकी यह मान्यता अयोग्य है कारण कि 'चुएमिति जाणइ' में च्यवित हो रहा हूँ। "ऐसा महावीर भगवान जानते है।" इत्यादि सिद्धान्तोक्त प्रमाण से देवों को तथा दूसरे भी अवधिज्ञानवालों को अपर्याप्त अवस्था में अवधिज्ञान कहा है।

(३) यदि मनोनिमित्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष रूप में स्वीकारे तो सिद्धों में प्रत्यक्ष का सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा। क्योंकि उनके मन नहीं होता है।

(४) यदि मनोनिमित्तज्ञान परमार्थ से प्रत्यक्ष हो, तो परोक्षरूप में माने गये मति-श्रुतज्ञान में उसका समावेश नहीं होगा, और उससे मतिज्ञान के अट्टावीस भेद भी नहीं होंगे, क्योंकि मन संबंधी अवग्रहादि रूप छःभेद है। उनको मतिज्ञान से भिन्न मानने पड़ेंगे, और भिन्न मानने से पाँच ज्ञान के बदले छः ज्ञान मानने का प्रसंग आ जाता है।^{१०४}

परोक्षज्ञान - परोक्षज्ञान के भी दो भेद इस प्रकार है -

परोक्षनाणे दुविहे पन्नते, तं जहा - आभिनिबोहियनाणे चेव सुयनाणे चेव।^{१०५}

परोक्ष ज्ञान दो प्रकार है - आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान। इन दोनों का वर्णन पाँच ज्ञान के वर्णन में आ गया है।

‘नन्दिहारिभद्रीयवृत्ति’^{१०६} में इसका विवेचन आ. हरिभद्रसूरि ने किया है।

ज्ञान की प्रकाशक सीमा कहाँ तक - ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है। किन्तु आगन्तुक गुण नहीं है। अगर वैसा स्वभाव न हो तो चेतन और जड़ में कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि जड़ भी तादृश स्वभाव से शून्य है। ज्ञान आत्मगुण होने से फर्क तो पड़ सकता है, लेकिन कारण मिलने पर आत्मा में ही ज्ञान दिखाई पड़ता है, जड़ में नहीं, इसका मुख्य कारण यदि कोई हो तो ज्ञान आत्मा का ही स्वभाव होने से कारण सामग्री के सहकार वश आत्मा में ही दिखाई दे यह युक्तियुक्त है। हाँ! इस स्वभाव पर आवरण लग गये है। अतः जैसे-जैसे आवरणों का विनिर्गमन होता जायेगा वैसे-वैसे ज्ञान प्रकट होता जायेगा।

“ज्ञान आत्मा का गुण है या नहीं ?” यह प्रश्न दार्शनिकों की चर्चा का विषय रहा है।

भूतचैतन्यवादी चार्वाक ज्ञान को पृथ्वी आदि भूतों का धर्म मानता है। वह स्थूल अथवा दृश्य भूतों का धर्म नहीं मानता परन्तु सूक्ष्म एवं अदृश्य भूतों के विलक्षण संयोग से उत्पन्न होने वाले अवस्था विशेष को ज्ञान मानता है।

सांख्य के मत से चैतन्य और ज्ञान भिन्न-भिन्न है। पुरुष में स्थित चैतन्य बाह्यपदार्थों को जानता है। बाह्य पदार्थों को जानने के लिए बुद्धितत्त्व जिसे महत्त्व भी कहते हैं और वह प्रकृति का ही परिणाम है। यह बुद्धि दर्पण के समान है। इसमें एक ओर पुरुषगत चैतन्य प्रतिफलित होता है और दूसरी ओर पदार्थों के आकार। इससे बुद्धि के माध्यम से ही पुरुष को “मैं घट को जानता हूँ” यह मिथ्याभिमान होता है।

न्याय-वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण तो अवश्य मानते हैं लेकिन आत्मा द्रव्यपदार्थ पृथक् है तथा ज्ञान गुण पदार्थ भिन्न है। यह आत्मा का यावद् द्रव्यभावी अर्थात् जब तक आत्मा है तब तक उसमें अवश्य रहनेवाला गुण नहीं है किन्तु आत्मा, मनः संयोग, मन इन्द्रिय पदार्थ सन्निकर्ष आदि कारणों से उत्पन्न होनेवाला विशेषगुण है। जब निमित्त मिलते रहेंगे तब तक उत्पन्न होता रहेगा, न मिलने पर न रहेगा।

वेदान्ती ज्ञान और चैतन्य को भिन्न-भिन्न मानकर चैतन्य का आश्रय ब्रह्म और ज्ञान का आश्रय अन्तःकरण को मानते हैं। शुद्ध ब्रह्म में विषयबोध का कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता है।

मीमांसक ज्ञान को आत्मा का ही गुण मानते हैं। इन्होंने ज्ञान और आत्मा को तादात्म्य माना है।

बौद्ध परंपरा में ज्ञान नाम या चित्तरूप है, मुक्त अवस्था में चित्तसन्तति समाप्त हो जाती है। उस अवस्था में यह चित्तसन्तति घटादि पदार्थों को नहीं जानती है।

जैन परम्परा में ज्ञान को अनादि अनंत स्वभाविक गुण माना गया है जो मोक्ष दशा में भी अपनी पूर्ण अवस्था में रहता है।^{१००}

उस ज्ञान के द्वारा धर्मास्तिकायादि समस्त पदार्थों का 'सत्' नामक महासामान्य रूप से ज्ञान होता है। जैसे कि - 'एक घट का यह सत् है'। इस प्रकार सदरूप से ज्ञान हुआ। अब जगत के निखिल पदार्थों को एकरूप से संग्रह करनेवाली दृष्टि से देखा जाय तो यह सम्पूर्ण जगत सत् रूप है। सद् से भिन्न कुछ भी नहीं। अतः एक घट को सत् रूप से जान लेने पर समस्त विश्व को सत् रूप से जान लिया। सत् रूप से ज्ञात होने में जगत का एक भी पदार्थ शेष नहीं रहा। धर्मास्तिकायादि सकल ज्ञेय पदार्थ ज्ञात हो गये, क्योंकि वे सत् है, जो सत् नहीं, वे ज्ञेय भी नहीं बन सकते, जैसे कि शशश्रृंग, आकाशपुष्प।

अतः जो सत् है वह अवश्य ज्ञेय बनता ही है और वह सदरूपता यानि महासामान्य है। इससे कोई भी आवेष्टित है। तथा सामान्य के साथ विशेष का बोध हो जाता है। कारण धर्म सामान्य रूप का अतिक्रमण नहीं करता है।^{१०१}

प्रकृष्ट ज्ञान में सभी पदार्थ ज्ञेय - इन सभी ज्ञेय पदार्थों का बोध तभी सिद्ध होता है जब कि वह ज्ञान प्रकृष्ट हो, क्योंकि जब तक ज्ञान पर आवरण होंगे वहाँ तक प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और तब तक त्रिकालवर्ती सभी ज्ञेय पदार्थों का पूर्ण बोध भी प्रगट नहीं होता है। अतः आचार्य श्री हरिभद्रसूरि 'ललित विस्तरावृत्ति' में इस बात को आलेखित करते हुए कहते हैं कि - 'न चास्य कश्चिद् विजय इति स्वार्थनति-लङ्घनमेव।' इसी विषय को आचार्यश्री मुनिचन्द्रसूरि ने ललितविस्तरा की 'पंजिका' में स्पष्ट किया है - ज्ञानातिशय प्रकृष्टरूपस्य 'कश्चिद्' ज्ञेय विशेष अगोचरः सर्वस्य सतो ज्ञेयस्वभावानतिक्रमात् केवलस्य निरावरणत्वेना प्रति स्खलितत्वात् इति।

अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट होने के बाद कोई ऐसा विषय नहीं रहता जो ज्ञेय न बने। क्योंकि सम्पूर्ण सत्पदार्थ जब ज्ञेय है तो, ज्ञेय का अर्थ यह है कि वे ज्ञान - ग्राह्य है, और जब वैसे ज्ञान के ग्राह्य स्वरूप का वे उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तब वे किसी न किसी ज्ञान के विषय अवश्य बनते हैं, वह है प्रकृष्ट। यह सम्पूर्ण ज्ञेयों का अवगाहन करेगा ही। अतः वह निरावरण ज्ञान की मर्यादा नहीं बांध सकते हैं कि वह उतना ही जान सकता है ज्यादा नहीं। अतः वह निरावरण समस्त ज्ञेयों में अस्खलित रूप से पहुँच सकता है। अतः 'नमुत्थुणं' के अन्तर्गत 'अप्पडिहयवरणाण-दंसणधराणं' पद का अर्थ जो अस्खलित, अप्रतिहत, श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन के धारकत्व है उसका यहाँ अतिक्रमण नहीं होता है, क्योंकि इस विशेषणों से विशिष्ट ही तीर्थंकर, सर्वज्ञ का ज्ञान दर्शन होता है, जिसमें सभी पदार्थ ज्ञेय बनते हैं।^{१०२}

ज्ञान स्वपर प्रकाशक - ज्ञान आत्मगत धर्म है। यह चार्वाक एवं सांख्य को छोड़कर सभी स्वीकारते हैं पर चिन्तनीय प्रश्न यह है कि ज्ञान जब आत्मा में उत्पन्न होता है तब वह दीपक की भाँति स्वपर प्रकाशी उत्पन्न होता है, या नहीं ? इस सम्बन्ध में अनेक दर्शनकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। जैसे कि-

मीमांसक ज्ञान को परोक्ष मानते हैं। उनका कथन है - ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है, जब उसके द्वारा पदार्थों का अवबोध हो जाता है तब अनुमान से ज्ञान को जाना जाता है, क्योंकि पदार्थों की बोधरूप क्रिया करण के बिना शक्य नहीं है। अतः करणभूत ज्ञान होना चाहिए। तथा मीमांसकों का ज्ञान को परोक्ष मानने का यही कारण है कि इन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद द्वारा ही माना है। धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष किसी व्यक्ति विशेष को नहीं हो सकता। उसका ज्ञान वेद के द्वारा ही हो सकता है। फलतः ज्ञान जब अतीन्द्रिय है, तब उसे परोक्ष होना ही चाहिए।^{११०}

इसमें प्रभाकर मिश्र के अनुयायी तो ज्ञान को स्वतः संवेद्य मानते हैं, किन्तु कुमारिल भट्ट के अनुयायी ज्ञान को परोक्ष ही कहते हैं। उनका शास्त्रवचन है कि अप्रत्यक्षा च नो बुद्धिप्रत्यक्षोऽर्थ - अपना ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, ज्ञान में प्रकाशित होनेवाला घटरूप पदार्थ प्रत्यक्ष है, उनका कहना है कि पदार्थ के साथ ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो तो पहला प्रत्यक्षानुभव 'यह घड़ा है' इतना नहीं किन्तु साथ साथ 'यह घड़ा का ज्ञान' यह भी होना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं है वरन् 'यह घड़ा है' इस अनुभव के बाद 'मुझे यह घड़ा ज्ञात हुआ' ऐसा अनुभव होता है, जो कि घड़े में स्थित ज्ञातता का प्रत्यक्ष अनुभव है, 'यह घड़ा ज्ञात है' अर्थात् यह घड़ा ज्ञाततावाला है, इसमें ज्ञातता प्रत्यक्ष हुई और इस ज्ञातता को देखकर आत्मा में ज्ञान हुआ है ऐसा ज्ञान अनुमान यानी परोक्ष अनुभव होता है, प्रत्यक्ष नहीं।^{१११}

'परोक्षबुद्ध्यादिवादिनां मीमांसकादीनाम्।'^{११२}

मीमांसक के मुख्य तीन भेद हैं। (१) कुमारिल भट्ट ज्ञान को नित्य परोक्ष मानता है। (२) प्रभाकर मिश्र ज्ञान को स्व व्यवसायी मानता है। (३) मुरारि मिश्र ज्ञान को अन्य अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से वेद्य मानते हैं, यह न्याय और वैशेषिक मत के समान है।

न्याय, वैशेषिक, मीमांसक के समान ज्ञान को परोक्ष नहीं मानते, किन्तु प्रत्यक्ष ही मानते हैं। परंतु वे भी ज्ञान को स्वप्रकाशक नहीं मानते। परतः प्रकाशक ही मानते हैं। घट का ज्ञान होता है तत्पश्चात् 'घटज्ञानवानह' अर्थात् मुझे घट का ज्ञान हुआ ऐसा मानस प्रत्यक्ष होता है उसको वे अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं। पहला ज्ञान व्यवसायात्मक होता। कैसी भी तीक्ष्ण खड्ग भी स्वयं को तो कभी भी नहीं भेद सकती है। कैसी भी कुशल नर्तकी भी अपने स्कन्ध पर तो कभी भी नहीं चढ़ सकती। उसी प्रकार कैसा भी ज्ञान हो वह स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता है। मात्र घटादि पदार्थों को ही प्रकाशित करता है। वह ज्ञान तो दूसरे ज्ञान से ही ज्ञात होता है। दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञान से इस प्रकार अनवस्था दोष का परिहार जब ज्ञान विषयान्तर को जानने लगता है तब इस ज्ञान की धारा रुक जाने के कारण हो जाता है। यह मत ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।^{११३}

ऐसा ही विवरण 'तर्कभाषा' के 'संस्कृत विवेचन' में वर्णित है।^{१२४}

वेदान्ती के मत में ब्रह्म 'स्वप्रकाशक' है। अतः ब्रह्म का विवर्त ज्ञान स्वप्रकाशी ही होना चाहिए।

सांख्य ने पुरुष को स्वसंचेतक स्वीकार किया है। इसके मत में बुद्धि या ज्ञान प्रकृति का विकार है। इसे महत्तत्त्व कहते हैं। यह स्वयं अचेतन है। बुद्धि उभयमुख प्रतिबिम्बी दर्पण के समान है। इसमें एक ओर पुरुष प्रतिफलित होता है तथा दूसरी ओर पदार्थ। इस बुद्धि पुरुष के द्वारा ही बुद्धि का प्रत्यक्ष होता है स्वयं नहीं।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने 'ललितविस्तरावृत्ति' में ज्ञान की 'स्वपरप्रकाशता' 'बुद्धाणं - बोहियाणं' पद को लेकर सिद्ध की है एवं परमात्मा को प्रत्यक्ष संवेदनवाले बताकर मीमांसक को सत्यता का भान करवाया है। आचार्य श्री हरिभद्र की यह विशिष्टता है कि अल्प अक्षरों में अधिक सार भर लेते हैं। वह इस प्रकार है - सम्पूर्ण जगत अज्ञान स्वरूप भाव निद्रा में अत्यंत सोया हुआ है। तब तीर्थंकर परमात्मा किसी के उपदेश से नहीं, लेकिन स्वयं प्रबल पुरुषार्थ से भावनिद्रा से मुक्त होकर जीवादि के शुद्धज्ञानवाले हुए, अज्ञान की सूचक हिंसादि पाप प्रवृत्तियों से निवृत्त हुए, क्योंकि तत्त्वबोध से सम्पन्न हुए। यह बुद्धता भी गुरु उपदेशवश नहीं, किन्तु विशिष्ट तथाभाव्यत्व वश सिद्ध हुई और बुद्धता स्वयं प्रकाश ज्ञान से हुई। अन्यथा अगर ज्ञान स्वतः प्रकाश न हो अर्थात् विषय के साथ साथ अपना भी संवेदन न करा सकता हो तो वह जीव-अजीव आदि विषयों का भी संवेदन नहीं करा सकता। काष्ठादि पदार्थ में यह दिखाई पड़ता है कि वह स्वप्रकाशक करने में असमर्थ होता हुआ दूसरों को भी प्रकाश नहीं दे सकता। ज्ञान पर प्रकाशक है तो स्वप्रकाशक भी है, इससे ज्ञान की यह स्वसंवेद्यता होने पर ज्ञान को परोक्ष यानि परसंवेद्य माननेवालों का मत युक्तियुक्त नहीं है।^{१२५}

ज्ञाने स्वासंवेद्येऽन्यासंवेद्यत्वम्।^{१२६}

कदाच मीमांसक यह कह दे कि 'ज्ञान स्वतः प्रकाशनमान न होते हुए भी, अन्य अनुमानादि ज्ञान से तो ग्राह्य होने से पदार्थों का प्रकाशक हो सकता है तो यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि कोई भी ज्ञान पर प्रकाशक होने के साथ-साथ अगर स्वप्रकाशक न हो तो उसका बोध कराने अन्य कोई ज्ञान उपायभूत नहीं हो सकता। जब कि देवदत्त अपने ज्ञान के द्वारा ही पदार्थों को क्यों जानता है। यज्ञदत्त के ज्ञान के द्वारा क्यों नहीं जानता ? या प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान के द्वारा ही अर्थ का अबबोध करते दूसरों के ज्ञान से नहीं। इसका मुख्य यदि कोई कारण हो तो वह यही है कि देवदत्त का ज्ञान स्वयं अपने को बताता है और इसलिए उससे अभिन्न देवदत्त की आत्मा को ही बोध होता है कि अमुक ज्ञान मुझे उत्पन्न हुआ। यज्ञदत्त में ज्ञान उत्पन्न हो जाय पर देवदत्त को उसका ध्यान भी नहीं होता है। अतः यज्ञदत्त के ज्ञान द्वारा देवदत्त अर्थबोध नहीं कर सकता, यदि जैसे यज्ञदत्त का ज्ञान उत्पन्न होने पर भी देवदत्त को परोक्ष रहता है, उसी प्रकार देवदत्त को स्वयं अपना ज्ञान परोक्ष हो अर्थात् उत्पन्न होने पर भी स्वयं अपना बोध न करता हो तो देवदत्त के लिए अपना ज्ञान भी यज्ञदत्त के ज्ञान के समान पराया हो गया और उससे अर्थबोध नहीं होना चाहिए। वह ज्ञान हमारे आत्मा से सम्बन्ध रखता है। इतने मात्र से हम पदार्थबोध के अधिकारी नहीं हो सकते जब तक कि वह स्वयं हमारे प्रत्यक्ष अर्थात् स्वयं

अपने ही प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। अपने ही द्वितीय ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष मानकर उससे अर्थबोध करने की कल्पना इसलिए उचित नहीं है कि कोई भी योगी अपने योग्यज प्रत्यक्ष के द्वारा हमारे ज्ञान को प्रत्यक्ष कर सकता है। जैसे कि हम स्वयं अपने द्वितीय ज्ञान के द्वारा प्रथम ज्ञान का, पर इतने मात्र से वह योगी हमारे ज्ञान से पदार्थों का बोध नहीं कर लेता। उसे तो जो भी बोध होगा स्वयं अपने ही ज्ञानद्वारा होगा। तात्पर्य यह है कि हमारे ज्ञान में यही स्वकीयत्व है जो वह स्वयं अपना बोध करता है और अपने आधारभूत आत्मा से तादात्म्य रखता है। यह संभव ही नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाय अर्थात् अपनी उपयोग दशा में आ जाय और आत्मा या स्वयं को उसका ख्याल भी न आये। वह दीपक का सूर्य के सदृश स्वयंप्रकाशी ही उत्पन्न होता है। वह पदार्थ के बोध के साथ स्वयं का भी संवेदन करता है।

अर्थात् इसके लिए दीपक से बढ़कर सम दृष्टांत दूसरा नहीं हो सकता, दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती। भले ही वह पदार्थों को मन्द या स्पष्ट दिखावे, पर अपने रूप को तो जैसा का तैसा ही प्रकाशित करता है। उसी प्रकार कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान अज्ञात नहीं रह सकता। वह तो जगाता हुआ ही उत्पन्न होता है।

यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय तो उसका सद्भाव सिद्ध करना कठिन हो जायेगा। अर्थ प्रकाशन रूप हेतु से उसकी सिद्धि करने में अनेक विघ्न आ जायेंगे। सर्व प्रथम तो अर्थप्रकाशक स्वयं ज्ञान है। अतः जब तक अर्थ प्रकाशक अज्ञात है तब तक उसके द्वारा मूलज्ञान की सिद्धि अशक्य है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि— “अप्रत्यक्षोपलम्बस्य नार्थसिद्धि प्रसिध्यति” अर्थात् अप्रत्यक्ष-अज्ञात ज्ञान के द्वारा अर्थसिद्धि नहीं होती। नाज्ञात ज्ञापक नाम - स्वयं अज्ञात दूसरे का ज्ञापक नहीं हो सकता। यह भी सर्वमान्य सिद्धान्त है। अतः सबसे पहले अर्थप्रकाशक का ज्ञान अत्यावश्यक है।

यदि अज्ञात या अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अर्थ बोध माना जाता है तो सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा हमें सर्वार्थज्ञान होना चाहिए। हमें ही क्यों, सबको सब के ज्ञान के द्वारा अर्थबोध हो जाना चाहिए। अतः ज्ञान को स्वसंवेदी माने बिना ज्ञान का सद्भाव तथा उसके द्वारा प्रतिनियत अर्थबोध नहीं हो सकता। अतः यह आवश्यक है कि उसमें अनुभवसिद्ध आत्मसंवेदित्व स्वीकार किया जाय।

नैयायिक के ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें अनवस्था नामक महादूषण आता है, जब तक एक भी ज्ञान स्वसंवेदी नहीं माना जाता तब तक पूर्व-पूर्व ज्ञानों का बोध करने के लिए उत्तर-उत्तर ज्ञानों की कल्पना करनी ही होगी। क्योंकि जो भी ज्ञानव्यक्ति अज्ञात रहेगी वह स्वपूर्व ज्ञान व्यक्ति की वेदिका नहीं हो सकती। और इस तरह प्रथम ज्ञान के अज्ञात रहने पर उसके द्वारा पदार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। एक ज्ञान के जानने के लिए ही जब इस तरह अनन्त ज्ञान प्रवाह चलेगा तब अन्य पदार्थों का ज्ञान कब उत्पन्न होगा? थक करके या अरुचि से या अन्य पदार्थ के सम्पर्क से पहली ज्ञानधारा को अधूरी छोड़कर अनवस्था का वारण इसलिए युक्ति युक्त नहीं है कि जो दशा प्रथमज्ञान की हुई है जैसे वह बीच में ही अज्ञात दशा में लटक रहा

है। वही दशा अन्य ज्ञानों की भी होगी। दूसरे यदि वह ज्ञान को जाननेवाला द्वितीय ज्ञान स्वयं अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं करता तो उससे प्रथम अर्थज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यदि उसका प्रत्यक्ष किसी तृतीय ज्ञान से मान्य जाय तो अनवस्था दूषण होगा। यदि द्वितीय ज्ञान को स्वसंवेदी मानते हैं तो प्रथम ज्ञान को ही संवेदी मानने में क्या बाधा है ?

“शास्त्रवार्ता समुच्चय” के उपर लघुहरिभद्र नाम से प्रसिद्ध उपाध्याय यशोविजयजी म. ने विशाल ‘स्याद्वाद कल्पलता’ टीका लिखकर उसके हार्द को साहित्य जगत में प्रकाशित किया है। उपाध्यायश्री ने भी ज्ञान की स्वपर प्रकाशता पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं कि - आलोक का प्रत्यक्ष अन्य आलोक के बिना ही हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान का संवेदन भी किसी अन्य ज्ञान आदि नियामक हेतु के बिना ही उसके अपने सहज स्वभाव से ही सम्पन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान की दो शक्तियाँ होती हैं। एक स्वयं ज्ञान को प्रकाशित करनेवाली और दूसरी विषय को प्रकाशित करनेवाली। अतः प्रत्येक ज्ञान अपनी इन स्वाभाविक शक्तिओं से अपने विषय और अपने स्वरूप दोनों का ग्राहक हो सकता है।^{११७}

महामान्य वादिदेवसूरि अपने युग के एक अप्रतिम महा विद्वान् थे। उन्होंने “प्रमाण नय तत्त्वालोक” में ज्ञान को स्व और पर का प्रकाशक प्रतिबोधक और प्रमाणभूत स्वीकार किया है - ‘स्वपर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।’^{११८}

अपनी ही आत्मा ज्ञान का स्वरूप है और अपने से अन्य अर्थ पदार्थ का विनिर्णय भी ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान को सारगर्भित सदैव उपयोगी सर्वमान्य बनाने का सुप्रयास जैनाचार्यों ने किया है।

अपने व्यवसाय को सन्मुखता से प्रकाशन करना और अन्य के भावों का भव्य अर्थ निरूपित करने का शील ज्ञान में ही गंभीर रूप से पाया जाता है। इसलिए ज्ञान स्वात्म प्रकाशक रूप से प्रसिद्ध हो चुका है।

उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. ने भी ‘तर्कभाषा’ में “स्वपर व्यवसायि ज्ञानम् प्रमाणम्” पर विश्लेषण किया है। उनका कथन है कि जैसे तो प्रत्येक ज्ञान स्व-पर उभय का ज्ञान करानेवाला होता है। अतः “व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्” इतना लक्षण भी पर्याप्त हो सकता था। लेकिन मीमांसक ज्ञान को परोक्ष मानते हैं उसका निरसन करने के लिए ‘स्व’ पद रखा है। अर्थात् ‘पर’ के साथ ‘स्व’ का भी बोध करता है तथा ‘पर’ शब्द द्वारा ब्रह्माद्वैतवाद, ज्ञानाद्वैतवाद एवं शब्दाद्वैतवाद का खंडन किया है तथा शून्यवादी माध्यमिकमत का खंडन स्व और पर दोनों द्वारा किया है।^{११९}

ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानकर अचेतन मानने वाले सांख्यों के दुरभिप्राय का निराकरण करने के लिए ज्ञान को ‘स्वपरव्यवसायि’ सिद्ध किया है।

बौद्धों ने ‘प्रमाणं अविशंवादि ज्ञानम्’ ज्ञान अविशंवादि है ऐसा अर्थ किया है। बिना वाद-विवाद से होनेवाला ज्ञान प्रमाणभूत माना है। जब कि आचार्य श्री हरिभद्र ने जैनागमों के अनुसार ज्ञान को ही स्वयं में प्रकाश स्वरूप और पदार्थ को प्रकाशित करने में स्वीकारा है। जैन दार्शनिकों ने ज्ञान की आविष्कृति परिष्कृति

बहुत ही सूक्ष्मता से और सारभूतता से संपादित की है।

वैभाषिक मत के अनुयायी बौद्ध विद्वान् ज्ञान को “बोध प्रमाणम्” इस परिभाषा से पुरस्कृत करते हैं। परन्तु जैन दर्शनकारों ने ज्ञान को सार्वभौमिक स्वीकार किया है।

मीमांसक आदि मान्यताओं का निरसन करने के लिए और ज्ञान के स्व प्रकाश्य की सिद्धि के लिए जैन दर्शन ने अनुमान प्रमाण दिया है -

ज्ञानं स्वव्यवसायि परव्यवसायित्वान्यथाऽनुपपत्तेः प्रदीपवत्।

जो स्व को नहीं जान सकता वह पर का ज्ञान नहीं करा सकेगा। पर का वही ज्ञान करा सकता है जो स्व को जान सकता है। जिस प्रकार प्रदीप, इस बात से सिद्ध होता है कि प्रत्येक ज्ञान स्वपर उभय का निर्णायक होता ही है।^{१२०}

इस प्रकार युक्तियुक्त प्रयोगों से आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के अनुसार ज्ञान हमेशा स्वपर व्यवसायि रूप से प्रख्याति वाला पूर्ण रूप से हमें मान्य रहा है। हमारा ज्ञान इस प्रकार से ‘स्व’ और ‘पर’ के साथ जीवन का साथी भी बन सकता है। ज्ञान आत्मा के साथ निरन्तर रहने वाला निर्मल निश्चय देने वाला महत्वपूर्ण महान् उपयोगी उपकारी चरितार्थ हुआ।

प्रमाण - जो ज्ञान अपने आप में अद्वितीय है, वह भी प्रमाण से प्रिय बनता है, अभिमत माना जाता है। आचार्यप्रवर हरिभद्रसूरि ने ‘षड्दर्शन-समुच्चय’ में ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अभिव्यक्त किया है।

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।

प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥^{१२१}

आचार्य हरिभद्र स्वयं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के लक्षण को बताते हुए कहते हैं कि - यदार्थो को अपरोक्ष स्पष्ट रूप से जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष से भिन्न अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है। ज्ञान में परोक्षता बाह्यपदार्थ के ग्रहण की अपेक्षा से ही है, क्योंकि स्वरूप से तो सभी ज्ञान प्रत्यक्ष ही है।

ज्ञान प्रमाण से ही प्रमाणित बनता है तथा वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता भी प्रमाण से प्रमेय बनती है, उसी विषय को आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन में स्पष्ट उल्लेख किया है -

जिस कारण से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली वस्तु ही सत् होती है। इसीलिए पहले अनन्त धर्मात्मक पदार्थ को प्रमाण का विषय बताया है।

जिस प्रकार आचार्य हरिभद्रने ज्ञान को प्रमाण सहित गौरवान्वित किया है वैसे ही जैन दर्शन को परस्पर निर्विरोध प्ररूपित किया है, प्रमाण के तुल्य ही गिना है।

जैनदर्शनसंक्षेप इत्येष गदितोऽनघः।

पूर्वापरपराघातो यत्र कापि न विद्यते ॥^{१२२}

इस तरह सर्वथा निर्दोष जैन दर्शन का संक्षेप से कथन किया है। इनकी मान्यताओं में कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं है।

आचार्य सिद्धसेन भी प्रमाण की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए कहते हैं।

परशास्त्रों में जो कुछ भी थोड़े सुन्दर, सुवचन, सुयुक्तियाँ चमकती हैं, वे मूलतः तुम्हारी ही हैं। अतः जिनेश्वर वाणी की सुक्तियाँ और सुयुक्तियाँ समुद्र तुल्य हैं और प्रमाणरूप हैं।

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति या काश्चन सुक्ति संपदः।

तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिन वाक्य विप्रुषः ॥^{१२३}

प्रमाण को अधिकारभूत मानकर धर्मसंग्रहणी में आचार्य हरिभद्र ने एक अद्भुत उल्लेख किया है - जीवों में सभी प्रकार का ज्ञान जानने का सामर्थ्य नहीं है तो विज्ञान प्रमाण को प्राथमिकता देते हुए अप्रामाणिक बात को स्वीकार नहीं करते हैं।

जीवस्सवि सव्वेसुं हंत विसेसेसु अत्थि सामत्थं।

अहिगमणम्मि पमाणं किमेत्थ णणु णेयभावो नु ॥^{१२४}

जीव का सभी विषयों में ज्ञान का सामर्थ्य होता है, ऐसा कहते हैं पर इस कथन में प्रमाण क्या? प्रमाण नहीं मिलने पर अस्वीकार्य विषय बनता है, अतः प्रमाण से ही ज्ञेय, अभिधेय अधिकृत किया गया है।

जिसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता हो वह प्रमाण स्वतः ही सिद्ध है। इसी बात को धर्मसंग्रहणीकार हरिभद्र कहते हैं -

सर्वज्ञ आगम के अर्थ के वक्ता है न कि केवलसूत्र के अतः वे स्वयं आगम में फलभूत हैं। इसलिए आगम स्वयं प्रमाणभूत है। इसमें इतरेतराश्रय दोष की संभावना ही नहीं है। क्योंकि प्रमाण सर्व दोष मुक्त होता है।^{१२५}

भगवान उमास्वाति ने 'प्रमाणनयैरधिगम'^{१२६} सूत्र रूप में यह बात कही है। इस सूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र ने 'प्रमीयते अनेन तत्त्वं इति प्रमाणं, करणार्थाभिधानः प्रमाण शब्द इति।'^{१२७}

जिसके द्वारा ज्ञान का अवबोध होता है वह प्रमाण कहलाता है। करण के अर्थ का नाम ही प्रमाण है।

इस प्रकार यथार्थवस्तु का ज्ञान प्रमाण के बिना शक्य नहीं है। तथा प्रमाण युक्त वस्तु ही विबुध जन स्वीकार करते हैं। अप्रामाणित पदार्थों पर अनेक तर्क-वितर्क संदेह आदि होते रहते हैं। अतः शास्त्रों में ज्ञान के साथ प्रमाण को महत्त्व प्रदान किया है।

ज्ञान का वैशिष्ट्य - अज्ञान का पूर्ण अभाव ही वस्तुतः ज्ञान है। जैसे कि अंधकार का सम्पूर्ण अभाव ही परमार्थतः प्रकाश है। क्षण-क्षण क्षीयमाण एवं प्रतिपल परिवर्तित होनेवाले इस संसार में प्रत्येक प्राणी दुःख और अशांति की ज्वालाओं से छटपटा रहा है। इस ज्वालाओं से बचने के लिए उसकी किसी न किसी रूप में रात दिन भाग दौड़ चल रही है। परन्तु अजस्र सुख की अनंतधारा से वह प्रतिपल दूर होता जा रहा है। इसका मुख्य कारण यदि अन्वेषण करते हैं तो ख्याल आता है मनुष्य का अज्ञान ही उसे अनंत सुख से पराङ्मुख बना रहा है। तथा विमुक्ति के सोपानों पर कदम बढ़ाने से रोके हुए है। उसका अपना अज्ञान ही उसे संसार चक्र में भटकाने का काम कर रहा है। मनुष्य का बिगाड़ और बनाव उसके स्वयं के हाथ में है। वह चाहे तो अपने जीवन का

उत्थान कर सकता है और चाहे तो पतन भी कर सकता है। मनुष्य के अन्तःकरण में जब अज्ञान की अन्धकारमयी भीषण आँधी चलती है तब वह भ्रान्त होकर अपने सत्यपथ एवं आत्मपथ से भटक जाता है। लेकिन ज्ञानालोक की अनंत किरणें उसकी आत्मा में प्रस्फुटित होती हैं तो उसे निजस्वरूप का भान-ज्ञान और परिज्ञान हो जाता है। तब बाह्य परबलों से उपर उठकर आत्म-रमणता के पावन पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। आत्मिक विकास उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। लौकिक सुखों-क्षणिक सुखों को तिलाञ्जली देकर अनंत अक्षय सुख की प्राप्ति हेतु अनवरत प्रयत्नशील रहता है। सच्चे सुख की व्याख्या में जैन दर्शनकारों ने स्पष्ट उद्घोषणा की है, कि अज्ञान निवृत्ति एवं आत्मा में विद्यमान निजानंद एवं परमानंद की अनुभूति ही सच्चे सुख की श्रेणि में है। अपनी आत्मा में ही ज्ञान की अजस्रधारा प्रवाहित है, आवश्यकता है, उसके उपर स्थित अज्ञान एवं मोह के पर्दे को हटाने की फिर वह अनंत सुख की धारा, अनंत शक्ति का लहराता हुआ सागर उमड़ने लगेगा।

ज्ञान के द्वारा ही आत्मा कर्म, बन्ध, मोक्ष, हेय, उपादेय, ज्ञेय आदि के स्वरूप को जानता है। तथा उसी के अनुरूप अपनी प्रवृत्ति करता है।

ज्ञान के द्वारा आत्मा में विवेक का दीप प्रज्वलित होता है जिससे उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति पाप-समारंभ से रहित होती है। पाप भय सदैव उसे सताता है।

ज्ञान के द्वारा ही प्रत्येक अनुष्ठान सदनुष्ठान बनता है। अज्ञानी को विधि विधान का ज्ञान ही नहीं होता है। और जब तक सदनुष्ठान नहीं होता वहाँ तक तीर्थ की उन्नति नहीं हो सकती है। तथा श्रेष्ठ फल की भी प्राप्ति नहीं होती। अतः कहा है-ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः। ज्ञान के साथ क्रिया होगी तभी मोक्ष की प्राप्ति संभव है। ज्ञान रहित क्रिया तो छार पर लीपण के समान है।

ज्ञान के द्वारा ही जीवात्मा अनेक तत्त्वों पर चिंतन कर सकता है। ध्यान की श्रेणि में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है और क्षणिकश्रेणि पर आरूढ़ होकर घाति कर्मों का क्षय करके दिव्य केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानी जिन कर्मों को करोड़ों वर्षों में भी क्षय नहीं कर सकता। उन्हीं कर्मों को ज्ञानी ज्ञान के द्वारा ध्यान की श्रेणि में चढ़कर ध्यानान्धि द्वारा एक श्वासोश्वास में नष्ट कर देता है।

ज्ञान यह आत्मा का निजगुण है, निजगुण प्राप्ति से बढ़कर अन्य सुख की कल्पना करना कल्पना मात्र ही है। सुख और दुःख के हेतुओं से अपने आपको परिचित करना ही ज्ञान है।

ज्ञान के द्वारा तत्त्व का निर्णय हठाग्रह और कदाग्रह से मुक्त होकर करता है। तथा वह तत्त्वनिर्णय रूप ज्ञान ही वैराग्य का भी कारण बनता है।

ज्ञान की अगाध चिन्तन धाराओं में डुबा हुआ आत्मा आवरणीय कर्मों का क्षयोपशम एवं क्षय करके विश्व में सम्पूर्ण पदार्थों को जानता तो है ही, लेकिन आगे बढ़कर उत्कृष्ट केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को हाथ स्थित आँवले की भांति देखता है। जगत का एक भी सद् पदार्थ उसके लिए अज्ञेय, अदृश्य नहीं रहता है।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने भी अपने जीवन में ज्ञान के चिन्तन से विवेक दीप को प्रज्वलित करके; ज्ञान

के सौष्ठव से स्वयं एवं अन्य आत्माओं को जागृत किये।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने तो 'धर्मसंग्रहणी' में यहाँ तक कह दिया है, ज्ञान की भक्ति से तो आवरणीय कर्मों का क्षय होता है। लेकिन उसके साथ ज्ञानी ज्ञान के साधन इनके प्रति भी हमारी भक्ति विशेष रूप से होनी अनिवार्य है। आसेवन विधि में उनका कथन है कि ज्ञानदाता के प्रति हमारी सम्पूर्ण सुख सुविधाओं का संयोजन करना भी एक ज्ञान की भक्ति का संयोग स्वीकार किया गया है। इन अधिगम गुणों से मनुष्य उत्तरोत्तर उज्वल ज्ञान प्रिय ज्ञानवान् होने का सामर्थ्य रखता है। अतः ज्ञान स्व का हितकारी पर का उपकारी स्वीकार किया गया है।

नाणस्स णाणिणं णाणसाहगाणं च भत्ति बहुमाणा ।

आसेवन बुद्धादि अहिगमगुणमो मुणेयव्वा ॥^{१२८}

विवेक के प्रदीप को कभी धूमिल न होने देने के लिए आचार्यों ने स्वाध्याय को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। स्वाध्याय श्रुत धर्म का ही एक विशिष्ट अंग है। श्रुतधर्म हमारे चारित्र धर्म को जगाता है। चारित्र से आत्मा की विशुद्धि होती है। आत्मविशुद्धि से कैवल्य की उपलब्धि होती है। कैवल्य से एकान्तिक तथा आत्यन्तिक विमुक्ति, विमुक्त से परमसुख जो मुमुक्षुओं का परम ध्येय एवं अन्तिम लक्ष्य है।

सारांश - ज्ञान मीमांसा अर्थात् जीवन को ज्ञान के प्रकाश पुञ्ज से आलोकित करना, आत्मा के आन्तरिक गुणों में अवगाहन करना है। ज्ञान की विचारणा तभी ही शक्य है जब व्यक्ति बाह्य आडम्बरों चिन्ताओं एवं कार्य-कलापों से अपने आपको दूर रखता है और ज्ञान की अगाध गहराई में तल्लीन निमग्न हो जाता है। जो गहराई में डूबते हैं वही चिन्तन के मोती प्राप्त करते हैं।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ज्ञान के अगाध चिन्तन में डूब गये। तत्पश्चात् उनको जो सिद्धान्त रूपी रत्न प्राप्त हुए उनको शास्त्रों में निबन्ध किये। उन्होंने अपने चिन्तन के मन्थन द्वारा जो ज्ञान की व्युत्पत्ति की वह बहुत ही सचोट एवं सुगम्य है जो उनके शास्त्रों में मिलती है। जिस व्युत्पत्ति को उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकारी है तथा जो आज भी विद्वत् जनों के लिए माननीय एवं प्रशंसनीय बनी है।

ज्ञान के भेद - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान के भेद एवं प्रभेदों का विस्तृत विवेचन और आवरणीय कर्मरूप कारण पाँच होने से ज्ञान के भेद भी पाँच बताये हैं। क्योंकि कारण के बिना कार्य की सिद्धि शास्त्रों में स्वीकृत नहीं की है। प्रभेदों में मतिज्ञान के २८, श्रुतज्ञान के १४ और २०, अवधिज्ञान के ६, मनःपर्यव के २ और केवलज्ञान के परमार्थतः भेद नहीं है उपचार से भेद किये हैं।

वैसे ज्ञान के सभी भेद प्रभेद केवलज्ञान में अन्तर्निहित हो जाते हैं। लेकिन आचार्यश्री ऐसा न करके सभी के भिन्न-भिन्न भेदों-प्रभेदों की प्ररूपणा करके सभी का अपना निजी अस्तित्व अवस्थित रखने का प्रयास किया है। अन्यथा आगमों में जो तीर्थकर प्ररूपित एवं गणधरों द्वारा रचित पाँच ज्ञान के वचन के साथ विरोध आ जाता ऐसा न हो, इस बात को ध्यान में रख के पंचज्ञान की जो सिद्धि 'धर्मसंग्रहणी' जैसे ग्रन्थ में की वह सार्थक सिद्ध होती है।

ज्ञान के क्रम में भी महान् रहस्य छुपा हुआ है। जैसे कि - व्यवहार में हम देखते हैं कि प्रत्येक शिक्षण पद्धति का क्रम होता है। उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान को आगे-पीछे रखने का मुख्य कारण एक-एक ज्ञान की उत्तरोत्तर प्रकृष्टता बढ़ती जाती है तथा दूसरी तरफ एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान के साथ स्वामी, काल, स्थिति आदि साम्यता है। अगर क्रम का प्रतिबंध नहीं हो तो सभी अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

सभी ज्ञानों में प्रकृष्ट एवं सभी ज्ञानों के बाद उत्पन्न होने के कारण केवलज्ञान सबसे अन्तिम रखा गया है। तथा मुक्त अवस्था में भी इसी की प्रकृष्टता अविचल रहती है।

इस प्रकार दीपक की भाँति ज्ञान भी स्वप्रकाशित होकर पर को प्रकाशित करता है और वही प्रमाण की कसौटी पर सत्य साबित हुआ है तथा ज्ञान का वैशिष्ट्य वाङ्मय में सम्यग् रूप से समुज्वल हुआ है।

निष्कर्ष

अनंतज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा ने ज्ञान को प्राथमिकता दी है और इसी प्राथमिकता को प्रमाणभूत उपस्थित करने का संप्रयास आचार्य हरिभद्र का अनुपमेय है।

यह ज्ञान पाँच प्रकार के आवरण के क्षयोपशम से उद्भवित होता हुआ पाँच ज्ञान के रूप में प्रमाणित बनता है। आचार्य हरिभद्र हृदय से तीर्थंकर की मान्यताओं के मनीषी है। इसीलिए अपनी मान्यताओं में तीर्थंकर प्रणित प्रमाण को प्ररूपित करते हैं। इनकी प्ररूपणा धर्मसंग्रहणी में श्रद्धेया बनी है।

आचार्य हरिभद्र ने जीवत्व की सिद्धि में ज्ञान को प्रमुखता दी है। इसी बात को सोदाहरण प्रस्तुत की है। जैसे चन्द्र घने बादलों के बीच में भी चन्द्रिका युक्त रहता है। वैसे ही जीव भी अनेक आवरणों से आच्छादित होने पर भी उसमें ज्ञान की सत्ता अवश्य रहती है।

जीवत्व के ज्ञान के आवरणों के क्षयोपशम को आचार्य हरिभद्र ने दो दृष्टिकोणों से अभिव्यक्त किया है।
(१) स्वाभाविक (२) अधिगमिक।

कर्म जड़तात्मक है और ज्ञान चेतनात्मक है। परन्तु चेतनात्मक ज्ञान में आवरणत्व लाने का कार्य जड़तात्मक कर्म करता है। जिससे ज्ञान अपना पूर्ण प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। कर्म की क्षमता और ज्ञान की योग्यता इन दोनों के बीच अपने जीवत्व को जीवित रखता हुआ जीवन प्रणाली में कर्म की क्षमता का समादर करता है और ज्ञान की योग्यता का सन्मान बढ़ता है।

आचार्य हरिभद्र का मन्थन मतिमान् है जाड्य धर्म कर्म का है और चैतन्य धर्म जीव का है। जीव और कर्म के अनादि सम्बन्ध में ज्ञान का जो महात्म्य है उसको महत्तम रूप से मुखरित करने का प्रयास आचार्य हरिभद्र का श्रेयस्कर है श्लाघनीय रहा है।



तृतीय अध्याय की संदर्भ सूची

| | |
|--------------------------------|----------------------------|
| १. योगशतक | गाथा नं. ६६ |
| २. स्थानांग | स्था.-५, उद्देशो-३ |
| ३. नन्दी हारिभद्रीयटीका | पृ. २४ |
| ४. धर्मसंग्रहणी | गा. ८२२ |
| ५. आचारांग टीका | श्रु.-१, अ.-३, उद्दे.-१ |
| ६. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ.-१४, प्र.अ.-१ सूत्र |
| ७. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ३११ |
| ८. आवश्यक शिष्यहिता टीका | पृ. ४९७ |
| ९. नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २४ |
| १०. स्थानांग सूत्र | स्था. ५, उद्दे. ३, सू. ४६३ |
| ११. अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग-५, पृ. १२८८ |
| १२. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २८, गा. ४ |
| १३. नन्दी सूत्र | सू. ५, पृ. २० |
| १४. विशेषावश्यक भाष्य | गा. ७९ |
| १५. तत्त्वार्थ सूत्र | प्र.अ., सू. ९ |
| १६. धर्मसंग्रहणी | गा. ८१६, भाग-२ |
| १७. कर्मग्रंथ | गा. १/४ |
| १८. धर्मसंग्रहणी | गा. ८१५ भाग-२ |
| १९. नन्दी सूत्र | पृ. ७० |
| २०. अनुयोगद्वार हिन्दी विवेचन | पृ. ९ |
| २१. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. १२२, भाग-२ |
| २२. नन्दी हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. २४ |
| २३. नन्दी सूत्र हिन्दी विवेचन | पृ. ७० |
| २४. अनुयोगद्वार गुजराती विवेचन | पृ. ११ |
| २५. नन्दीहारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २५ |
| २६. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. १२२, भाग-२ |
| २७. षोडशक | श्लो. ११/१ |
| २८. योगदृष्टि समुच्चय | गा. ५३, ५४ |
| २९. दानविशिका | गा. ७/३ |
| ३०. कथारत्न कोष | गा. २ पृ. १०९ |
| ३१. षोडशक टीका | पृ. २५२ |

| | |
|--|--------------------|
| ३२. योगबिन्दु | पृ. २५३ |
| ३३. पञ्चाशक | अ. ३/५ |
| ३४. सम्बोध प्रकरण | गा. ३/६२ |
| ३५. श्रावक प्रतिमा विंशिका | श्लो. १०/४ |
| ३६. षोडशक प्रकरण | श्लो. ११/७ |
| ३७. वही | श्लो. ११/८, ९ |
| ३८. धर्मबिन्दु | अ. ६/३० सूत्र |
| ३९. उपदेशपद | गा. ८८८, ८८९ |
| ४०. देशनाद्वात्रिंशिका | श्लो. २/११, १२, १३ |
| ४१. अध्यात्म उपनिषद् | श्लो. १/६५, ६६, ६७ |
| ४२. नन्दीसूत्र हिन्दी विवेचन | पृ. ७१ |
| ४३. अनुयोग गुजराती अनुवाद | पृ. १२ |
| ४४. नन्दीहारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २५ |
| ४५. नन्दीसूत्र हिन्दी विवेचन | पृ. ७१ |
| ४६. अनुयोगद्वार हिन्दी अनुवाद | पृ. १४ |
| ४७. नन्दीहारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २५ |
| ४८. देववंदनमाला (चैत्यवंदन-मनःपर्यवज्ञान का) | गा. ४/२ |
| ४९. नन्दीसूत्र हिन्दी विवेचन | पृ. ७१ |
| ५०. अनुयोगद्वार गुजराती अनुवाद | पृ. १६, १७ |
| ५१. नन्दीहारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २५ |
| ५२. विशेषावश्यक भाष्य | गा. ७८ से ८४ |
| ५३. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ६२, ६३ |
| ५४. तत्त्वार्थ सूत्र | सू. १/४ |
| ५५. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ६५ से ६७ |
| ५६. नन्दि हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ६३ |
| ५७. तर्कभाषा | पृ. ३८ से ६२ |
| ५८. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. १/१५, १६ |
| ५९. कर्म ग्रंथ | गा. १/४, ५ |
| ६०. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | पृ. ७२ से ७५ |
| ६१. कर्मग्रंथ | गा. १/६ |
| ६२. योगशास्त्र | श्लो. १/१६ |
| ६३. नन्दी हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ७५ |
| ६४. विशेषावश्यक भाष्य | गा. ५४९-५० |

| | |
|-------------------------------------|--------------------------|
| ६५. वही | गा. ५०१ से ५४८ |
| ६६. तर्क भाषा | पृ. ६३ |
| ६७. कर्मग्रंथ | गा. १/७ |
| ६८. गोम्मटसार | गा. ३१६, ३१७ |
| ६९. स्थानांग सूत्र | २ स्था, उद्दे. १, सू. १५ |
| ७०. नन्दीहारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ३१ |
| ७१. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. १/२३ |
| ७२. कर्मग्रंथ | गा. १/८ |
| ७३. नन्दी हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ३२ |
| ७४. तर्क भाषा | पृ. ६९, ७० |
| ७५. नन्दी हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ४५ |
| ७६. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ८२, ८३ |
| ७७. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. १/२४ |
| ७८. तर्कभाषा | पृ. ७३ |
| ७९. नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ४८ |
| ८०. धर्मसंग्रहणी. | गा. ८३६ से ८४७ |
| ८१. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. १३३, १३९ |
| ८२. धर्मसंग्रहणी | गा. ८४० |
| ८३. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. १३४ |
| ८४. देववंदनमाला, ज्ञान का चैत्यवंदन | ५/४ |
| ८५. विशेषावश्यक भाष्य | गा. ९७ |
| ८६. धर्मसंग्रहणी | गा. ८५१ |
| ८७. नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २६ |
| ८८. वही | पृ. २५ |
| ८९. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. १४१ |
| ९०. नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २५ |
| ९१. विशेषावश्यकभाष्य | गा. ८६ |
| ९२. धर्मसंग्रहणी टीका | पृ. १४२ |
| ९३. नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. २६ |
| ९४. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय वृत्ति | पृ. ५७ |
| ९५. धर्मसंग्रहणी | गा. ८५४ |
| ९६. विशेषावश्यकभाष्य | गा. ८५, ८६, ८७ |
| ९७. धर्मसंग्रहणी | गा. ८५५ |

| | |
|-----------------------------------|---------------------------|
| १८. स्थानांग सूत्र | स्था. २, उद्दे. १, सू. १५ |
| १९. नन्दीसूत्र | सू. २ |
| १००. विशेषावश्यक भाष्य | गा. ११ |
| १०१. नन्दीसूत्र | सू. २ |
| १०२. नन्दी हारिभद्रीयवृत्ति | पृ. २७ |
| १०३. नन्दी सूत्र | सू. ३ |
| १०४. विशेषावश्यकभाष्य | पृ. ५९ |
| १०५. स्थानांग सूत्र | स्था. २, उद्दे. १, सू. १५ |
| १०६. नन्दीहारिभद्रीयवृत्ति | पृ. ५७ |
| १०७. न्यायविनिश्चयप्रस्तावना | पृ. ३८ |
| १०८. ललितविस्तरा | पृ. १८४ |
| १०९. ललितविस्तरा पञ्जिका | पृ. १८७ |
| ११०. न्यायविनिश्चय | पृ. ३९ |
| १११. ललितविस्तरावृत्ति | पृ. १९९ |
| ११२. तर्कभाषा | पृ. १० |
| ११३. स्याद्वाद मञ्जरी | पृ. १४३ |
| ११४. तर्क भाषा | पृ. १० |
| ११५. ललित विस्तरा पञ्जिका | पृ. १९९ |
| ११६. ललित विस्तरा वृत्ति | पृ. २०० |
| ११७. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय टीका | पृ. २७० स्त. १ |
| ११८. प्रमाणनय तत्त्वालोक | परिच्छेद-१/२ सू. |
| ११९. तर्क भाषा | पृ. १० |
| १२०. तर्क भाषा संस्कृत विवरण | पृ. १२० |
| १२१. षड्दर्शन समुच्चय | का. ५६ |
| १२२. वही | का. ५८ |
| १२३. षड्दर्शन समुच्चय टीकान्तर्गत | पृ. ३९३ |
| १२४. धर्मसंग्रहणी | गा. १२२१ |
| १२५. वही | गा. १२७० |
| १२६. तत्त्वार्थ सूत्र | सू. १/६ |
| १२७. तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | सू. १/६ |
| १२८. धर्मसंग्रहणी | गा. ८२० |



चतुर्थ अध्याय

आचार मिमांसा

- * आचार की परिभाषा
- * आचार का स्वरूप
- * आचार का आधार आत्मज्ञान
- * आचार के भेद
- * ज्ञानाचार
- * दर्शनाचार
- * चारित्राचार
- * तपाचार
- * वीर्याचार
- * श्रावकाचार
 - पाँच अणुव्रत
 - तीन गुणव्रत
 - चार शिक्षाव्रत
- * श्रमणाचार
 - पाँच महाव्रत
 - सतरह संयम
 - पाँच चारित्र
 - बावीस परिषह
 - आचार का वैशिष्ट्य

चतुर्थ अध्याय

आचार - मीमांसा

आचार की परिभाषा - जैन वाङ्मय के साथ-साथ सभी दर्शनों में 'आचार' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा सभी ने आचार को मान्यता प्रदान की है। आचार से जीवन में सुस्थिरता आती है। आचार के द्वारा जीव को प्रशस्त मार्ग प्राप्त होता है। अतः जैन दर्शनकारों ने आचार को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। आचार व्यक्ति को मर्यादा में रहकर जीवन जीना सिखाता है। अतः आगमकारों ने आचार शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी है :

“आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा आ मर्यादयाचारोविहार आचारः”¹

मर्यादा में रहकर ज्ञानादि पाँच प्रकार के आचारों का पालन करना ही आचार है अथवा मोक्ष के लिए लिये जानेवाले अनुष्ठान विशेष आचार है। अथवा पूर्वाचार्यों द्वारा आचारित किये गये ज्ञानादि आसेवन विधि आचार है।²

आचार्य हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक बृहद् टीका³ में तथा सम्यक्त्व सप्ततिका⁴ में 'आचरणं आचार' जिसका आचरण किया जाय वह आचार। इस व्याख्या में कुछ शंका संभवित है, क्योंकि प्रत्येक क्रिया को यदि आचार कहा जायेगा तो, जीवन में अनर्थकारी होनेवाली क्रियाएँ भी आचार बन जायेगी, जो कि योग्य नहीं है। अतः मुनिचन्द्रसूरि ने धर्मबिन्दु की टीका में आचार की व्याख्या इस प्रकार की है - 'आचारो लोचास्नानादि साधु क्रिया रूप व्यवहारः'⁵ आचार अर्थात् लोच अस्नानादि साधु की क्रिया रूप व्यवहार। इस प्रकार का आचार जीवन को उन्नत बनाता है। क्योंकि अज्ञानी बाल जीव भी इस प्रकार के आचार को देखकर बोध प्राप्त कर लेता है। वे आत्मा तो आचार को देखकर ही अनुमोदना करते हैं। आचार को पालता हुआ आचारवान् सभी के लिए आदरणीय बनता है। इसलिए महापुरुषों ने आचार संबंधी अनेक ग्रंथों की रचना की है। स्वयं परम तारक परमात्मा केवलज्ञान की दिव्य ज्योति प्राप्त होने के पश्चात् प्रथम आचार सम्बन्धी ही उपदेश देते हैं। उसके बाद अन्य उपदेश देते हैं। जैसे कि -

सव्वेसिं आचारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।

सेसाइं अंगाइं एकारस आणुपुव्वीए ॥⁶

तीर्थंकर देव तीर्थ प्रवर्तन के समय सर्व प्रथम आचार का उपदेश देते हैं। इसके पश्चात् क्रमशः अन्य अंगों का प्रवचन करते हैं। अतः अंगों में आचारांग को प्रथम स्थान दिया है। तथा गणधर भगवंत भी सूत्र की रचना इसी क्रम से करते हैं।

लेकिन समवायांग वृत्ति में अभयदेव सूरी ने यह बताया है - आचारांग स्थापना की दृष्टि से प्रथम है लेकिन रचना की दृष्टि से १२वां अंग है।^७

जिन आचारों का उपदेश स्वयं तीर्थंकरों ने दिया है उसका पालन उन्होंने स्वयं ने भी किया है।

उनका अनुसरण करके ही आचार्य हरिभद्रसूरी ने आचार संबंधी, दशवैकालिक टीका, पिंडनिर्युक्ति, श्रावक धर्मविधि प्रकरण, पंचवस्तुक, पञ्चाशक आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है।

पूर्वाचार्यों से चली आ रही यह आचार परंपरा आज भी अखंडित अजस्र रूप से चल रही है और उसी आचारों की मर्यादा में रहकर आत्मा ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है।

प्रत्येक धर्म में जीवन को ऊंचा उठाने के लिए आचार मीमांसा की महत्ता बताई गई है। क्योंकि आचार विहीन व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता है और मूल्य रहित जीवन जीने की कोई महत्ता नहीं रहती है।

आचार का स्वरूप - जैन वाङ्मय में श्रावक संबंधी एवं साधु संबंधी दोनों प्रकार के आचारों का वर्णन मिलता है। श्रावक गृहस्थ धर्म का पालन करता हुआ अपनी आचार वृत्ति का पालन करे, एवं साधु संसार से विरक्त बनकर तीर्थंकर उपदिष्ट आचारों का पालन करे। जैसे कि -

नवकारेण विबोहो अणुसरणं सावओ वयाइ में।

जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं तु विहिपुव्वं ॥

तव चेइहरगमणं सक्कारो, वंदणं गुरु सगासे।

पच्चक्खाणं सवणं, जइ पुच्छा उचियकरणिज्जं ॥^८

श्रावक को नमस्कार महामंत्र के साथ उठना चाहिए अर्थात् शय्या को छोड़ते हुए नमस्कार महामंत्र का स्मरण करना चाहिए। 'मैं श्रावक हूँ। ऐसा स्मरण करना चाहिए। व्रत आदि में योजित करना चाहिए। उसके विषय में मन-वचन व काया से प्रवृत्त होना चाहिए। चैत्यवंदन तथा विधि पूर्वक पच्चक्खाण ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद पाँच प्रकार के अभिगम की आराधनापूर्वक संघ चैत्य में प्रवेश कर, पुष्पादि आभूषणों से तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा करे, विधि पूर्वक चैत्यवंदन करे, तत्पश्चात् गुरु महाराज के पास जाकर वंदन, पुनः गुरु साक्षी से पच्चक्खाण ले, आगम के उपदेश सुने। उसके बाद साधु को शरीर और संयम की सुखशाता पूछे और बिमार-ग्लान साधु की वैयावच्च के लिए औषधादि लाकर देवे तथा प्रतिक्रमण, काउसग्ग, ध्यान आदि करे।

'पञ्चाशक सूत्र'^९ 'सावयपन्नति'^{१०} में भी यह स्वरूप बताया गया है तथा श्रावक ज्ञानाचार आदि आचारों का भी पालन करे। उन आचारों को आगे बतायेंगे।

प्रत्येक आस्तिक दर्शन का साधक अपने इष्ट देव के स्मरण पूर्वक उठता है तथा अपने इष्टदेव की पूजा एवं संध्याकर्म आदि अवश्य करता है। अतिथि सत्कार अनुकम्पादान आदि प्रवृत्ति भी करता है।

आचारांग में साधु के आचारों का वर्णन इस प्रकार बताया है -

सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र तपोवीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः।

पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः ॥^{११}

‘आचारांग सूत्र’ में जिनेश्वर भगवंतो ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य आदि पाँच प्रकार का साधु का आचार कहा है। उसको विधि पूर्वक जानना चाहिए तथा धर्मबिन्दु की टीका में लोच, स्नान नहीं करना भी साधु के आचार बताये है। दशवैकालिक में भी इसी बात को आचार्य शय्यंभवसूरि ने कही है।

निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, खरीदा गया, आदरपूर्वक निमंत्रित कर दिया जाने वाला, निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सन्मुख लाया हुआ भोजन, रात्रिभोजन, स्नान, गंध द्रव्य का विलेपन, माला पहनना, पंखा से हवा लेना, खाद्य वस्तुओं का संग्रह करना, रात वासी रखना, गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, राजा के घर से भिक्षा ग्रहण करना, अंगमर्दन करना, दांत पखारना, गृहस्थ की कुशल पृच्छा करना, दर्पण देखना - ये श्रमण के लिए त्याज्य है। इनका त्याग करना ही आचार है।^{१२}

यही बात श्री भागवद् में वानप्रस्थों के लिए कही है -

केषरोम-नख-श्मश्रु-मलानि विभूयादतः ।

न धावेदंप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः ॥^{१३}

केश, रोएँ, नख और मूँछ दाढ़ी रूप शरीर के मेल को हटावे नहीं, दातुन न करे, जल में घुसकर, त्रिकाल स्नान न करे और धरती पर ही पड़ा रहे। यह विधान वानप्रस्थों के लिए है।

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते है। हेमन्त में खुले बदन रहते है और वर्षा में प्रतिसंलीन होते है एक स्थान में रहते है।^{१४} साधु कैसे चले ? कैसे खड़ा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पापकर्म न हो । जो यतना से चलता है, यतना से ठहरता है और यतना से सोता है, यतना से भोजन करता, यतना से भाषण करता है- वह पाप बन्ध नहीं करता है और अपने आचारों में स्थित रहता है।^{१५}

अन्य दर्शनों में साधुओं के लिए इस प्रकार के आचार बताये है - ग्रीष्म में पंचाम्नि से तपे, वर्षा में खुले मैदान में रहे और हेमन्त में भीगे वस्त्र पहनकर क्रमशः तपस्या की वृद्धि करे। यह विधान भी वानप्रस्थाश्रम को धारण करनेवाले साधक के लिए है।^{१६}

श्रीभागवद् गीता में स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया कि - हे केशव ! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण है ? और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?^{१७} भिक्षु यतना से चले, यतना से बैठे, यतना से ठहरे, यतना से सोए, यतना से भोजन करे, यतना से अपने अंगों को प्रसारित करे।^{१८}

आचार का आधार आत्मज्ञान

जैन शासन में आचार का आधार आत्मज्ञान बताया है। “आचारेणैवात्मसंयमो भवति” - आचार के द्वारा ही आत्मसंयम की प्राप्ति होती है और संयमित आत्मा को आत्मज्ञान होता है तथा आत्मज्ञानी आत्मा ही आचारों का सुसमाहित बनकर पालन कर सकता है और जिससे सर्व श्रेष्ठ मोक्ष पद को भी प्राप्त कर सकता है ।

जैसे आचारांग चूर्ण में कहा है -

‘एत्थ य मोक्खोवाओ एत्थ य सारो पवयणस्स’ - आचार ही मोक्ष उपाय का साधन है तथा यही प्रवचन का सार है।^{१९}

अनाचार अहितकारी है ऐसा जानकर साधक आत्माओं को आचार में प्रवृत्त होना चाहिए। जैन परम्परा में जो आचार संहिता है उसके पीछे अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का दृष्टिकोण प्रधान है। अन्य भारतीय परम्पराओं ने भी न्यूनाधिक रूप से उसे स्वीकार किया है।

जैन दर्शन में श्रमण के लिए स्नान, सचित आदि का सम्पूर्ण त्याग की बात कही है। जबकि तथागत बुद्ध ने पन्द्रह दिन से पहले जो भिक्षु स्नान करता है उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी माना है।^{२०} तथागत ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया - भिक्षुओं ! नहाते हुए भिक्षु को वृक्ष से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको ‘दुष्कृत’ की आपत्ति है।^{२१}

विनय पिटक में जूते, खडाऊ, पादुका आदि की विधि-निषेध सम्बन्धी चर्चाएँ हैं। उस समय षड्वर्गीय भिक्षु जूता धारण करते थे। बुद्ध ने कहा भिक्षुओं को गाँव में जूता पहनकर प्रवेश नहीं करना चाहिए। दीर्घ निकाय में तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए माला गंध विलेपन, उबटन तथा सजने सजाने का निषेध किया है।^{२२}

भगवान् महावीर की भाँति तथागत बुद्ध की आचार संहिता कठोर नहीं थी। कठोरता के अभाव से स्वच्छंदता से नियमों का भंग करने लगे। तब बुद्ध ने स्नान के विषय में अनेक नियम बनाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं ने श्रमण और संन्यासी के लिए कष्ट सहन करने का विधान एवं शरीर-परिकर्म का निषेध किया है। यह सत्य है कि ब्राह्मण परम्परा ने शरीर-शुद्धि पर बल दिया तो जैन परम्परा ने आत्म-शुद्धि पर विशेष बल दिया। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जो बातें स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मानी हैं उन्हें शास्त्रकारों ने आनाचार कहे हैं, क्योंकि श्रमण शरीर से आत्म-शुद्धि पर अधिक बल देते हैं। स्वास्थ्य रक्षा से पहले आत्म-रक्षा आवश्यक है। ‘अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं’ श्रमण सभी इन्द्रियों से निवृत्त आत्म-रक्षा करता है। शास्त्रकार ने आत्मरक्षा पर अधिक बल दिया है। जबकि चरक और सुश्रुत ने देह रक्षा पर बल दिया है। उनका यह स्पष्ट मानना है कि जिस प्रकार नगर रक्षक नगर का ध्यान रखता है, गाड़ीवाला गाड़ी का ध्यान रखता है, वैसे ही विज्ञ मानव शरीर का पूरा ध्यान रखें।^{२३}

सौवीरांजन आदि स्वास्थ्य दृष्टि से चरक संहितादि में उपयोगी बनाये। वे ही आत्मा की दृष्टि से आगम में साहित्य में श्रमणों के लिए निषिद्ध कहे हैं।^{२४}

आचार के भेद

‘स्थानांग’ आदि में आचार के पाँच भेद बताये हैं। वे इस प्रकार हैं -

पंचविहे आयेरे पण्णत्ते-तं जहा णाणायाये, दंसणायाये, चरित्तायाये, तवायाये, वीरियायाये।^{२५}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु आदि में इनके भेदों के साथ प्रभेदों का भी समुल्लेख किया है। जिसका वर्णन आगे करेंगे।

‘तथा ज्ञानाद्याचार कथनमिति।’^{२६}

ज्ञानदर्शन चारित्रतपोवीर्याचार विषयाः, पञ्चविधः, पञ्चप्रकारः, स चाचारः, पुनः विज्ञेयो ज्ञातव्य इति।^{२७}

‘दशवैकालिक निर्युक्ति’ में भी ये पाँच भेद आचार के बताये हैं।

दंसणनाणचरित्ते तवआयरो वीरियायारे।

एसो भावायारो पंचविहो होइ नायव्वो ॥^{२८}

आचार के पाँच प्रकार हैं - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। प्रायः सभी जगह इसी क्रम से आचार का वर्णन मिलता है। लेकिन दशवैकालिक निर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने दंसण अर्थात् ‘दर्शनाचार’ को प्रथम और ‘ज्ञानाचार’ को द्वितीय क्रम में लिया है। लेकिन वहाँ उसका कोई विशेष कारण स्पष्ट नहीं किया है। लेकिन इसका कारण यह हो सकता है कि छद्मस्थ आत्माओं को प्रथम दर्शन (श्रद्धा) में स्थिर करने के लिए दर्शनाचार के अतिचार बताये जाते हैं। प्रथम उन्हें सामान्य बोध ही होता है। तत्पश्चात् ज्ञान का बोध सुस्थिर बनता है। इसलिए उमास्वामि म.सा. ने भी ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ में प्रथम दर्शन ही कहा है। जैसे कि - सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः।^{२९}

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। इन्होंने भी यहाँ छद्मस्थ जीवों की अपेक्षा से ही प्रथम दर्शन को ग्रहण किया है।

इसके प्रभेदों का वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरि ने विस्तार से अपने ग्रन्थों में किया है।

(१) ज्ञानाचार - ज्ञानादि आचार संबंधी छोटे-बड़े अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए, क्योंकि जीवन के कार्य कलापों में अनेक प्रकार से ज्ञान की आशातना होती है। अतः अतिचारों की संभावना रहती है। शास्त्रों में ज्ञान के आचार के आठ भेद बताये हैं। वे इस प्रकार हैं -

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह य अनिण्हवणे।

वंजण अत्थतदुभए, अडुविहो नाणमायारो ॥

१. काल - स्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना यह काल संबंधी आचार है। अकाल में पढ़ने से उपद्रव होते हैं।
२. विनय - ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के पुस्तकों आदि साधनों का उपचार रूप विनय करना।
३. बहुमान - ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों पर आंतरिक प्रेम, बहुमान भाव होना।
४. उपधान - तप पूर्वक अध्ययन उद्देशा आदि का अभ्यास करना।
५. अनिहव - श्रुत का या श्रुतदाता गुरु का अपलाप नहीं करना।
६. व्यञ्जन - सूत्रों और अक्षरों जैसे हो वैसे लिखना अर्थात् गलत लिखना या बोलना नहीं।

७. अर्थ - जिस सूत्र का जो अर्थ हो उस सूत्र का वैसा अर्थ ही करना।

८. तदुभय - सूत्र और अर्थ ये दोनों गलत न लिखना, न बोलना।

(२) दर्शनाचार - दर्शन सम्बन्धी भी आठ आचार है। इससे सम्यग् दर्शन की शुद्धि होती है।

निस्संकिय-निष्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ।

उववूहथिरीकरणे वच्छल्लप्पभावणे अट्ठ ॥

१. निःशंकित - जिन वचन में शंका नहीं करना।

२. निष्कांक्षित - अन्य दर्शन की इच्छा नहीं करना।

३. निर्विचिकित्सा - धर्म के फल की शंका नहीं करना।

४. अमूढदृष्टि - कुतीर्थिकों की ऋद्धि, चमत्कार आदि देखकर मोहित नहीं होना।

५. उपबृंहणा - धर्मों के गुणों की प्रशंसा करना।

६. स्थिरीकरण - धर्म में प्रमाद करनेवालों को धर्म में स्थिर बनाना।

७. वात्सल्य - साधर्मिक का बहुमान पूर्वक कार्य करना।

८. प्रभावना - श्रुतज्ञान आदि से शासन प्रभावना करना।

जिनवचन पर श्रद्धा होती है तब दर्शन के आचार संबंधी व्यवहार होता है।

(३) चारित्राचार - चारित्र सम्बन्धी आचार वह चारित्राचार है। इसके आठ भेद बताये हैं।

पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समिइहिं तिहिं गुत्तीहिं।

एस चरित्तायारी अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥

प्रणिधान अर्थात् मनकी शुभ एकाग्रता। योग यानि व्यापार मन की एकाग्रता रूप व्यापार या मनकी एकाग्रता की प्रधानतावाला व्यापार प्रणिधान योग। अथवा योग यानि मन का निरोध। प्रणिधान और मनो निरोध से युक्त वह प्रणिधानयोग युक्त।

जो जीव पाँच समिति और तीन गुप्ति में प्रणिधान और योग से युक्त है। वह जीव आठ प्रकार के चारित्राचार वाला है। यहाँ पाँच समिति और तीन गुप्ति - ये आठ चारित्राचार होने पर भी आचार आचारवान् के अभेद से पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त जीव को चारित्राचार कहा है।

इस गाथा की उक्त व्याख्या वृद्ध पुरुषों ने की है। दूसरे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं।

प्रणिधान और योग से युक्त तथा समिति आदि से पहचाने जानेवाला आचार चारित्राचार है। इस व्याख्या में 'एष' पद से जीव नहीं किन्तु आचार का ग्रहण किया है।

(४) तपाचार - जो जीव सर्वज्ञ प्रणीत छः प्रकार का अभ्यंतर और छः प्रकार का बाह्य - इस प्रकार बारह प्रकार के तप में खेद रहित, निःस्पृहता से प्रवृत्ति करता है। वह जीव बारह प्रकार का तप है। यहाँ जीव के द्वारा किया जाता हुआ तप तपाचार होने पर भी आचार और आचारवान् में अभेद सम्बन्ध होने से तपाचार है।

कार्मणरूप अभ्यंतर शरीर को ही तपाने से और सम्यग् दृष्टि से तप रूप में पहचाने जाने से प्रायश्चित्तादि छः प्रकार का अभ्यंतर तप है। बाह्य शरीर को भी तपाने से और मिथ्यादृष्टिओं से भी तप रूप में पहचाने जाने से अनशनानादि छः प्रकार का बाह्य तप है। वह इस प्रकार है-

अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।

कायकिलेसो संलीण-या य बज्झो तवो होइ ॥

१. अनशन - एकासना, बिआसना, आयंबिल, उपवास आदि।
२. ऊणोदरी - भूख से पाँच-सात कवल कम खाना।
३. वृत्तिसंक्षेप - आवश्यकता से कम वस्तु खाकर संतोषी होना।
४. रसत्याग - घी, दूध आदि विगईयों का त्याग करना।
५. कायक्लेश - लोचादि कष्ट सहन करना।
६. संलीनता - अंगोपांगों को संयम में रखना।

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।

ज्ञाणं उस्सग्गो वि य अब्भितरओ तवो होइ ॥^{३०}

१. प्रायश्चित्त - अतिचारों की गुरु के पास में आलोचना करके उसकी शुद्धि के लिए तपश्चर्या करना, दस प्रकार का प्रायश्चित्त है।
२. विनय - ज्ञान-दर्शन-चारित्र तथा शासन के दूसरे अंगों की तरफ भी हृदय की भक्ति से बहुमान रखना। यह अनेक प्रकार का है।
३. वैयावच्च - अरिहंत प्रभु तथा आचार्यादिक की सेवा भक्ति करना आदि १० प्रकार का वैयावच्च है।
४. स्वाध्याय - पढ़ना, पढ़ाना, पुनरावर्तन, प्रश्न पूछने, समाधान करना, धर्मोपदेश देना आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय है।
५. ध्यान - पाँच प्रकार का धर्मध्यान और चार प्रकार का शुक्लध्यान।
६. कायोत्सर्ग - कर्मक्षय के लिए पाँच, दस आदि लोग्सस का कायोत्सर्ग करना। मन, वचन, काया को बाह्यभाव से वीर्यराना।
७. वीर्याचार - वीर्य यानि शक्ति, पराक्रम। उपरोक्त आचारों को शक्ति पूर्वक पालना।

अणिगूहियबलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।

जुंजइ य जहाथामं, णायव्वो वीरियायारो ॥^{३१}

जो जीव बल और वीर्य को छुपाये बिना उपयोग पूर्वक आगमोक्त विधि से धर्म क्रिया में प्रवृत्ति करता है और यथाशक्ति अर्थात् शक्ति का उल्लंघन किये बिना आत्मा को धर्म क्रिया में जोड़ता है वह जीव वीर्याचार है।

यहाँ भी जीव की प्रवृत्ति वीर्याचार होने पर आचार और आचारवान् के अभेद से जीव को ही वीर्याचार कहा है।

इस गाथा में दो अर्थ सूचित किये है - “अणिगूहियबल विरिओ” इस पद से शक्ति का छुपाना नहीं और ‘जहत्थाम’ से शक्ति का उल्लंघन करने का निषेध किया है अर्थात् कोई भी धर्मप्रवृत्ति यथा शक्ति करना।

वृद्ध पुरुषोंने परक्रमइ और जुंजइ - इन दो पदों का उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ किया है जिससे गाथा की व्याख्या इस प्रकार होगी ज्ञानादि आचार का शिक्षण करते समय बल और वीर्य को छुपाये बिना प्रवृत्ति करना अर्थात् बल और वीर्य को छुपाये बिना ज्ञानादि आचारों को सीखना। तत्पश्चात् यथाशक्ति ज्ञानादि आचारों को आचरण करना^{३३}

‘पञ्चाशक’ के टीकाकार अभयदेवसूरि ने उपर्युक्त प्रकार से संक्षेप में ही आचार के प्रभेदों का वर्णन किया है, लेकिन आचार्य हरिभद्रसूरि ने ‘दशवैकालिक बृहद् टीका’ में आचार के प्रभेदों का दृष्टांत देकर विस्तार से वर्णन किया है। यह आचार्य श्री की अपनी ही मति वैभवंता के दर्शन कराता है। जैसे कि विनय और बहुमान की विशेषता को बताने वाला दृष्टांत इस प्रकार है।

एक पहाड़ की गुफामें शिव मंदिर है। उसको ब्राह्मण और भील दोनों पूजते हैं। ब्राह्मण पूजा करके मंदिर को साफ रखना पानी छानटना आदि उद्यम करता हुआ पवित्र बनकर स्तुति करता है। विनय युक्त है। लेकिन बहुमान रहित है, लेकिन पुलिंद उस शिव में भाव रखकर मलिन पानी से स्नान करवाता है और बैठता है तब शिव प्रत्यक्ष उसके साथ बातें करने लगता है। ब्राह्मण ने दोनों का स्वर सुना तत्पश्चात् पुलिंद जाने के बाद सेवा करके उपालम्भ दिया कि हे शिव ! तू ऐसा कट पूतना शिव (निम्न जाति देव) है कि जो ऐसे निम्न जाति वाले के साथ बातें करता है। शिव ने कहा उसकी भक्ति बहुमान अधिक है वैसा तुम्हारा नहीं है। एक दिन एक आँख निकालकर शिव स्थित है उस समय ब्राह्मण आया और रोने लगा थोड़ी देर में रोकर शांत हो गया। उसी समय पुलिंद आया और आँख रहित शिव को देखकर अपनी आँख तीर द्वारा निकाल कर शिव को चढ़ा दी तब शिव ने ब्राह्मण को उसके बहुमान भाव को प्रत्यक्ष दिखा दिया। इस लौकिक दृष्टांत से आचार्य श्री ने समझाया कि पढ़ने वाले को विनय और बहुमान दोनों करने चाहिए। यदि बहुमान भाव नहीं होगा तो ज्ञान परिणत नहीं बन सकता है।

वीर्याचार में आचार्य हरिभद्रसूरि ने यह विशेष बताया कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य के २४ तथा तपके बारह कुल ३६ भेद हुए। यथोक्त ३६ लक्षणवाले आचार के प्रति पराक्रम करता है उद्यम करता है वही वीर्याचार है।^{३३}

‘धर्मबिन्दु’^{३४} में संक्षेप से आचारों का वर्णन करने में आया है।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने आचार विषयों में आचार और आचारवान् में कुछ अभेदता बताकर दार्शनिक तत्त्व स्याद्वाद को उजागर किया है। जो जैन दर्शन का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक तत्त्व है।

श्रावकाचार

श्रावक के करने योग्य आचार क्रिया वह श्रावकाचार कहलाता है। आचार का विवेचन तो पहले कर लिया है, लेकिन अब शंका होती कि श्रावक किसे कहना ? क्योंकि ‘श्रावक शब्द’ जैनवाङ्मय में ही प्रचलित

है। जिसका वर्णन आगम ग्रन्थों में मिलता है, वह इस प्रकार है -

‘ज्ञाता धर्मकथा’ में “सम्यग्दर्शन सम्पन्नः प्रवचनभक्तिमान षड्विधावश्यक निरतः षट्स्थानयुक्तश्च श्रावको भवति।³⁴ जो जीवात्मा सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, प्रवचन की भक्तिवाला है, छः प्रकार के आवश्यक को करने में हमेशा तत्पर है, षट्स्थान से युक्त है वह श्रावक कहलाता है। भगवतीजी में जो मुनि भगवंतो के मुख से निसृत जिनवाणी का अमृत पान करने में तत्पर रहता है वह श्रावक है।³⁵ स्थानांग में जो जिनवाणी पर श्रद्धा को धारण करता हुआ सुनता है वह श्रावक है।³⁶ ‘निशीथ चूर्णि’ में “सावगा गहिताणुव्वाता अगाहिताणुव्वता वा” अणुव्रत ग्रहण करनेवाला अथवा नहीं करनेवाला श्रावक कहलाता है।³⁷ ‘आवश्यक बृहद् वृत्ति में जिनशासन का भक्त ऐसा गृहस्थ श्रावक कहलाता है।³⁸ इस प्रकार आगम में श्रावक शब्द की भिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं।

रत्नशेखरसूरि रचित श्राद्धविधि प्रकरण में ‘श्रावक’ की व्याख्या के साथ उसके प्रत्येक अक्षर पर व्युत्पत्ति भी मिलती है वह इस प्रकार स्रवन्ति यस्य पापानि पूर्वबद्धान्यनेकशः।

आवृतश्च व्रतैर्नित्यं, श्रावकः सोऽभिधीयते ॥

संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइजणाओ निसुणेइ।

सामायारिं परमं, जो खलू तं सावगं बिंति ॥

श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तनाद्धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।

किरत्यपुण्यानि सुसाधु सेवनादतोऽपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः ॥

यद्वा श्रद्धालुतां श्राति श्रुणोति शासनं, दानं वपत्याशु वृणोति दर्शनम्।

कृतत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥³⁹

‘श’ और ‘स’ इन दोनों को समान मानकर श्रावक शब्द का अर्थ इस प्रकार है। प्रथम सकार मानकर ‘स्रवति अष्ट प्रकारं कर्मेति श्रावकः’ अर्थात् दान, शील, तप और भावना इत्यादि शुभ योग से जो आठ कर्मों का क्षय करे वह श्रावक है। दूसरा शकार मानकर ‘श्रुणोति यतिभ्यः समाचारीमिति श्रावकः’ अर्थात् साधु के पास से सम्यक प्रकार से समाचारी सुने वह श्रावक कहलाता है। ये दोनों अर्थ भाव की अपेक्षा से ही हैं। कहा है कि जिसके पूर्व संचित अनेक पाप क्षय होते हैं, अर्थात् जीवप्रदेश से बाहर निकल जाते हैं और जो अनवरत व्रतों के पालन में तन्मय हुआ है वही श्रावक कहलाता है। तथा जो पुरुष सम्यक्त्वादिक की प्राप्ति कर नितप्रति मुनिराज के पास उत्कृष्ट समाचारी सुनता है उसे बुद्धिमान मनुष्य श्रावक कहते हैं। यही बात आचार्य हरिभद्रसूरि ने “श्रावक प्रज्ञप्ति” में उल्लिखित की है, और इससे मिथ्यात्वी का व्यवच्छेद होता है।

जो पुरुष ‘श्रा’ अर्थात् सिद्धांत के पद के अर्थ का चिन्तन कर अपनी आगम ऊपर की श्रद्धा परिपक्व करे, ‘व’ अर्थात् नित्यसत्कार्य में धन का सद्व्यय करे तथा ‘क’ अर्थात् श्रेष्ठ मुनिराज की सेवा करके अपने दुष्कर्मों का नाश कर डाले यानि खपावे, इसी कारण विचक्षण पुरुष उसे श्रावक कहते हैं। अथवा जो पुरुष ‘श्रा’ अर्थात् पद का अर्थ चिन्तन मनन करके प्रवचन पर श्रद्धा दृढ़ करे, तथा सिद्धांत श्रवण करे। ‘व’ अर्थात् सुपात्र

में धन व्यय करे तथा दर्शन समकित ग्रहण करे, 'क' अर्थात् दुष्कर्म का क्षय करे तथा इन्द्रियादिक का संयम करे उसे श्रावक कहते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि श्रावक धर्मविधि प्रकरण तथा पञ्चाशक में अपनी दार्शनिकता को उजागर करते हुए श्रावक के लक्षण को इस प्रकार कहते हैं।

परलोगहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।

अइतिव्व कम्मविगमा, सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥^{४१}

अत्यंत तीव्र कर्मों के अपगम होने से, परलोक में हितकारी जिनवाणी को जो सम्यक् उपयोग पूर्वक सुनता है वह उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। आचार्य हरिभद्र की स्वयं के मति-मन्थन की यह व्याख्या जो सभी व्याख्याओं से भिन्न है। पञ्चाशक की टीका में इस गाथा पर उन्होंने अपना दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया है- 'परलोगहियं' पद को लेकर श्रावक का लक्षण किया है उसमें 'जो' पद से यह बताया है कि उक्त रीति से जो कोई भी जिनवचन सुनता है वह श्रावक है। जिस प्रकार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ ब्राह्मण कहलाता है उसी प्रकार 'अमुक' कुल में उत्पन्न श्रावक कहलाता है ऐसा नहीं, किन्तु विशिष्ट क्रिया है। अतः उपरोक्त विधि से जो कोई जिनवचन श्रवण की क्रिया करता है वह श्रावक कहलाता है। तथा 'जिनवचन' शब्द से भी यह सूचित किया है कि जिन के सिवाय दूसरों के वचन प्रामाणिक नहीं होने से उससे मोक्षरूप कार्य सिद्ध नहीं होने से सुनने योग्य नहीं है।

आगे बढ़कर आचार्य श्री ने यह भी कहा कि 'जिनवचन परलोक हितकर ही है इससे जिनवचन सुने ऐसा नहीं पर परलोक हितकर जिनवचन सुने ऐसा कहा। उसके पीछे आशय यह है कि अपेक्षा से ज्योतिषशास्त्र आदि भी परलोकहितकर है तथा जिन के सिवाय अन्य दर्शनकारों के वचन भी परलोक हितकर है लेकिन उनकी इहलोक हितकर मुख्य वृत्ति है तथा परलोक हित परंपरा से है जबकि जिनवचन साक्षात् परलोक हितकर है यह भेद दिखाने के लिए परलोक हितकर जिनवचन सुने ऐसा कहा।

अति तीव्र कर्मका नाश हुए बिना, दंभरहित और उपयोग पूर्वक जिनवचन नहीं सुन सकता है अतः अति तीव्र कर्मका नाश होने से "ऐसा कहा, यद्यपि किसी अवस्था में अभव्य भी व्यवहार से दंभरहित और उपयोग पूर्वक जिनवचन सुनता है लेकिन उसके अति तीव्र कर्म का नाश न होने से वह उत्कृष्ट श्रावक नहीं कहलाता है"^{४२} तथा ऐसा उत्कृष्ट श्रावक निद्रा-विकथा का त्याग करके अंजलीबद्ध होकर जिनवाणी श्रवण में एकाग्रचित्त बनकर गुरु के प्रति भक्ति बहुमान पूर्वक जिनवाणी का श्रवण करता है। क्योंकि जिनवाणी श्रवण से उत्तरोत्तर हृदय की निर्मलता स्वच्छता के साथ नवीन नवीन संवेग का प्रादुर्भाव होता है।^{४३} अन्तःकरण की निर्मल परिणति का नाम ही संवेग है। इस संवेग के साथ उक्त जिनवाणी सुनने से ज्ञान के आवरण ज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होता है। जिससे श्रोता को तत्त्व-अतत्त्व का भी विवेक जाग्रत होता तथा लोक में जिनवाणी सुनने से प्रादुर्भूत संवेग आदि जिस शाश्वत सुख को उत्पन्न करते हैं, उसे न तो शरीर उत्पन्न कर सकता है, न कुटुम्बी जन उत्पन्न कर सकता है और न धन सम्पत्ति का समुदाय उत्पन्न कर सकता है। अथवा सम्यग् दृष्टि

जीव का अनुराग उस जिनवाणी श्रवण, श्रद्धान करने और उसके अनुसार आचरण करने में स्वयमेव प्रवृत्त कहलाता है यह श्रावक का लक्षण जो कहा गया है वह सार्थक ही है। यहाँ यह विशेष स्मरणीय रहे कि श्रावक सम्यग् दृष्टि है। बिना सम्यग् दर्शन के यथार्थतः कोई श्रावक नहीं हो सकता। इसका मुख्य कारण यह कि मिथ्यादृष्टि जीव को वैसा धर्मानुराग सम्भव नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टि आत्मा ही श्रावक के आचारों को पालने में समर्थ होता है^{४४}। इसीलिए 'श्रावक प्रज्ञप्ति' में कथित "संपतदंसणाई" विशेषण श्रावक के लिए सार्थक सिद्ध होता है। तथा गुणस्थान की दृष्टि से भी देखा जाय तो सम्यग् अर्थात् अविरति गुणस्थान चौथा है तथा देशविरति गुणस्थान पाँचवा है अतः चौथे गुणस्थान को प्राप्त करने के पश्चात् पाँचवा देशविरति (श्रावकधर्म) प्राप्त करता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'श्रावकाचार' के ग्रन्थों में श्रावक के भेदों का वर्णन नहीं मिलता है लेकिन आगम में जैसे कि स्थानांग में मिलता है। वह इस प्रकार-

“चउव्विहा समणोवासगा पण्णता, तं जहा अम्मापिडिसमाणे, भाइ समाणे, मित्तसमाणे, सवित्तसमाणे। अहवा चउव्विहा समणोवासगा पण्णता, तं जहा आयंस समाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरंट समाणे।^{४५}

स्थानांग में श्रमणोपासक चार प्रकार के बताये हैं। वे इस प्रकार- १. माता-पिता के समान, २. बंधु के समान, ३. मित्र के समान, ४. सपत्नि के समान। अथवा प्रकारान्तर से आरिसा (दर्पण) के समान, २. ध्वजा के समान, ३. स्तंभ के समान, ४. खरंटक के समान।

१. माता-पिता के सामान - साधु भगवंत का यदि कोई कार्य होतो उनके बारे में विचार करे। यदि साधु का कोई प्रमाद स्वखलना दृष्टि में आये तो भी साधु पर से राग कम न करे और जैसे माता अपने पुत्र पर हित के परिणाम रखती है वैसे ही मुनिराज पर अतिशय हित के परिणाम रखे वह श्रावक माता-पिता के समान है।

२. बंधु के समान - जो श्रावक साधु के ऊपर मन में तो बहुत राग रखे, पर बाहर से विनय करने में मंद आदर दिखावे, परन्तु यदि कोई साधु का पराभव करे तो उस समय शीघ्र वहाँ जाकर मुनिराज को सहायता करे वह श्रावक बंधु के समान है।

३. मित्र समान - जो श्रावक अपने को मुनि के स्वजन से भी अधिक समझे तथा कोई कार्य में मुनिराज इसकी सलाह न ले तो मनमें अहंकार करे रोष करे वह मित्र समान है।

४. सपत्नि के सामान - जो श्रावक अत्यंत अभिमानी होकर साधु के छिद्र देखा करे प्रमादवश हुई उनकी भूल हमेशा कहा करे, उनको तृणवत् समझे वह श्रावक सपत्नीक के समान है। प्रकारान्तर से-

१. आरिसा के समान - गुरु का कहा हुआ सूत्रार्थ जैसा हो वैसा ही उसके मन में उतरे उस श्रावक को सिद्धान्त में दर्पण के समान कहा है।

२. ध्वजा के समान - जो श्रावक गुरु के वचनों का निर्णय न करने से पवन जैसे ध्वजा को इधर उधर करता है वैसे ही अज्ञानी पुरुष उन्हें इधर उधर घुमावे वह ध्वजा समान है।

३. स्तंभ के समान - गीतार्थ मुनिराज चाहे कितना ही समझावे परंतु जो अपना आग्रह न छोड़े और

साथ ही मुनिराज पर द्वेषभाव रखे वह स्तंभ के समान है।

४. खरंटक के समान - जो श्रावक धर्मोपदेशक मुनिराज पर भी “तु उन्मार्ग दिखानेवाला मूर्ख अज्ञानी तथा मंदधर्मी है” ऐसे निन्द्य वचन कहे वह श्रावक खरंटक के समान है।

निश्चयनय के मत से सपत्नीसमान और खरंटक के समान इन दोनों को मिथ्यात्वी समझना चाहिए और व्यवहारनय से श्रावक कहलाते हैं कारण कि वे जिनमंदिर में जाते हैं शेष सभी श्रावक हैं।^{४६}

श्राद्धविधि में रत्नशेखरसूरि ने श्रावक के भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है।

नामाईचउभेओ सङ्को भावेण इत्थ अहिगारो।

तिविह अ भावसङ्को दंसण वय उत्तरगुणेहिं॥^{४७}

१. नाम २. स्थापन ३. द्रव्य और ४. भाव चार प्रकार के श्रावक होते हैं तथा भावश्रावक १. दर्शनश्रावक २. व्रतश्रावक ३. उत्तरगुण श्रावक तीन प्रकार के होते हैं।

१. नाम - जिसमें शास्त्रोक्त कथनानुसार श्रावक के लक्षण नहीं हो जैसे कोई ‘ईश्वरदास’ नाम धारण करे पर वह दरिद्री की मूर्ति हो वैसे ही जिसका केवल ‘श्रावक’ नाम हो वह नाम श्रावक कहलाता है।

२. स्थापना श्रावक - चित्रित की गई अथवा काष्ठ पाषाणादि की जो श्रावक की मूर्ति हो वह स्थापना श्रावक।

३. द्रव्यश्रावक - चण्डप्रद्योत राजा की आज्ञा से अभयकुमार को पकड़ने के लिए कपटपूर्वक श्राविका का वेष करने वाली गणिका की तरह अन्दर से भावशून्य और बाहर से श्रावक के कार्य करे वह द्रव्यश्रावक कहलाता है।

४. भावश्रावक जो भाव से श्रावक की धर्मक्रिया करने में तत्पर हो वह भावश्रावक कहलाता है। भावश्रावक के तीन भेद हैं।

१. दर्शनश्रावक - श्रेणिकराजा आदि के समान केवल सम्यक्त्वधारी हो वह दर्शन श्रावक।

२. व्रत श्रावक - सुरसुन्दर की स्त्रियों की तरह सम्यक्त्व मूल पाँच अणुव्रत का धारक व्रत श्रावक कहलाता है।

३. उत्तरगुण श्रावक - सुदर्शन श्रेष्ठि श्रावक की तरह पाँच अणुव्रत तथा उत्तरगुण अर्थात् तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत आदि धारण करे वह उत्तरगुण श्रावक कहलाता है। अथवा सम्यक्त्व मूलबारह व्रत धारण करे वह व्रत श्रावक और आनंद, कामदेव आदि की तरह सम्यक्त्व मूलबारहव्रत तथा सर्व सचित्त परिहार, एकाशन, चौथाव्रत, भूमिशयन, श्रावक प्रतिमा और दूसरे भी अभिग्रह धारण करे वह भाव से उत्तरगुण श्रावक है।^{४८}

भाव श्रावक के लक्षण को तथा भेदों का वर्णन करने के पश्चात् बारह प्रकार के श्रावक धर्म का निर्देश किया जाता है। क्योंकि धर्म से जीवन में पुण्य की प्राप्ति होती है, दुर्गति का दलन होता है, सद्गति तरफ गमन होता है, जिससे जीवन में निखार आता है तथा स्वच्छ और सुंदर बनता है। श्रावक के इन बारह व्रतों का वर्णन

‘उपासक दशाङ्ग’ में मिलता है। जिसमें क्रमशः, आनंद श्रावक आदि उपासकों का जीवनवृत्त वर्णित है। जिसमें परमात्मा ने स्वयं आनंद श्रावक को व्रतों का स्वरूप समझाया एवं व्रत ग्रहण करवाया जो कि वर्तमान में पंचम गणधर श्रीमद् सुधर्मास्वामी प्रणीत’ आगम में विद्यमान है जिसमें इस प्रकार बारह व्रत का निरूपण है।

अहं णं देवाणुप्पियाणं अन्ति ए पञ्चाणुव्वइयं सत्तं सिक्खा वइयं दुवाल्सविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि ।⁴⁸

तथा ज्ञाता धर्मकथा में इसी प्रकार बारह व्रत दिखाए हैं।

तत्थ णं जे से अगारएविणए से णं पंच अणुव्वयाइ सत्तसिक्खावयाइं, ।⁴⁹

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी श्रावक - प्रज्ञप्ति आदि में बारह व्रतों का स्वरूप बताया है लेकिन उन्होने सर्वप्रथम यह बताया कि श्रावक धर्म का आधार सम्यग् दर्शन है क्योंकि आधार के बिना आधेय टिक नहीं सकता है। अतः उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं।

एयस्स मूलवत्थू सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि ।

खयउवसमाइ ति विहं सुहायपरिमाणरूवं तु ॥⁵⁰

यहाँ सम्यक्त्व को श्रावक धर्म की मूल वस्तु कही है। ‘वसन्ति अस्मिन् अणुव्रतादयो गुणा इति वस्तु’ इस निरुक्ति के अनुसार जिसके होने पर अणुव्रत आदि रूप गुण निवास करते हैं उसे वस्तु कहा जाता है। तदनुसार जब उस सम्यक्त्व की उपस्थिति हो तब उसके आश्रय से ही वे अणुव्रत आदि गुण रहते हैं उसके बिना नहीं होते, तब वैसी परिस्थिति में उक्त सम्यक्त्व को श्रावक धर्म की मूल वस्तु कहना युक्त ही है। अभिप्राय यह है कि आत्मा के शुभ परिणाम रूप वह सम्यक्त्व जब प्रकट होता है तब जाकर अणुव्रतादि रूप वह श्रावक धर्म हो सकता है उसके बिना सम्भव नहीं है। जीव अजीवादि तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा होना ही सम्यग् दर्शन है। वह अपूर्वकरण अध्यवसाय के द्वारा कर्मरूप गाँठ के भेदे जाने पर प्रगट होता है। उसके तीन प्रकार हैं क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक अथवा प्राकारान्तर से अन्य तीन भेद भी हैं कारक, रोचक और व्यञ्जक।⁵¹

इस प्रकार की उपस्थिति में अणुव्रत आदि का ग्रहण संभव है अन्यथा नहीं यही बात ‘धर्मबिन्दु’⁵² श्रावकधर्म प्रकरण⁵³ तथा समराइच्चकहा⁵⁴ में भी वर्णित है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में पहले सम्यक्त्व को अणुव्रतादि का आधार बताकर पश्चात् बारह व्रत का प्रतिपादन किया है। अब बारहव्रत अर्थात् श्रावक धर्मका वर्णन किया जा रहा है जिसमें सर्व प्रथम आगम प्रमाण ऊपर दे दिया है, उन्हीं आगम का अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने ‘श्रावक प्रज्ञप्ति आदि में विस्तार से वर्णन किया है। वह इस प्रकार-

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।

सिक्खावयाइं चउरो, सावगधम्मो दुवाल्सहा ॥⁵⁵

तत्थ गिहिधम्मो दुवाल्सविहो तं जहा पंच अणुव्वयाइं, तिन्नि गुणव्वयाइं, चतारि सिक्खावयाइं ति ।⁵⁶

गृहस्थ धर्म बारह प्रकार का है उसमें बारों को तीन विभागों में विभक्त किये हैं पाँच अणुव्रत, तीन

गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ।

‘पंचाशक’ में आचार्य हरिभद्र सूरि ने बारह व्रतों को दो भेदों में विभक्त किये मूलगुण और उत्तरगुण जैसे-
पंच उ अणुव्वयाइं, थूलगपाणवहविरमणाईणि ।

उत्तरगुणा तु अन्ने दिसिव्वयाइं इमेंसिं तु ॥^{६८}

स्थूलप्राणवध विरमण आदि पाँच अणुव्रत हैं उन अणुव्रतों के दूसरे दिग्विरति आदि सात उत्तर गुण हैं ।

इस प्रकार श्रावक के बारह व्रतों के बारे में आगम तथा हरिभद्रसूरि के चिन्तन में कुछ भेद होता है ‘उपासक-दशाङ्ग’ तथा ‘ज्ञाताधर्मकथा’ सूत्र में “शैलक राजा ने नेमिनाथ भगवान के शिष्य के पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप श्रावकधर्म स्वीकार किया” ऐसा पाठ मिलता है । इससे यह ज्ञात होता है कि वहाँ पाँच अणुव्रत और दिग्विरति आदि सात उत्तरव्रतों का उल्लेख केवल शिक्षापद के नाम से किया गया है जबकि ‘श्रावकप्रज्ञप्ति’ आदि में आचार्य हरिभद्रने पाँच अणुव्रत, तथा दिग्विरति उपभोग, परिभोगपरिमाण और अनर्थदण्डविरमण तीन का उल्लेख गुणव्रत के नाम से तथा शेष सामायिक आदि चार का उल्लेख शिक्षापद के नाम से किया गया है तथा “पञ्चाशकसूत्र” में आचार्य हरिभद्रसूरि ने ही स्थूलप्राणवधविरमण आदि को पाँच अणुव्रत कहे और शेष को उत्तरगुण कहे है । उसी को पंचाशक टीका के आचार्य अभयदेवसूरि ने टीका में कहा कि ‘पाँच अणुव्रत श्रावकधर्मरूप वृक्षके मूल के समान होने से मूलगुण कहे जाते हैं तथा दूसरे सात व्रत अणुव्रतों की पुष्टि वृद्धि करते हैं अतः वे श्रावकधर्म रूप महान् वृक्ष के शाखा प्रशाखा समान होने से उत्तर गुण कहलाते हैं ।^{६९} “तत्त्वार्थसूत्र” में उमास्वाति म.सा. ने भी दिग्विरति आदि को उत्तरगुण में ही स्वीकारा है ।^{७०} “पाँच अणुव्रत ही क्यों ? प्रत्येक तीर्थकर के शासन में पाँच अणुव्रत होते हैं । जैसे प्रथम और अंतिम जिनेश्वर के शासन में पाँच महाव्रत होते हैं, और बावीस तीर्थकर के शासन में चार महाव्रत होते हैं यह भेद महाव्रतों में होता है, लेकिन पाँच अणुव्रत में वैसा भेद नहीं पाया जाता है क्योंकि ‘ज्ञातधर्म कथाङ्ग’ सूत्र में यह दृष्टान्त मिलता है कि नेमिनाथ भगवान के शिष्य थावच्चापुत्र अणमार को शैलकराजा अपनी दीक्षा की असमर्थता प्रगट करते हुए कहते हैं “हे देवानुप्रिय ! जैसे आपके पास अनेक उग्रादि कुलों के पुरुषों ने धन-वैभव त्याग कर दीक्षा ग्रहण की है वैसा करने में मैं तो समर्थ नहीं हूँ । किन्तु आपसे पाँच अणुव्रतादि को धारण कर श्रमणोपासक बनना चाहता हूँ । ऐसा पाठ मिलता है ।^{७१}

“तओणं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइय जाव समणोवासाए” इससे यह निश्चित होता है अणुव्रतों में भेद किसी भी तीर्थकर के शासन में नहीं होता है ।

इन पाँच अणुव्रतों में जो ‘अणु विशेषण दिया गया है वह सर्वविरति महाव्रतों की अपेक्षा से दिया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि महाव्रतों में जिस प्रकार प्राणिवधादिरूप पाँच पापों का त्याग सर्वथा मन-वचन काया व कृत-कारित-अनुमोदित से किया जाता है उसी प्रकार प्रकृत अणुव्रतों में उनका सर्वथा परित्याग नहीं किया जाता किन्तु देश से ही उनका त्याग किया जाता है कारण कि आरम्भादि गृहकार्यों को करते हुए गृहस्थ से

उनका पूर्ण रूप से त्याग करना शक्य नहीं है वह तो स्थूल रूप में ही उनका परित्याग कर सकता है।^{६२}

‘पञ्चाशक टीका’ में ‘अणु’ शब्द का अभिप्राय इस प्रकार मिलता है ‘अणु अर्थात् छोटा जो ब्रत छोटे होते है वे अणुब्रत कहलाते है। महाब्रतों की अपेक्षा अणुब्रत छोटे होते है, अथवा साधु की अपेक्षा श्रावक छोटा है अथवा ‘अणु’ यानि पश्चात् दिये जाते है अतः वे अणुब्रत है क्योंकि धर्म ग्रहण करने वालों को प्रथम महाब्रतों को समझना ऐसी शास्त्रोक्त विधि है कहा भी है कि-

“जईधम्मस्स समत्थे जुज्जति तदेसणं पि साहूणं।”

साधु धर्म को स्वीकार करने में असमर्थ आत्मा को साधु श्रावकधर्म की देशना दे वह योग्य है। इस प्रकार महाब्रतों के बाद श्रावक के ब्रत दिये जाने के कारण अणुब्रत है।^{६३}

आचार्य उमास्वाति म.सा. ने तत्त्वार्थसूत्र में हरिभद्रसूरि की व्याख्या को ही प्रस्तुत की है।

‘देशसर्वतोऽणु महती।’

हिंसा, झूठ, चोरी आदि जो पाप है उनका एक देश से त्याग अणुब्रत और सर्वथा त्याग महाब्रत कहलाता है।

उपासङ्गदशाङ्ग आदि की टीका में ‘अणु’ की उपरोक्त व्याख्या नहीं मिलती है लेकिन उत्तरवर्ती आचार्य के एवं हरिभद्रसूरि आदि के शास्त्रों में यह व्याख्या स्पष्टरूप से उल्लिखित है। अणुब्रत को जानकर जीवन में अपनानेवाला अंगारी श्रावक या गृहस्थ कहलाता है। ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र एवं तत्त्वार्थ की टीका में कहा है।

अणुब्रतोऽगारी।^{६४}

“एवमेतानि पंचाप्यणूनि स्वल्पविषयानि न यथोक्तसमस्तविषयाणि, ब्रतानि यस्य सो अणुब्रतोऽगारी भवतीति।”^{६५}

इस प्रकार जो थोड़े प्रमाणवाले ब्रतों को धारण करनेवाला है उस श्रावक को अगारीब्रती समझना चाहिए क्योंकि वह सर्वथा पालन नहीं कर सकता।

अब पाँच अणुब्रत, तीन-गुणब्रत और चार शिक्षाब्रतों का स्वरूप एवं अतिचारों का वर्णन इस प्रकार आगमों एवं शास्त्रों में मिलता है।

पाँच अणुब्रत - स्थानांग सूत्र में पाँच अणुब्रतों का पाठ हमें इस प्रकार मिलता है।

“पंचाणुव्वया पण्णता-तं जहां थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिन्नादाणओ वेरमणं, सदारसंतोसे इच्छापरिणामे।”^{६६}

पाँच अणुब्रत होते है यह इस प्रकार - स्थूल प्राणातिपात विरमणब्रत स्थूल मृषावाद विरमणब्रत, स्थूल अदत्तादान विरमणब्रत, स्वादारसंतोष और इच्छा परिणाम।

आचार्य हरिभद्र ने अपने द्वारा रचित धर्मबिन्दु, श्रावक प्रज्ञप्ति, पंचाशकसूत्र आदि में पाँचों ब्रतों का एक साथ उल्लेख करके तत्पश्चात् उसका पृथक् - पृथक् रूप से विश्लेषण किया है। जैसे कि-

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणिवहविरमणाईणि ।

तत्थ पढमं इमं खलु पन्नत्त वीयरगेहिं ॥^{६७}

स्थूल प्राणिवध विरमण आदि अणुव्रत पाँच ही है उनमें वीतराग परमात्मा ने प्रथम व्रत उसे कहा है जिसका स्वरूप आगे निर्दिष्ट किया जा रहा है।

स्थूल शब्द जो व्रतों में आया है उसके पीछे ग्रंथकार का कुछ अभिप्राय रहा हुआ है, वह यह कि जिसे मिथ्यादृष्टि भी जीव रूप में स्वीकारते है वह स्थूल जिसको सम्यग्दृष्टि ही जीव रूप में मानता है वह सूक्ष्म।

बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव स्थूल हैं। कारण कि मिथ्यादृष्टि भी प्रायः उनको जीवरूप में स्वीकारते है तथा एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म हैं, कारण कि प्रायः सम्यग्दृष्टि जीव ही उनको जीव रूप में मानते है और उनके वध से भी बचने की कोशिश करते है। निरर्थक उनकी हिंसा नहीं करते है।

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रत - स्थूल प्राणियों के वध से विरत होना स्थूल प्राणातिपात कहलाता है।

“उपासकदशाङ्ग” में आनंद श्रावक भगवान महावीर के पास पाँच अणुव्रत सहित बारह व्रतों को धारण करता है जिसमें प्रथम व्रत का पाठ इस प्रकार मिलता है।

“तए णं से आणन्दे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ॥^{६८}

उस समय आनंद गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास बारह व्रतों में प्रथम स्थूल प्राणिओं की हिंसा मन-वचन काया से न करूँगा और नहीं करवाऊँगा ऐसा यावज्जीव (जीवन पर्यन्त) पच्चक्खाण लिया।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने उन्हीं अपने पूर्वजों का अनुसरण करते हुए अज्ञानी जीव को बोध देने हेतु विशेष रूप से अपना चिन्तन “श्रावकप्रज्ञप्ति” आदि में देते है जैसे कि-

थूलपाणि वहस्स विरई, दुविहो अ सो वहो होइ।

संकप्पारंभेहि य वज्जइ संकप्पओ विहिणा ॥^{६९}

स्थूल प्राणियों के वध से अटकना वह स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रत कहलाता है। वह वध संकल्प और आरम्भ के भेद से दो प्रकार का है उसमें प्रकृत प्रथम अणुव्रत का धारक श्रावक आगमोक्त विधि के अनुसार संकल्प से ही वध का परित्याग करता है।

अर्थात् स्थूल नामकर्म के उदय से जिनका शरीर स्थूल (प्रतिघात सहित) होता है उन्हें स्थूल और सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिनका शरीर सूक्ष्म (प्रतिघात रहित) होता है उन्हें सूक्ष्म कहा जाता है। प्रस्तुत में स्थूल प्राणिओं से अभिप्राय द्विन्द्रियादि जीवों का है। उनके शरीर इन्द्रिय, उच्छ्वास, आयु और बल रूप प्राणों के विघात का परित्याग करना इसे स्थूल प्राणवधविरति कहते है। प्रथम अणुव्रती श्रावक उस वध का परित्याग संकल्प से ही करता है निरन्तर आरम्भ में प्रवृत्त रहनेवाला गृहस्थ आरम्भ से उसका परित्याग नहीं कर सकता

है। आरम्भ से अभिप्राय खेती आदि कार्यों का है। इस प्रकार गृह में स्थित रहते हुए श्रावक उस आरम्भ को नहीं छोड़ सकता है, अतः उसके आरम्भजनित हिंसा का होना अनिवार्य है। यह अवश्य है कि आरम्भकार्य को करते हुए भी वह उसे सावधानी के साथ करता है तथा निरर्थक आरम्भ से भी बचता है, पर संकल्प पूर्वक वह कभी प्राणविधात नहीं करता इस प्रकार वह स्थूल प्राणविरति अणुव्रत सुरक्षित रहता है।

यह व्रत गुरुदेव के समीप ही शास्त्रोक्त विधि से लेना चाहिए। तभी उसका महत्त्व बढ़ता है।

व्रत का इच्छुक श्रावक मोक्षसुख की इच्छा से गुरु के पादमूल में उपयोग से सावधान होकर नियत काल चातुर्मास आदि के लिए अथवा जीवन पर्यन्त स्वीकृत व्रत का प्रतिदिन स्मरण करता हुआ पालन करता है।

व्रत का पूर्णतया सम्यग् परिपालन तभी संभव है जबकि उसके अतिचारों को जानकर उनका प्रयत्न पूर्वक परित्याग होगा। स्वीकृत व्रत का देश से भंग होना ही अतिचार है। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि देश से भंग यानि अतिचार लेकिन यह बात देशविरति में नहीं घटती है क्योंकि व्रत ही देशविरति रूप में स्वीकारा है। अर्थात् देश से व्रत ही पालन करना है। अब उसमें देश से व्रत का भंग हो जायेगा तो बचेगा क्या? अर्थात् सर्वथा उस व्रत का भंग हो गया तो उसमें (देशविरति) अतिचार कैसे घटेंगे? इसी बात को लेकर आचार्य श्री हरिभद्रसूरि कृत पंचाशक सूत्र जिस पर आचार्य अभयदेवसूरि ने टीका की रचना की है उसमें उन्होंने 'आवश्यक निर्युक्ति' की साक्षी देकर कहा है कि "सभी अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं बारह कषाय के उदय से मूल से नाश होते हैं। जैसे कि-

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति।

मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥^{९०}

अर्थात् देशविरति में अतिचार नहीं होते हैं युक्ति से भी यह बात घटती है, वह इस प्रकार स्थूल (बड़े) शरीर में चाँदी आदि रोग होते हैं कुंथुआ आदि छोटे शरीर में नहीं। उसी प्रकार देश विरति के व्रत अनेक अपवादों से अतिशय छोटे हैं। अतिचार चाँदी आदि रोगों के समान है इसी से अतिचार देशविरति में नहीं होते हैं। अतिचार यानि देश से भंग अणुव्रतों स्वयं महाव्रतों के अतिशय अंश रूप होने से उसका अंश से भंग अर्थात् संपूर्ण नाश। जैसे कि कुंथुआ का शरीर इतना छोटा होता है कि उसका पंख आदि आंशिक भंग नहीं होता है किन्तु संपूर्ण नाश होता है। महाव्रतों में अतिचार होते हैं कारण कि वे बड़े हैं जैसे कि हाथी का शरीर बड़ा होने से उसमें चाँदी आदि रोग होते हैं उसी प्रकार महाव्रत बड़े होने से चाँदी आदि रोग रूप अतिचार होते हैं।

इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में अणुव्रत के अतिचार सम्पूर्ण भंग से भिन्न रूप में सम्मत है। जैसे कि-

जयरिसओ जइभेओ जह जायइ जह य तत्थ दोसगुणा।

जयणा जह अइयारा भंगो तह भावणा पेया ॥^{९१}

इस गाथा में व्रत के सर्वथा भंग से अतिचार भिन्न होते हैं यह बताया है, यह गाथा पूर्वान्तर्गत है। ऐसा

महापुरुषों का कथन होने से प्रमाणभूत है। तथा पूर्व में साक्षी गाथा देकर सम्पूर्ण अतिचार संज्वलन के उदय से होते है ऐसा जो कहा वह सत्य है, लेकिन वह गाथा सर्वविरति की अपेक्षा से है देशविरति की अपेक्षा से नहीं। सर्वविरति में सम्पूर्ण अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से होते है। पूर्वोक्त “सव्वे वि य अइयारा” इत्यादि गाथा की व्याख्या इस प्रकार है। संज्वलन कषाय के उदय से मूल से भंग होते है। इस अर्थ से देशविरति के अतिचारों का अभाव नहीं होता है अथवा इस गाथा के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार भी है, कि तीसरे कषाय के उदय से सर्वविरति का दूसरे कषाय के उदय से देश विरति का और पहले कषाय के उदय से सम्यक्त्व का मूल से भंग होता है। इस अर्थ से भी देशविरति के अतिचारों का अभाव नहीं होता है।

कषाय का उदय विचित्र है। इससे उन कषायों का उदय उस गुण की प्राप्ति में प्रतिबंधक नहीं बनता है अपितु उस गुण में अतिचार लगाते है जैसे कि संज्वलन कषाय का उदय सर्वविरति गुण की प्राप्ति में प्रतिबंधक नहीं बनता लेकिन उसमें अतिचार उत्पन्न करवाता है अर्थात् संज्वलन कषाय का उदय होता है तब सर्वविरति की प्राप्ति होती है उसमें दोष लगते है। उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण का उदय होता है तब देशविरति की प्राप्ति होती है और उसमें दोष लगते है। इस प्रकार अप्रत्याख्यान में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति और उसमें अतिचार लगते है। इस प्रकार देशविरति में अतिचारों का अभाव नहीं होता है।

कुंथुआ का दृष्टांत भी असंगत है कारण कि दूसरे दृष्टांत से उसका निराकरण हो जाता है, वह इस प्रकार हाथी के शरीर से मनुष्य का शरीर बहुत छोटा है फिर भी उसमें चाँदी आदि रोग होते हैं।

इस प्रकार देशविरति में भी अतिचार संभवित है, क्योंकि ‘उपासक दशाङ्ग’ में भी आनंद श्रावक को व्रतों के साथ अतिचारों का प्रतिपादन भी किया है वह इस प्रकार - थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स तं जहा-बन्धे वह छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।^{७२}

स्थूल प्राणतिपात विरमण व्रत के श्रावक को पाँच अतिचार सुंदर रीति से जानने योग्य है। आचरने योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार बंध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भत्तपाणवुच्छेए।

इस प्रकार आगमोक्त होने के कारण अतिचार प्रमाणभूत है इसी से आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन अतिचारों को ‘धर्मबिन्दु’ ‘पञ्चाशक’ ‘श्रावक प्रज्ञप्ति’ में बताया है।

बन्ध वधच्छविच्छेदातिभारोपणान्नपाननिरोधा।^{७३}

बंधवह छविच्छेयं अइभारं भत्तपाणवोच्छेयं।

कोहाइदूसियमणो गोमणुयाइण णो कुणइ।।^{७४}

बंधवहछविच्छेद अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।

कोहाइदूसियमणो गो मणुयाईण नो कुज्जा।।^{७५}

प्रथम अणुव्रत का धारक श्रावक क्रोधादि कषायों से मन को कलुषित कर गाय आदि पशुओं और मनुष्यों आदि का बन्ध, वध छविच्छेद, अतिभार और भक्त - पान विच्छेद न करे।

बंध - त्रस स्थावर जीवों का बन्ध तथा वध करना, त्वचा का छेदन, वृक्ष की छाल आदि उपाटना। पुरुष, हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस आदि के ऊपर प्रमाण से ज्यादा डालता और उन्हीं के पुरुष, पशु आदि के अन्न पान का निरोध कर देना, समय पर उनको खाने पीने को नहीं देना अथवा कम देना ये पाँच अतिचार है।

पञ्चाशक^६ की टीका एवं धर्मदिन्दु^७ की टीका में आवश्यकचूर्ण का उद्धरण देकर बंध की विधि इस प्रकार बताई है दो पाँव वाले अथवा चार पाँव वाले प्राणिओं का बंध सकारण और निष्कारण ऐसा दो प्रकार से है उसमें निष्कारण बन्ध योग्य नहीं है, सकारण बंध भी सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार से है निर्दय बनकर अतिशय मजबूत बांधना वह निरपेक्ष बंध, आग आदि के प्रसंग में छोड़ सके इस प्रकार से गाढ़ कारण आदि से बांधना सापेक्ष है।

दो पाँव वाले दास, दासी, चोर, पढ़ने में प्रमादी पुत्र आदि की बांधने की जरूरत पड़े तो चल सके, इधर-उधर हो सके और अवसर आने पर छूट सके इस प्रकार शिथिल बंधन से बांधना चाहिए जिससे आग आदि के प्रसंग में मृत्यु का भय न रहे। परमार्थ से तो श्रावक को दो पाँव वाले बिना बांधे रह सके ऐसे ही रखने चाहिए।

२. वध-वध में भी बंध के समान ही जानना चाहिए, उसमें निरपेक्ष वध अर्थात् निर्दयरूप से मारना सापेक्ष वध यानि मारने का प्रसंग आये तो मर्म स्थान को छोड़कर लात एवं दोरी से एक दो बार मारना।

३. छविच्छेद - छविच्छेद भी बंध के समान ही जानना, निर्दय रूप से हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेद करना यह निरपेक्ष छविच्छेद है। शरीर में गुमडा, घा, चाँदी आदि के कारण काटना, जलाना आदि सापेक्ष छविच्छेद है।

४. अतिभार-श्रावक पशु आदि के ऊपर न्याय भार से अधिक बोझा लादना जैसे कि घोडागाडी आदि में अधिक सवारियों को समयसर नहीं छोड़ना।

५. भक्तपान विच्छेद - आहार पानी विच्छेद किसी का भी न करना अन्यथा अतिशय भूख से मृत्यु हो जाती है। भक्तपान भी सकारण निष्कारण आदि बंध के समान ही जानना।

इन पाँचों को अहिंसाणुव्रत अतिचार इसलिए कहा है कि इनके करते हुए अहिंसाणुव्रत का सर्वथा भंग नहीं होता।

२. स्थूल मृषावाद विरमणव्रत - स्थूल और सूक्ष्म के भेद से असत्यभाषण दो प्रकार का है। दूषित मनोवृत्ति से स्थूल वस्तु विषयक जो असत्य भाषण किया जाता है वह स्थूल मृषावाद कहलाता है। संक्षेप में वह ५ प्रकार का है। १. कन्यालीक २. गावालीक ३. भूमि विषयक अलीक ४. न्यासापहरण ५. कूटसाक्ष्य।

स्थूलमुसावायस्स य विरइ सो पंचहा समासेण।^८

१. कन्यालीक-कन्या के विषय में झूठ बोलना।

२. गाय अलीक-कम दूध देनेवाली गाय को अधिक दूध देने वाली तथा अधिक दूध देनेवाली गाय को

कम दूध देने वाली बताकर असत्य बोलना।

३. भूमि अलीक-स्वयं की भूमि को दूसरों की और दूसरों की भूमि स्वयं की बताकर झूठ बोलना।

४. न्यासापहरण - आवश्यकतानुसार दूसरों द्वारा सुरक्षा आदि के उद्देश्य से रूपये, सोना, चाँदी रखा जाता है 'उसे मेरे पास नहीं रखा' इत्यादि कहकर अपहरण कर लेना।

५. कूटसाक्ष्य-राग द्वेष अथवा मत्सरता आदि के वश जो कृत्य अपने सामने नहीं हुआ है उसके विषय में असत्य साक्षी देना। इस प्रकार असत्य भाषण परिहार सत्याणुव्रत कहलाता है।

इस प्रकार मृषावाद के भेद 'श्रावक प्रज्ञप्ति'^{५९} श्रावक धर्मविधिप्रकरण^{६०} आदि में मिलते हैं। लेकिन तत्त्वार्थसूत्र, धर्मबिन्दु में इन भेदों का वर्णन नहीं मिलता है। तथा 'उपासकदशाङ्ग' की टीका में आचार्य अभयदेवसूरी नवांगीटीकाकार ने इनको वचनान्तर से मृषावाद के अतिचार ऐसा कहा है तथा साथ में यह भी कहा कि आवश्यक आदि में इन्हीं को मृषावाद के भेद कहे हैं जैसे कि -

“वाचनान्तरे तु 'कन्नालियं गवालियं भूमालियं नासावहारे कूडसक्खिज्ज सन्धिकरणे ति पठ्थते, आवश्यकदौ पुनरिमे स्थूलमृषावाद भेदा उक्ताः।”^{६१}

इस अणुव्रत का भी पूर्ण पालने करने के लिए इनके अतिचारों को जानकर उसका त्याग करना चाहिए जिसका उल्लेख 'उपासकदशाङ्ग' में मिलता है “तयाणन्तरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमण पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरिव्वा - तं जहा-सहसाअब्भक्खाणे रहसाअब्भक्खाणे, सदारमन्त भेए मोसोवएसे कूडलेहकरणे (कन्नालियं भूमालियं नासावहारे कूडसक्खिज्ज संधिकरणे)।”^{६२}

१. सहसा अभ्याख्यान २. रहस्याभ्याख्यान ३. स्वदारमन्त्रभेद ४. मृषोपदेश ५. कूटलेखकरण ये पाँच अतिचार हैं तथा दूसरी वाचना में कन्या अलीक, गो अलीक, भूमि अलीक, न्यास अपहरण, और कूटसाक्षी इनको अतिचार कहे हैं। लेकिन आचार्य हरिभद्रसूरी ने श्रावक प्रज्ञप्ति आदि में तथा आवश्यकसूत्र आदि में तो इनको मृषावाद के भेद ही स्वीकारे हैं तथा 'सहसाअभ्याख्यान' आदि को ही अतिचार माना है। जिसका विवरण हमें इस प्रकार मिलता है।

सहसा अब्भक्खाणं रहसा य सदारमन्तभेयं च।

मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा ॥^{६३}

इस गाथा में सहसाअभ्याख्यान पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

१. सहसा अभ्याख्यान - किसी प्रकार का विचार किये बिना सहसा तु चोर है, परदारगामी है” इत्यादि वचन बोलकर दोषारोपण करना।

२. रहस्याभ्याख्यान - दूसरे के एकान्त में किये जाने वाले व्यवहार को अन्यजनों से कहना।

३. स्वदारमन्त्रभेद - अपनी पत्नी के द्वारा विश्वस्तरूप में कहे गये वचनों को दूसरों से कहना।

४. मृषोपदेश - जो वस्तुस्वरूप जिस प्रकारका नहीं है उसे उस प्रकारका बतलाकर प्राणिओं को

अहितकर कार्यों में प्रवृत्त करना, अथवा प्रमाद वश ऐसा वचन बोलना जिससे दूसरों को कष्ट हो।

५. कूटलेखकर - झूठा जमा खर्च करना, दूसरे की मुहर या हस्ताक्षर बनाकर असमीचीन प्रवृत्ति करना।

इन अतिचारों से व्रत मलिन होता है अतः इनका परित्याग करना चाहिए। इन अतिचारों का वर्णन 'पञ्चाशकसूत्र'^{९४} धर्मबिन्दु,^{९५} तत्त्वार्थसूत्र,^{९६} वंदितासूत्र^{९७} में भी मिलता है।

३. स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत - चोरी करने के अभिप्राय से जिनका वह द्रव्य है उनके बिना दिये ही उसका परिग्रहण कर लेना उसको अपना लेना अथवा ले लेना चोरी है तथा उससे विरत बनना स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत कहलाता है।

“उपासक दशाङ्ग”^{९८} में तृतीय व्रत का विवरण मिलता है लेकिन वहाँ सामान्यरूप से कथन है टीका में भी विशेष विस्तार नहीं किया गया है जबकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने टीका में उसका विशेष विवरण किया है।

स्थूलमदत्तदाने विरई तच्चं दुहा तं भणियं।

सचित्ताचित्तगर्भं, समासओ वीयरगेहिं ॥^{९९}

लोकव्यवहार में जिसे चोरी गिनी जाती है ऐसी वस्तु का त्याग करना स्थूल अदत्तादान है सचित्त और सचित्त वस्तु से सम्बद्ध होने के कारण वीतराग परमात्माने उसे दो प्रकार का कहा है।

टीका में उसका विशेष स्वरूप इस प्रकार है - स्वामी के द्वारा नहीं दी गई वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है। वह सूक्ष्म और स्थूल भेद से दो प्रकार का है। उनमें जिस स्थूल वस्तु के ग्रहण करने पर चोरी का आरोप शक्य है उसे दूषित चित्तवृत्ति से ग्रहण करना, स्थूल अदत्तादान कहलाता है। इसके विपरीत जल मिट्टी आदि ग्रहण करने पर चोरी नहीं समझा जाता है उसका नाम सूक्ष्म अदत्तादान कहलाता है। श्रावक सूक्ष्म अदत्तादान का परित्याग नहीं कर सकता है तथा जो स्थूल अदत्तादान है वह भी सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार का है। किसी विशिष्ट क्षेत्र में जिस किसी भी प्रकार रखे गये दासी दास एवं हाथी, घोड़े आदि द्विपद प्राणियों का स्वामी की आज्ञा के बिना चोरी के विचार से ग्रहण करना सचित्त अदत्तादान है। वस्त्र, सोना, चाँदी आदि अचित्त वस्तुओं को चोरी के अभिप्राय से ग्रहण करना इसे अचित्त अदत्तादान कहा जाता है।^{१००}

अदत्तादान का सामान्य कथन 'पञ्चाशक'^{९९} 'धर्मबिन्दु'^{९९} 'तत्त्वार्थसूत्र'^{९९} 'वंदितासूत्र'^{९९} में भी मिलता है।

प्रकृत व्रत का परिपूर्ण परिपालन करने हेतु उनके अतिचारों को जानकर उनको प्रयत्न पूर्वक परित्याग करना चाहिए। “उपासक दशाङ्ग” में अतिचारों का जैसा वर्णन मिलता है वैसा ही आचार्य हरिभद्र ने 'पञ्चाशक' आदि ग्रन्थों में किया है जैसे कि -

वज्जइ इह तेणाहड - तकरजोगं विरूद्धरज्जं च।

कूडतुलकूडमाणं तप्पडिरूवं च ववहारं च ॥^{१००}

श्रावक को तृतीय अणुव्रत में स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्ध राज्यातिक्रम, कूटतुलकूटमाण और तत्प्रतिरूप व्यवहार इन पाँच अतिचारों का त्याग करना चाहिए।

१. स्तेनाहृत स्तेन अर्थात् चोर। चोरों द्वारा चोरी करके लायी गई केसर व कस्तूरी आदि मूल्यवान् वस्तुओं को लोभ के वश से ग्रहण करना। यह प्रथम अतिचार है।

‘पञ्चाशकसूत्र’ की टीका में सात प्रकार के चोर बताये हैं।

चौरश्चौरापको मंत्री, भेदज्ञ : काणकक्रयी।

अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥

चोरी करने वाला २ दूसरों के पास करानेवाला ३ चोरी की सलाह सूचना आदि द्वारा चोरी की मंत्रणा करनेवाला (४) चोरी करके लायी हुई वस्तु खरीदने वाला (५) चोर को भोजन देने वाला (६) चोर को स्थान देने वाला (७) चोर के भेद को जाननेवाला।

२. तस्कर प्रयोग - तस्कर यानि चोर। चोरों को चोरी के कार्य में प्रेरित करते हुए ‘तुम इस प्रकार से चोरी करो’ इत्यादि रूप से अनुज्ञा करना इसे तस्कर प्रयोग कहते हैं।

३. विरुद्धराज्यातिक्रम - दो राजाओं के राज्य को विरुद्ध राज्य कहा जाता है उनका उल्लंघन करके चोरी से टैक्स आदि को बचाकर एक राज्य से दूसरे राज्य में वस्तु का ले जाना व वहाँ से अपने यहाँ ले आना यह विरुद्ध राज्यातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है।

४. कूटतुलाकूटमाण - तुला का अर्थ तराजू या काँटा तथा मानका अर्थ मापने तौलने के प्रस्थ बाँट आदि होते हैं इनको देने और लेने के लिए अधिक प्रमाण में रखना।

५. प्रतिरूपक व्यवहार - प्रतिरूप का अर्थ सदृश समान होता है अधिक मूल्यवाली विक्रय वस्तु में उसी के जैसी अल्पमूल्यवाली वस्तु को मिलाकर बेचना। इसे प्रतिरूपक व्यवहार कहा जाता है।

‘पञ्चाशकसूत्र’ की टीका में विशेषरूप से यह बताया है कि स्तेनाहृत आदि पाँचो स्पष्ट रूप से चोरीरूप ही है लेकिन सहसा आदि से या अतिक्रम आदि से हो जाय तो अतिचार गिने जाते हैं ‘ये अतिचार व्यापारी को ही होते हैं’^{९६} ऐसा नहीं लेकिन राजा और राजसेवकों को भी होते हैं।^{९७}

आचार्य हरिभद्र ने ‘श्रावक प्रज्ञप्ति’ टीका में यह भी बताया है कि अचौर्याणुव्रती को उपर्युक्त अतिचारों का तो त्याग करना ही, साथ में और कैसा व्यवहार करना चाहिए कि यदि किसी भी प्रयोजनवश किसी को किसी के रूपया वैसे लेना पड़े तो उसे उचित ब्याज के साथ लेना चाहिए। यदि कभी सुपारी आदि क्रय-विक्रय में विशेष लाभ हुआ हो तो उसे अभिमान के साथ ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कभी किसी व्यक्ति की वस्तु गिर गयी हो तो उसे जानकर ग्रहण न करना। इस प्रकार यह तृतीय अणुव्रत पूर्ण हुआ^{९८} इसके अतिचारों का वर्णन श्रावक धर्मविधिप्रकरण,^{९९} धर्मबिन्दु,^{१००} तत्त्वार्थ टीका,^{१०१} वंदितासूत्र^{१०२} आदि में मिलते हैं। अब चौथा अणुव्रत का निर्देश किया जाता है।

४. स्थूल स्वदारसंतोष विरमणव्रत - स्वदार संतोष का परिमाण ही चौथा व्रत है 'उपासक दशाङ्ग सूत्र'^{१०२} में इस व्रत का वर्णन मिलता है। उसमें 'स्वदारसंतोष परिमाण' का ही वर्णन मिलता है। जबकि आचार्य हरिभद्र ने पञ्चाशक आदि ग्रन्थों में कुछ भिन्न विवेचन किया है। उन्होंने परस्त्री का त्याग स्वस्त्रीसंतोष दोनों बाते बताई है वह इस प्रकार है।

परदारस्स य विरई ओरालविउव्वभेयओ दुविहं।

एयमिह मुणेयव्वं, सदारसंतोस मो इत्थ ॥^{१०३}

परस्त्री का परित्याग और स्वस्त्रीसंतोष चौथा अणुव्रत है। इसमें परस्त्री औदारिक और वैक्रिय के भेद से दो प्रकार की है।

परस्त्री के परित्याग से यहाँ अन्य स्त्री के परित्याग का अभिप्राय है, वेश्याके परित्याग का नहीं। परन्तु स्वस्त्री संतोष से यहाँ वेश्याके परित्याग का अभिप्राय तो रहा ही है, साथ ही अपनी पत्नी से भिन्न अन्य सभी स्त्रियों के परित्याग का रहा है औदारिक और वैक्रियिक के भेद से परस्त्री के यहाँ दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। जो औदारिक शरीरवाली स्त्री औदारिक कहलाती है स्नायु मांस हाडका आदि का बना हुआ शरीर औदारिक मनुष्यजाति की स्त्री और पशुजाति की स्त्री औदारिक परस्त्री है और वैक्रिय लब्धि की विकुर्बणा करके बनाया हुआ शरीर वैक्रिय है देवीओ और विद्याधरीओं वैक्रिय परस्त्री है। परस्त्री का त्याग करनेवाला ब्रह्मचर्याणुव्रती इन दोनों प्रकार की परस्त्रियों का त्यागी होता है।^{१०४}

आचार्य हरिभद्रसूरिने ऐसा वर्णन 'पञ्चाशकसूत्र'^{१०५} 'श्रावक प्रज्ञप्ति'^{१०६} आदि में भी किया है।

इस व्रत का परिपूर्ण पालन करने लिए उनके अतिचारों को जानना एवं साथ ही उसका परित्याग अत्यावश्यक है वे अतिचार 'उपासक दशाङ्ग'^{१०७} में जो बताये हैं उन्हीं का अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में समुल्लिखित किये हैं वे इस प्रकार हैं -

वज्जइ इत्तरिअपरिग्गाहियागमणं अणंगकीडं च।

परविवाहकरणं कामे तिच्चाभिलासं च ॥^{१०८}

श्रावक चौथे व्रत में इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा, परविवाहकरण, तीव्रकामाभिलाष इन पाँच अतिचारों का परित्याग करे।

१. इत्वरपरिगृहीतागमन - भाडा देकर कुछ काल के लिए ग्रहण की गई वेश्या को अपने अधीन करके उसके साथ मैथुन सेवन करना।

२. अपरिगृहीतागमन - जिसने दूसरों के पास से मूल्य नहीं लिया हो वैसी वेश्या तथा अनाथ कुलांगना, त्यक्ता, कुमारिका आदि अपरिगृहीता मानी जाती है ये दूसरे के द्वारा ग्रहण नहीं की गयी है।

इसलिए भले ही उसे परस्त्री न समझा जाये पर वस्तुतः वह परस्त्री ही है। अतः इनके साथ विषय सेवन से अतिचार लगते हैं।

३. अनंग क्रीडा-काम सेवन करने के जो अङ्ग हैं, उनके सिवाय अन्य उरू, स्तन आदि अंगों में अथवा कृत्रिम अंगों के द्वारा जो क्रीडा करना, तथा हस्तक्रिया आदि करना अनङ्गक्रीडा नामका अतिचार है।

४. परविवाहकरण-अपनी सन्तान को छोड़कर कन्याविषयक फल की इच्छा से अथवा स्नेह के वश अन्य की सन्तान के विवाह करने का नाम परविवाह है।

५. कामतीव्राभिनवेश - अपनी स्त्री आदि में अत्यन्त कामासक्ति रखना और उसके लिए कामवर्धक प्रयोग करना आदि तीव्र कामाभिनवेश नाम का अतिचार है।^{१०९}

इन अतिचारों का विशेष स्पष्ट वर्णन 'तत्त्वार्थाधिगम'^{११०} की टीका', 'योगशास्त्रका स्वोपज्ञ विवरण'^{१११} एवं 'सागरधर्मावृत'^{११२} की स्वो. टीका में मिलता है।

आचार्य हरिभद्रसूरी ने यह भी कहा कि इस अणुव्रत की सुरक्षा के लिए रागादिरूप विकार के साथ पर युवती को देखना उसके साथ सम्भाषण करना आदि मोह को उत्पन्न करनेवाला है अतः उसका भी परित्याग करना चाहिए, क्योंकि ये ऐसे कामबाण हैं जो संयमी के चारित्ररूप प्राणों को नष्ट कर दिया करते हैं।

इन अतिचारों का वर्णन 'श्रावकप्रज्ञप्ति'^{११३} श्रावकधर्मविधि प्रकरण,^{११४} वंदितासूत्र,^{११५} तत्त्वार्थसूत्र,^{११६} धर्मबिन्दुप्रकरण^{११७} में भी मिलता लेकिन इतनी अवश्य भिन्नता है कि 'तत्त्वार्थसूत्र' एवं धर्मबिन्दु प्रकरण में इन अतिचारों के क्रम का व्यत्यय है।

५. स्थूल परिग्रहणपरिमाण विरमणव्रत - चेतनायुक्त मनुष्य, स्त्री, दास, दासी, द्विपद हाथी, घोडा चतुष्पद तथा चेतन रहित सुवर्ण, चाँदी आदि के विषय में इच्छा का प्रमाण करता है कि मैं अमुक वस्तु इतने प्रमाण में ग्रहण करूँगा, इससे अधिक ग्रहण नहीं करूँगा।

सचित्ताचित्सेसुं इच्छापरिमाणमो य पंचमयं।

भणियं अणुव्वयं खलु, समासओ णंतनाणीहि।^{११८}

यह परिग्रह परिमाणव्रत नौ प्रकार से होता है तथा धनादि सभी के पास समान न होने से यह व्रत अनेक प्रकार का होता है ऐसा बताते हुए आचार्य हरिभद्र पञ्चाशक में कहते हैं कि

इच्छापरिमाण खलु असयारंभविणिवित्तिसंजणं।

खेत्ताइवत्थुविसयं चित्तादविरोहओ चितं॥^{११९}

धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, रूप्य, सुवर्ण, कुप्य, द्विपद और चतुष्पद यह नव प्रकार का परिग्रह का परिमाण करना ही पाँचवा अणुव्रत है इस व्रत से अशुभ आरंभों की निवृत्ति होती है। और यह व्रत, चित्त, वित्त, देश, वंश आदि के अनुरूप लेने से अनेक प्रकार का है।

'उपासकदशाङ्गसूत्र'^{१२०} 'श्रावक धर्मविधि प्रकरण'^{१२१} वंदितासूत्र^{१२२} तथा 'तत्त्वार्थसूत्र'^{१२३} में भी इस व्रत का स्वरूप बताया है।

'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्य उमास्वाति ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। लेकिन भाग्य में इच्छा, प्रार्थना,

काम, अभिलाषा, गृद्धि और मूर्च्छा ये सभी समानार्थक है ऐसा कहा है।

इस व्रत का परिपूर्णपालन के लिए अतिचारों को प्रयत्न पूर्वक जानकर उनका परित्याग करना चाहिए।

‘उपासकदशाङ्ग’^{१२४} आदि में भी इनके अतिचारों का वर्णन मिलता है।

आचार्य हरिभद्र ने भी अपने ग्रन्थों में इन अतिचारों का उल्लेख किया है वह इस प्रकार -

खेत्ताइहिरण्णाईधणाइदुपयाइकुप्पमाणकमे ।

जोयणपयाणबंधणकारण भावेहि नो कुणइ ॥^{१२५}

पाँचवा अणुव्रत लेने वाला श्रावक योजन, प्रदान, बंधन कारण और भाव से अनुक्रमे क्षेत्र वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद और कुप्य पाँच परिणामों का अतिक्रम नहीं करता है।

१. क्षेत्र-वास्तु एक क्षेत्र या वास्तु को दूसरे क्षेत्र के वास्तु के साथ जोड़कर उसके परिमाण का उल्लंघन करने से अतिचार लगते हैं।

२. हिरण्य सुवर्णातिक्रम-हिरण्य और चाँदी परिमाण से अधिक चाँदी और सुवर्ण दूसरों को देकर परिमाण का उल्लंघन करने से अतिचार लगते हैं।

३. धन धान्य परिमाणातिक्रम - चावल, धन, धान्य के परिमाण का उल्लंघन करने से अतिचार लगते हैं।

४. द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम द्विपद तथा चतुष्पद आदि के परिमाण का उल्लंघन करने से अतिचार लगते हैं।

५. कुप्य प्रमाणातिक्रम - कुप्य अर्थात् घरमें उपयोगी शय्या, थाली, वाटका आदि सामग्री के परिमाण का भाव से पर्यायांतर करके उल्लंघन करने से अतिचार लगते हैं।^{१२६}

यहाँ व्रत के भय से ऐसा करता है। अतः व्रत सापेक्ष होने से व्रत का भंग नहीं है, लेकिन परमार्थ से तो परिमाण अधिक होना व्रतभंग है।

इन अतिचारों का वर्णन ‘श्रावक प्रज्ञप्ति’^{१२७} पञ्चाशक सूत्र,^{१२८} धर्मबिन्दु,^{१२९} तत्त्वार्थसूत्र^{१३०} में भी मिलता है तथा सूत्र के गाथा की टीका में इनका विशेष विवेचन भी मिलता है।

इस प्रकार पाँच अणुव्रतों का विवेचन पूर्ण हुआ अब श्रावक के तीन गुणव्रत का क्या स्वरूप है उसका निर्देश करते हैं। ‘उपासक दशाङ्ग’ सूत्र में तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत न कहकर सातों का शिक्षाव्रत से ही उल्लेख किया, तीन गुणव्रत का अलग भेद नहीं किया। लेकिन आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में तीन गुणव्रत का अलग से उल्लेख किया है। वह इस प्रकार -

“उक्तान्यणुव्रतानि सांप्रतमेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते। तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति तद्यथा दिव्रतमुपभोग परिभोग परिमाणं अनर्थदण्डपरिवर्जनमिति।”^{१३१}

दिव्रतभोगोपभोगमानार्थदण्डविरतयस्त्रीणि गुणव्रतानीति।^{१३२}

प्रथम गुणव्रत में दिग्परिमाणविरमणव्रत है । वह इस प्रकार है -

१. दिग्परिमाण विरमणव्रत - दिशाओं का प्रमाण करना ।

उड्ढमहे तिरियं पि य दिसासु परिमाणकरणमिह पढमं ।

भणियं गुणव्वयं खलु सावगधम्ममि वीरेण ॥

ऊपर की, नीचे की और तिरछा इन दिशाओं में जो प्रमाण किया जाता है उसे श्रावक धर्म में वीर परमात्मा के द्वारा प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत कहा गया है ।

‘पञ्चाशकसूत्र’ में तथा ‘श्राद्धधर्मविधि’ प्रकरण में कुछ अलगरूप से बताया है वहाँ समय की मर्यादा का उल्लेख किया है ।

उड्ढाहो तिरियदिसिं, चाउम्मासाइकालमाणेण ।

गमणपरिमाणकरणं, गुणव्वयं होइ विन्नेयं ॥^{१३३}

चार महिना आदि समय तक ऊपर नीचे और तिच्छा इतनी मर्यादा से अधिक नहीं जाना । इस प्रकार गति का परिमाण करना दिशापरिमाणरूप गुणव्रत है ।

जो अणुव्रतों को लाभ करते हैं गुण करते हैं उससे उन्हें गुणव्रत कहे जाते हैं ।

इस व्रत का निरतिचार परिपालन के लिए उसके अतिचारों को जानकर परित्याग करना चाहिए वे इस प्रकार हैं ।

वज्जइ उड्ढाइकममाणयणप्पेसणोभयविसुद्धं ।

तह चेव खेत्तवुडिढं कहिंचि सइअंतरद्धं च ॥^{१३४}

श्रावक छठे व्रत में त्याग किये हुए क्षेत्रमें दूसरों के द्वारा किसी वस्तु को प्रेषित करने का और मंगवाने का त्याग करे ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम, अधोदिशाप्रमाणातिक्रम और तिर्यग्दिशा प्रमाणातिक्रम इन अतिचारों एवं क्षेत्रवृद्धि तथा स्मृति अंतर्धान इन दो अतिचारों का त्याग करे ।

१. ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम - ऊर्ध्वदिशा में जितना प्रमाण किया है उसको बिना बढ़ाये ही कार्यवश उससे परे गमन करना प्रथम अतिचार ।

२. अधोदिशाप्रमाणातिक्रम - इसी तरह अधोदिशा में जितना प्रमाण किया है उससे परे गमन करना अधोव्यतिक्रम अतिचार है ।

३. तिर्यग् व्यतिक्रम - पूर्वादिक आठ दिशाओं में से किसी भी दिशा में नियत सीमा से आगे गमन करना तिर्यग्व्यतिक्रम अतिचार है ।

४. क्षेत्रवृद्धि - पहले जितना प्रमाण किया है उसको फिर रागवश बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है । यह अतिचार दो प्रकार से हो सकता है । एक तो एक दिशा के नियत प्रमाण को घटाकर दूसरी तरफ बढ़ा लेने से, दूसरे किसी के भी प्रमाण को बिना घटाये ही इच्छित दिशा के प्रमाण को बढ़ा लेने से ।

५. स्मृति अंतर्धान - नियत सीमा को भूल जाना कहाँ तक या कितना प्रमाण किया था वह प्रमादवश अज्ञानादिवंश याद न रहना इसको स्मृत्यन्तर्धान नामका अतिचार कहते हैं।^{१३५}

इन्हीं अतिचारों का वर्णन श्रावकधर्मविधि प्रकरण,^{१३६} श्रावक प्रज्ञप्ति,^{१३७} धर्मबिन्दु,^{१३८} तत्त्वार्थसूत्र,^{१३९} वंदितासूत्र^{१४०} तथा इनकी टीकाओं में इनका विस्तार से वर्णन मिलता है।

२. भोगोपभोग परिमाणव्रत - उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का परिमाण किया जाता है। 'उपासक दशाङ्ग,^{१४१} में उपभोग और परिभोग की वस्तुओं का अलग अलग एक-एक वस्तुओं का परिमाण बताया गया है क्योंकि वहाँ पर आनंद श्रावक स्वयं अपने लिए वस्तुओं का परिमाण करता है लेकिन श्रावक प्रज्ञप्ति आदि में व्यक्तिगत वर्णन नहीं होने से आचार्य हरिभद्र ने सामान्य से उसका निरूपण किया है जैसे कि-
उवभोगपरिभोगे बीयं, परिमाणकरणमो नेयं।

अणियमियवाविदोसा न भवति कयम्मि गुणभावे ॥^{१४२}

उपभोग और परिभोग के विषय में जो प्रमाण किया जाता है वह उपभोग -परिभोग प्रमाणव्रत दूसरा अणुव्रत है उनके प्रमाण कर लेने से अनियमित रूप से व्याप्त होने वाले दोष नहीं लगते यह उसका गुण है।

उपभोग यानि एकबार भोगे जानेवाला पदार्थ होता है जैसे कि :- भोजन आदि एक बार भोगे जा सकते हैं। तथा परिभोग बार बार भोगे जाने वाला पदार्थ जैसे कि - मकान, वस्त्र, बर्तन, आदि ये एक ही वस्तु को बार-बार भोगते हैं।

उपभोग और परिभोग भोजन और कर्म की अपेक्षा से दो प्रकार का है। १. मांस मदिरा आदि का त्याग
२. कर्मादान का त्याग।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति की टीका में इसका विवेचन करते हुए कहा कि वृद्ध संप्रदाय ऐसा है कि श्रावक को मुख्यतया एषणीय (स्वयं के लिए आरंभ करके न बनाया हुआ) और अचित्त आहार करना चाहिए। अनेषणीय आहार लेना पड़े तो सचित्त का त्याग करना चाहिए सचित्त का भी सर्वथा त्याग न हो सके तो अनंतकाय, बहुबीज, चार महाविगई, रात्रिभोजन द्विदल आदि का सर्वथा त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार वस्त्र आदि परिभोग में भी अल्पमूल्य और परिमित वस्त्रों को पहनना चाहिए। शासन प्रभावना में सुंदर मूल्यवान वस्त्र पहनने चाहिए।

कर्म संबंधि वृद्धसंप्रदाय - श्रावक यदि व्यापार के बिना आजीविका न चला सके तो अतिशय पाप वाला व्यवहार का त्याग करना चाहिए।^{१४३}

ऐसा ही वर्णन पञ्चाशक की टीका,^{१४४} श्रावक धर्मविधि प्रकरण वृत्ति^{१४५}, धर्म बिन्दु^{१४६} में है।

अतिचारों से रहित उसका पालन करना चाहिए अतः अब अतिचारों का वर्णन करते हैं।

सचित्ताहारं खलु बद्धं च वज्जए सम्मं।

अप्पोलिय - दुप्पोलिय - तुच्छोसहि भक्खणं चव ॥^{१४७}

सचित्त आहार, सचित्त प्रतिबद्धाहार, अपकभक्षण, दुष्पक भक्षण और तुच्छ औषधि भक्षण ये भोजन की अपेक्षा से पाँच अतिचार है।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत के विषय में कर्म विषयक १५ अतिचार कहे गये है। १. अंगारकर्म २. वनकर्म ३. शकटकर्म ४. भाटनकर्म ५. स्फोटन कर्म ६. दन्तवाणिज्य ७. लाक्षावाणिज्य ८. रस वाणिज्य ९. केशवाणिज्य १०. विषवाणिज्य ११. यन्त्रपीडन कर्म १२. निर्लाछन कर्म १३. दवदान १४. सरद्रह तडागशोषण १५. असतीपोषण।^{१४८}

इस प्रकार भोग परिभोग वाले व्रती को इन सभी अतिचारों का त्याग करना चाहिए है। इस प्रकार अतिचारों का वर्णन पञ्चाशक सूत्र,^{१४९} श्रावक धर्मविधिप्रकरण,^{१५०} धर्मबिन्दु,^{१५१} तत्त्वार्थसूत्र^{१५२} में भी मिलता है तथा इन सभी की टीकाओं में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

(३) अनर्थदण्ड विरमणव्रत - इस अनर्थदण्ड का स्वरूप आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार निरूपित किया है।

तहणत्थदंडविरई अण्णं स चउव्विहो अवज्झाणे।

पमयायरिये हिंसप्पयणपावोवएसेय ॥^{१५३}

तृतीय गुणव्रत अनर्थदंड विरति है अनर्थदंड के अपध्यान, प्रमादाचरण, हिंसाप्रदान और पापोपदेश ये चार भेद है।

प्रयोजन के बिना जो जीवों को पीडा पहुँचायी जाती है उसका नाम अनर्थदण्ड है। ऐसे अनर्थदण्ड का परित्याग करना अनर्थदण्डव्रत है यह चार प्रकार का है।

१. अपध्यान - आर्त रौद्र स्वरूप दुष्टचिन्तन का नाम अपध्यान है अथवा निरर्थक विचार करना अपध्यान कहलाता है जैसे कि कइया वच्चति सत्थो। किं भंडं कत्थ ? केन्तिया भूमी ?

को कयविक्रयकालो ? निव्विसये किं कहिं केण ?

सार्थ कहा जा रहा ? कहा कौनसा करियाणा है ?

भूमी कितनी है ? बेचने और खरीदने का समय कौनसा है ? किसने कहाँ पर क्या किया ? इस प्रकार निरर्थक विचारना अपध्यान है।

२. प्रमादाचरण - मद्य, विषय, कषाय, निन्दा और विकथा ये ५ प्रकार प्रमाद के है। प्रमाद के वश में आकर जो कार्य किया जाता है। वह प्रमादाचरण कहलाता है। जैसे-तेल, घी आदि के बर्तन खुले रखना। रत्नकरण्डक में इसके लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि पृथिवी, जल अग्नि और वायु का निरर्थक आरम्भ करना तथा वनस्पतियों को छेदना इत्यादि कार्य बिना प्रयोजन करना। निरर्थक हाथ पाँव आदि का व्यापार करना तथा हिंसक जीवों का पालन करना इत्यादि कार्य भी प्रमादाचरण है।

३. हिंसाप्रदान - जिससे हिंसा होती है ऐसे शस्त्र, अग्नि, हल, विष आदि वस्तु दूसरों को देना।

४. पापोपदेश-खेती का समय हो गया है अतः आप खेती का कार्य प्रारंभ करो इस प्रकार दूसरो को उपदेश देना आदेश देना पापोपदेश कहलाता है।^{१५४}

५. अनर्थदण्ड का इसी प्रकार का विवेचन श्रावक प्रज्ञप्तिटीका,^{१५५} श्रावक धर्मविधि प्रकरण^{१५६} टीका एवं उपासक दशाङ्ग टीका^{१५७} में भी मिलता है।

इस व्रत का परिपूर्ण पालन के लिए इनके अतिचारों को जानना एवं परित्याग करना अत्यावश्यक है वे इस प्रकार है।

कंदर्पं कुक्कुडयं मोहरियं संजुयाहिगरणं च ।

उपभोग परीभोगाद्रेयगयं चित्थ वज्जइ ॥^{१५८}

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और उपभोग -

परिभोगपरिमाणातिरेकता ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार है जिनका परित्याग करना चाहिए।

१. कन्दर्प - रागयुक्त असभ्य हास्य के वचन बोलना, जोर जोर से हँसना आदि ।

२. कौत्कुच्य - हास्य और सभ्यता शिष्टता से विरुद्ध भाषण करना तथा शरीर दूषित चेष्टाएँ करना कौत्कुच्य अतिचार है।

३. मौखर्य-विनासम्बन्ध के अति प्रचुर बोलने बड़बड़ाने को मौखर्य कहते है।

४. संयुक्ताधिकरण-जिससे आत्मा दुर्गतिगामी बनती है वह अधिकरण उदूखल, शिलारपुत्रक और गेहूँ का यन्त्र, इनको अर्थ क्रिया के योग्य वेंट और मूसल आदि उपकरणों से जोड़कर रखना ही संयुक्ताधिकरण है। रत्नकरण्डक और सागरधर्माभूत आदि में इस अतिचार को असमीक्ष्याधिकरण नाम से निर्दिष्ट किया गया है। जिसका अभिप्राय है कि प्रयोजन का विचार न करके लकड़ी ईंट व पत्थर आदि को आवश्यकता से अधिक मँगवाना या तैयार करना।

३. उपभोग परिभोगातिरेकता - उपभोग परिभोग के साधनों को आवश्यकता से अधिक मात्रा में रखना। जैसे कि स्नान के लिए तालाब आदि पर जाते समय तेल, आँवले अधिक मात्रा में ले जाना।^{१५९}

इन अतिचारों का वर्णन उपासक - दशाङ्ग,^{१६०} श्रावक धर्मविधि प्रकरण,^{१६१} धर्मविन्दु,^{१६२} पञ्चाशक,^{१६३} तत्त्वार्थ^{१६४} एवं वंदितासूत्र^{१६५} में भी मिलता है लेकिन आचार्यहरिभद्रसूरि ने अपनी टीका में विस्तार पूर्वक विवेचन किया।

तीन गुणव्रत का निरूपण करने के पश्चात् अब चार शिक्षाव्रतों की प्ररूपणा करते है । १. सामायिक २. देशावकाशिक ३. पौषधोपवास ४. अतिथिसंविभाग

१. सामायिक - मोक्षपद को प्राप्त करानेवाली क्रिया का नाम शिक्षा है उस शिक्षा पद को व्रत कहा जाता है। उसमें प्रथम सामायिक व्रत में कालकी मर्यादा करके उतने समय के लिए सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्याग करना सामायिक है।

निरुक्ति के अनुसार सामायिक का अर्थ यह है कि जो राग द्वेष की परिणति से विरक्त बनकर समस्त प्राणिओं को अपने समान ही देखता है उसका नाम 'सम' है आय शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' है। तदनुसार समभावी वह जीव प्रतिसमय अनुपम सुख के कारणभूत अपूर्व ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप पर्यायों से संयुक्त होता है उसे समाय (सम आय) कहा जाता है यह 'समाय ही जिस क्रिया अनुष्ठान का प्रयोजन हो उसका नाम सामायिक है अथवा 'समाये भव सामायिक' इस विग्रह के अनुसार समाय हो जाने पर जो अवस्था होती है उसे सामायिक का लक्षण समझना चाहिए।^{१६६}

पञ्चाशक टीका में 'सावद्य योग' को लेकर कुछ शंका उठायी गई है कि कुछ ऐसा मानते है कि सामायिक में जिनपूजा प्रक्षालन आदि कार्य में कोई दोष नहीं है कारण कि वे कार्य निरवद्य योग है। सावद्य योग का लक्षण इस प्रकार है -

कम्मवज्जं जं गरहियंति कोहइणो य चत्तारि ।

सह तेण जो उ जोगो, पच्चक्खाणं हवइ तस्स ॥

जो निंद्य कार्य होते है वे अवद्य (पाप) है, अथवा क्रोधादि चार कषाय अवद्य हैं। अवद्य से युक्त व्यापार सावद्य योग है। उस सावद्य - योग का पच्चक्खाण होता है।

जिन प्रक्षालन आदि कार्य निंद्य न होने से अवद्य नहीं है जिसका समाधान इस प्रकार किया गया है। कि जिन प्रक्षालन आदि कार्य निंद्य न होने के कारण सावद्य नहीं है इस प्रकार यदि मान ले तो साधुओं को भी जिनप्रक्षालन आदि करने चाहिए। कारण कि साधु और श्रावक के लिए सावद्य की व्याख्या भिन्न नहीं है। और सामायिक में श्रावक को साधु के समान कहा है तो वह व्याख्या भी नहीं घटेगी। कारण कि साधु को जिन प्रक्षालन करने का अधिकार नहीं है। जिन प्रक्षालन शरीर को स्वच्छ बनाकर सुशोभित बनाकर करने में आते है जबकि सामायिक में विभूषा का सर्वथा त्याग किया जाता है। तथा सामायिक भावस्तव है और जिन पूजा द्रव्यस्तव है।^{१६७} द्रव्यस्तव भावस्तव की प्राप्ति के लिए होता है इसलिए सम्बोधसित्तरि में भावस्तव को मेरुपर्वत के समान तथा द्रव्यस्तव को सरसव के दाणा के समान बताया है जैसे कि -

मेरुस्स सरिसवस्स य जित्थियमित्तं तु अंतरं होइ ।

दवत्थय भावत्थय अंतरमिह तित्थियं नेयं ॥^{१६८}

मेरुपर्वत और सरसव के दाणे में जितना अंतर होता है उतना ही अंतर द्रव्य स्तव और भावस्तव में होता है। अर्थात् द्रव्य स्तव वाले को सरसव जितना फल मिलता है तथा भाव स्तव वाले को मेरुपर्वत (१ लाख योजन ऊँचा) जितना फल मिलता है। अतः भावस्तव साधुओं के लिए कहा गया है।

तथा शास्त्र में जिनप्रक्षालन आदि कार्य करने में दोष नहीं, ऐसा वचन कहीं दिखाई नहीं देता है लेकिन सामायिक वाला श्रावक साधु के समान होता है ऐसा वचन मिलता है।

सामायिक श्रावक को किस प्रकार लेनी चाहिए। उसका वर्णन भी आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति

आदि में किया है। सामान्य ऋद्धिवाला श्रावक चैत्यगृह में, साधु के समीप में, घर में, पौषधशाला आदि में सामायिक करे। इसमें वह साधु के समीप करता है तो वह भय से रहित पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन करता हुआ साधु के पास जाकर तीन योग से साधु को नमस्कार करे तत्पश्चात् सामायिक करे वह इस प्रकार “करेमि भन्ते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं जाव साहु पज्जुवासामिति काऊण पच्छा इरियावहियं पडिक्कमइ।”

हे भगवान् ! मैं सामायिक करता है। दो प्रकार के सावद्य योग का, तीन प्रकार से प्रत्याख्यान करता है ऐसा करके पश्चात् ईर्यापथका प्रतिक्रमण करता है, पश्चात् आलोचना करके ज्येष्ठता के क्रम से फिर से गुरु की वन्दना करके प्रतिलेखना पूर्वक बैठकर पूछे व पढ़े। इसी प्रकार का पाठ पञ्चाशक की टीका, श्रावक धर्मविधि प्रकरण आदि में भी मिलता है।

ऋद्धिमंत श्रावक घोड़ा और हाथी आदी के परिकर से अधिकरण बढ़ाता है अतः उस समय आकर सामायिक न करे सामायिक करके ही आवे, करके न आवे, और वहाँ आकर करे तो उपरोक्त विधि के अनुसार करे। विशेष में वह अपना मुकुट, कुण्डल, पुष्प, पान वस्त्र आदि को दूर कर देता है। यह सामायिक विधि है।

सामायिक में श्रावक साधु के समान होता है फिर भी सर्वथा समान नहीं होता है उनमें कुछ भिन्नता भी होती है। जैसे कि उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्ध, वेदना, प्रतिपत्ति और अतिक्रम, इन सबके द्वारा उक्त साधु और श्रावक इन दोनों में भेद भी किया जाता है। उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि यह तालाब तो समुद्र के समान है तब उसे स्वयं समुद्र न समझकर यही समझा जाता है कि वह समुद्र के समान गम्भीर व विस्तृत है इसी प्रकार प्रकृत में श्रावक को साधु के समान कहने का यही अभिप्राय है कि वह स्वयं साधु न होकर सामायिक काल में सावद्ययोग का त्याग कर देने के कारण साधु जैसा है। इस प्रकार इस गाथासूत्र से भी श्रावक और साधु में भेद सिद्ध है।^{१६९}

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने जितना विस्तार से प्रथमशिक्षाव्रत का वर्णन किया है। उतना उपासकदशाङ्ग सूत्र में नहीं मिलता है।

इस व्रत का सुंदर एवं सुचारू रूप से परिपालन करने अतिचारों को जानना एवं त्यागना अत्यावश्यक है। वे इस प्रकार है।

मण वयण कायदुप्पणिहाणं सामाइयम्मि वज्जिज्जा ।

सइअकरणयं अणवड्डियस्स तह करणयं चेव ॥^{१७०}

मनका दुष्प्रणिधान, वचन का दुष्प्रणिधान, काय का दुष्प्रणिधान, स्मृति की अकरणता और अनवस्थित सामायिक करना, ये सामायिक को दूषित करने वाले उसके अतिचार है उनका परित्याग करना चाहिए। मनोदुष्प्रणिधान-सामायिक में आरम्भादि विषयक सावद्य कार्य का चिन्तन करना।

वचन दुष्प्रणिधान - सामायिक में सावद्य वचनों का उच्चारण करना यह दूसरा अतिचार है।

काय दुष्प्रणिधान - जो श्रावक सामायिक के योग्य शुद्ध भूमि को आँखों से न देखकर और कोमल वस्त्र आदि से उसका परिमार्जन न करके स्थान आदि का सेवन करता है। पापकारी कार्यों को करते है।

४. स्मृति भ्रंश-जो श्रावक 'सामायिक को कब करना चाहिए अथवा सामायिक मैं कर चुका हूँ या अभी नहीं की है। इसका प्रमाद से युक्त होकर स्मरण नहीं करता है अथवा भूल जाता है।

५. अनवस्थितकरण-प्रमाद से सामायिक लेने के बाद तुरन्त समाप्त (पार) कर लेते है अथवा जैसे जैसे सामायिक करे।

इस प्रकार इन अतिचारों का वर्णन उपासक दशाङ्ग^{१७२}, श्रावकधर्मविधिप्रकरण^{१७३}, पञ्चवस्तुक^{१७४}, धर्मबिन्दु^{१७५}, तत्त्वार्थसूत्र^{१७६}, तथा वंदितासूत्र^{१७७} में भी किया गया है।

१०) देशावकाशिक व्रत - दिग्ब्रत में यावज्जीव के लिए दशों दिशाओं का परिमाण कर लिया जाता है कि मैं अमुक स्थान से परे अपने भोगोपभोग अथवा आरम्भ आजीविका आदि के लिए नहीं जाऊँगा। अतएव परिमित क्षेत्र के बाहर का उसको किसी भी प्रकार का पाप नहीं लगता। इस व्रत में प्रतिदिन अथवा कुछ दिन के लिए अथवा इतने तक इतने दिन क्षेत्र से बाहर नहीं जाऊँगा इसको देशावकाशिक कहते है। अथवा आज इतने समय तक इस क्षेत्र से बाहर नहीं जाऊँगा। जैसे कि

दिसिवयगहियस्स दिसापरिणमाणस्सेह पइदिणं जंतु।

परिमाणकरणमेयं, अवरं खलु होइ विण्णेयं ॥^{१७८}

छट्टे दिशापरिमाणव्रत में लिखे हुए दिशापरिमाण का प्रतिदिन परिमाण करना ही देशवगासिक नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति में एक दृष्टांत देकर इस व्रत को समझाया है।

देशावगासियं नाम सप्पविसनायओऽपमायाओ।

आसयसुद्धीइ हियं, पालेयव्वं पयत्तेणं ॥^{१७९}

जिस प्रकार सर्प का दृष्टिविष जो पूर्व में बारह योजन प्रमाण था। उसे विद्यावादी के द्वारा क्रमसे उतारते हुए एक योजन में स्थापित कर दिया जाता है। इसी प्रकार श्रावक दिग्ब्रत में गृहीत विशाल देश में बहुत अपराध आदि को कर सकता था। उसे इस देशावकाशिक व्रत में और भी सीमित कर देने के कारण अधिक अपराध से बच जाता है। अथवा दूसरा उदाहरण विष का जिस प्रकार विषैले किसी सर्प आदि के काट लेने पर उसका विष समस्त शरीर में फैल जाता है फिर भी मान्त्रिक अपनी मंत्रशक्ति के द्वारा उसे क्रमश उतारते हुए केवल अंगुलि में स्थापित कर देता है उसी प्रकार देशावकाशिकव्रती दिग्ब्रत में स्वीकृत विशाल देश को कालप्रमाण के आश्रय से प्रतिदिन संक्षिप्त किया करता है। ऐसा करने से प्रमाद रहित होने के कारण चित्त निर्मल होता है। देश का अर्थ है दिग्ब्रत में गृहीत देश का अंश उसमें अवकाश होने से इस व्रत की देशावकाशिक यह सार्थक संज्ञा समझना चाहिए।

देशावकाशिक देशे - दिग्ब्रतगृहीतपरिमाण विभागेऽवकाशो देशावकाशः तेन निर्वृतं देशावकाशिकं भवति विज्ञेयं।^{१८०}

अब इस व्रत के परिपूर्ण पालन के लिए अतिचारों का निर्देश एवं उसका परित्याग बताते हैं।

उपासक दशाङ्ग में अतिचारों का उल्लेख इस प्रकार है।

“तयाणन्तरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समारियव्वा, तं जहा-
आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्धानुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गलपक्खे वे।”^{१८०}

देशावकासिक व्रत वाले श्रावक के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं आचरणे योग्य नहीं हैं वे इस प्रकार १. आनयन प्रयोग, २. प्रेष्यप्रयोग, ३. शब्दानुपात, ४. रूपानुपात, ५. मर्यादित क्षेत्र के बाहर कंकर आदि फेकना।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में इन अतिचारों का विस्तार से विश्लेषण किया है जैसे कि-
वज्जइ इह आणयणप्पओगपेसप्पओगयं चव।

सद्धानुरुववायं, तह बहिया पोग्गलक्खेवं ॥^{१८१}

१. आनयन-इस व्रत स्वीकारे हुए को प्रमाण के बाहर जाना निषिद्ध है। ऐसा समझकर परिमित देश के बाहर से सचित्त आदि वस्तु के लाने के लिए सन्देश भेजे जो वस्तु वहाँ से मंगवाई जाती है वह आनयन नाम का प्रथम अतिचार है।

२. प्रेष्यप्रयोग - प्रेष्य अर्थात् दास या सेवक स्वयं का सीमित देश के बाहर जाना उचित न जानकर तु अमुक देश में जाकर मेरी गाय आदि ले आ इस प्रकार देशावगा सिकव्रत वाला अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह दूसरा अतिचार है।

३. शब्दानुपात - मर्यादित क्षेत्र के बाहर रहा हुआ कोई व्यक्ति अपने पास आये अतः खांसी आदि से शब्द करना।

४. पुद्गल प्रक्षेप-मर्यादित क्षेत्र के बाहर स्थित कोई व्यक्ति अपने पास आये अतः उस व्यक्ति तरफ कंकर आदि डाले।

ये पाँचो अतिचार परित्याज्य हैं यहाँ यह एक विशिष्टता बताई है कि स्वीकृतव्रत वाला मर्यादित क्षेत्र के बाहर स्वयं जाय अथवा दूसरे को भेजे इसमें विशेष अन्तर नहीं अपितु स्वयं के जाने में यह विशेषता है कि वह ईयासमिति की शुद्धि से जायेगा जो प्रायः दूसरों से सम्भव नहीं है क्योंकि वे इस प्रकार प्राणियों के संरक्षण में सावधान नहीं रह सकते।^{१८२}

इन अतिचारों का वर्णन श्रावक प्रज्ञप्ति टीका^{१८३}, धर्मबिन्दु टीका^{१८४}, तत्त्वार्थ टीका^{१८५} आदि में भी इसी प्रकार मिलता है।

११) पौषधोपवासव्रत - धर्म की पुष्टि करे वह पौषध अथवा पर्व तिथि में अवश्य करने योग्य अनुष्ठान विशेष पौषध कहलाता है पर्वकाल में जो उपवास किया जाय उसको पौषधोपवास कहते हैं। यह चार प्रकार का बताया गया है।

आहारदेह सकार बंधवावार पोसहो यऽन्नं।

देसे सव्वे य इमं चरमे सामाइयं णियमा ॥^{१८६}

आहारपौषध, शरीरसत्कारपौषध, ब्रह्मचर्यपौषध और अव्यापार पौषध इस प्रकार चार प्रकार का तीसरा शिक्षाव्रत है। आहारपौषध आदि चारों के देश से और सर्व से दो भेद है। प्रथम तीन पौषध में सामायिक में विकल्प रहता है लेकिन चतुर्थ अव्यापार पौषध में सामायिक होती है।

१. आहारपौषध - आहार का त्याग करना देश से या सर्वथा वह आहारपौषध

२. शरीरसत्कारपौषध-स्नान, विलेपन, रंगीनवस्त्रों तथा आभूषणों का देश से या सर्वथा त्याग करना शरीरसत्कार पौषध है।

३. ब्रह्मचर्य पौषध-मैथुन का देश से सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य पौषध है।

४. अव्यापारपौषध-पाप व्यापार का देश से या सर्वथा त्याग करना।

जो देश से अव्यापार का पौषध करता है वह सामायिक करे अथवा न भी करे लेकिन जो सर्वथा अव्यापार का पौषध करता है वह नियमा सामायिक करता है जो न करे तो उसके फल से वंचित रहता है।

पौषध भी जिनचैत्य, साधु के पास, घरमें या पौषधशाला में मणि, सुवर्ण, अलंकार, विलेपन का त्याग पूर्वक करना चाहिए। पौषध लेने के बाद स्वाध्याय, सूत्र पठन एवं धर्म ध्यान करे।

उपासकदशाङ्ग^{१८७}, धर्मबिन्दु^{१८८} तथा तत्त्वार्थ^{१८९} सूत्र में इस व्रत के विषय में इतना ही कहा है कि पौषधोपवास पर्व के अर्थ में रूढ़ है तथा उस दिन आहारादि त्याग करना चाहिए इन सूत्रों की टीका में इसका विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है जबकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति^{१९०}, श्रावक धर्म विधि प्रकरण^{१९१}, आदि में विस्तार से वर्णन उपरोक्त प्रकार से किया है।

इस व्रत के परिपूर्णपालन के लिए अतिचारों को जानना एवं त्याग करना अत्यावश्यक है उन अतिचारों का वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार किया है।

अप्पडिदुप्पडिलोहिय पमज्जसेज्जाइ वज्जई इत्थं

समं व अणणुपालन माहाराईसु सव्वेसु ॥^{१९२}

पौषधोपवासव्रती श्रावक को अप्रत्युपेक्षित, दुष्प्रत्युपेक्षित, शय्या संस्तारक, अप्रमार्जित, दुःप्रमार्जित, शय्या संस्तारक, अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित, उच्चारदिभूमि और अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चारदि भूमि का परित्याग करना चाहिए।

१. शय्या से अभिप्राय चारपाई या पलंग आदि का तथा आसन से अभिप्राय डाभ के आसन व कम्बलवस्त्र आदि का है इनका उपयोग आँखों से देखे बिना अथवा असावधानी से करना।

२. उक्त शय्या, आसन का उपयोग कोमलवस्त्र आदि से पूंजे पोंछे बिना अथवा व्याकुल चित्त से झाड़-पोछकर करना।

३. उच्चार नाम मल का है आदि शब्द से मूत्र व कफ आदि के विसर्जन के समय भूमि को बिना देखे

अथवा देखे अथवा अधीरता से विसर्जन करना।

४. इसी प्रकार उक्त मल-मूत्रादि विसर्जन की भूमि को कोमल वस्त्र आदि से झाड़े बिना या दुष्टता पूर्वक झाड़ पोंछकर वहा मल मूत्रादि को विसर्जित करना यह चौथा अतिचार है।

तत्त्वार्थसूत्र तथा धर्मबिन्दु में कुछ दूसरे रूप में ये अतिचार वर्णित है।

‘अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोप क्रमणानादर स्मृत्यनुपस्थापनानि ।’^{१९३}

अप्रत्यवेक्षित, अर्थात् दृष्टि द्वारा जिस भूमि को अच्छी तरह देखा नहीं हो और अप्रमार्जित जिसको पिच्छी आदी द्वारा प्रमार्जित नहीं की हो ऐसी भूमि पर मल मूत्रादि का परित्याग करना अप्रत्यक्षवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग नाम का अतिचार है। इसी प्रकार बिना देखे शोधे स्थान पर बिना देखी पूंजी वस्तु यो ही रख देना या उठा लेना अथवा पटक देना, फेकना अप्रत्यक्षवेक्षिताप्रमार्जित-दाननिक्षेप नामका अतिचार है।

शयनासन के आश्रयभूत स्थान को या शय्या आदि को बिना देखे पूँजे ही काम में ले लेना उस पर बैठ जाना सो जाना अप्रत्यक्षवेक्षिताप्रमार्जित संस्तारोपक्रम नाम अतिचार है।

पौषधोपवास में भक्तिभाव न होना अनादर नाम का अतिचार है। पर्वके दिन को भूल जाना अथवा इस दिन उपवास का याद न रहना, उस दिनके विशेष कर्तव्य को याद न रखना स्मृत्यनुपस्थापन नाम का पाँचवा अतिचार है।

४. अतिथिसंविभाग - न्यायपूर्वक अर्जित किये हुए अथवा सचित्त और देने योग्य अन्नपान आदि पदार्थों का देश काल के अनुसार श्रद्धापूर्वक सत्कार के साथ क्रम से आत्म कल्याण करने की उत्कृष्ट बुद्धि भावना से संयत साधुओं को दान करना अतिथि संविभाग कहा जाता है।

आचार्य हरिभद्र अतिथिसंविभाग का व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ बताते हुए कहते हैं कि- अतिथि संविभागव्रत के अन्तर्गत ‘अतिथि’ शब्द से अभिप्राय है कि जिन महापुरुषों ने तिथि व पर्व आदि सभी उत्सवों का परित्याग कर दिया है उन्हें अतिथि जानना चाहिए। शेष जनों को अभ्यागत कहा जाता है न कि अतिथि ऐसे संयत आहार के लिए गृहस्थ के घर पर उपस्थित होते हैं वे अपने निमित्त से निर्मित भोजन को कभी ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु जिसे गृहस्थ अपने उद्देश्य से तैयार करता है उस अनुद्दिष्ट भोजन को ही परिमित मात्रा में ग्रहण किया करते हैं। ऐसे अतिथि संविभाग शिक्षापद का लक्षण है। संविभाग पद से यह प्रकट है कि श्रावक यथाविधि साधु के लिए अपने भोजन में से विभाग करता है। उससे पुरातन कर्म की निर्जरा होती है।

श्रावक के अतिथि साधु ही कारण है क्योंकि उन्होंने तिथि पर्व आदि लौकिक व्यवहार का त्याग किया है कहा भी है -

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्त्वा येन महात्मना।

अतिथि तं विजानीयात्छेषमभ्यागतं विदुः॥^{१९४}

‘एत्थ सामायारी’ इसके द्वारा टीका में पौषधव्रत की विधि आदि के विषय में विशेष प्रकाश डाला है।

जैसे कि -

पौषध को समाप्त करते हुए श्रावक को नियम से साधुओं को दिये बिना पारणा नहीं करना चाहिए, किन्तु उन्हें देकर ही पारणा करना चाहिए। इसमें जो वस्तु साधु को नहीं दी गयी है उसे श्रावक को नहीं खाना चाहिए।

इस व्रत का वर्णन पञ्चाशक^{१९५}, श्रावक धर्मविधिप्रकरण^{१९६}, धर्मबिन्दु^{१९७}, उपासक दशाङ्ग^{१९८} आदि में भी मिलता है तथा टीका में विस्तार से बताया गया है।

इस व्रत का परिपालन भी निरतिचार ही करना चाहिए इस उद्देश्य से उसके अतिचारों का निर्देश इस प्रकार गया है।

सच्चित्तनिक्खिणयं वज्जे सच्चित्तपिहणयं चेव ।

कालाङ्कमदानं परववएसं च मच्छरियं ॥^{१९९}

सच्चित्तनिक्षेप, सच्चित्तपिधान, कालातिक्रमदान, परव्यपदेश और ये पाँच अतिचार हैं। श्रावक को उनका त्याग करना चाहिए।

१. सच्चित्तनिक्षेप-साधु को देने योग्य वस्तु सच्चित्त पृथ्वी, पानी आदि के ऊपर रख देना।

२. सच्चित्तपिधान-साधु को देने योग्य वस्तु फल आदि से आच्छादित करना।

३. कालातिक्रम - नहीं वहोराने की इच्छा से भिक्षा का समय व्यतीत हो जाने के बाद या भिक्षासमय पहले निर्मंत्रण देना।

४. परव्यपदेश - नहीं देने की भावना से अपनी वस्तु होने पर भी यह दूसरों की है ऐसा साधु के समक्ष दूसरों को कहना।

५. मात्सर्य - मात्सर्य यानि सहन नहीं करना। साधु कोई वस्तु मांगे तो उसके ऊपर क्रोध करना अथवा ईर्ष्या से साधु को वहोराना इन अतिचारों का वर्णन श्रावक धर्मविधि प्रकरण^{२००}, पञ्चाशक^{२०१}, धर्मबिन्दु^{२०२}, उपासक दशाङ्ग^{२०३}, तत्त्वार्थ^{२०४}, वंदितासूत्र^{२०५} आदि में भी मिलते हैं। परन्तु धर्मबिन्दु और तत्त्वार्थ सूत्र आदि में अतिचारों के क्रम व्यत्य है।

पूर्वोक्त श्रमणोपासक धर्म में अणुव्रत और गुणव्रत तो यावत्कथिक-जीवन पर्यन्त पालन करने योग्य है, पर शिक्षाव्रत अल्पकालिक है। इस प्रकार अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत का निरूपण किया गया है। जो कि जैनवाङ्मय में सुप्रसिद्ध है।

अस्तु श्रावकाचार के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इन बारहो व्रतों में उपासकदशाङ्ग आदि आगम एवं आचार्य हरिभद्रसूरि कृत कृतियों में कुछ भिन्नता एवं विशेषता चिन्तन करने पर सामने आती है वे इस प्रकार हैं।

उपासकदशाङ्ग में प्रथम गुणव्रत का सामान्यरूप से प्रतिपादन किया गया है। जबकि आचार्य हरिभद्र ने

श्रावक प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में अनेक शंका समाधानों के साथ हिंसा अहिंसा रूप से महत्त्वपूर्ण विचार भी किया है। चतुर्थ अणुव्रत के प्रसंग में जहाँ उपासगदशाङ्ग में स्वदारसंतोष का ही विधान किया गया वहाँ हरिभद्रसूरि ने पञ्चाशकसूत्र आदि में पापस्वरूप होने से परदारगमन का भी त्याग कराया गया है यहाँ इस व्रत के दो रूप बताये एक परदारपरित्याग और दूसरा स्वदार संतोष । टीका में तो वहाँ तक कहा है कि परदारपरित्यागी वेश्या का परित्याग नहीं करता तथा स्वदारसंतोषी वेश्यागमन नहीं करता ।

उपासगदशाङ्ग, तत्त्वार्थ आदि में दिग्ब्रत आदि सात उत्तरव्रतों का उल्लेख केवल 'शिक्षापद' के नाम से किया गया है जबकि श्रावकधर्मविधि प्रकरण आदि में दिग्ब्रत, उपभोग, परिभोगपरिमाण और अनर्थदण्डविरमण इन तीन का उल्लेख गुणव्रत एवं शेष चार सामायिक आदि का उल्लेख शिक्षाव्रत के नाम से किया है तथा तत्त्वार्थभाष्य, पञ्चाशक आदि में पाँच अणुव्रत को मूल और शेष सातों को उत्तरव्रत कहकर उल्लेख किया है तथा धर्मबिन्दु और तत्त्वार्थ में उनका क्रमव्यत्य भी देखा जाता है। तथा इन व्रतों के अतिचारों में क्रमव्यत्य है छठे के बाद दसवाँ तत्पश्चात् ८, ९, ११, ७ वाँ १२ वाँ लिया है जबकि श्रावक प्रज्ञप्ति आदि में इस प्रकार क्रमभेद नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में मृषावाद के अतिचारों में न्यासापहार और साकारमन्त्र को ग्रहण किया है जबकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने पञ्चाशक आदि ग्रन्थों में सहसा- अभ्याख्यान और स्वदारमन्त्रभेद इन दो अतिचारों का निर्देश किया है। अनर्थदण्ड के अतिचारों में 'असमीक्ष्याधिकरण' के स्थान पर श्रावक प्रज्ञप्ति में 'संयुक्ताधि करण किया है।

उपासकदशाङ्ग में शिक्षापद का स्वरूप बहुत ही संक्षेप में बताया गया है परन्तु पञ्चाशकसूत्र की टीका में आचार्य अभयदेव सूरि ने कुछ विशेष विस्तार किया है जब कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने उसका विवेचन बहुत ही विस्तार से किया है इसमें सबसे पहले सावद्ययोग का त्याग और असावद्ययोग का सेवन को सामायिक का स्वरूप प्रकट करते हुए यह शंका व्यक्त की गयी है कि सामायिक में अधिष्ठित गृहस्थ जब परिमित समय के लिए सम्पूर्ण सावद्ययोग को पूर्णतया छोड़ देता है तब वस्तुतः उसे साधु ही मानना चाहिए । इस शंका के समाधान में उसे साधु न मानते हुए। यहाँ शिक्षा, गाथा, उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्धक, वेदक, प्रतिसि और अतिक्रम इन द्वारों के आश्रय से गृहस्थ की साधु से भिन्नता प्रदर्शित कही गई है क्योंकि उपमा हमेशा एकदेशीय होती है। अर्थात् एक देश से समानता होती है सर्वथा सादृश्यता नहीं होती है। साथ में ही सामायिक लेने की विधि में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति की टीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने पञ्चाशक की टीका में तथा पञ्चाशक टीका के अनुवादक राजशेखर विजयजी ने स्पष्ट लिखा है कि श्रावक गुरु के पास आकर तीन प्रकार से नमस्कार करके तत्पश्चात् करेमि भंते सूत्र का पाठ बोलकर सामायिक करे फिर इरियावहियं के द्वारा प्रतिक्रमण करे।

एयाए विहिए गंता तिविहेण नमिऊण साहुणो पच्छा सामाइयं करेइ, करेमि भंते सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं जाव साहुं पज्जुवासामिति काऊण पच्छा इरियावहियं पडिक्कमइ।

करेमि भंते । सामाज्यं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव साहं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं “इत्याद्युच्चारणतः तत इर्यापथिकायाः प्रतिक्रामति पश्चादालोच्य वन्दते आचार्यादीन् ।

साधुओको नमस्कार करके करेमि भंते सूत्रका पाठ बोलकर सामायिक करे पछी इरियावही करी गमणागमणे आलोवीने (रस्ता मां लागेला दोषोनी आलोचना करीने) आचार्य आदिने वंदन करे । (राजशेखर म.सा.के शब्दों में)

इस प्रकार करेमि भंते के बाद इरियावहियं होती है यह इन प्रमाणों से निश्चित होता है लेकिन आज कइ गच्छों में “इरियावहियं” करके करेमि भंते पाठ बोलते है जिसका कोई शास्त्रोक्त प्रमाण अभी तक मुझे नही मिला है ।

उपासकदशाङ्ग में जिन अपध्यानादि चार अनर्थदण्डों का परित्याग इच्छापरिमाणव्रत के प्रसंग में कराया गया है उनका परित्याग श्रावक प्रज्ञप्ति में अनर्थदण्ड विरति के अन्तर्गत कराया गया है यह विधान इच्छापरिमाण की अपेक्षा अनर्थदण्डविरति से अधिक संगत प्रतीत होता है ।

तत्त्वार्थ सूत्र व भाष्य में पौषधोपवास के उन आहारपौषधादि चार भेदों का उल्लेख नहीं किया गया जिनका निर्देश श्रावक प्रज्ञप्ति आदि में उसके लक्षण रूप में किया गया है ।

इसी प्रकार दोनों ग्रन्थों में उपभोग, परिभोगपरिमाणव्रत के अतिचार में भी भिन्नता है तथा पौषधोपवास के व्रत के अतिचारों में श्रावक धर्मविधिप्रकरण तथा तत्त्वार्थ में भिन्नता है ।

इस प्रकार श्रावकाचार का वर्णन किया गया ।

श्रमणाचार

श्रावकाचार का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब श्रमणाचार का निरूपण करते है । श्रमण के जो आचार होते है वह ‘श्रमणाचार’ कहलाता है । अब हमें सर्वप्रथम ‘श्रमण’ को समझना होगा तत्पश्चात् उसके आचार क्रिया आदि को !

जैन आगम में श्रमण शब्द के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ जिसका विश्लेषण हम आगे करेंगे । अभी श्रमण पर विचार करेंगे । श्रमण शब्द संस्कृत है जिसका प्राकृत में समण होता है । स्थानांग में ‘समण’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की

“समिति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समण । प्राकृततया सर्वत्र समण ति ।”^{२०६}

जो शत्रु एवं मित्र के प्रति समभाव पूर्वक रहता है उसे समण कहते है । प्राकृत होने से सभी स्थानों में समण प्रयोग मिलता है ।

‘अण’ धातु अनेकार्थक होने के कारण निरुक्ति के वश से ‘भगवतिसूत्र’ में इसका अर्थ सभी स्थानों पर तुल्य मनोवृत्ति समान बुद्धि रखना ऐसा किया है ।^{२०७}

श्री 'दशवैकालिकसूत्र' के निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति गाथाओं में समण शब्द को इस प्रकार ग्रंथित किया है।

जह मम न पियं दुःखं जाणि य समेव सव्व जीवाणं ।
 न हणइ न हणावेइय सम मणईतेण सो समणो ॥
 नत्थि य सि कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु ।
 एसण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥
 तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो ।
 सयणे य जणेय समो, य माणवमाणेसु ॥
 उरगगिरिजलण सागर, नहयलतरुणसमो य जो होई ।
 भमरमिगधरणिजलरुह, रविपवणसमो जओ समणो ।^{३०८}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'दशवैकालिक बृहद्वृत्ति' में इन निर्युक्ति गाथाओं का विवेचन तात्त्विक शैली से किया है वह क्रमशः इस प्रकार है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रतिकूल होने से अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रतिकूल ही लगता है। ऐसा चिन्तन करके किसी जीव को स्वयं न मारे, दूसरों के पास न मरावे तथा मारने वालों की न अनुमोदना करे, इस प्रकार सम+अण समान गिनने से 'समण' कहलाता है। तथा साधुओं को सभी के ऊपर तुल्यमान होने से न किसी पर द्वेष और न किसी पर राग होता है उससे सममन (समान मन) वाले होने से श्रमण शब्द यह दूसरा पर्याय हुआ।

श्रमण जो सुमन वह द्रव्य मन से तो सुंदर मनवाला होता ही है साथ में भाव से भी सुंदर मनवाला होता है लेकिन पापकारी मनवाला नहीं होना चाहिए तभी वह श्रमण कहलायेगा अर्थात् स्वजन सम्बन्धी पर जैसा प्रेम रखता है वैसा ही सभी जीवों पर प्रेम रखे तथा मान अपमान में सुमन रखता है।

प्राकारान्तर से साधु के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि उरग - अर्थात् स्वयं अपना घर नहीं बनाता लेकिन चूहे के बनाये हुए बिल में रहता है उसी प्रकार श्रमण भी अपने लिए मकान नहीं बनाता है।

गिरि-वर्षा गरमी और सर्दी में पर्वत हमेशा एक समान रहता है उसी प्रकार श्रमण भी परिषह और उपसर्गों में समान रहते हैं। ज्वलन तपश्चर्या रूपी अग्नि से देदीप्यमान रहते हैं तथा जिस प्रकार अग्नि तृण काष्ठ आदि से अतृप्त रहती है वैसे ही मुनि सूत्रार्थ से अतृप्त रहता है।

सागर के समान गंभीर होने के कारण ज्ञानादिरत्न प्रधान मुनि संयम की मर्यादा को स्वप्न में भी नहीं छोड़ता।

आकाश के समान आलंबन रहित होता है।

तरुण के समान सुख दुख में भी अपनी मानसिक व्यथा को प्रदर्शित नहीं करता है।

भ्रमर के समान एक स्थान में नहीं रहता है।

मृग के समान संसार के भयस्थानों से उद्विग्न रहता है।

पृथ्वी के समान सभी खेद संतापो में सहिष्णु होता है।

कमल के समान संसार के काम भोगों से अलिप्त रहता है।

सूर्य के समान सभी स्थानों में प्रकाशमान रहता है।^{२१९}

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने आगम की व्याख्या का अनुसरण करते हुए भी अपनी वृत्ति में एक दार्शनिक शैली से पारमार्थिक रूप से 'समण' शब्द को उजागर किया। अन्तिम गाथा का विवेचन 'अनुयोगद्वार'^{२२०} में भी मिलता है।

आचार्य उमास्वातिजी ने 'प्रशमरतिसूत्र' में श्रमण का स्वरूप इस प्रकार बताया है।

तुल्याख्यकुलाकुलविविक्तबन्धु जनशत्रु वर्गस्य।

समवासी चन्दन कल्पन प्रदेहादि देहस्य ॥

आत्मरामस्य सतः समः समतृणमणिमुक्तलोष्ठकनकस्य।

स्वाध्यायध्यानपरायणस्य दृढमप्रमत्तस्य ॥^{२२१}

जंगल और शहर में समान बुद्धि रखनेवाले, बंधुजन और शत्रुवर्ग को अपनी आत्मा से मित्र मानने वाले, शरीर पर शीतल चंदन का विलेपन करने वाले पर तथा वांस से शरीर का छेदन करने वाले पर सदृश भाव रखने वाले आत्मा में ही रमण करने वाले लोष्ठ और सोने को समान रूप से त्याग करने वाले, तृण और मणि को समान गिनने वाले, स्वाध्याय और ध्यान में दत्तचित्त अतिशय अप्रमत्त महामुनि होते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'श्रमण' की व्युत्पत्ति ऐसी भी की "श्राम्यति इति श्रमण" अर्थात् प्रव्रज्या दिन से लेकर सम्पूर्णसावद्य योग से विरक्त तथा गुरु के उपदेश से यथाशक्ति अनशनादि तप को करता है जैसे कि कहा-

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।

तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः ॥^{२२२}

जो त्रस तथा स्थावर सभी प्राणिओं पर समभाव पूर्वक रहता है तप को करता है ऐसा यह शुद्ध आत्मा श्रमण कहलाता है। 'श्राम्यति इति श्रमण' की यह व्युत्पत्ति अभिधान राजेन्द्रकोष^{२२३}, स्थानांग^{२२४} आदि आगमों में भी मिलती है।

तत्त्व, भेद और पर्याय से साधु की व्याख्या करने से साधु शब्द के भिन्न भिन्न पर्याय होते हैं उसे कहते हैं।

पव्वइए अणगारे, पासडे चरग तावसे भिक्खू।

परिवाई ए य समणे निगंथे संजए मुत्ते ॥^{२२५}

आचार्य हरिभद्रसूरि निर्युक्ति की इस गाथा में अपना चिन्तन प्रगट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि 'समण' साधु के लिए प्रयुक्त होता फिर भी आगम तथा शास्त्रों में उसके पर्यायवाची शब्द भी मिलते हैं अतः उनको भी जानना आवश्यक है वह इस प्रकार -

प्रकर्ष से दूर अर्थात् आरंभ परिग्रह से जो दूर हो गया है वह प्रव्रजित कहलाता है। द्रव्य से और भाव से

घर रहित वह अगार । व्रत अर्थात् पाखंड और वही जिसको है वह पाखंडी । तप में जो विचरता है वह चरक (मुनि) तप जो करता है वह तापस, भिक्षा का आचार अतःभिक्षु अथवा आठ कर्मको भेदता है अतः भिक्षु । पापों का परित्याग करने से परिव्राजक , श्रमण का अर्थ पूर्वोक्त है । बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से निर्गत अतः निर्ग्रथ है । अहिंसा आदि एकाग्र भाव से उद्यम करने से संयत, तथा बाह्य और आभ्यंतर ग्रंथ से मुक्त वह निर्लोभी (मुक्त) कहलाता है ।^{२१६}

अन्यदर्शनकारों के शास्त्र श्रीमद् भगवद्गीता आदि में श्रमण का ऐसा स्वरूप कहा है वहाँ 'गुणातीत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

समसुखदुःखः स्वस्थः समलेष्टाश्मकाश्चनः ।

तुल्यप्रियाऽप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥^{२१७}

जो आत्मा सुख तथा दुख दोनों अवस्था में स्वस्थ रहता है पत्थर (उपल) तथा स्वर्ण दोनों पर समान भाव होता है पत्थर को देखकर उपेक्षा नहीं करता और स्वर्ण को देखकर आकर्षित नहीं बनता है । इष्ट (प्रिय) और अनिष्ट (अप्रिय) दोनों पर तुल्यवृत्ति रखता है । इष्ट को देखकर राग नहीं करता और अनिष्ट को देखकर द्वेष नहीं करता है । निन्दा एवं आत्म प्रशंसा में धीर बनकर रहता है अर्थात् दोनों स्थानों में समान धैर्यता को धारण करता है । मान और अपमान में तथा मित्र एवं शत्रु पक्ष दोनों में तुल्यमनोवृत्ति रखता है । सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रही के त्यागी होता है । वही गुणातीत कहा जाता है ।

तथा पश्च व्याकरण में 'समण' शब्द को इस प्रकार ग्रंथित किया है ।

“से संजते विमुत्ते निस्संगे निष्परिगहर्हई निम्ममे निन्नेह बंधणे सव्वपावविरए, वासीचंदणसमाणकप्पे, समतिणमणि, मुत्ता लेट्टु कंचणे, समे य माणावमाणए, समियरए, समितरागदोसे, समिए समितीसु, सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु 'समणे' सुयधारए उज्जुए संजए” ।^{२१८}

अर्थ प्रायः उपरोक्त व्याख्याओं में आ जाने के कारण पुनः नहीं लिखा जा रहा, इस प्रकार 'श्रमण' को उजागर करने के पश्चात् पाँच महाव्रतों का निरूपण किया जा रहा है । वे इस प्रकार है-

पाँच महाव्रत-पाँच महाव्रत के बारे में जैन आगम ग्रंथ में भेद मिलता है जैसे कि आगम से उद्धरित कल्पसूत्र वालावबोध में महाव्रतों के भेदों के बारे में इस प्रकार वर्णित है ।

प्राणातिपातादिक विरमणरूप पाँच महाव्रत है अर्थात् कि प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों से विरत होना पाँच महाव्रत कहे जाते हैं । इसमें श्री आदिनाथ तथा श्री महावीर स्वामी के साधु साध्वी को तो वैसे ज्ञान का अभाव होने से पाँच महाव्रत व्यवहार से है और मध्य के बावीस जिन के समय के साधु तो परिग्रह व्रत में परिगृहीत स्त्रीभोग का पञ्चव्याण जानते हैं तथा तीसरे अदत्तादान व्रत में अपरिगृहीत

स्त्रीभोग का पञ्चक्वण जानते है। अर्थात् कि वे स्त्री को परिग्रह रूप मानकर पाँचवे परिग्रह व्रत के साथ ही लेते है क्योंकि जहाँ स्त्री है वहा परिग्रह है। इसलिए बावीस तीर्थकर के साधु के लिए चोथा मैथुन विरमणव्रत छोड़कर चार महाव्रत जानना।

अथवा श्री आदिनाथ और श्री महावीर के तीर्थ में रात्रिभोजन विरमणव्रत मूल गुण में गिना जाता है। इस कारण से रात्रिभोजनविरमणव्रत के साथ गिनें, तो साधु के छह व्रत होते है और बावीस जिन के तीर्थ में तो रात्रिभोजन विरमणव्रत उत्तरगुण गुण में गिनते है इसलिए चार ही व्रत जानना^{२१९}, अभिधान राजेन्द्र कोष में इस कथन की पुष्टि करने वाला प्रमाण मिलता है जैसे कि -

पंचायामो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मज्झिमगाण जिणाणं चाउज्जामो भवे धम्मो ॥^{२२०}

ये पाँच महाव्रतरूप धर्म प्रथम एवं चरम तीर्थकर के समय एवं मध्यम के बावीस तीर्थकरों के काल में चार महाव्रतरूप धर्म होता है, क्योंकि मैथुनव्रत का परिग्रहव्रत में अन्तर्भाव होने के कारण। जिसका मुख्य कारण भी अभिधान राजेन्द्र कोष में बताया गया है।

पुरिमाण दुव्विसोज्जे चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो।

मज्झिमगाण जिणाणं सुविसुज्जे सुअणुपालो अ ॥^{२२१}

श्री अदिनाथ के समय में लोग ऋजु और जड़ होते है उन्हें धर्म समझना बड़ा कठिन होता है। तथा श्री महावीर भगवान के समय में लोग वक्र और जड़ होते है। उन्हें धर्म का पालन करना बड़ा दुर्लभ होता है। और मध्य के बावीस तीर्थकरों के समय में सब लोग ऋजु और प्राज्ञ होते है। इस कारण उन्हें धर्म समझाना भी सुलभ होता है और धर्म पालन करना भी सरल होता है। इस प्रकार मनुष्य के परिणामों में भेद होने के कारण कल्प (आचार) में भेद हुआ है, लेकिन परमार्थ से कुछ भी भेद नहीं है। इसका विवेचन प्रायः आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रंथों में देखने को नहीं मिला।

पाँच महाव्रत एवं छठ्ठा रात्रिभोजन विरमणव्रत का वर्णन ज्ञाताधर्मकथांग में इस प्रकार वर्णित है।

तत्थणं जे से अणगारविणए से णं पंच महवयाइं पन्नताइं तं जहा सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिनादाणाओ वेरमण, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिगहाओ वेरमणं, सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं।^{२२२}

अणगार विनय पाँच महाव्रत रूप है - वे इस प्रकार है समस्त प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह का त्याग करना साथ ही रात्रिभोजन का भी सर्वथा त्याग करना इन महाव्रतों का वर्णन स्थानांग^{२२३} 'पक्खिसूत्र'^{२२४} तथा आचारांग में एक एक महाव्रत के साथ महाव्रत की भावनाओं का भी उल्लेख किया है तथा आचार्य हरिभद्रसूरिने अपने 'धर्मसंग्रहणी' ग्रन्थ में दार्शनिकता को विस्तार से उजागर करते हुए अनेक शंकाओं एवं समाधानों पूर्वक पाँच महाव्रत का समुल्लेख किया है।

प्रथम महाव्रत

प्रथम महाव्रत का स्वरूप आचारांग में इस प्रकार मिलता है।

पढं भंते ! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं । से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा पेव सयं पाणइवायं करेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा । तस्स भंते । पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥^{२३५}

प्रथम महाव्रत के विषय में मुनि प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि भंते ! मैं प्रथम महाव्रत में सम्पूर्ण और त्रस-स्थावर समस्त जीवों का न तो स्वयं प्राणातिपात करूँगा न दूसरों से कराऊँगा और न प्राणातिपात करने वालों का अनुमोदन करूँगा, इस प्रकार मैं यावज्जीवन तीन करण से एवं मन वचन काया तीन योगों से इस पाप से निवृत्त होता हूँ। हे भगवान्! मैं उन पूर्वकृत पापों का प्रतिक्रमण करता हूँ। आत्म साक्षी में निन्दा करता हूँ। तथा गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ अपनी आत्मा से पाप का व्युत्सर्ग करता हूँ।

महाव्रतों को ग्रहण करने वाला व्रती सम्पूर्ण रूप से जीवों के प्राणों का अतिपात नहीं करते है चाहे वे सूक्ष्म, स्थूल हो या त्रस, स्थावर हो किसी जीव की विराधना नहीं करता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'पञ्चवस्तुक' सूत्र में उपरोक्त कथन का तो प्रतिपादन किया ही है। साथ ही गाथा में तथा 'टीका' में विशेषता भी स्पष्ट की है वह इस प्रकार है पाणाइवायविरमणमाई णिसिभत्तविरइ पज्जंता ।

समणाणं मूलगुणा पन्नता वीअरागेहिं ।

सुहुमाई जीवाणं, सव्वेसिं सव्वहा सुपणिहाणं ।

पाणाइवायविरमणमिह पढमो होइ मूलगुणो ॥^{२३६}

जिनेश्वर भगवंतो ने प्राणातिपातविरमण से लेकर रात्रिभोजन विरमणव्रत तक साधु के व्रत कहे है और वे व्रत मूलगुण है। जैनशासन में सूक्ष्म बादर आदि सभी जीवों का प्राणातिपात करना, कराना आदि सभी प्रकार से दृढ मानसिक उपयोग पूर्वक विरत बनना ही प्रथम गुणव्रत है तथा टीका में आचार्य हरिभद्र ने यह विशेष बात कही कि यहाँ प्रथम इस व्रत को इसलिए रखा क्योंकि जहाँ तक हिंसा से आत्मा विरत नहीं बनता वहाँ तक वह दूसरे व्रतों के पालन में भी समर्थ नहीं बन सकता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'धर्मसंग्रहणी' में प्रथम महाव्रत का यही स्वरूप बताया है लेकिन साथ में उस व्रत को निर्विवाद निष्पक्ष उत्तम बताने के लिए अनेक आक्षेप एवं परिहारों को भी निर्दिष्ट किये है जैसे कि वैदिक परंपरा की यह मान्यता है कि हिंसा त्याज्य तो है लेकिन वेदविहित हिंसा विशेष संस्कारों से संस्कारित होने के कारण त्याज्य नहीं है जिस प्रकार लोक में हम देखते है कि लोहें का गोला पानी में डूबने का स्वभाव वाला है फिर भी उसे संस्कारित करके पतरा का आकार दिया जाय तो वह तैर सकता है। विष मारने का स्वभाव वाला है फिर भी उसे मन्त्र औषधी से संस्कारित किया जाने पर कोढ़ रोग आदि को दूर करता है। इसी प्रकार अग्नि जलाने के स्वभाववाली है फिर भी सत्यवचन शील तप आदि के प्रभाव से नहीं जलाती है उसी प्रकार वेदविहित

हिंसा भी यथोक्त विधि विशेषद्वारा किये गये संस्कार से संस्कारित होने से त्याज्य नहीं है तथा यज्ञ होम किये जाने वाले पशु देवत्व को प्राप्त करते हैं तथा वेद विहित हिंसा निन्दनीय भी नहीं है, क्योंकि अश्वमेधादि यज्ञों को करने वाले यजमान भी पूजनीय होते हैं तथा साथ में यह भी तर्क किया कि जिस प्रकार आपको जिनायतन संबंधी हिंसा मान्य है उसी प्रकार वेदविहित हिंसा भी मान्य होनी चाहिए।

आचार्य हरिभद्रसूरि एक क्रान्तिकारी बनकर दार्शनिक चिन्तन से सजोड़ बनकर उनका समाधान किया है। आचार्य श्री ने कहा कि आपने जिन दृष्टान्तों को देकर वेदविहित हिंसा की पुष्टि की वह पारमार्थिक नहीं है क्योंकि जगत लोहे के गोले का विष का शक्त्यन्तर से युक्त भावान्तर के कारण पानी आदि में नहीं डूबता लेकिन वेद विधि से रहित की जाने वाली हिंसा में कोई विशिष्ट शक्त्यन्तर से युक्त भावान्तर नहीं दिखता है। अतः वह त्याज्य ही है।

वेदविहित पशुओं को देवत्व प्राप्त होता है इसमें भी कोई ग्राहक प्रमाण नहीं है क्योंकि देवत्व अतीन्द्रिय है। साथ ही वेदविहित हिंसा के बिना भी भाव आपत्ति का निस्तार हो सकता है लेकिन जिनायतन हिंसा के बिना आपत्ति का निस्तार शक्य नहीं। अतः बाह्यशुभ आलंबन रूप होने से मान्य है। जैसे कि -

‘साहुणिवासी तित्थगरठावणा आगमस्स परिवुद्धी एकेकं भावावइन्तिथरण गुणं तु भव्वाणं।’

जिस गाँव में जिनायतन होता है वहाँ विहार करते हुए साधु भगवंत निवास करते हैं। तीर्थंकर की स्थापना होती है। साधुओं के सम्पर्क से सभी श्रावकों को सद्बोध की प्राप्ति होती है। ये एक एक वस्तु लघुकर्मी जीवों के लिए भाव आपत्ति का निस्तार करने वाली है। तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है।^{२२७}

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रथम महाव्रत का स्वरूप धर्मसंग्रहणी में किया वैसा अन्यत्र सुलभ नहीं है अब उस व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए आचार्य श्री ने पञ्चवस्तुक में अतिचार बताये हैं जिनको जानकर त्याग करने चाहिए।

पढमंमी एगिदिअविगलिदिपणिं दिआण जीवाणं।

संघट्टण परिआवणमोद्धवणाइणि अइआरो ॥^{२२८}

प्रथम व्रत में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जीवों को संघट्टन, परितापन, उद्रापन आदि अतिचार है। संघट्टन यानि स्पर्श करना। परितापन यानि पीड़ा पहुँचाना। उद्रापन अर्थात् अधिक शारीरिक पीड़ा पहुँचाना।

आचारांग में यह भी बताया है कि सम्यग् आराधना कैसे हो सकती है? इसके पाँच क्रम बताये हैं। १. स्पर्शना २. पालना ३. तीर्णता ४. कीर्तना और ५. अवस्थितता। स्पर्शना-अर्थात् सम्यक् श्रद्धा प्रतीतिपूर्वक महाव्रत ग्रहण करना, पालना-ग्रहण करने के बाद यथाशक्ति उसका पालन करना।

तीर्णता - जिस महाव्रत को स्वीकार किये उनको जीवन के अन्तिम श्वास तक पालन करना चाहे बीच में कितनी ही नाश ए विघ्न आ जाये लेकिन अपने निश्चय से पीछे नहीं हटना।

कीर्तना - सर्वोक्त महाव्रत का महत्त्व समझकर उसकी प्रशंसा करना उसकी विशेषता दूसरों को भी समझाना।

अवस्थितता - कितने ही झंझावात, भय या प्रलोभन आये लेकिन अपने गृहीत व्रत से विचलित न बने।

महाव्रतों के गुणों में वृद्धि करने हेतु आचारांग में एक-एक महाव्रत की पाँच भावनाएँ बताई है वह इस प्रकार है।

१. ईर्यासमिति से युक्त होना अर्थात् चलते समय अपने शरीर प्रमाण भूमि को देखते हुए जीव हिंसा से बचते हुए चलना।

२. मन को सम्यक् दिशा में प्रयुक्त करना। मन को पवित्र रखना।

३. भाषा समिति या वचनगुप्ति का पालन करना, निर्दोष भाषा का प्रयोग करना।

४. आदान भण्डमत्त निक्षेपणासमिति-वस्त्र पात्र आदि उपकरण लेने और रखने में सावधानी या विवेक रखना।

५. अवलोकन करके आहार - पानी करना।^{२२९}

आचारांग चूर्णिकार ने इन भावनाओं के विषय में कहा है कि आत्मा को उन प्रशस्त भावों से भावित करना भावना है। जैन शिलाजीत के साथ लोहरसायन की भावना दी जाती है, कोद्रव की विष के साथ भावना दी जाती है इसी प्रकार ये भावनाएँ हैं। ये चारित्र भावनाएँ हैं। महाव्रतों के गुणों में वृद्धि करने हेतु ये भावनाएँ बताई गई हैं। इन भावनाओं के कारण प्रथम महाव्रत की शुद्ध आराधना सम्भव होती है।^{२३०}

तत्त्वार्थसूत्र में अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाओं का क्रम कुछ भिन्न है १. वचनगुप्ति २. मनोगुप्ति, ३. ईर्यासमिति, ४. आदान निक्षेपणा समिति, ५. आलोकित भक्त पान।^{२३१}

‘आचारांग’ में भावनाओं का स्वरूप दर्शित किया गया है। जबकि ‘पंचवस्तुक’ ‘पञ्चाशक’ एवं ‘धर्मसंग्रहणी’ में भावनाओं का स्वरूप नहीं मिलता है।

लेकिन ‘पञ्चवस्तुक’ और ‘पञ्चाशक’ में उन महाव्रतों के अतिचारों का उल्लेख मिलता है जबकि आचारांग में अतिचारों का वर्णन नहीं मिलता है।

‘धर्मसंग्रहणी’ में मात्र महाव्रतों का ही विस्तार से वर्णन मिलता है अतिचारों एवं भावनाओं का नहीं क्योंकि यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है अतः आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसमें महाव्रतों को दार्शनिक शैली से समझाने का प्रयत्न किया है। जो कि यथायोग्य है।

(२) सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं - आचारांग में द्वितीय महाव्रत का उल्लेख इस प्रकार मिलता है - हे भगवान ! मैं द्वितीय महाव्रत स्वीकार करता हूँ। मैं सभी प्रकार से मृषावाद और सदोष वचन का सर्वथा प्रत्याख्यान करता हूँ। इस महाव्रत के पालन के लिए क्रोध से, लोभ से, भय से, या हास्य से न तो स्वयं मृषाभाषा बोलूंगा न ही अन्य व्यक्ति से असत्य भाषण कराऊँगा और जो व्यक्ति असत्य बोलता है उसका अनुमोदन भी नहीं करूँगा। इस प्रकार तीन करण से तथा मन वचन-काया इन तीनों योगों से मृषावाद का सर्वथा

त्याग करके यह प्रतिज्ञा करता हूँ हे भगवान् ! मृषावाद विरमणरूप द्वितीय महाव्रत स्वीकार करके मैं पूर्वकृत मृषावाद रूप पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ आलोचना करता हूँ निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा से मृषावाद का सर्वथा व्युत्सर्ग करता है ।^{२३२}

आचार्य हरिभद्र ने पञ्चाशक में दूसरे महाव्रत का स्वरूप कुछ दूसरा बताया है ।

कोहाइपगारेहि एवं चिअ मोसविरमणं बीअं ।^{२३३}

क्रोध लोभ आदि कारणों से होने वाले सभी मृषावाद से सर्व सुप्रणिधान पूर्वक विरत होना दूसरा मूलगुण है ।

‘धर्मसंग्रहणी’ में इस दूसरे महाव्रत के विषय को सुनकर कुछ लोग अपना मन्तव्य प्रगट करते हुए कहते हैं सर्वथा मृषावाद दोषरूप नहीं है कहीं पर गुण रूप होता है उसी के आक्षेप और परिहारों के द्वारा मृषावाद व्रत की उत्तमता प्रगट करते हुए कहते हैं ।

अन्ने उ मुसावाओ नियनिंदाकारणं न दोसाय ।

जह बंभघातगो ऽहं एमादि पभासयन्तस्स ॥^{२३४}

अन्य कहते हैं कि अपने निंदा में कारण बननेवाला मृषावाद दोषरूप नहीं है । जैसे कि मैं ब्राह्मण का घातक हूँ । ऐसा मृषा का भाषण करने वाले को मृषावाद दोष नहीं है ।

क्योंकि अविद्यमान दोषों को स्वीकारने तथा इन दोषों को जानकर दूसरों के द्वारा होने वाले आक्रोश को समभाव से सहन करने से संसार वृक्ष के बीजरूप तथा पूर्व में कभी नहीं ज़िंता हुआ अहंकार पर विजय प्राप्त होती है अर्थात् अहंकार समाप्त होता है तथा इसने ब्रह्महत्या की है ऐसी ब्रह्महत्या कभी नहीं करनी चाहिए ऐसी भावना में कारण मृषावादी है । अर्थात् ऐसे वैराग्य का कारण स्वयं की निंदा वाला मृषावादी बनता है ।

लेकिन उपरोक्त प्रकार से अज्ञान और मोह से अविद्यमान दोषों को स्वीकार करने में स्वयं तो दोषों से दूषित बनता ही है साथ में आक्रोश करने वाले के भी कर्मबन्ध में निमित्त बनता है जिससे स्व और पर दोनों का अपकार सहन किया कहलाता है जो आक्रोश स्वयं ने उपस्थित नहीं किये हो । क्योंकि स्वयं ही आक्रोश के बीज को बोता है और फिर सामने से आने वाले क्लेशों को समभाव से सहन करता है तो वह सहनशीलता नहीं है । लेकिन स्वयं दूसरों को आक्रोश वचन के लिए प्रेरित न करे लेकिन अज्ञानी अज्ञानता के कारण आक्रोश वचन कहे, उसे समभाव पूर्वक सहन करे तो वह वास्तविक सहनशीलता है जिससे क्षमा गुण की पुष्टि होती है ।

आक्रोश आदि सहन करने से ब्रह्महत्या आदि पाप नाश होते हैं अतः आपत्ति आने पर ब्रह्महत्या करनी चाहिए क्योंकि तत्पश्चात् आक्रोश आदि सहन करने पर पाप नाश हो जायेंगे ऐसी बुद्धि होने में कारण वह मृषावादी ही बनेगा ।

जो व्यक्ति शास्त्र में निषिद्ध मृषाभाषण को शास्त्र प्रतिनिषिद्ध रूप में देखता है तो वह मृषाभाषण वैराग्य का कारण बनता है । जैसे अरे अरे । धिक्कार हो मुझे कि मैंने शास्त्र में निषिद्ध भाषण किया है ।

इस प्रकार के मृषावाद से स्वपरोपकार अत्यंत असिद्ध होता है ऐसा ज्ञात कर प्राज्ञजनों को अपने निंदा में कारण बनने वाले मृषावाद का भी त्याग करना चाहिए।^{२३५}

तथा हरिभद्रसूरि ने उपरोक्त कथन को तो मृषावाद कहा ही है लेकिन उन्होंने कुछ विशेष प्रयोगों को भी मृषावाद कहा है जैसे कि विवक्षित कार्य कल अवश्य होगा ही।

‘मैं कल यह कार्य अवश्य करूँगा ही’ ऐसा वाक्य प्रयोग भी मृषावाद बनाता है।

एतं होहिति कल्लं नियमेण अहे च णं करिस्सामि।

एमादीवि न वच्चं सच्चपइःत्तण जइणा उ॥

सत्य प्रतिज्ञावतं साधुओं के ‘विवक्षित कार्य कल अवश्य होगा ही’ अथवा मैं कल यह कार्य अवश्य करूँगा ही। ऐसे वाक्य प्रयोग नहीं करने चाहिए क्योंकि उसमें प्रतिज्ञा भंग होने की संभावना है। क्योंकि सम्पूर्ण जीवलोक समीपवर्ती अनेक विघ्नों से भरपूर है कभी कभी विघ्न आ सकता है इसलिए मैं ऐसा ही करूँगा ऐसा ही होगा ऐसा एकान्त वाक्य प्रयोग योग्य नहीं है। लेकिन ऐसा हो भी सकता है अथवा न भी हो’ ऐसा अनेकान्त प्रयोग ही करना योग्य है।

इस प्रकार एवकार (एकान्त) भाषण भी मृषावाद बनता है।

साथ में यह भी कहा है - यदि सत्य वचन भी अन्य को पीडा देनेवाला हो तो वह मृषावाद कहलाता है।

भावणा तहाभावेण काणमादीसु जा गिरा तत्था।

तेसिं दुक्खनिमित्तिं सवि अलिया विणिदिट्ठा ॥

काणा बहरा पंगु आदि को तू काणा है तू अंधा है ऐसा कहना उस व्यक्ति को दुःख का कारण बनने के कारण यद्यपि सत्य है फिर भी वे मृषावाद कहलायेंगे क्योंकि ऐसे वचन सुनकर उनको बहुत दुःख होता है। अतः ऐसे सत्यवचन भी नहीं बोलने चाहिए।^{२३६} आ. हेमचन्द्रसूरि ने भी योगशास्त्र में कहा है।

सत्यमपि न भाषेत परपीडा करं वचः।^{२३७}

दूसरे को पीडा करने वाले सत्यवचन भी न बोले। लेकिन अंधे को ‘प्रज्ञाचक्षु’ तथा मूर्ख को ‘देवानांप्रिय’ इत्यादि कहना चाहिए।

इस प्रकार भाषाप्रयोग एकान्त रूप हो। दूसरों को पीडा पहुँचाने वाला हो सुनने वाले के हृदय को आनंदकारी न हो वह सभी मृषावाद के अन्तर्गत आता है।

दूसरे महाव्रत के अतिचार पञ्चवस्तुक में इस प्रकार बताये है-

बिइअम्मि मुसावाए सो सुहुमो बायरो उ नायव्वो।

पयलाइ होइ पढमों कोहादभिभासणं बिइओ ॥^{२३८}

दूसरे महाव्रत में सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के अतिचार है। क्रोधादि से असत्य बोलना स्थूल मृषावाद है। कारण कि परिणाम में भेद है।

आचारांग में दूसरे महाव्रत की भावनाएँ भी बताई है। वह इस प्रकार है -

१. जो सम्यक् प्रकार से बोलता है वह निर्ग्रन्थ है। बिना विचार किये बोलता है वह निर्ग्रन्थ नहीं। केवली भगवन्त कहते हैं बिना विचारे बोलने वाले निर्ग्रन्थ को मिथ्याभाषण का दोष लगता है। अतः विषय के अनुरूप चिन्तन करके विवेक पूर्वक बोलने वाला साधक ही निर्ग्रन्थ कहलाता है। बिना विचार किये बोलने वाला नहीं। यह प्रथम भावना है।

२. क्रोध का कटु परिणाम जानकर उसका परित्याग कर देता है। वह निर्ग्रन्थ है। केवली भगवन्त कहते हैं कि क्रोध आने पर क्रोधी व्यक्ति आवेशवश असत्य वचन का प्रयोग कर देता है। अतः जो साधक क्रोध का परित्याग करता है वही निर्ग्रन्थ कहलाता है। यह दूसरी भावना है।

३. जो लोभ का दुष्परिणाम जानकर उसका परित्याग कर देता है। वह निर्ग्रन्थ है साधु लोभग्रस्त न हो। केवली भगवन्त का कथन है कि लोभग्रस्त व्यक्ति लोभावेशवश असत्य बोल देता है। अतः जो साधक लोभ का परित्याग कर देता है वही निर्ग्रन्थ है। यह तीसरी भावना है।

४. जो साधक भय को जानकर उसका परित्याग कर देता है वह निर्ग्रन्थ है केवली भगवन्त का कथन है भयग्रस्त भीरु व्यक्ति भयाविष्ट होकर असत्य बोल देता है। अतः जो साधक भय का परित्याग करता है वह निर्ग्रन्थ है। यह चौथी भावना है।

५. जो साधक हास्य के अनिष्ट विपाकों को जानकर उसका त्याग कर देता है वह निर्ग्रन्थ है मजाक करने वाला न हो। केवली भगवन्त का कथन है कि हास्यवश व्यक्ति असत्य भी बोल देता है इसलिए मुनि को हास्य का त्याग करना चाहिए। यह पाँचवी भावना है।^{२३९}

वृत्तिकार ने 'अणुवीडभासी' का अर्थ किया है जो कुछ बोलना है या जिसके सम्बन्ध में कुछ कहना है पहले उसके सन्दर्भ में उसके अनुरूप विचार करके बोलना। बिना सोच विचारे यो ही सहसा कुछ बोल देना या किसी विषय में कुछ कह देने से अनेक अनर्थों की सम्भावना है। बोलने से पूर्व उसके इष्ट - अनिष्ट हानि-लाभ हिताहित परिणाम का भलीभाँति विचार करना आवश्यक है।^{२४०} चूर्णिकार अणुवीडभासी का अर्थ करते हैं पुव्व बुद्धीए पासिता अर्थात् पहले अपनी निर्मल व तटस्थ बुद्धि से निरीक्षण करके फिर बोलनेवाला।^{२४१} तत्त्वार्थसूत्रकार 'अनुवीचीभाषण' का यह अर्थ करते हैं निरवद्य निर्दोष भाषण^{२४२} क्रोधान्ध और भयभीत व्यक्ति भी आवेश में आकर कुछ का कुछ अथवा लक्ष्य से विपरीत कह देता है। अतः ऐसा करने से असत्य दोष की सम्भावना रहती है। हँसी मजाक में मनुष्य प्रायः असत्य बोल जाया करता है। चूर्णिकार कहते हैं कि- क्रोध में व्यक्ति पुत्र को अपुत्र कह देता है। लोभी भी कार्य अकार्य का अनभिज्ञ होकर मिथ्या बोल देता है। भयभीत भी भयवश अचोर को चोर कह देता है।

इस प्रकार द्वितीय महाव्रत में आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणी में विशेष प्रकार से मृषावाद का निरूपण किया है लेकिन भावनाओं का उल्लेख नहीं किया। अब तृतीय महाव्रत का निरूपण जो कि आचारांग

में वर्णित है उस को प्रमाण देकर पुष्ट किया जा रहा है।

अब मैं तृतीय महाव्रत का स्वीकार करता हूँ मैं सभी प्रकार से अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ वह इस प्रकार चाहे गाँव में हो, नगर में हो, भरण्य में हो, स्वल्प हो या बहुल, सूक्ष्म हो या स्थूल, सचेतन हो या अचेतन उसे स्वयं न तो ग्रहण करूँगा न दूसरे से ग्रहण कराऊँगा तथा न अदत्त ग्रहण करने वालों की अनुमोदना करूँगा। यावज्जीव तक तीन करणों से तथा तीन योगों से यह प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं पूवकृत् अदत्तादान के पापों का प्रतिक्रमण करता हूँ आत्म निन्दा करता हूँ गर्हा करता हूँ और अदत्तादान पाप का व्युत्सर्ग करता है।^{२४३}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पञ्चवस्तुक में इसी व्रत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है।

एवं चिअ गामाइसु अप्पबहुविवज्जणं तइओ^{२४४} गाम नगर आदि में अल्प बहु आदि सभी प्रकार के अदत्तादान का सर्वथा सुप्रणिधान पूर्वक त्याग करना तृतीय मूलगुण है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणी में इस व्रत की महानता सिद्ध करने के लिए आक्षेप और परिहारों के साथ प्रस्तुत किया है चह इस प्रकार है।

केइ अदत्तादाणं विहिसिद्धा जीविगत्ति मोहातो।

वाणिज्जुच्चियकलं पिव निहोसं चेष मन्नंति ॥^{२४५}

तृतीय महाव्रत में सभी प्रकार से चोरी का त्याग करना चाहिए ऐसा जब जाना तब बुद्धि के विपर्यास में कुछ यह कहने लगे कि जैसे व्यापारियों की व्यापार योग्य माल के लेण देण में कुशलता रूप व्यापार कला निर्दोष है वैसे ही विधि के द्वारा सर्जित यह चौर्यकला भी निर्दोष है। लेकिन यह बात बराबर नहीं है क्योंकि वाणिज्य सम्बन्धी उचितकला में चोरी की योग्य कला के समान अप्रशस्त परिणाम नहीं होते हैं परंतु प्रशस्त परिणाम होते हैं, क्योंकि प्रायः यह वाणिज्यवृत्ति निर्दोष होती है। यह बात तो व्यवहार से हुई, निश्चय से तो वाणिज्य उचित कला संबन्धी परिणाम भी प्रतिषेधमात्र ही है। अतः निश्चय नय के मत से उचित या अनुचित वाणिज्य सर्वथा अनर्थकारी ही है। कारण कि सर्वसंग का त्याग ही धर्मरूप है। तो फिर चोरी तो कैसे निर्दोष बन सकती है। क्योंकि अन्यदर्शनकारोंने भी चोरी को त्याज्य बताया है।

इस महाव्रत का निर्दोष पालन करने लिए इनके अतिचारों को जानकर परित्याग अत्यावश्यक है। आचार्य हरिभद्र ने पञ्चवस्तुक तथा इसी की टीका में अतिचारों का वर्णन इस प्रकार किया है।

तइ अम्मिवि एमेव य दुविहो खलु एस होइ विन्नेओ।

तणडगलछारमल्लग अविदिन्नं गिणहओ पढमो।

साहम्मिअन्न साहम्मिआण गिहिगाण कोइमाईहिं ॥

सच्चित्ताचित्ताई, अवहरओ होइ बिइओ ॥^{२४६}

तीसरे महाव्रत में सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के अतिचार हैं। अनुपयोग से घास पत्थर रक्षा....कुंडा आदि अदत्त लेने वाले को सूक्ष्म अतिचार लगते हैं। साध्वी, चरक आदि अन्यधर्मियों के गृहस्थ की सचित्त या

अचित्त आदि वस्तु चोरनेवाले को वैसे परिणाम होने के कारण बादर अतिचार लगता है। परिणामों की विचित्रता के कारण सूक्ष्म और बादर भेद पड़ते हैं।

इसी व्रत को सुस्थिर बनाने के लिए आचारांग में भावनाओं का निरूपण किया गया है वह इस प्रकार-

१. जो साधु पहले विचार करके मित अवग्रह की याचना करता है वह निर्ग्रन्थ है, किन्तु बिना विचार किये अवग्रह की याचना करने वाला नहीं। बिना विचार किये मितावग्रह की याचना करनेवाला अदत्त ग्रहण करता है अतः विचार करके ही अवग्रह की याचना करे यह प्रथम भावना है।

२. गुरु की आज्ञा लेकर आहारपानी वापरने वाला, निर्ग्रन्थ है, आज्ञा लिए बिना आहार पानी का उपभोग करने वाला नहीं। केवली भगवान कहते हैं जो निर्ग्रन्थ गुरु आज्ञा प्राप्त किये बिना पान भोजनादि का उपभोग करता है, वह अदत्तादान का भोगने वाला कहलाता है यह दूसरी भावना है।

३. निर्ग्रन्थ साधु को क्षेत्र और काल के प्रमाणपूर्वक अवग्रह की याचना करनी चाहिए। जो निर्ग्रन्थ इतने क्षेत्र और इतने काल की मर्यादापूर्वक अवग्रह की याचना ग्रहण नहीं करता वह अदत्त का ग्रहण करता है। यह तृतीय भावना है।

४. निर्ग्रन्थ अवग्रह की आज्ञा करने के पश्चात् बार - बार अवग्रह आज्ञा ग्रहणशील होना चाहिए। क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं जो निर्ग्रन्थ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर बार बार अवग्रह की अनुज्ञा नहीं लेता वह अदत्तादान दोष का भागी होता है। यह चौथी भावना है।

५. जो साधु साधर्मिको से भी विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना करता है वह निर्ग्रन्थ है। बिना विचारे अवग्रह की याचना करने वाला नहीं। केवली भगवान का कथन है कि बिना विचार किये जो साधर्मिकों से अवग्रह की याचना करता है उसे साधर्मिकों का अदत्त ग्रहण करने का दोष लगता है। यह पाँचवी भावना है।^{३४७}

उपरोक्त पाँच भावनाओं के क्रम में तथा समवायांग के क्रम में प्रायः समान पाठ है। समवायांग में इस महाव्रत की भावनाओं का क्रम इस प्रकार है। १. अवग्रह की बार - बार याचना करना २. अवग्रह की सीमा जानना ३. स्वयं अवग्रह की बार-बार याचना करना ४. साधर्मिकों के अवग्रह का अनुज्ञा पूर्वक परिभोग करना और ५. सर्व साधारण आहार पानी का गुरुजनों आदि की अनुज्ञा ग्रहण करके परिभोग करना।^{३४८} आवश्यकचूर्णि में भी प्रायः समानता है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में पाँच भावनाओं का स्वरूप भिन्न रूप में मिलता है। १. शून्यगारावास-पर्वत की गुफा और वृक्ष का कोटर आदि शून्यागार में रहना २. विमोचितावास-दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना ३. परोपरोधकरण दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना ४. भैक्ष शुद्धि आचार शास्त्र में बतलाई हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना ५. सधर्मा विसंवाद यह मेरा है, यह तेरा है इस प्रकार साधर्मिको से विसंवाद न करना ये अदत्तादान विरमणव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।^{३४९}

४. सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं - सभी प्रकार से मैथुन का त्याग करना चौथा महाव्रत है। जैसा कि आचारांग में पाठ मिलता है। 'हे भगवान ! मैं चतुर्थ महाव्रत स्वीकार करता हूँ, इसके विषय में समस्त प्रकार के

मैथुन - विषय सेवन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य संबन्धी और तिर्यच - सम्बन्धी मैथुन को स्वयं करूँगा नहीं, अन्य के पास करवाऊँगा नहीं तथा मैथुन सेवन करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करूँगा। यावत् अदत्तादान के समान ही^{२५०} आचार्य हरिभद्र ने 'पञ्चवस्तुक में इसी व्रत का इस प्रकार उल्लेख किया है।

दिव्वाइ मेहुणस्स य विवज्जणं सव्वहा चउत्थो उ^{२५१} देव मनुष्य आदि सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का सर्वथा सुप्रणिधान पूर्वक त्याग करना चोथा मूलगुण है।

'धर्मसंग्रहणी ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्रसूरि ने' चतुर्थ मैथुन महाव्रत को विशेष प्रकार के दार्शनिक चिन्तन के रूप में विव्रित करके उस व्रत की उत्तमता प्रदर्शित की है। महाव्रत में मैथुन आसेवन सर्वथा त्याग होता है। ऐसी आप्त पुरुषों की मान्यता है, लेकिन उस मान्यता को स्वीकार नहीं करने वाले कुछ पापी आत्मा मैथुन आसेवन निर्दोष है ऐसा कथन करके मैथुन - आसेवन में गुण है यह प्रदर्शित करते हुए कहते हैं।

केइ भणंति पावा इत्थीणसेवणं न दोसाय ।

सपरोवगार भावाद दु स्सुगविणिवितितोचेव ॥

कुछ पापी कहते हैं, कि स्त्री - आसेवना दोषरूप नहीं है, कारण कि आसेवन करने से स्व और पर दोनों का उपकार होता है। और उत्सुकता की निवृत्ति होती है।

दृष्टान्त से इसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार लघुनीति, वडीनीति, कफ, वात, पित्त यह शरीर की प्रकृति है, और उसका परित्याग करते हैं तब ही शुभ ध्यान संभवित है। उसी प्रकार मैथुन सेवन भी शरीर की प्रकृति है और उसके वेदोदय से पीड़ा होती है। अतः उस पीड़ा को कफ आदिके परित्याग के समान अवश्य दूर करनी चाहिए। ऐसा नहीं करने पर दोनों मोहाग्नि से संदीप्त होंगे। अतः मोहाग्नि को शांत करने लिए मैथुनसेवन रूप पानी का सिंचन करना ही होगा। जिससे स्व पर दोनों का उपकार होगा, और आगम में तथा लोकमें स्व-पर उपकार पुण्यजनक का कारण कहा गया है। साथ ही मैथुन संबंधी उत्सुकता चारित्र में हमेशा विघ्न करने वाली है ऐसा जगत में प्रसिद्ध है। यह उत्सुकता स्त्री के आसेवन बिना दूर नहीं हो सकती है तथा इससे आगे बढ़कर सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि स्त्री सेवन करते हुए स्वयं का एवं स्त्री के बीभत्स रूप का दर्शन होने से वैराग्य प्राप्त होता है। वैराग्य से शुभ ध्यान होता है। उसे प्रसवण आदि के समान शरीर की प्रकृतिरूप यह स्त्री आसेवन भी विचार शील पुरुषों को अवश्य करने योग्य है।^{२५२}

लेकिन इनकी ये बातें अज्ञानता की ही सूचक है साथ ही छार पर लीपन के समान निरर्थक है, क्योंकि शास्त्रों में यह बात प्रसिद्ध है कि मोक्ष के अभिलाषी ऐसे बुद्धिशाली पुरुषों को स्त्री आसेवना योग्य नहीं है इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं।

नियमा पाणिवहातो तप्पडिसेवातो चेव इत्थीणं ।

पडिसेवणा णा जुत्ता मोक्खवत्थं उज्जयमतीणं ॥^{२५३}

मोक्ष के लिए प्रयत्नशील बुद्धिशाली पुरुषों को स्त्री की आसेवना योग्य नहीं है। क्योंकि साध्य के

साधक अनेक हेतु है। वे क्रमशः इस प्रकार मैथुन आसेवन में स्व पर दोनों को पाप का प्रसंग आता है। २. दृढतर रागादि दोषों का प्रसंग आता है। ३. अग्नि में इंधन डालने के दृष्टांत से स्त्री के रूप, स्पर्श आदि के विचार में अधिक अधिक मग्न से शुभध्यान का अभाव होता है। ४. स्त्री के आसेवन से अवश्य प्राणिवध का प्रसंग आता है। जैसे कि मेहूणं भंते। सेवमाणस्स केरिसिए असंजमे कज्जई ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे रुयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणाणं समभिसंधेज्जा एरिसएणं गोयमा ! मेहुणं सेवमाणस्स असंजमे कज्जई।^{२५४}

श्री भगवती सूत्र का यह प्रमाण है कि हे भदन्त । मैथुन सेवन करनेवाला कैसा असंयम करता है? हे गौतम जिस प्रकार कोई पुरुष एक बड़ी रुनालिका (रु से भरीनालिका) अथवा बूरनालिका (बूर कोमल वनस्पति विशेष से भरी हुई नालिका) को तप्त करने से नाश करता है, उस प्रकार का असंयम मैथुन सेवने वाला करता है।

आचार्य हरिभद्र ने धर्मसंग्रहणी में इसी बात को इस प्रकार कही है।

जिस प्रकार अत्यंत कोमल रु के पुमों से भरी हुई नालिका में प्रवेश करता लोहा का सलिया उस पुमों को सर्वथा नाश करता हुआ प्रवेश करता है उसी प्रकार अत्यंत जीवों से संसक्त योनि में पुरुष का साधन अवश्य उन सभी जीवों का नाश करता हुआ प्रवेश करता है।^{२५५}

तथा आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने 'श्री संबोध प्रकरण' में चौथे महाव्रत का स्वरूप तथा ब्रह्मचर्य की महत्ता और विशेष रूप से प्रकट की है वह इस प्रकार -

मन-वचन, काया के तीन योग और तीन करण द्वारा देवसंबंधी और औदारिकसंबंधि नव नव भेद गिनने से अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार अठारह भेदों से ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ साधु तीनों काल में कभी स्त्री की इच्छा नहीं करे ! संप्राप्त और असंप्राप्त दोनों भेदों में चौबीस प्रकार का काम है, उसका भी त्याग करे। तथा नव ब्रह्मचर्य गुप्ति का पूर्ण पालन करे तो उस आत्माको महान् पुण्य प्राप्त होता है जैसे कि कोई क्रोड सोना महोर का दान करे अथवा सुवर्ण का जिनभवन बनावे उसका जितना पुण्य नहीं मिलता उतना पुण्य ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को मिलता है।

शीलव्रत कुल का आभूषण है शीलव्रत सभी रूपों में उत्तम रूप है शील यही निश्चित पंडितता और शील ही निरूपम धर्म है। शील उत्तम धन है, शील परम कल्याण कारी है, शील सद्गति का कारण है और यह आचार रूपी निधि का स्थान है। यदि कोई एक स्थान में रहता हो, मौनव्रत को धारण करता हो, मुंडित बना हुआ वल्कल की छाल का धारण करने वाला हो अथवा तपस्वी हो लेकिन जो अब्रह्मचर्य की इच्छा रखता होतो वैसा ब्रह्मा भी मुझे अच्छा नहीं लगता है।

स्त्रियों की योनि में नव लाख गर्भज जीव उत्पन्न होते हैं। एक दो अथवा तीन और अधिक से अधिक गर्भपृथक्त्व (९गर्भजजीव) पुत्ररूप में उत्पन्न होते हैं।

तथा स्त्रियों की योनि में बेइन्द्रिय जीव असंख्य उत्पन्न होते हैं और मरते हैं तथा सम्मूर्च्छिम भी असंख्य उत्पन्न होते हैं और मरते हैं इसी कारण धीरे पुरुषों को प्रधान ऐसे ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करना चाहिए। स्त्री के

संभोग के समय रु की नालिका के दृष्टांत के समान सभी जीव एक साथ विनाश होते हैं। अतः जिनेश्वरभगवंत ने शील को सभी व्रतों की शोभा बढ़ाने वाला कहा है। जो विषयरूपी हलाहल विष के द्वारा चलायमान नहीं हुए वे महाधैर्यवंत हैं। आत्मा का कल्याण करने वाले सुविहित मुनियों को स्त्री संग तथा स्त्री का रूप देखने का भी निषेध किया है, कारण कि ब्रह्मचर्य उत्तम आभूषण है। जिस प्रकार कुर्कट के बच्चे को बिल्ली के बच्चे से हमेशा भय रहता है उसी प्रकार निश्चय ब्रह्मचारी मुनि को स्त्री के संग से भय होता है। पुरुष के आसन पर स्त्री तीन प्रहर तक न बैठे, और स्त्री के आसन पर पुरुष अन्तर्मुहूर्त तक न बैठे।

अब्रह्मचर्य घोर और परिणाम में भयंकर है उस कारण से निर्ग्रन्थों को मैथुन सेवन का सर्वथा त्याग करना चाहिए।^{२५६}

इस प्रकार मैथुन सेवन त्याग करने वाले निर्ग्रन्थ स्व त्याग के साथ ही दूसरे जीवों को अभयदान देकर पर कल्याण (परोपकार) करते हैं।

इस व्रत का सुंदर एवं निर्दोष पालन के लिए अतिचारों को जानकर उसका त्याग करना चाहिए। 'पञ्चवस्तुक' में निर्दिष्ट अतिचार इस प्रकार हैं।

मेहुन्नस्सइआरो करकम्माईहिं होइ नायव्वो ।

तग्गुतीणं च तहा अणुपालणमो ण सम्मं तु ॥

हस्तकर्म आदि से मैथुनविरमणव्रत में अतिचार लगते हैं इसमें परिणाम की विचित्रता से अतिचार में सूक्ष्म - बादर भेद होते हैं। ब्रह्मचर्य की नव वाडों का बराबर पालन न करने पर भी अतिचार लगते हैं।^{२५७}

इस व्रत को सुस्थिर बनाने के लिए इस व्रत की भी पाँच भावना हैं वह इस प्रकार

१) निर्ग्रन्थ साधु पुनः पुनः स्त्रियों की कामजनक कथा न करे बार-बार स्त्रियों की कथा कहने वाला निर्ग्रन्थ शान्तिरूप चारित्र और शान्तिरूप ब्रह्मचर्य का भंग करने वाला होता है तथा शान्तिरूप केवल प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट भी हो जाता है।

२) निर्ग्रन्थ कामभावपूर्वक स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को सामान्य रूप से या विशेष रूप से नहीं देखे। रागपूर्वक देखने से चारित्र एवं ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाता है।

३) निर्ग्रन्थ पूर्वाश्रम में स्त्रियों के साथ की हुई पूर्व रति एवं पूर्व काम क्रीडा का स्मरण नहीं करे। पूर्व-क्रीडा का स्मरण करने वाला साधु ब्रह्मचर्य एवं चारित्र से भ्रष्ट होता है।

४) निर्ग्रन्थ प्रमाण से अधिक अतिमात्रा में आहार पानी का सेवन नहीं करे और नहीं स्निग्ध, स्वादिष्ट भोजन करे, वैसा करने पर चारित्र एवं ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो सकता है।

५) निर्ग्रन्थ श्रमण स्त्री, पशु और नपुंसक से युक्त शय्या और आसन आदि का सेवन न करे जो ऐसा सेवन करता है तो वह चारित्र को नष्ट कर देता है ब्रह्मचर्य का भंग कर देता है, और केवल प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।^{२५८}

‘तत्त्वार्थ टीका’ में इन पाँच भावनाओं का स्वरूप निर्दिष्ट है लेकिन वहाँ प्रथम भावना को अन्तिम और अन्तिम भावना को प्रथम इस क्रम से दी है।^{२५९}

५) सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं - सर्वथा परिग्रह का त्याग करना पाँचवा महाव्रत है। ‘आचारांग’ में जिसका पाठ इस प्रकार मिलता है।

हे भगवन्त ! मैं पाँचवे महाव्रत को स्वीकार करता हूँ। पंचम महाव्रत में सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ। अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा दूसरों से ग्रहण नहीं करवाऊँगा और परिग्रह करने वालों का अनुमोदना नहीं करूँगा। आत्मा से भूतकाल में परिग्रहीत परिग्रह का व्युत्सर्ग करता हूँ।^{२६०}

पंच मगो गामाइसु अप्प बहुविवज्जणं चेव ॥^{२६१}

गाम, नगर आदि में अल्प, बहु सभी प्रकार के परिग्रह का सर्वथा सुप्रणिधान पूर्वक त्याग करना पाँचवा मूल गुण है।

‘धर्मसंग्रहणी’ में आचार्य हरिभद्रसूरि पाँचवे महाव्रत की महानता स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस महाव्रत में परिग्रह का सर्वथा त्याग करने की बात की है लेकिन परिस्थूल बुद्धि वालों के चित्त में यह बात सुचारू रूप से स्थिर नहीं बन रही है वे कहते हैं कि ‘रत्नत्रयी’ की वृद्धि में हेतु होने से ग्राम आदि परिग्रह को निर्दोष माना है।

लेकिन यह मान्यता उनकी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि बुद्ध धर्म और संघरूप इस रत्नत्रयी को ग्राम आदि के परिग्रह से शुभदायक कोई फल प्राप्त नहीं होता है परंतु पृथ्वी आदि षट्काय जीवों के विनाश रूप आरंभ में प्रवृत्ति के कारण अपकार ही होता है।^{२६२}

इस महाव्रत का निर्दोष परिपालन करने हेतु ‘पञ्चवस्तुक’ में उसके अतिचार बताये हैं उनको जानकर उसका त्याग करना चाहिए।

पंचमगम्मि अ सुहुमो अइआरो एस होइ नायव्वो ।

कागाइ साण गोणे कप्पट्ट गरक्खण ममत्ते ॥

दव्वाइआण गहणं लोहा पुण बायरो मुणेअव्वो ।

अइरित्तु धारणं वा मोत्तुं नाणाइ उव यारं ॥^{२६३}

शय्यातर के द्वारा धूप में सुखाने हेतु रखे तिल आदि का काल, श्वान् और गाय आदि से रक्षण करना तथा गृहस्थ के बालक पर कुछ ममत्व भाव करना यह पाँचवे महाव्रत के सूक्ष्म अतिचार हैं। लोभ से धन आदि वस्तु लेनी अथवा इस व्रत में बादर अतिचार है।

इस को व्रत दृढ बनाने हेतु पाँच भावनाएँ भी आचारांग में बताई गई हैं। वह इस प्रकार हैं -

१. जीव क्षेत्र से मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ शब्दों को सुनता है परन्तु वह उनमें आसक्त न हो, रागभाव न करे

गृह्य न हो, मोहित न हो, अत्यंत आसक्ति न करे तथा नहीं राग-द्वेष करे। जो आसक्त बनता अथवा रागद्वेष करता है वह चारित्र्य को नाश करता है, शांति का भंग करता है एवं केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

२. चक्षु से जीव प्रिय-अप्रिय सभी प्रकार के रूपों को देखता है। किन्तु साधु प्रिय-अप्रिय रूपों में आसक्त बनकर तथा राग-द्वेष भाव करके अपने आत्म भाव को नष्ट न करे। ऐसा करने पर चारित्र्य को भ्रष्ट करता है।

३. नासिका से जीव मनोज्ञ सभी प्रकार के गन्ध को सूँघता है। किन्तु प्रबुद्ध भिक्षु उन पर आसक्त नहीं होता है।

४. जिह्वा से जीव मनोज्ञ अमनोज्ञ सभी प्रकार के रसों का आस्वादन करता है किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष करके अपने आत्म भाव का विघात नहीं करना। यह चौथी भावना है।

५. स्पर्शोन्द्रिय से जीव मनोज्ञ अमनोज्ञ स्पर्शों का अनुभव करता है किन्तु भिक्षु उन मनोज्ञ - अमनोज्ञ स्पर्शों में न आसक्त हो, न ही उनमें राग-द्वेष करके अपने आत्म भाव का नाश करे। यदि उसमें रागादि भाव करता है तो धर्म से भ्रष्ट होता है।^{२६४}

‘तत्त्वार्थ’ टीका में भी पाँच भावनाएँ, पाँचवे महाव्रत की बताई है लेकिन ‘आचारांगसूत्र’ के क्रम से इसका क्रम कुछ भिन्न है इसमें “स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दानां”^{२६५} इस क्रम से ली है।

पाँच महाव्रतों का वर्णन ‘आचारांगसूत्र’ सूत्र के क्रम से ही ‘दशवैकालिक’^{२६६} एवं पक्खिसूत्र^{२६७} में मिलता है। लेकिन आचार्य हरिभद्रसूरि ने आगमसूत्र का अनुसरण करके सामान्य एवं संक्षेप रूप में धर्मसंग्रहणी^{२६८} पञ्चाशक^{२६९} एवं संबोध प्रकरण^{२७०} में वर्णन किया है। साथ में पाँच अतिचारों का भी वर्णन किया है। धर्मसंग्रहणी एवं संबोध प्रकरण में अतिचारों का वर्णन नहीं किया है।

पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का विस्तृत वर्णन ‘प्रश्नव्याकरण संवर द्वार’ में भी है। यह भावनाएँ पाँच महाव्रतों की विशुद्धि तथा रक्षा के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि आगमों में अन्य स्थानों पर भी इन भावनाओं का उल्लेख किया गया है जैसे कि समवायांग,^{२७१} स्थानांगसूत्र,^{२७२} उत्तराध्ययनसूत्र^{२७३} आदि में कुछ नाम भेद के साथ वर्णन मिलता है।

भावना के विषय में आचार्य हरिभद्रसूरि ने संबोधप्रकरण में लिखा है कि “हमेशा पाँच महाव्रत की भावनाओं को धारण करे वह उपाध्याय के २५ गुण है तथा अशुभ भावनाओं का स्वयं त्याग करे और दूसरों को त्याग करावे वे भी उपाध्याय के २५ गुण है।^{२७४}

पाँच महाव्रत मूलगुण माने गये है उसी प्रकार छड्ढा रात्रिभोजन विरमणव्रत भी मूलगुण में गिना गया है जिसका वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरि ने ‘पञ्चवस्तुक ग्रन्थ’ में इस प्रकार किया है।

आसणाइभे अभिन्नस्साहारस्स चउव्विस्सावि।

णिसि सव्वहा विरमणं चरमो समणाण मूलगुणो ॥^{२७५}

जैन शासन में प्रसिद्ध ऐसे अशनादि चारों प्रकार के आहार के भोजन से सर्वथा सुप्रणिधान पूर्वक त्याग करना ही साधुओ का अंतिम छद्दा मूलगुण है।

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'धर्मसंग्रहणी' तथा 'पञ्चाशक सूत्र' में उपरोक्त स्वरूप मिलता है लेकिन साथ में ही 'धर्मसंग्रहणी' में रात्रिभोजन त्याग व्रत की सार्थकता भी बताई गई है यह इस प्रकार -

रात्रीभोजणविरति दिद्धादिद्धफला सुहा चेव ।

दिद्धमिह जरणमादी इतरं हिंसाणिविती ॥^{२७६}

रात्रिभोजन की विरति (न्याग) दृश्य अथवा अदृश्य फल वाली हो फिर भी वह शुभ ही माननी चाहिए। लोक में रहतण्डत्यक्ष यह दिखता है कि रात्रिभोजन त्याग में किया हुआ भोजन-जीर्ण-पचन आदि फलवाला है तथा हिंसा की निवृत्ति यह अदृष्ट फल है। क्योंकि रात्रिभोजन में अवश्य हिंसा होती है। आगम का भी कथन है कि ऐसे त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव होते हैं, जिसको रात्रि में देख नहीं सकते तो कैसे ऐषणीय गोचरी वापरे ? तथा पाणी से आर्द्र और बीज से संसक्त तथा पृथ्वी पर गिरे हुए जीवों की दिन में जयणा होती है लेकिन रात्रि में कैसे हो, उसी से रात्रि भोजन के त्याग में हिंसा की निवृत्ति होती है।

इस व्रत का भी निर्दोष पालन हेतु अतिचारों को जानना एवं परित्याग करना आवश्यक है।

छड्मि दिआगहिअं दिअभु एवमाइ चउभंगो ।

अइआरो पन्नत्तो धीरहि अणंत नाणीहिं ॥^{२७७}

छडे व्रत में चर्तुभंगी है १) दिन में लाया हुआ दूसरे दिन खाना, दिन में लाया हुआ रात में खाना, रात में लाया हुआ रात्रि में खाना, रात्रि में लाया हुआ दिन में खाना ये चारों भागो दुष्ट परिणाम होने के कारण अतिचार लगते है ऐसा धीर अनंतज्ञानी भगवंतो ने कहा है।

अस्तु निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि जैन धर्म में अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। विश्व के अन्य विचारकों ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु आदि में जहाँ जीव नहीं माने है वहाँ जैन वाङ्मय में उनमें जीव मानकर उनके विविध भेद प्रभेदों का विस्तार से विवेचन किया है। श्रमण विश्व में जितने भी त्रस स्थावर जीव है उनकी हिंसा न करता, न करवाता और न हिंसा करने वालो की अनुमोदना करता है। हिंसा से और दूसरों को नष्ट करने के संकल्प से उस प्राणी को तो पीडा पहुँचती ही है साथ स्वयं के आत्मगुणों का भी नाश होता है। आत्मा कर्मों से मलिन बनती है। यही कारण है कि 'प्रश्रव्याकरण' में हिंसा का एक नाम 'गुणविराधिका' मिलता है संयमी तीन करण और तीन योग से किसी जीव की हिंसा नहीं करता है संयमी स्व और पर दोनों ही प्रकार की हिंसा से विमुक्त होता है क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, मोह आदि आन्तरिक दूषित प्रवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का घात करना स्वहिंसा और अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाना पर हिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनों हिंसा का त्याग करता है।

श्रमण मन-वचन और काया तथा कृत, कारित और अनुमोदन की नवकोटियों सहित असत्व का

परित्याग करता है। जिनदासगणी महत्तर के अभिमतानुसार श्रमण को मन-वचन-काय से सत्य पर आरूढ़ होना चाहिए। यदि मन-वचन काया की एक रूपता नहीं है तो वह मृषावाद है। जिन शब्दों से अन्य जीवों को आन्तरिक व्यथा उत्पन्न होती हो ऐसे हिंसाकारी, कठोर शब्द भी श्रमण के लिए त्याज्य है और यहाँ तक कि जिस भाषा के प्रयोग से हिंसा होने की शक्यता हो ऐसी भाषा परित्याज्य है। काम, क्रोध, लोभ, हास्य एवं भय के वशीभूत होकर पापकारी निश्चयकारी दूसरों के मन को कष्ट देने वाली भाषा भले ही वह मनोविनोद के लिए कही गयी हो श्रमण को नहीं बोलनी चाहिए। अहिंसा के बाद सत्य का कथन इसीलिए किया गया है कि सत्य अहिंसा पर आधृत है। सत्य का इतना अधिक महत्त्व है कि उसे भगवान् की उपमा से अलंकृत किया गया है और सम्पूर्ण लोक का सार तत्त्व कहा है।^{२७८}

अस्तेय श्रमण का तृतीयव्रत है श्रमण बिना स्वामी की आज्ञा के एक तिनका भी नहीं ले सकता है संयम उपयोगी आवश्यक वस्तुओं को स्वामी की आज्ञा से स्वीकारता है। अदत्तदान अनेक दोषों का जनक है। वह अपयश का कारण और अनर्थ कर्म है इसलिए इस महाव्रत का सुंदर रूप से पालन करता है।

चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से मानव का अन्तःकरण प्रशस्त गम्भीर और सुस्थिर होता है। ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अन्य सभी नियम उपनियमों का भी नाश होता है। अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण है जिससे आत्मा का पतन निश्चय होता है। अतः ब्रह्मचर्य पालन में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की सावधानी आवश्यक है। असावधानी साधना में स्वलना पहुँचाती है। ब्रह्मचर्य के पालन का जहाँ अधिक महत्त्व बताया गया है। वहाँ उसकी सुरक्षा के लिए कठोर नियमों (नव वाडों) का भी विधान किया गया है।

अपरिग्रह श्रमण का पाँचवा महाव्रत है श्रमण ब्राह्म्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से मुक्त रहता है। अल्प हो चाहे अधिक हो सचित हो या असचित सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करता है। परिग्रह की वृत्ति आन्तरिक लोभ की प्रतीक है। श्रमण को जीव की आवश्यकताओं की दृष्टि से कुछ धर्मोपकरण रखने पड़ते हैं जैसे कि वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि। श्रमणों को उन उपकरणों पर भी ममत्व-नहीं रखना चाहिए क्योंकि ममत्वभाव साधना की प्रगति में बाधक बनता है। 'आचारांग'^{२७९} के अनुसार जो पूर्ण स्वस्थ श्रमण है वह एक वस्त्र से अधिक न रखे। श्रमणियों के चार वस्त्र रखने का विधान है। प्रश्न - व्याकरण^{२८०} में श्रमणों के लिए चौदह उपकरणों का विधान है। १) पात्र २) पात्रबन्धक ३) पात्र-स्थापना ४) पात्र के सरिया ५) पटल ६) रजस्त्राण ७) गोच्छक ८) प्रच्छादक ९) ओढने की चादर विभिन्न मापोंकी तीन चादरे रख सकता है इसलिए ये तीन उपकरण माने गये हैं १०) रजोहरण ११) मुखवस्त्रिका १२) मात्रक १३) चोलपट्टा।

बृहत्कल्पभाष्य में अन्य वस्तुओं का भी विधान मिलता है। ये सभी उपकरण अहिंसा एवं संयम की वृद्धि के लिए हैं न कि सुख सुविधा के लिए।

पाँच महाव्रतों के साथ छट्ठा रात्रिभोजन परित्याग है। श्रमण सम्पूर्ण रूप से रात्रिभोजन का परित्याग

करता है। श्रमण मन में भी रात्रिभोजन की इच्छा न करे क्योंकि रात्रिभोजन में अनेक सूक्ष्म और त्रस जीवों की हिंसा की शक्यता रहती है। इसलिए श्रमणों के लिए रात्रिभोजन का निषेध किया गया है।

ये श्रमण के मूलव्रत है। अष्टांगयोग में महाव्रतों को यम कहा गया है। आचार्य पतञ्जलि के अनुसार महाव्रत जाति, देश, काल आदि की सीमाओं से मुक्त एक सार्वभौम साधना है।^{२६९} महाव्रतों का पालन सभी के द्वारा निरपेक्ष रूप से किया जा सकता है। वैदिक परम्परा की दृष्टि से संन्यासी को महाव्रत का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए उसके लिए हिंसाकार्य निषेध है।^{२७०} असत्य भाषण और कटु भाषण भी वर्ज्य है।^{२७१} ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन भी संन्यासी को पूर्णतया करना चाहिए। संन्यासी के लिए जल, पात्र, जल छानने का वस्त्र, पादुका, आसन आदि कुछ आवश्यक वस्तुएं रखने का विधान है।^{२७२} धातुपात्र का प्रयोग संन्यासी के लिए निषिद्ध है। आचार्य मनु ने लिखा है संन्यासी जलपात्र या भिक्षापात्र मिट्टी, लकड़ी या तुम्बी या बिना छिद्र वाला बांस का रख सकता है।^{२७३} यह सत्य है जैन परम्परा में अहिंसा का जितना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ उतना शायद ही अन्य दर्शनों में हुआ होगा। क्योंकि वैदिक ऋषियों ने जल, अग्नि, वायु आदि में जीव नहीं माना है। यही कारण है कि वे जल स्नान को अधिक महत्त्व देते हैं। पंचाग्नि तपने को धर्म माना है कन्द मूल के आहार को ऋषियों के लिए श्रेष्ठ स्वीकारा गया है। तथापि हिंसा से बचने का उपदेश तो दिया ही गया है। ऋषियों ने सत्य बोलने पर बल दिया है। अप्रिय सत्य को वर्ज्य कहा है। वही सत्य हितकारी है जिसमें सभी प्राणियों का हित हो। इसी तरह अन्य व्रतों की तुलना महाव्रत के साथ वैदिक परम्परा की दृष्टि से की जा सकती है।

जिस प्रकार जैन परम्परा में महाव्रतों का निरूपण है वैसा महाव्रतों का वर्णन बौद्ध परम्परा में नहीं है। विनय पिटक महावग्ग^{२७४} में बौद्ध भिक्षुओं के लिए दस प्रकार के शील का वर्णन है जो मिलते जुलते हैं। दस शील इस प्रकार हैं प्राणातिपात विरमण २) अदत्तादानविरमण ३) कामेसु मिच्छाचारविरमण ४) मूसावाद विरमण ५) सुरा मेरय मद्य विरमण ६) विकाल भोजन विरमण ७) नृत्य - वादित्र विरमण ८) माल्य - धारण-गन्ध विलेपण विरमण ९) उच्चाशय्या महाशय्या विरमण १०) जातरूप रजतग्रहण विरमण। महाव्रत और शील में भावों की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है।

सुत्तनिपात्त^{२७५} के अनुसार भिक्षु के लिए मन - वचन कर्मा और कृत - कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध किया गया है। विनयपिटक^{२७६} के विधानुसार भिक्षु के लिए वनस्पति तोड़ना भूमि खोदना निषिद्ध है क्योंकि उससे हिंसा होने की संभावना है। बौद्ध परम्परा में पृथ्वी पानी में जीव की कल्पना तो की है पर भिक्षु आदि के लिए सचित्त जल का निषेध नहीं है केवल जल छानकर पीने का विधान है। जैन श्रमण की तरह बौद्ध भिक्षुक भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा करते हैं विनयपिटक^{२७७} में कहा गया है - जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु को लेता है वह श्रमणधर्म से व्युत्पन्न होता है। संयुक्त निकाय^{२७८} में लिखा यदि भिक्षुक फूल को सूँघता है तो वह चोरी करता है। बौद्ध भिक्षुक के लिए स्त्री स्पर्श भी वर्ज्य माना है।^{२७९} आनन्द ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया भदन्त ! हम किस प्रकार स्त्रियों के साथ बर्ताव करें ? तथागत ने कहा- उन्हें मत देखो। आनन्द

ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की यदि वे दिखायी दे जाए तो हम उनके साथ कैसा व्यवहार करें ? तथागत ने कहा उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए। आनंद ने कहा भद्रन्त - उनके साथ वार्तालाप का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो क्या करना चाहिए। बुद्ध ने कहा उस समय भिक्षुक को अपनी स्मृति को संभाले रखना चाहिए।^{२९२} भिक्षु का एकान्त में भिक्षुणी के साथ बैठना अपराध माना गया है।^{२९३} बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है स्वयं असत्य न बोले अन्य किसी से असत्य न बुलवाये और न किसी को असत्य बोलने की अनुमति दे^{२९४} बौद्ध भिक्षु सत्यवादी होता है वह न किसी की चुगली करता है न कपटपूर्ण वचन ही बोलता है।^{२९५} बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है कि वह जो सत्य वचन हो हितकारी हो उसे बोलना चाहिए।^{२९६} जो भिक्षुक जानकर असत्य वचन बोलता है अपमान जनक शब्द प्रयोग करता है वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है।^{२९७} गृहस्थोचित भाषा का प्रयोग भी वर्ज्य है। बौद्ध भिक्षु के लिए परिग्रह रखना भी वर्जित माना गया है।^{२९८} भिक्षु को स्वर्ण रजत आदि भी ग्रहण नहीं करने चाहिए।^{२९९} जीवन यापन के लिए जितने वस्त्र पात्र अपेक्षित है उनसे अधिक नहीं रखना चाहिए। यहाँ तक कि भिक्षु के पास जो सामग्री है उसका अधिकारी संघ है। वह उन वस्तुओंका उपयोग कर सकता है पर उनका स्वामी नहीं है। शेष चार जो शील है मद्यपान विकाल भोजन, नृत्यगीत, उच्चशय्यावर्जन आदि का महाव्रत के रूप में उल्लेख नहीं है पर वे श्रमणों के लिए वर्ज्य है दस भिक्षुशील और महाव्रतों में समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो बहुत कुछ समानता है तथापि जैन श्रमणों के आचार संहिता में और बौद्ध परम्परा की आचार संहिता में अन्तर भी है। इस प्रकार महाव्रतों का वर्णन पूर्ण हुआ अब 'सत्तरह प्रकार के संयम' का विवेचन किया जाता है।

सत्तरह संयम - जैन वाङ्मय में 'संयम' शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। जो अनेको का जीवनप्रेमी बना है। क्योंकि तीर्थकरों, गणधरों, महाराजाओं, राजाओं, श्रेष्ठिपुरुषों आदि कईयों ने 'संयम' को जीवन में परिणित बना दिया है। और ऐसी 'संयमीवान्' आत्माओं को देव, दानव, इन्द्र, नरेन्द्र आदि भी नतमस्तक होते हैं।

'संयम' शब्द की व्युत्पत्ति आगमादि ग्रन्थों में इस प्रकार समुल्लिखित है। आचारांग में 'सर्व सावद्यारम्भ निवृत्तौ'^{३००}

सम्पूर्ण सावद्य आरम्भों से निवृत्त होना ही संयम है। उत्तराध्ययन टीका में सम्यक् पापेभ्यः उपरमणम्।^{३०१} सम्यक् प्रकार से पापों से विरत बनना ही संयम है।

आचार्य हरिभद्रसूरि 'तत्त्वार्थटीका' में संयम की विशिष्ट व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'मनोवाक्कायलक्षणास्तेषां निग्रहः प्रवचनोक्त विधिना नियमः एवमेव गन्तव्यं एवं स्थातव्यं एवं चिंतयितव्यमिति एव संयमोभिधीयते।'^{३०२}

मन वचन काय के योगों का प्रवचन में कही हुई विधि से निरोध करना अर्थात् अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त कर शुभ प्रवृत्तियों में जोड़ना उन्हीं भावों में स्थित बनना तथा वैसा ही चिन्तन करना ही संयम कहलाता है। अर्थात् मन वचन काया के वश न बनकर मन वचन को अपने वश में रखना ही संयम है।

यह संयम सत्तरह प्रकार का समवायांग सूत्र में बताया गया है सत्तरसविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा पुढवीकायसंजमे, बेइंदिय संजमे, तेइंदियसंजमे, चउरिंदियसंजमे, पंचिंदियसंजमे, अजीव काय संजमे, पेहा संजमे, उवेहा संजमे, अवहट्टसंजमे, पमज्जणासंजमे, मणसंजमे, वइसंजमे कायसंजमे।^{३०३}

पुढवीदग अगणिमारूयवणस्सई बिति चउ पणिंदि अज्जीवे ।

पेहोपेहपमज्जण परिट्टवण मणोवई काए ।^{३०४}

पृथ्वीकायसंयम, अप्कायसंयम, तेउकायसंयम, वाउकायसंयम, वनस्पतिकाय संयम, बेइन्द्रिय संयम, तेइन्द्रिय संयम, चउरिन्द्रियसंयम, पंचिंदिय संयम, अजीवसंयम, प्रेक्षासंयम, उपेक्षासंयम, अपहृत्य संयम, प्रमार्जना संयम, मनसंयम, वचनसंयम, कायासंयम ।

पृथिवीकाय आदि विषयों की अपेक्षा से संयम के भी सत्तरह भेद हैं। इन विषयों से मन वचन को विरत रखना चाहिए। पृथिवीकायजीव की विराधना हो ऐसा विचार न करना और न उसके समर्थक वचन बोलना तथा जिससे विराधना हो ऐसी शरीर की चेष्टा न करना अर्थात् सभी प्रकार से उनकी रक्षा करना पृथिवीकाय संयम है इसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों के विषय में समझना। जो इन्द्रियों के द्वारा दिखते हैं उसे प्रेक्ष्य कहते हैं। ऐसे पदार्थ के विषय में देखकर ही ग्रहण करने आदि की प्रवृत्ति करना प्रेक्षासंयम है। देश काल के अनुकूल विधान के ज्ञाता शरीर से ममत्व का परित्याग कर गुप्तियों के पालन में प्रवृत्ति करना वाले साधु के राग द्वेष परिणामो का न होना उपेक्षासंयम। अथवा पार्श्वस्था और गृहस्थ के व्यापार के प्रति उपेक्षा करना उपेक्षा संयम। प्रासुक वसति का आहार आदि बाह्य साधनों के ग्रहण करने को अथवा शुद्ध्यष्टक आदि के पालन करने को अपहृत्य संयम कहते हैं। शोधनीय पदार्थों को शोधकर ही ग्रहण करना प्रमार्जनासंयम अथवा स्थंडिल भूमि की प्रमार्जना वस्त्र-पात्र लेते रखते पूंजना तथा विहार तथा प्रवेश में सागारिक उपस्थिति में अप्रमार्जना और अनुपस्थिति में प्रमार्जना आदि प्रमार्जनासंयम है। इसी प्रकार मन-वचन और काया की आगमानुसार प्रवृत्ति करने और उसके विरुद्ध उपयोग न करने को क्रम से मनसंयम, वचनसंयम और कायासंयम कहा जाता है।

‘तत्त्वार्थभाष्य’^{३०५} और ‘विंशतिविशिका’^{३०६} में इसी प्रकार संयम के सत्रह भेद बताये हैं लेकिन ‘समवायांग’ और तत्त्वार्थ-भाष्य में (१३) अपहृत्य और (१४) प्रमार्जना संयम बताया है, जबकि दशवैकालिक निर्युक्ति में और ‘विंशतिविशिका’ में (१३) प्रमार्जना और (१४) पारिष्ठापनिकासंयम बताया गया है। तथा ‘संबोध प्रकरण’^{३०७} में भी ऐसा ही बताया है।

इन सत्रह भेदों के सिवाय दूसरे भी संयम के सत्रह भेद आचार्य हरिभद्रसूरि ‘संबोध प्रकरण’ एवं ‘विंशतिविशिका’ में बताये हैं वे इस प्रकार हैं।

पंचमहज्जयवरणं कषायचऊ पंचइंदियनिरोहो ।

गुत्तिनिं पं संजम सत्तरस भेया हवा बिति ॥^{३०८}

आसतत्तरनिरोहो जमिंदियकषायदंडनिग्गहो ।

पेहातिजोगकरणं तं सव्वं संजमो नेओ ॥^{३०९}

पाँच महाव्रतों का ग्रहण चार कषायों पर विजय पाँच इन्द्रियों का निरोध और तीन गुणियों से गुप्त रहना यह संयम के सत्रह भेद है अथवा प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों का निरोध करना, पाँच इन्द्रिय और चार कषाय का निग्रह करना तथा मन-वचन और काया के तीन दण्ड से विरत बनना भी संयम के सत्रह भेद है।

आ. उमास्वाति जी ने भी 'प्रशमरति'^{३१०} में संयम इन्ही सत्रह भेदों का वर्णन किया है।

पाँच चारित्र

जैन आगमों में चारित्र शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि "चरित्तधम्मो समणधम्मो ति" वचनात्। चारित्र धर्म ही श्रमणधर्म ऐसा वचन होने से। और श्रमणधर्म ही संयम है।^{३११}

चारित्र शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी मिलती है "चर्यते मुमुक्षिभिरासेव्यते तदिति चर्यते वा गम्यतेऽनेन निर्वृताविति चारित्रम्।"

मोक्षाभिलाषी आत्माओं के द्वारा जिसका आसेवन किया जाता है आचरित किया जाता है, प्राप्त किया जाता है अथवा इसके द्वारा निवृत्ति को प्राप्त करते हैं वह चारित्र है। अथवा निरुक्ति के न्याय से यह भी व्युत्पत्ति होती है "चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणात् चरित्रं। संचित किये हुए कर्मों को क्षय करना ही चारित्र है। अर्थात् संसार के कारणभूत कर्म बन्ध के लिए योग्य जो क्रियाएँ उनका निरोध कर शुद्ध आत्म स्वरूप का लाभ करने के लिए जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति होती है उसको चारित्र कहते हैं।^{३१२}

आचार्य हरिभद्र ने चारित्र को मोक्ष का साधन कहने के साथ ज्ञान दर्शन के साधक भी चारित्र को बताया है।

एअं च उत्तमं खलु, निव्वाणपसाहणं जिणा बिति।

जं नाणदंसणाणवि फलमेअं चेव निदिड्ढं ॥^{३१३}

चारित्र यह मोक्ष का अवश्य उत्तम साधन है अर्थात् इसी कारण चारित्र के उपाय में प्रयत्न करना चाहिए। कारण कि ज्ञान, दर्शन का फल पारमार्थिकता से चारित्र ही है क्योंकि ज्ञान दर्शन चारित्र के साधक है।

चारित्र के मुख्य पाँच भेद मिलते हैं वे इस प्रकार हैं।

सामाइयत्थ पढमो छेओवड्ढावणं भवे बीअं।

परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥

तत्तो य अहक्खायं खायं सव्वम्मि जीवलोगम्मि ।

जं चरिऊण सुविहिआ वच्चंति अणुत्तरं मोक्खं ॥^{३१४}

प्रथम सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्म संपराय, पाँचवा यथाख्यात चारित्र।^{३१५}

१) प्रथम सामायिक चारित्र-रागादि विषमता से रहित ज्ञानादि गुणों का लाभ होना ही सामायिक है। सम्पूर्ण सावद्योग की विरति होना ही सामायिक है। सामायिक की यह व्याख्या सामायिक के भेदों की विवक्षा विना सर्वमान्य है। सामायिक के भेदों की विवक्षा करने पर ही सामायिक शब्द और अर्थ से भिन्न भिन्न बनती है। यहाँ पर सामायिक में नवमा सामायिक व्रत नहीं लिया गया है परन्तु सामायिक के इत्वरकथित और यावत्कथित ये दो भेदों से सामायिक को ग्रहण किया है। जो थोड़े समय के लिए होती है वह इत्वरकथित कहलाती है। भरतक्षेत्र तथा ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के शासन में प्रथम छोटी दीक्षा देते है वह इत्वर सामायिक चारित्र कहलाता है क्योंकि वह थोड़े समय ही रहता है। बाद में बड़ी दीक्षा दी जाती है। तथा मध्यम के बावीस तीर्थकरों और महाविदेह में प्रथम छोटी दीक्षा फिर बड़ी दीक्षा ऐसा नियम नहीं है उन्हें प्रथम से ही निरतिचार चारित्र का पालन होता है। अतः उनकी जीवनपर्यन्त होने से यावत्कथित सामायिक चारित्र कहलाता है। इन दोनों चारित्र में इत्वरकथित सामायिक चारित्र सातिचार और उत्कृष्ट से छः महिना का होता है तथा यावत्कथित सामायिक चारित्र निरतिचार और जीवनपर्यन्त होता है।

२) छेदोपस्थापन चारित्र जिसमें पूर्व पर्याय का छेद करके महाव्रतों का आरोपण करने में आता है वह छेदोपस्थापन चारित्र कहलाता है इसके भी दो भेद बताये है सातिचार और निरतिचार। मुनि ने मूलगुण का घात किया हो तो पूर्व पाला हुआ दीक्षा पर्याय का छेद कर पुनः चारित्र उच्चराना वह सातिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र तथा लघु दीक्षा बाद मुनि को छज्जीवनिका अध्ययन पढ़ने के बाद उत्कृष्ट छः महिने के बाद बड़ी दीक्षा देनी वह तथा एक तीर्थकर का मुनि दूसरे तीर्थकर के शासन में प्रवेश करते है तब उनको पुनः चारित्र उच्चराना पड़ता है जैसे कि पार्श्वनाथ भगवान के साधुओ चार महाव्रत का त्याग करके श्री महावीर भगवान के पाँच महाव्रतवाला शासन अंगीकार करता है वह तीर्थ संक्रान्तिरूप निरतिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र जानना। यह छेदोपस्थापनिक चारित्र भरतादि १० क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम भगवान के शासन में होते है। परंतु मध्यम २२ तीर्थकर के शासन में और महाविदेह में सर्वथा नहीं होता है।

३) परिहारविशुद्धि चारित्र-परिहार अर्थात् त्याग अर्थात् गच्छ के त्यागवाला जो तप विशेष और उसके द्वारा होने वाली चारित्र की विशुद्धि विशेष शुद्धि उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते है वह इस प्रकार ग्रन्थों में बताया है - स्थविर कल्पी मुनिओं के गच्छ में से गुरु की आज्ञा लेकर नव साधु गच्छ के बाहर निकलकर केवलीभगवान् के पास जाकर अथवा श्रीगणधरादि के पास अथवा पूर्व में परिहार कल्प अंगीकार किया हो ऐसे साधु के पास जाकर परिहार कल्प अंगीकार करते हैं उसमें चार साधु परिहारक होते है अर्थात् छ मास तप करते है। दूसरे चार साधु उनकी वैयावच्च करते है ? और एक साधु वाचनाचार्य गुरु बनता है। उन परिहार छः मुनियों का तप पूर्ण होने पर वैचावच्च करने वाले चार मुनि छःमास तप करते है और तपस्या वाले मुनि उनकी वैयावच्च करते है। इस प्रकार दूसरे छः मास का तप करते है और तपस्या वाले मुनि उनकी वैयावच्च करते है। इस प्रकार दूसरे छः मास का तप पूर्ण होने पर वाचनाचार्य छः मास तप करते है और जघन्य एक और उत्कृष्ट से सात मुनि

वैयावच्च करते है और एक वाचनाचार्य बनता है इस प्रकार १८ मास में परिहार कल्प का तप पूर्ण होता है।

इस कल्प में तपश्चर्या करने वाले मुनि तपश्चर्या पर्यन्त (छः मास तक) परिहारि अथवा 'निर्विशमानक' कहलाते है और तपश्चर्या करने के बाद 'निर्विष्टकायिक' कहलाते है तथा वैयावच्च करने वाले 'अनुपहारी' कहलाते है और गुरु के रूप में स्थापित वाचनाचार्य कहलाते है। एक मुनि उत्कृष्ट से चारों संज्ञा वाला बन सकता है।

परिहार कल्प के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भेद होते है जैसे कि ग्रीष्मकाल में जघन्य उपवास मध्यम छट्ट और उत्कृष्ट अष्टम, शीतकाल में जघन्य छट्ट मध्यम अष्टम और उत्कृष्ट चार उपवास चातुर्मास में जघन्य अष्टम, मध्यम चार उपवास, उत्कृष्ट पाँच उपवास पारणा में आर्यबिल करते है तथा अनुपहारी और वाचनाचार्य तपप्रवेश सिवाय हमेशा आर्यबिल करते है।

तप पूर्ण होने पर अर्थात् १८ मास के बाद वे मुनि पुनः इसी तप को करते है अथवा जिन कल्पी बनते है, अथवा स्थविर-कल्प में प्रवेश करते है। यह कल्प अंगीकार करने वाले प्रथमसंघयणी पूर्वधर लब्धिवाले ऐसे नपुंसकवेदी अथवा पुरुषवेदी मुनि होते है ये मुनि आँख में तृण गिर जाने पर भी नहीं निकालते है। अपवाद मार्ग का सहारा नहीं लेते है तीसरे प्रहर में अभिग्रह पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते है, भिक्षा सिवाय के काल में कार्योत्सर्ग में रहते है। किसी को दीक्षा नहीं देते है, परन्तु उपदेश देते है। नया सिद्धान्त नहीं पढते पूर्व का स्मरण करते इत्यादि।

इस चारित्र की विशुद्धि प्रथम के दो चारित्र से विशेष होती है।

४) सूक्ष्मसंपराय चारित्र - जिससे संसार में परिभ्रमण होता है वह संपराय। कषायों से संसार में परिभ्रमण होता है अतः संपराय यानि कषाय। सूक्ष्म अर्थात् किड्डीरूप (चूर्णरूप) बनाना अत्यंत जघन्य संपराय अर्थात् लोभ कषाय, इसके उदयरूप जो चारित्र वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र कहलाता है। क्रोध मान और माया इन तीन कषायों के क्षय होने के बाद और संज्वलन लोभ में भी बादर संज्वलन लोभ का उदय विनाश होने के बाद जब केवल एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय होता है तब १० वे गुणस्थानक में वर्तते जीव को सूक्ष्म संपराय चारित्र होता है। इस चारित्र के भी दो भेद है, उपशम श्रेणि से गिरते जीव को १० वे गुणस्थानक में पतित दशा के अध्यवसाय होने से संक्लिश्यमान सूक्ष्मसंपराय और उपशमश्रेणि चढ़ते दशाके अध्यवसाय होने से विशुध्यमान सूक्ष्म संपराय चारित्र होता है।

५) यथाख्यात चारित्र - यथा जैसा 'ख्यात' कहा है अर्थात् जैसा अरिहंत भगवान ने सिद्धान्त में कहा है वैसा चारित्र 'यथाख्यात' कहलाता है। इस चारित्र में मोहनीय की २८ प्रकृति में से एक भी प्रकृति उदय में नहीं होती लेकिन सत्ता में भजना होती है। इस चारित्र के भी दो भेद है उसमें "वे गुणस्थानक में स्थित जीव को मोहनीय की प्रकृति सत्ता में है परन्तु उदय में नहीं होने से अकषायी होने से 'उपशान्त यथाख्यात चारित्र और क्षपकश्रेणिवंत को मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से सत्ता और उदय दोनों में अभाव होने से अकषायी होने से

क्षाधिक यथाख्यात चारित्र कहलाता है। इस प्रकार यथाख्यात चारित्र ११-१२-१३-१४ इन चार गुणस्थानक में होता है। ११-१२ में केवलज्ञान होने से छद्मस्थ यथाख्यात और १३-१४ में केवलज्ञान होने से कैवलिक यथाख्यात चारित्र ये भी भेद होते।^{३१६}

इस प्रकार पाँच चारित्र का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र,^{३१६} संबोध प्रकरण,^{३१७} ज्ञानार्णव,^{३१८} नवतत्त्व^{३१९} आदि में मिलता है तथा तत्त्वार्थटीका^{३२०} में इसका विस्तार से वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरि ने किया है।

बावीस परिषह

जैन आगमों में संयम चारित्र के साथ - साथ परिषह शब्द भी जुड़ा हुआ है। क्योंकि संयम की शुद्धि परिषह पर आधारित है। जैसे सोने की परीक्षा अग्नि द्वारा होती है। वैसे ही चारित्रवान् आत्मा की परीक्षा परिषहों के द्वारा होती है। गजसुकुमाल, अवंतिसुकुमाल, मेतारजमुनि आदि ने मरणान्त परिषहो को सहन किये थे तथा स्थूलिभद्र जैसों ने स्त्री आदि अनुकूल परिषहो को सहन किये थे। बावीस परिषह में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के परिषह होते हैं। इनको न जितने पर या इनके अधीन हो जाने पर रत्नत्रयरूप धर्म आराधना में विघ्न उपस्थित होते हैं।

इष्ट विषय में रागभाव की एकान्त प्रवृत्ति और उसी प्रकार अनिष्ट विषय में द्वेष की प्रवृत्ति भी मुमुक्षुओं के लिए छोड़ने योग्य है अतः परिषहों को समताभाव से सहन करने चाहिए है वही सच्ची आराधना है।

परि अर्थात् चारों तरफ से सह यानि सहन करना। अर्थात् चारों तरफ से आने वाले कष्टों को सहन करना लेकिन धर्ममार्ग का त्याग नहीं करना ही परिषह कहलाता है। परिषहों को समताभाव से सहन करने पर आत्मगुणों की प्राप्ति होती है। अतः 'उत्तराध्ययन' आदि आगम ग्रन्थों में भी परिषह का उल्लेख मिलता है। जैसे कि-

इमे खलु ते बावीस परिसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्च अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्टो नो विहन्नेज्जा, तं जहा दिग्गिच्छा परिसहे, पिवासा परिसहे, सीय परिसहे, उणिस परिसहे, दंस मसय परिसहे, अचेल परिसहे, अरइ परिसहे, इत्थी परिसहे, चरिया परिसहे, निसीहिथा परिसहे, सेज्जा परिसहे, अक्कोस परिसहे, वह परिसहे, जायणा परिसहे, अलाभ परिसहे, रोग परिसहे, तण-फास परिसहे, जल्लपरीसहे, सत्कार परिसहे, पन्ना परिसहे, अन्नाण परिसहे, दंसण परिसहे।^{३२१}

१. क्षुधा परिषह-क्षुधा वेदनीय सभी अशाता वेदनीय से अधिक है अतः उस क्षुधा को सहन करनी लेकिन अशुद्ध आहार ग्रहण नहीं करना तथा आर्तध्यान नहीं करना, क्षुधा परिषह विजय कहलाता है।
२. पिपासा परिषह-प्यास को सम्यक् प्रकार से सहन करना परन्तु सचित्त जल अथवा मिश्रित जल का उपयोग नहीं करना निर्दोष ही लेना।
३. शीत परिषह-अतिशय ठंडी पड़ने पर भी अकल्पनीय वस्त्र की इच्छा अथवा अग्नि आदि में तापने की इच्छा मात्र न करे।

४. उष्ण परिषह-ग्रीष्मकाल में तप्तशिला अथवा रेती पर चलता हुआ अथवा तीव्र धूप पड़ता हो तो भी छत्र, छाया, पंखे की वायु खान, विलेपन आदि की इच्छा मात्र भी न करना।
५. दंशपरिषह-वर्षाकाल में जन्य डांस, मच्छर, मांकड आदि क्षुद्र जंतु बाण के सदृश डंख मारे तो भी अपने स्थान से उठकर अन्य स्थान में नहीं जाना, न उन पर द्वेष करना, हटाना अथवा दूर करने के लिए धूम्र आदि प्रयोग करना परन्तु स्वयं स्थिर बनना।
६. अचेल परिषह-वस्त्र सर्वथा न मिले अथवा जीर्ण मिले तो भी दीनता प्रगट नहीं करना तथा बहुमूल्य वस्त्रों की इच्छा भी नहीं करना।
७. अरति परिषह - अरति यानि उद्वेगभाव साधु को संयम में रहते जब अरति का कारण बने तब सिद्धान्तोक्त धर्म स्थानों की भावना भानी चाहिए परन्तु धर्म के प्रति उद्वेग नहीं करना चाहिए।
८. स्त्री परिषह - स्त्री संयम मार्ग में विघ्नभूत है ऐसा मानकर उनको सराग दृष्टि से न देखे न आलाप संलाप करे।
९. चर्या परिषह-चर्या अर्थात् चलना मुनि एक स्थान में अधिक न रहकर मासकल्प की मर्यादापूर्वक नवकल्पी विहार करना, प्रमाद न करना।
१०. नैषेधिकी - शून्य, गृह, स्मशान, सिंहगुफा इत्यादि स्थानों में रहना और प्राप्त उपसर्गों से चलायमान नहीं होना।
११. शय्या परिषह-ऊँची नीची इत्यादि प्रतिकूल शय्या मिलनेपर उद्वेग नहीं करना और अनुकूल मिलने पर हर्ष न करे।
१२. आक्रोश-मुनि का कोई अज्ञानी मनुष्य तिरस्कार करे तो मुनि उस पर द्वेष न करे परन्तु उसे परिषह जय में उपकारी माने।
१३. वध परिषह-साधु को कोई अज्ञानी दंड चाबुक आदि से प्रहार करे अथवा वध करे तो भी स्कंधकसूरि के घाणी में पीलाते ५०० शिष्यो की भाँति वध करने वाले ऊपर द्वेष नहीं करते उल्टा मोक्षमार्ग में महा उपकारी है ऐसा माने।
१४. याचना परिषह-साधु कोई भी वस्तु माँगे बिना ग्रहण न करे यह उसका धर्म है, इससे मैं राजा हूँ, मैं धनिक, मैं दूसरों के पास कैसे माँगू ? इत्यादि मान लज्जा को धारण किये बिना घर-घर भिक्षा के लिए याचना करे।
१५. अलाभ परिषह-मान लज्जा छोड़कर माँगने पर भी न मिले तो लाभान्तराय का उदय समझना अथवा तपोवृद्धि मानकर उद्वेग नहीं करना।
१६. रोग परिषह-बुखार, अतिसार आदि रोग प्रगट होने पर जिनकल्पी आदि मुनि रोग की चिकित्सा न करावे परन्तु कर्म - विपाक का चिंतन करे और स्थविर कल्पी शास्त्रोक्त विधि से चिकित्सा करावे। रोग शान्त हो अथवा न हो तो हर्ष और शोक न करे।

१७. तृणस्पर्श परिषह-गच्छ बाहर निकले हुए जिनकल्पी आदि कल्पधारी मुनि को तृण का संधारा होता है उससे तृण की अणीया शरीर के लगने पर वस्त्र की इच्छा न करे तथा गच्छ धारी मुनि को वस्त्र का संधारा होता है वह प्रतिकूल होने पर दीनता धारण न करे।
१८. मल परिषह-साधु को शरीर शुश्रुषा रूप स्नान का निषेध है जिससे परसेवा आदि से शरीर पर मेल आदि जम गया हो दुर्गंध आती हो तो भी उसको दूर करने के लिए स्नान की इच्छा न करे।
१९. सत्कार परिषह - साधु स्वयं का बहुत मान - सत्कार लोक में देखकर मन में हर्ष न प्राप्त करे और सत्कार न होने से उद्वेग भी न करे।
२०. प्रज्ञा परिषह - स्वयं ज्ञानी होने से अनेकों को उपदेश प्रत्युत्तर देकर संतुष्ट करता है जिससे लोकों में बहुश्रुत की प्रशंसा करते हैं वह प्रशंसा सुनकर ज्ञानी अपने ज्ञान का न गर्व करे परंतु यह विचारे के मेरे से अनंतगुण बुद्धि वाले ज्ञानी हो गये हैं उनके सामने में कुछ नहीं हैं।
२१. अज्ञान परिषह-साधु स्वयं की अल्पबुद्धि होने से आगम आदि के तत्त्वों को न जाने तो अपनी अज्ञानता का संयम में उद्वेग हो ऐसा खेद न करे परंतु मतिज्ञानावरणीय आदि का उदय समझकर संयम भाव में लीन बने।
२२. सम्यक्त्व परिषह-अनेक कष्ट और उपसर्ग आने पर भी सर्वज्ञ भाषित श्रद्धा से चलित नहीं बनना। परदर्शन का चमत्कार देखकर मोहित नहीं बनना।^{१२२}

सुधर्मास्वामी कहते हैं काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर द्वारा कहे हुए २२ परिषह जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास द्वारा परिचित कर, जीतकर उनकी प्रबलता को सहनीय बनाकर भिक्षा हेतु पर्यटन करता हुआ भिक्षु इससे आक्रान्त होने पर भी अपने संयम मार्ग से विचलित नहीं होता है।

२२ परिषह में कर्मका उदय और गुणस्थान का कोष्टक

| परिषह | किस कर्म के उदय से | कितने गुणस्थानक तक |
|--|----------------------------|-----------------------|
| क्षुधा, पीपासा - शीत-उष्ण दंश - चर्या - शय्या - मल वध-रोग - तृणस्पर्श - ११ | अशाता वेदनीय के उदय से | १ से १३ |
| प्रज्ञा परिषह | ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से | १ से १२ |
| अज्ञान परिषह | ज्ञानावरणीय के उदय से | १ से १२ |
| सम्यक्त्व परिषह | दर्शन मोहनीय के उदय से | १ से ९ |
| अलाभ परिषह | लाभान्तराय के उदय से | १ से १२ |
| आक्रोश अरति - स्त्री-नैषेधिकी | चारित्र मोहनीय के उदय से | १ से ९ |
| अचेल - याचना - सत्कार - ७ | चारित्र मोहनीय के उदय से | १ से ९ ^{१२३} |

शीत और उष्ण तथा चर्या और निषद्या ये चार परिषह में से समकाल में दो अविरोधी परिषह होते है अतः समकाल में एक जीवको उत्कृष्ट से २० परिषह होते है^{३२४} तथा तत्त्वार्थ टीका में शीत उष्ण में से एक और चर्या, शय्या, निषद्या में से दो इस प्रकार तीन परिषहों का एक काल में अभाव रहता है अतएव बावीस परिषहों में से तीन का अभाव हो जाने पर एक समय में एक जीव को उन्नीस परिषह घट सकते है।^{३२५}

स्त्री परिषह, प्रज्ञा परिषह और सत्कार ये तीन परिषह अनुकूल है और शेष प्रतिकूल है तथा स्त्री और सत्कार परिषह ये दो शीतल है और शेष उष्ण परिषह है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थ टीका में पूर्वाचार्य का अनुसरण करते विस्तार से इनका विशद विवेचन किया है। परिषह वे कष्ट है जो परिस्थितियों, ऋतुओं, मनुष्यों, देवों, तिर्यचों आदि की प्रतिकूलता के कारण आते है यद्यपि इनमें मूल कारण साधक के अपने पूर्वकृत कर्म ही होते है लेकिन बाह्य निमित्त परिस्थितियाँ आदि होते है।

परिषहों को साधक आत्मा समभाव पूर्वक सहन करते हुए घाति तथा अधाति कर्मों का क्षय करके सिद्धि पद को भी प्राप्त कर लेते है।

परिषह साधक के आत्मा की कसौटी है स्वयं तीर्थकर की आत्मा भी इन परिषहों को सहन करके कर्मों का नाश करते है। इनका वर्णन 'कर्मप्रवाद' नाम के पूर्व में वर्णित है द्वादशाङ्गी का विषय होने के कारण आज दिन तक सभी के लिए मान्य रहा है। अन्यदर्शनो में शायद ही ऐसे परिषहों का वर्णन होगा क्योंकि 'गीता' आदि में 'स्थितप्रज्ञ' आदि कि व्याख्या मान - अपमान में सम आदि विशेषण मिलते है लेकिन इतने परिषह तो एक जैन साधु - साध्वी ही सहन कर सकते है।

आचार वैशिष्ट्य

आचार एक विराट् और विशाल निधि है। जिसमें अनेक रत्न भरे हुए है। जो आत्मा उसमें निमग्न हो जाता है, वह अद्भूत अपूर्व निधि को प्राप्त करता है। उसके जीवन का सम्पूर्ण कायाकल्प हो जाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार अन्य जीवों की अपेक्षा से भिन्न हो जाता है। उसको प्रत्येक क्रियाओं में संवेदन की अनुपम झलक मिलेगी पापों के प्रति दुःख दर्द होगा। इन्द्रिय रूपी अश्वों को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में ले जाता है वह राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्मबन्ध नहीं करता है।

आचारों का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनाचार को भी जानना होगा। क्योंकि हेय (अनाचार) को समझे बिना उपादेय (आचार) का सम्पूर्ण ग्रहण शक्य नहीं है जैसे कि जीव आत्मा का निष्पक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए दर्शनकार आ. हरिभद्रसूरि आदि प्रथम पूर्व की स्थापना करते फिर उत्तरपक्ष की जिससे पदार्थ की सत्यता साबित होती है। जो हमें 'धर्मसंग्रहणी' सर्वज्ञ - सिद्धि आदि ग्रन्थों में देखने को मिलते है। उसी प्रकार आचार के विषय में भी आ. शय्यंभवसूरि ने श्रमण के लिए 'दशवैकालिक ग्रन्थ' में क्षुल्लकाचार तृतीय अध्ययन

में साधुओं के अनाचार बताये। उन अनाचीर्णों का त्याग कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया गया है। आचार धर्म या कर्तव्य है। अनाचार अधर्म या अकर्तव्य है। तथा दशवैकालिक के छठे अध्ययन में 'महाचार - कथा' का निरूपण है उस अध्ययन की अपेक्षा इस अध्ययन में विविध दृष्टियों से अनाचारों पर चिन्तन किया गया है। तृतीय अध्ययन की रचना श्रमणों को अनाचार से बचाने के लिए संकेत सूचि के रूप में की गयी है तो इस अध्ययन में साधक के अर्न्तमानस में उद्भूत हुए विविध प्रश्नों के समाधान हेतु दोषों से वचन का निर्देश है। आठवाँ आचार - प्रणिधि नाम का अध्ययन है जिसमें इन्द्रिय संयम श्रमण जीवन का अनिवार्य कर्तव्य है।

श्रमण - इन्द्रियों पर संयम नहीं रखेगा तो श्रमण जीवन में प्रगति नहीं कर पायेगा। बौद्ध श्रमणों के लिए इन्द्रिय संयम आवश्यक माना है। धम्मपद में तथागत बुद्ध ने कहा नेत्रों का, कानो का, घ्राण और रसना का संयम भी उत्तम है। शरीर, मन, वचन का भी संयम उत्तम है। जो भिक्षु सर्वत्र संयम रखता है वह दुःखों से मुक्त हो जाता है। स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा "जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं वही स्थितप्रज्ञ है।" इस प्रकार भारतीय परम्परा में चाहे श्रमण हो, चाहे संन्यासी हो उसके लिए इन्द्रिय संयम आवश्यक है। इस प्रकार साधु की प्रत्येक क्रिया अनुष्ठान आचार गिने जाते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक के एक-एक अध्ययन पर निर्युक्ति की गाथा सहित विस्तार से वर्णन किया है।

आचारों को जानना जितना आवश्यक है उतना ही उसका पालन भी आवश्यक है क्योंकि कभी एक पहिए से रथ नहीं चल सकता है कभी भी एक हाथ से ताली नहीं बज सकती उसी प्रकार केवल आचारों के ज्ञाता बनने से सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती है, इसलिए ही तीर्थकरों ने 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष' ज्ञान के साथ क्रिया का जब योग जुड़ता है तब ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा उपदेश दिया है।

'संबोध सितरी' में एक दृष्टांत देकर समझाया है कि वन में एक अंधा व्यक्ति और एक पङ्गु व्यक्ति दोनों का साथ मिला दोनों नगर में जाना चाहते हैं। लेकिन एक पङ्गु होने से चल नहीं सकता तो दूसरा अंधा (प्रज्ञाचक्षु) होने से मार्ग को देख नहीं सकता है। अतः दोनों नगर में पहुँचने में असमर्थ हैं। दोनों के चित्त में चिन्तन चला यदि हम एक दूसरे को सहारा दे तो दोनों मिल कर नगर में पहुँच सकते हैं। पङ्गु ने अंधे को अपने कंधे पर बिठा दिया और अंधे को मार्ग दर्शन करता रहा जिससे वे दोनों अपने इष्ट स्थान पर पहुँच गये उसी प्रकार यहाँ क्रिया रहित को पङ्गु एवं ज्ञान रहित को अंधा कहा गया है, जब ज्ञान और क्रिया दोनों साथ में जुड़ जाती है तब इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है।

संबोध - सितरी में तो वहाँ तक दिया है कि क्रिया रहित ज्ञान भार रूप ही होता है उसका फल नहीं मिलता है।

जहा खरो चंदन भारवाही भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।

एवं खु नाणी चरणेण हीणो भारस्स भागी न हु सुगाइए ॥^{३२६}

जिस प्रकार रासभ चंदन के भार को वहन करता लेकिन वह चंदन की सुगंध को प्राप्त नहीं करता है।

उसी आचारों से हीन ज्ञानी केवलज्ञान के भार को वहन करता है। लेकिन उसकी सद्गति नहीं होती है। अर्थात् आचारों के ज्ञान के साथ आचारवान् बनना भी अत्यावश्यक है। क्योंकि स्वयं आचारों का ज्ञाता है लेकिन स्वयं शिथिलाचार बनकर आचार का पालन नहीं करना है तो वह श्रोताओं का चाहे जितना जोश में आकर उपदेश देगा तो भी उसका प्रभाव श्रोताओं को जितना पड़ना चाहिए उतना नहीं पड़ता है।^{३२७}

गच्छ के नायक आचार्य स्वयं आचारों का पालन करते हैं और दूसरे आत्माओं को भी आचार पालन का उपदेश देते हैं जिससे वे स्वयं तो संसार सागर से पार होते हैं और दूसरों को भी पार उतारने में समर्थ बनते हैं। जैसे कि उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. ने 'ज्ञानसार के क्रिया अष्टक' में कहा है।

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो भावितात्मा जितेन्द्रियः।

स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः परांस्तारयितुं क्षमः ॥^{३२८}

जो ज्ञानी क्रिया में तत्पर शान्त भावित बना हुआ इन्द्रियो का विजेता हो वह स्वयं तो भव रूपी समुद्र से तैरता है और दूसरों को भी तिराने में समर्थ बनता है।

यदि वह आचार रहित है तो लोहे की नाव की भाँति स्वयं तो डूबता ही है और उसका सहारा जो लेता है उनको डुबाता है। क्योंकि क्रिया से रहित मात्र ज्ञान अनर्थ का कारण बन सकता है गति के बिना मार्ग का ज्ञाता भी इच्छित स्थान को प्राप्त नहीं करता है। अतः आचार की महानता और प्रभावकता आज दिन तक चली आ रही है।

आचारवान् का जीवन नवपल्लवित बन जाता है। आचार पालन की तत्परता जीवन को भव्य बना देती है। अतः अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन वाङ्मय में आचारों पर विशेष महत्त्व दिया गया है तथा साधुओं के लिए कठोर आचार पालन का उपदेश दिया गया है।

आचार के पालन के साथ शुद्ध उपयोग होना भी आवश्यक है तभी वह मोक्ष मार्ग का कारण बनता है अन्यथा नहीं, क्योंकि अभव्य आत्मा भी श्रमण - जीवन में आचारों का परिपूर्ण पालन करता है लेकिन भावों की शुद्धता नहीं होती है। अतः उसे सांसारिक सुखों की ही प्राप्ति होती है। लेकिन भव्य आत्मा शुभ भाव पूर्वक आचारों का पालन यदि करता है, तो सर्वार्थसिद्ध देवलोक तथा परंपरा से मोक्ष पद प्राप्त करता है।

अन्य दर्शनों में भी आचारों का उपदेश तो दिया है लेकिन आचार संहिता जितनी जैन दर्शन में प्रशंनीय एवं अनुमोदनीय कष्टमय उतनी शायद ही अन्य दर्शनों की होगी।

जैन वाङ्मय में आचारों का उत्सर्ग एवं अपवाद दोनों रूपों से निरूपण किया गया है। जो गीतार्थ होते हैं वे ही उनको जानकर उसमें प्रवृत्ति करते हैं।

आचारों का पालन करता करता मुमुक्षु आत्मा दृढ़ वैराग्यवान् बन जाता है तथा परमात्मा के वचनों पर श्रद्धावान् बनता हुआ अपनी जीवन नैया को पार लगा देता है।

निष्कर्ष

अस्तु निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि आचार मीसांसा सत्य मर्यादित विनयशील जीवन बनाने की कलात्मक विचारश्रेणी एवं धैर्यवान् गंभीर बनने की अनुपम महानिधि है। जो प्रत्येक माननीय महापुरुषों के लिए आदरणीय बनी है।

आचार्य हरिभद्र वैदिक परंपरा से संलग्न होने के नाते जन्म जात आचारों से जुड़े हुए थे वैदिक परंपरा में जीते हुए भी आचारों का कठोरता से पालन कर रहे थे। लेकिन उन आचारों से वे तृप्त नहीं हुए जब उनको 'याकिनी महत्तरा साध्वी के आचारों का परिचय हुआ तब उन्होंने भी उन आचारों की प्राप्ति के लिए स्वयं को तैयार कर लिया और उन जैन दर्शन के कठोर आचारों को स्वीकृत करने हेतु कदम को आगे बढ़ा दिया यह उनकी ज्ञानप्रियता आचारशीलता को भी प्रगट करती है।

स्वयं अनेक आचारों के ज्ञाता बने साथ ही पालक भी बने। आचार में स्वलना करने पर प्रायश्चित का भागी बनता है। आचार्य हरिभद्रसूरि इतने महान् होते हुए भी उनके जीवन में शिष्य मृत्युके भयंकर आघात के कारण आचार स्वलना की घटना घटी जो कि संयम जीवन के लिए अत्यंत विपरीत थी लेकिन गुरु के उपदेश से तुरन्त भान में आ जाते हैं और प्रायश्चित ग्रहण कर लेते हैं। प्रायश्चित के रूप में उन्होंने जो आचार विषयक ग्रंथ लिखे हैं वो आचार्य हरिभद्रसूरि की आचार महत्ता को विशेष रूप में प्रगट करते हैं। यह उनके यतिदिनचर्या, दशवैकालिक टीका, श्रावकधर्मविधि प्रकरण आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

जैन वाङ्मय में अनेक आचार्यों ने 'आचार' के उपर ग्रन्थ, टीकाएँ, वृत्तियाँ आदि लिखी हैं उसमें आचार्य हरिभद्र का अपना अनूठा अग्रण्य स्थान है।

आचार्य हरिभद्रसूरि आचार संहिता के पुरोगामी बनकर आचार को पुरस्सर बनाने का प्रयास किया है। आचार्य हरिभद्रसूरिने जितने आचार - विषयक ग्रन्थ लिखे उतने शायद ही अन्य जैनाचार्य ने लिखे होंगे। वे आचार विषयक ग्रन्थों की जो धरोहर छोड़कर गये... इसके लिए सम्पूर्ण विद्वत् समाज गौरव का अनुभव कर रहा है।



चतुर्थ अध्याय की सन्दर्भ सूचि

| | |
|--------------------------|---------------------------|
| १. भगवती सूत्र टीका | श. १ उद्. १ |
| २. आचारांग टीका | अ. १, उद्दे-३ |
| ३. दशवैकालिक बृहद्गीका | पृ. १०१ |
| ४. सम्यक्त्व सप्ततिका | पृ. ५ |
| ५. धर्मबिन्दु | अ. २. पृ. १७ |
| ६. आचारांग चूर्णि | गा. ८ |
| ७. समवायांगवृत्ति | पृ. १०१ |
| ८. विंशति - विंशिका | गा. ९/१२, १३ |
| ९. पञ्चाशक सूत्र | गा. १/४२, १३ |
| १०. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ३४३, ३४४ |
| ११. प्रशमरति | गा. ११३ |
| १२. दशवैकालिक सूत्र | अ. ३/२, ३ |
| १३. श्रीमद् भागवत | अ. ३/१२ |
| १४. दशवैकालिक सूत्र | अ. ३/१२ |
| १५. वही | अ. ४/७, ८ |
| १६. मनुस्मृति | अ. ६ श्लो. २३ |
| १७. श्रीमद् भगवद् गीता | अ. २ श्लो. ५४ |
| १८. इतिवृत्तक | १२ |
| १९. आचारांग निर्युक्ति | गा. ९ |
| २०. विनय पिटक | पृ. २७ |
| २१. वही | पृ. ४१८ |
| २२. वही | पृ. २०४ - २०८ |
| २३. चरक संहिता | सूत्र स्थान अध्याय ५. १०० |
| २४. सूत्रकृतांग सूत्र | अ. १/९/१२, १३ / १८ |
| २५. स्थानांग सूत्र | स्था. ५ |
| २६. धर्मबिन्दु | अ. २/११ |
| २७. पञ्चाशकटीका | पृ. ३९४ |
| २८. दशवैकालिक निर्युक्ति | गा. १८१ |
| २९. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. १/१ |
| ३०. सम्बोध प्रकरण | गा. १४६ से १५१ |
| ३१. पञ्चाशक सूत्र | पं. १५/२७ |

| | | |
|-----|-----------------------------------|------------------|
| ३२. | पञ्चाशक टीका | पृ. १९५ से १०७ |
| ३३. | दशवैकालिक बृहद्वृत्तिटीका | पृ. १०१ से १०६ |
| ३४. | धर्मबिन्दु | अ. २ पृ. १८. १९ |
| ३५. | ज्ञाता धर्मकथांगसूत्र टीका | शु. १, अ. १६ |
| ३६. | श्री भगवती सूत्र टीका | श. २, उद्दे १ |
| ३७. | श्री स्थानांगसूत्र टीका | स्था ४, उद्दे. ४ |
| ३८. | निशीथ चूर्णि | उद्दे. १ |
| ३९. | आवश्यक बृहद् वृत्ति | अध्याय. ४ |
| ४०. | श्राद्धविधिप्रकरण हिन्दी विवेचन | पृ. ६२ |
| ४१. | श्रावकधर्मविधि प्रकरण एवं पञ्चाशक | गा. २ |
| ४२. | पञ्चवस्तुक टीका | पृ. ५, ६ |
| ४३. | पञ्चवस्तुक | गा. १००६ |
| ४४. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ३, ४ |
| ४५. | स्थानांग सूत्र | स्था. ४ उद्दे. ४ |
| ४६. | अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग. ७, पृ ७८१ |
| ४७. | श्राद्धविधि प्रकरण | गा. ४ |
| ४८. | श्राद्धविधि हिन्दी विवेचन | पृ. ५९ |
| ४९. | श्री उपासकद शास्त्रसूत्र | अ. १ |
| ५०. | श्री ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र | अ. ५ |
| ५१. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ७ |
| ५२. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ७ |
| ५३. | धर्मबिन्दु | अ. ३/सू. १५ |
| ५४. | श्रावक धर्म विधि प्रकरण | गा. १३ |
| ५५. | समराइच्च कहा | पृ. ४३, ४४. |
| ५६. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ६ |
| ५७. | समराइच्च कहा | पृ. ८३ |
| ५८. | पञ्चाशक | गा. २ |
| ५९. | पञ्चाशक टीका | पृ. १२ |
| ६०. | तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. ३३५ |
| ६१. | ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र | अ. ५ |
| ६२. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. ७६ |
| ६३. | पञ्चाशक टीका | पृ. १२ |
| ६४. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. न./सू. १५ |

| | | |
|-----|-------------------------|-------------------|
| ६५. | तत्त्वार्थ टीका | पृ. ३३१ |
| ६६. | स्थानांग सूत्र | स्था. ५, उद्दे. १ |
| ६७. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. १०६ |
| ६८. | उपासक दशाङ्गसूत्र | अ. १ पृ. ५ |
| ६९. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. १०७ |
| ७०. | आवश्यक निर्युक्ति | गा. ११२ |
| ७१. | पञ्चाशक अवचूर्णि | गा. १ |
| ७२. | उपासक दशाङ्गसूत्र | अ. १ पृ. १० |
| ७३. | धर्मबिन्दु | अ. ३/२३ |
| ७४. | पञ्चाशक | गा. १० |
| ७५. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २५८ |
| ७६. | पञ्चाशक सूत्र टीका | पृ. १८ |
| ७७. | धर्मबिन्दु टीका | पृ. ३६, ३७ |
| ७८. | पञ्चाशक सूत्र | गा. ११ |
| ७९. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २६० |
| ८०. | श्रावकधर्मविधि प्रकरण | गा. ८१ |
| ८१. | उपासक दशाङ्ग टीका | पृ. ११, १२ |
| ८२. | उपासकदशाङ्ग सूत्र | अध्यय. २ |
| ८३. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २६३ |
| ८४. | पञ्चाशक सूत्र | गा. १२ |
| ८५. | धर्मबिन्दु | अ. ३/सू २४ |
| ८६. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/१२ |
| ८७. | वंदितासूत्र | गा. १२ |
| ८८. | उपासक दशाङ्ग सूत्र | अ. १ |
| ८९. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २६५ |
| ९०. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. २६६ |
| ९१. | पञ्चाशक | गा. १३ |
| ९२. | धर्मबिन्दु | अ. ३/१६ |
| ९३. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/१० |
| ९४. | वंदिता सूत्र | गा. १३ |
| ९५. | पञ्चाशक सूत्र | गा. १४ |
| ९६. | पञ्चाशक टीका | पृ. २२ |
| ९७. | श्रावक प्रज्ञप्तिवृत्ति | पृ. १५७ |

| | | |
|------|-----------------------------|----------------------|
| १८. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | गा. ८४ |
| १९. | धर्मबिन्दु | पृ. ३८ |
| १००. | तत्त्वार्थ टीका | पृ. ३५० |
| १०१. | वंदितासूत्र | गा. १४ |
| १०२. | उपासक दशाङ्ग सूत्र | आ. १ |
| १०३. | श्रावक धर्मविधिप्रकरण | गा. ८५ |
| १०४. | श्रावकधर्मविधिप्रकरण वृत्ति | पृ. ३८ |
| १०५. | पञ्चाशकसूत्र | गा. १५ |
| १०६. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २७० |
| १०७. | उपासकदशाङ्ग सूत्र टीका | पृ. १३ |
| १०८. | पञ्चाशक सूत्र | गा. १६ |
| १०९. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. १६१, १६२ |
| ११०. | तत्त्वार्थधिगम टीका | अ. ७/२३ पृ. ३५१, ३५२ |
| १११. | योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण | प्रकाश ३ श्लो. १४ |
| ११२. | सागरधर्माभूत स्वो. टीका | अ. ४/५८ |
| ११३. | श्रावक - प्रज्ञप्ति | गा. २७३ |
| ११४. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | गा. ८६ |
| ११५. | वंदिता सूत्र | गा. १६ |
| ११६. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/२३ |
| ११७. | धर्मबिन्दु प्रकरण | अ. ३/२६ |
| ११८. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २७५ |
| ११९. | पञ्चाशक सूत्र | गा. १७ |
| १२०. | उपासक दशाङ्गसूत्र | अ. १ |
| १२१. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | गा. ८७ |
| १२२. | वंदितासूत्र | गा. १८ |
| १२३. | तत्त्वार्थसूत्र | अ. ७/१२ |
| १२४. | उपासक दशाङ्ग | पृ. १३ |
| १२५. | श्रावक धर्मविधिप्रकरण | गा. ८८ |
| १२६. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | पृ. ३९ |
| १२७. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २७८ |
| १२८. | पञ्चाशक सूत्र | गा. १८ |
| १२९. | धर्मबिन्दु | अ. ३/२७ |
| १३०. | तत्त्वार्थसूत्र | अ. ७/२४ |

| | | |
|------|-----------------------------|-----------------|
| १३१. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. १६४ |
| १३२. | धर्मबिन्दु सूत्र | अ. ३/१७ |
| १३३. | पञ्चाशकसूत्र | गा. १९ |
| १३४. | वही | गा. २० |
| १३५. | तत्त्वार्थभाष्य | पृ. ३४५ |
| १३६. | श्रावकधर्मविधिप्रकरण | गा. ९० |
| १३७. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २८३ |
| १३८. | धर्मबिन्दु | अ. ३/२८ |
| १३९. | तत्त्वार्थसूत्र | अ. ७/२५ |
| १४०. | वंदितासूत्र | गा. १९ |
| १४१. | उपासक दशाङ्ग | अ. १ |
| १४२. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २८४ |
| १४३. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. १६८ |
| १४४. | पञ्चाशक टीका | पृ. ३२ |
| १४५. | श्रावकधर्मविधिप्रकरण वृत्ति | पृ. ४२ |
| १४६. | धर्मबिन्दु वृत्ति | पृ. ४० |
| १४७. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २८६ |
| १४८. | वही | गा. २८७, २८८ |
| १४९. | पञ्चाशक सूत्र | गा. २२ |
| १५०. | श्रावकधर्मविधि प्रकरण | गा. ९२ |
| १५१. | धर्मबिन्दु | अ. ३/२९ |
| १५२. | तत्त्वार्थसूत्र | अ. ७/३० |
| १५३. | पञ्चाशक सूत्र | गा. २३ |
| १५४. | पञ्चाशक टीका | पृ. ३६ |
| १५५. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. २८९ पृ. १७३ |
| १५६. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण टीका | गा. ९३ पृ. ४२ |
| १५७. | उपासक दशाङ्ग टीका | पृ. ९ |
| १५८. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. २९१ |
| १५९. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. १७५ |
| १६०. | उपासक दशाङ्ग | अ. १ पृ. ८ |
| १६१. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | गा. ९४ |
| १६२. | धर्मबिन्दु | अ. ३/३० |
| १६३. | पञ्चाशक | गा. २४ |

| | | |
|------|------------------------|-------------|
| १६४. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/२७ |
| १६५. | वंदिता सूत्र | गा. २६ |
| १६६. | श्रावक प्रज्ञप्ति | पृ. १७७ |
| १६७. | पञ्चाशक टीका | पृ. १३८, ३९ |
| १६८. | सम्बोधसित्तिरि | गा. ४४ |
| १६९. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. १७८ |
| १७०. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ३९२ |
| १७१. | उपासकदशाङ्ग | अ. १ पृ. ९ |
| १७२. | श्रावकधर्म विधिप्रकरण | गा. ९६ |
| १७३. | पञ्चाशक | गा. २६ |
| १७४. | धर्मबिन्दु | अ. ३/३१ |
| १७५. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/२८ |
| १७६. | वंदिता सूत्र | गा. २७ |
| १७७. | पञ्चाशक | गा. २७ |
| १७८. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ३९९ |
| १७९. | श्रावकधर्मविधि प्रकरण | पृ. ४५ |
| १८०. | उपासक दशाङ्ग सूत्र | पृ. १८ |
| १८१. | श्रावकधर्मविधि प्रकरण | पृ. ९८ |
| १८२. | पञ्चाशक टीका | पृ. ४२ |
| १८३. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. १९३ |
| १८४. | धर्मबिन्दु टीका | पृ. ४४ |
| १८५. | तत्त्वार्थ टीका | पृ. ३५४ |
| १८६. | पञ्चाशकसूत्र | गा. २९ |
| १८७. | उपासक दशाङ्ग टीका | पृ. २० |
| १८८. | धर्मबिन्दुटीका | पृ. ३५ |
| १८९. | तत्त्वार्थ सूत्र | पृ. ३३६ |
| १९०. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ३३१ |
| १९१. | श्रावकधर्मविधि प्रकरण | गा. ९९ |
| १९२. | वही | गा. ९०० |
| १९३. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/२९ |
| १९४. | श्रावक प्रज्ञप्तिटीका | पृ. १९७-१९८ |
| १९५. | पञ्चाशक | गा. ३१ |
| १९६. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | गा. १०१ |

| | | |
|------|------------------------------|------------------------|
| १९७. | धर्मबिन्दु | अ. ३/१८ |
| १९८. | उपासकदशाङ्ग | अ. १ |
| १९९. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. ३२७ |
| २००. | श्रावक धर्मविधि प्रकरण | गा. १०२ |
| २०१. | पञ्चाशक | गा. ३२ |
| २०२. | धर्मबिन्दु | अ. ३/३४ |
| २०३. | उपासक - दशाङ्ग | पृ. २० |
| २०४. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ७/३० |
| २०५. | वंदिता सूत्र | गा. ३० |
| २०६. | स्थानांग टीका | स्था. ४ उद्दे. ४ |
| २०७. | भगवती सूत्र टीका | २१-१ उद्दे-१ |
| २०८. | दशवैकालिक निर्युक्ति | गा. १५४, १५५, १५६, १५७ |
| २०९. | दशवैकालिक बृहद् टीका | पृ. ८३ |
| २१०. | अनुयोगद्वार (गुजराती अनुवाद) | पृ. ४६९ |
| २११. | प्रशमरति | गा. २५१, २५२ |
| २१२. | दशवैकालिक बृहद् वृत्ति | पृ. २३ |
| २१३. | श्री अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग. ७ पृ. ४१० |
| २१४. | स्थानांग सूत्र टीका | स्था. ४ उद्दे-४ |
| २१५. | दशवैकालिक निर्युक्ति | गा. १५१ |
| ११६. | दशवैकालिक बृहद्वृत्ति | पृ. ८४ |
| ११७. | श्री भगवद् गीता | १४/२४/२४ |
| ११८. | श्री प्रश्न व्याकरण | २/४/९ |
| ११९. | कल्पसूत्र वालावबोध | पृ-९ |
| १२०. | अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग. ६ पृ. ८८५ |
| १२१. | वही | भागा. ६ पृ. ७७६ |
| १२२. | ज्ञाता धर्म कथांग | अ. ५ सू. ३१ |
| १२३. | स्थानांग | स्था ५. उद्दे - १ |
| १२४. | पक्खिसूत्र | प्रारंभ में |
| १२५. | आचारांगसूत्र | अ. १५ सू. ३८९ |
| १२६. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५० से ६५१ |
| २२७. | धर्मसंग्रहणी | गा. ८६२ से ८७४ |
| २२८. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५५ |
| २२९. | आचारांग सूत्र | अ. १५ सू ३९० |

| | | |
|------|--------------------------------|---------------------|
| २३०. | आचारांग चूर्णि मू.पा.रि. | पृ. २७८ |
| २३१. | तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. ३२० |
| २३२. | आचारांग सूत्र | अ. १५ सू. ३९१ |
| २३३. | पञ्चवस्तुक सूत्र | गा. ६५२ पूर्वार्ध |
| २३४. | धर्मसंग्रहणी | गा. ८९६ |
| २३५. | धर्मसंग्रहणी टीका | गा. ८९७ से ८०८ |
| २३६. | वही | गा. ९२२ से ९२५ |
| २३७. | योगशास्त्र | श्लो. ६१ |
| २३८. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५६ |
| २३९. | आचारांग सूत्र | अ. १५ सू. ३९२ |
| २४०. | आचारांगवृत्ति | पृ. ४२८ |
| २४१. | आचारांग चूर्णि मू.पा.टि | पृ. २८३ |
| २४२. | तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि टीका | अ. ७/४ |
| २४३. | आचारांग सूत्र | अध्याय १५, सू. ३९३ |
| २४४. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५२ उत्तरार्ध |
| २४५. | धर्मसंग्रहणी | गा. ९२६ |
| २४६. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५७, ६५८ |
| २४७. | आचारांगसूत्र | अ. १५ सू. ९४ |
| २४८. | समवायांग सूत्र | सम. २४ |
| २४९. | तत्त्वार्थ टीका | अ. ७/४ |
| २५०. | आचारांग सूत्र | अ. १५/सू. २९५ |
| २५१. | पञ्चवस्तुक सूत्र | गा. ६५३ पूर्वार्ध |
| २५२. | धर्मसंग्रहणी | गा. ९५६, ९६१ |
| २५३. | वही | गा. ९६६ |
| २५४. | श्री भगवती सूत्र | श. १ उद्. सु. ९ |
| १५५. | धर्मसंग्रहणी | गा. ८८०, ८८१ |
| २५६. | सम्बोध प्रकरण | गा. ६२ से ८१ |
| २५७. | पञ्चवस्तुकसूत्र | गा. ६५९ |
| २५८. | आचारांगसूत्र | अ. १५ सू. ३९६ |
| २५९. | तत्त्वार्थ टीका | अ. ७/४ पृ. २८८, २८९ |
| २६०. | आचारांगसूत्र | अ. १५. पृ. ३९७ |
| २६१. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५३ उत्तरार्ध |
| २६२. | धर्म संग्रहणी | गा. ९८६ से ९८९ |

| | | |
|------|--|------------------------|
| २६३. | पञ्चवस्तुक सूत्र | गा. ६६०, ६६१ |
| २६४. | आचारांग सूत्र | अ. १५ सू ३९९ |
| २६५. | तत्त्वार्थ टीका | पृ. २८९ अ ७/४ |
| २६६. | दशवैकालिक सूत्र | अ. ४/सू. ३ से ७ |
| २६७. | पक्खिसूत्र | सू. १ से ६ |
| २६८. | धर्मसंग्रहणी | गा. ८५७ से ८६० |
| २६९. | पञ्चाशकसूत्र | पं. १५ गा/ ३० से ३४ |
| २७०. | संबोध प्रकरण | गा. ४१ से ८५ |
| २७१. | समवायांग सूत्र | सम. २५ |
| २७२. | स्थानांग सूत्र | स्था. गुप्ति वर्णन में |
| २७३. | उत्तराध्ययन सूत्र | अ. १६ |
| २७४. | सम्बोध प्रकरण | गा. १७१ |
| २७५. | पञ्चवस्तुक | गा. ६५४ |
| २७६. | धर्मसंग्रहणी | गा. ११३५ |
| २७७. | पञ्चवस्तुक | गा. ६६२ |
| २७८. | प्रश्नव्याकरणसूत्र | अ. २/२ |
| २७९. | आचारांग सूत्र | स्था. गुप्ति वर्णन में |
| २८०. | प्रश्नव्याकरणसूत्र | अ. १० |
| २८१. | योगदर्शन | अ. २/३१ |
| २८२. | महाभारत शान्तिपर्व | ९/१९ |
| २८३. | मनुस्मृति | अ. ६/४७, ४८ |
| २८४. | धर्मशास्त्र इतिहास पाण्डुरंग वामन काण्डे | भाग १ पृ. ४१३ |
| २८५. | मनुस्मृति | ६/५३, ५४ |
| २८६. | विनय पिटक महावग्ग | १/५६ |
| २८७. | सुत्त निपात्त | ३७/२७ |
| २८८. | विनयपिटक महावग्ग | १/७८/२ |
| २८९. | विनय पिटक पातिमोक्ख पराजिक धम्म | २ |
| २९०. | संयुक्त निकाय | ९/१४ |
| २९१. | विनय पिटक पातिमोक्ख संघादि सेसधम्म | २ |
| २९२. | दीर्घ निकाय | २/३ |
| २९३. | विनय पिटक पातिमोक्ख पाचितिय धम्म | ३० |
| २९४. | सुत्तनिपात्त | २६, २२ |
| २९५. | वही | ५७/७, ९ |

| | | |
|------|----------------------------------|----------------------|
| २९६. | मज्झिम निकाय अभयराजसुत्त | अभयराजसुत्त |
| २९७. | विनयपिटक पातिमोक्ख पाचितिय धम्म | १, २ |
| २९८. | संयुक्त निकाय | ४२, ९ |
| २९९. | विनय पिटक महावग्ग | १/५६ |
| ३००. | आचारांग टीका | श्रु. १ अ-२, उद्-५ |
| ३०१. | उत्तराध्ययन टीका | अ. २८ |
| ३०२. | तत्त्वार्थ टीका | पृ. ३३७ |
| ३०३. | समवायांग | सम. १७ |
| ३०४. | दशवैकालिक निर्युक्ति | गा. ४, ६ |
| ३०५. | तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. ३९० |
| ३०६. | यति धर्म - विशिका | ११/९० उत्तरार्ध |
| ३०७. | संबोध प्रकरण (सुगुरु स्वरूप) | गा. ४५ |
| ३०८. | वही | गा. ४६ |
| ३०९. | यतिधर्मविशिका | गा. ११/१० पूर्वार्ध |
| ३१०. | प्रशमरति | गा. १७२ |
| ३११. | दशवैकालिक टीका | अ. १ |
| ३१२. | अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग -३, पु ११४३ |
| ३१३. | पंचवस्तुक | गा. ९१२ |
| ३१४. | पंचाशक | गा. ११/३, ४ |
| ३१५. | पंचाशक टीका | पृ. २८८, २८९ |
| ३१६. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. ९/१८ |
| ३१७. | संबोध प्रकरण (निर्ग्रन्थ स्वरूप) | ५/२५१ से २६० |
| ३१८. | ज्ञानार्णव | सर्ग, ८/गा ३ |
| ३१९. | नवतत्त्व | गा. ३२, ३३ |
| ३२०. | तत्त्वार्थ टीका | पृ. ४६८ सो ४७० |
| ३२१. | उत्तराध्ययन सूत्र | अ. २/से-३ |
| ३२२. | तत्त्वार्थ टीका | सू./पृ. ४६०, ४६५ |
| ३२३. | वही | सू. ९/९ पृ. ४६६, ४६७ |
| ३२४. | नवतत्त्व गुजराती विवेचन | पृ. १०२ |
| ३२५. | तत्त्वार्थ भाष्य | पृ. ४१० |
| ३२६. | सम्बोध सित्तरि | गा. ७६ |
| ३२७. | वही | गा. ८१ |
| ३२८. | ज्ञानसार | अष्टक ९/१ |

5

पंचम अध्याय

कर्म मीमांसा

- * कर्म की परिभाषा
- * कर्म का स्वरूप
- * कर्म की पौद्गलिकता
- * कर्मबन्ध की प्रक्रिया
- * कर्मों का स्वभाव
- * कर्मों के भेद-प्रभेद
- * मूर्त का अमूर्त पर उपघात
- * कर्तृभाव कर्मभाव परस्पर सापेक्ष
- * कर्म और पुनर्जन्म
- * कर्म और जीव का अनादि सम्बन्ध
- * कर्म के विपाक
- * कर्म बन्ध के हेतुओं के प्रतिपक्ष उपाय
- * कर्म का सर्वथा नाश कैसे
- * गुणस्थान में कर्म का विचार
- * कर्म की स्थिति
- * कर्म के स्वामी
- * कर्म का वैशिष्ट्य

पंचम अध्याय

कर्म - मीमांसा

जैन वाङ्मय में कर्म-सिद्धान्त गहन एवं विशाल है। जैन वाङ्मय में कर्म-सिद्धान्त की महत्ता बेजोड़ एवं अद्भुत है। देह में प्राण के महत्त्व के समान उसका मूल्य अंकित किया गया है। जैन धर्म और दर्शन में कर्म-सिद्धान्त केन्द्र में स्थित है। जिस प्रकार कुण्डली में केन्द्र स्थित शुभ ग्रहों का प्रभाव बेजोड़ होता है जातक के लिए उसी प्रकार केन्द्र में स्थित कर्म-सिद्धान्त का प्रभाव भी साधक के लिए बलवत्तर होता है। कर्म-सिद्धान्त के अभ्यास के बिना जैन धर्म का अभ्यास संभव नहीं है। यदि करता भी है तो वह अपूर्णता ही महसूस करेगा। अतः जैन वाङ्मय में कर्म-सिद्धान्त देह पर आभूषणों की भाँति शोभायमान हो रहा है। जैन-वाङ्मय में कर्म-सिद्धान्तों की नींव पर अन्य सिद्धान्तों रूपी महल खड़ा होता है।

कर्म की परिभाषा - जैन आगमों में धर्म और कर्म इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। ये दोनों शब्द प्राचीन हैं। अनादि काल से कर्मचक्र जीवात्मा के पीछे लगा हुआ है तथा जीवात्मा राग-द्वेष की परिणति द्वारा कर्मचक्र को गतिमान करता है। उस कर्मचक्र को हटाने का कार्य धर्मचक्र करता है।

‘कर्म’ बन्धन का प्रतीक है जब कि ‘धर्म’ मुक्ति का प्रतीक है। लेकिन जब तक व्यक्ति कर्म-तत्त्व को पूर्णतया नहीं समझेगा तब तक वह मुक्ति मार्ग के गूढ़ ‘धर्म’ तत्त्व को नहीं समझ सकेगा। अतः ‘कर्म’ के सिद्धान्त से प्रबुद्ध होना आवश्यक है।

जगत में प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वभाव की दृष्टि में एक समान है। फिर भी संसार अनेक विचित्रताओं एवं विविधताओं से भरपूर दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि कोई राजा है, तो कोई रंक है। कोई रोगी है, तो कोई निरोगी है। कोई पशु-पक्षी है, तो कोई मनुष्य। कोई स्त्री है तो कोई पुरुष। यह सभी भेद क्यों? ऐसी शंका स्वाभाविक हो जाती है।

सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माननेवाले तो इसका समाधान ईश्वर की इच्छानुसार यह विविधता है। इस प्रकार देते हैं - जैसे कि

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥’

ईश्वर के द्वारा भेजा हुआ जीव स्वर्ग में, नरक में जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव अपने सुख-दुःख को पाने में, उत्पन्न करने में स्वतंत्र भी नहीं है एवं समर्थ भी नहीं है। संसारस्थ सभी जीवों के सुख-दुःख की लगाम भी ईश्वर के अधीन रखी है। ईश्वर ही जैसा रखे उसको वैसा रहना होगा। ईश्वर की इच्छा

पर ही सब कुछ निर्भर है। यहाँ तक कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता।

इस प्रकार अनेक धर्मों और दर्शनों ने ईश्वर सत्ता को सृष्टि के साथ मानकर वास्तव में ईश्वर के स्वरूप को विकृत कर दिया है। ईश्वर निर्मित और संचालित विश्व किसी भी तर्क-युक्ति की कसोटी पर सिद्ध हो ही नहीं पा रहा है। ईश्वरकृत संसार की विचित्रता का समाधान अज्ञानी जनों को तृप्त कर सकता है। लेकिन प्रबुद्ध जनों की वहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी। अर्थात् मेधावी जन उससे संतुष्ट नहीं होंगे।

समस्त विश्व कर्म-सिद्धान्त की प्रक्रिया को स्वीकारे या नहीं स्वीकारे लेकिन संपूर्ण लोक और अनन्त जीव सबका सारा व्यवहार कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही चल रहा है। तभी तो जब लोकस्वरूप के चिंतक एवं तत्त्वज्ञानियों के सामने जगत विचित्रता का प्रश्न आया तो उन्होंने सही समाधान करते हुए कहा-

“कर्मजं लोक वैचित्र्यं”

अर्थात् जीवमात्र में पाई जानेवाली विचित्रता और विषमता का कारण कर्म है। जीव विज्ञान की यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है। ‘भगवद् गीता’^२ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही बात कही है।

यह एक ध्रुव सत्य है कि कर्म एक ऐसी शक्ति तथा अपूर्व ऊर्जा है जो व्यक्ति को प्रतिपल सक्रिय क्रियाशील रखती है। जगत में कोई भी व्यक्ति निष्क्रिय जीवन नहीं जी सकता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ क्रिया करता ही रहता है और इसी क्रियाशीलता की संप्रेक शक्ति कर्म है। इसलिए ही जैन दर्शनकारों ने कर्म सिद्धान्त को विशेष प्रिय बनाया है।

लोक व्यवहार में कर्मशब्द, काम, धन्धा, व्यापार, कृषि, भारवहन आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ तथा न्यायदर्शन में पदार्थ निरूपण में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि में जो कर्म शब्द आया वह पाँच प्रकार का बताया है।

एतो कम्मं च पंचविह उक्खेवणमवक्खेवण पसारणकुञ्चणागमणं।

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम्। पञ्चविधं कर्मेतत्।^३

उत्क्षेपण, अवक्षेपण, प्रसारण आकुञ्चन और गमन ये पाँच प्रकार के कर्म न्यायदर्शन में प्रसिद्ध हैं। व्याकरण में कारक भेद में कर्म का प्रयोग हुआ है।

“कर्तुरिप्सिततमं कर्म।”^४

कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है वह कर्म कहलाता है। “यथा स ग्रामं गच्छति” यहाँ कर्ता सः अर्थात् वह, गच्छति यानि जाना वह जाने की क्रिया द्वारा ग्राम को प्राप्त करना चाहता है। अतः ग्राम कर्म है। लेकिन जैनागमों में कर्म का एक विशिष्ट अर्थ किया गया है। जो इस प्रकार है - मन, वचन और काय आदि योगों का जो व्यापार वह कर्म कहलाता है। स्थानांग^५ की टीका में भ्रमण आदि क्रियाओं को कर्म कहा है। जब कि सूत्रकृतांग^६ में संयम अनुष्ठान रूप क्रिया को कर्म कहा है।

किन्तु कर्मग्रन्थकारों ने कर्म का अर्थ इस प्रकार किया है -

कीरइ जिएण हेउहिं जेणं तो भंत ! भणइ कम्मं वि

कीरइ जिएण हेउहिं जेणं तु भण्णए कम्मं ।^{१०}

जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन हेतुओं द्वारा प्रेरित होकर मन, वचन और काया की जो प्रवृत्ति करता है वह कर्म कहलाता है। अर्थात् जीव के द्वारा हेतुपूर्वक जो क्रिया की जाय वह कर्म है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने कर्म के 'लोकतत्त्व निर्णय' में अनेक पर्याय-वाची नाम बताये हैं।

विधिर्विधानं नियतिः स्वभावः कालो ग्रहा ईश्वर कर्म दैवम्।

भाग्यानि कर्माणियमः कृतान्त पर्याय नामानि पुराकृतस्य ॥^{११}

विधि, विधान, नियति, स्वभाव, काल, ग्रह, ईश्वर, कर्म, दैव, भाग्य, कर्म, यम, कृतान्त, ये पूर्वकृत कर्म के पर्यायवाची नाम हैं।

इस प्रकार 'कर्म' शब्द को जैन दर्शनकारों ने तो आदर भाव से सुग्राह्य बनाया ही है। लेकिन साथ साथ अन्यदर्शनकार भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। नाम भेद हो सकता है। लेकिन तत्त्व भेद नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने हेतु उदार समन्वयवादी के पुरोध आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने ग्रन्थ 'योगबिन्दु' में अन्यदर्शनों द्वारा मान्य 'कर्म' के नाम भेदों का उल्लेख किया है।

अविद्याक्लेशकर्मादि-र्यश्च भवकारणम्।

ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥^{१२}

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि भव की परंपरा है। उसे कोई प्रधान प्रकृति भी कहते हैं, तो कोई अविद्या कहते हैं, कोई उसे वासना कहते हैं। यह सभी नाम संज्ञा का भेद है। वास्तविक भेद नहीं है।

अर्थात् जगत में प्रत्येक संसारी जीव का चार गति में जन्म-मरण का चक्र चालू है। उसका मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा अशुभ योग है। उसी कारण उसे भ्रमण करना पड़ता है। उसे ही अद्वैत मतवाले वेदान्ती 'अविद्या' कहते हैं। सांख्यदर्शन के उपदेशक कपिल उसे 'क्लेश' कहते हैं। जैन दर्शन के पूज्य पुरुष उसे ही 'कर्म' कहते हैं। उसी प्रकार सौगत अर्थात् बौद्ध उपासक उसे 'वासना' कहते हैं। शैव दर्शनकार 'पाश' कहते हैं। योग दर्शन के रचयिता पतञ्जलि ऋषि 'प्रकृति' कहते हैं। उसमें भी प्रधान अर्थात् मुख्य रूप से सभी के भिन्न-भिन्न नाम होने पर भी एक कार्य को करनेवाले हैं। जैसे कि विचार अविद्या अज्ञता जहाँ तक होती है वहाँ तक संसार का बंधन है। अतः यह भी योग्य नाम है। 'क्लेश' जीवों को आकुल-व्याकुल बनानेवाला होने से यह भी योग्य नाम है। जैन कर्म कहते हैं वह भी द्रव्य परमाणुओं का समुदाय जीवों के द्वारा शुभाशुभ अध्यवसायों से ग्रहण किया हुआ होने के कारण उदय समय में शुभाशुभ कर्म भोगे जाते हैं। उससे कर्म नाम भी युक्त है। बौद्ध 'वासना' कहते हैं वह भी आत्मा के अध्यवसाय रूप में कर्म के हेतु है। उसीसे कारण में कार्य का उपचार होने से वह भी योग्य है। शैव 'पाश' कहते हैं यह परमानंद का अनुभव करने की इच्छा वाले जीवों को संसार के बंधन में फंसा देते हैं तथा पुद्गल पदार्थों में अर्थात् सुख की भ्रमणा रूप पाश में बांध देते हैं। अतः वह

भी यथार्थ नाम है। उसी प्रकार कोई माया-कपट कहते हैं, यह माया जीवात्मा को अवस्तु में वस्तु का प्रदर्शन कराती है। अतः 'माया' नाम भी योग्य है। प्रकृति स्वभाव संसार में अवस्थित जीवात्मा का राग-द्वेष मय कर्म बंधन की योग्यतावालों की उस प्रकार की प्रवृत्ति करने का स्वभाव होता है। उससे प्रकृति नाम भी योग्य है। उसमें मोहनीय कर्म संसार में भ्रमण का मुख्य हेतु होने से 'कर्म' का 'प्रधान' नाम भी योग्य है।

अन्य दर्शनकार उन्हें भिन्न-भिन्न विशेषणों का उपचार करके एक दूसरे से अलग नाम रखते हैं। जैसे कि कुछ कर्म को मूर्त्त कहते हैं। कुछ उसे अमूर्त्त कहते हैं। यह अपने-अपने दर्शन के आग्रह से ही कहते हैं, तो भी वे सभी कर्म को संसार में बार-बार भ्रमण का कारण तो अवश्य स्वीकारते हैं। उसमें जो भेद करते हैं, वह विशेष प्रकार के श्रेष्ठ ज्ञानरूप विवेक के अभाव में ही करते हैं। परंतु बुद्धिमान् लोग जिस प्रकार देवों में नाम भेद होने पर भी गुण के कारण अभेद रूप में देखते हैं, उसी प्रकार कर्म विशेष में भी नाम भेद होने पर भी संसार हेतु समान होने के कारण कर्म, वासना, पाश, प्रकृति आदि भेद होने पर भी परमार्थ रूप से भेद न होने से यह भेद मानना अवास्तविक है। अतः प्रत्येक साधक को यम नियम द्वारा उस कर्म को दूर करने का ही प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए।^{१०}

कर्म का स्वरूप - यह सम्पूर्ण संसार पुद्गल द्रव्य से अगाध भरा हुआ है। जिसमें परमाणुओं का पूरण-गलन विध्वंस होता है। वह पुद्गल द्रव्य कहलाता है, यह निर्जीव है, वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाला है, रूपी है, रजकण के समान अणुसमूह रूप है। अणुओं के समूह को स्कंध कहते हैं। एक-एक स्कंध में दो से लेकर यावत् संख्यात असंख्यात और अनंत अणुओं के समूह भी होते हैं। उसीसे वर्गीकरण रूप में जैन शास्त्रों में आठ भेद दिखाये हैं। जिसे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, श्वासोश्वास, भाषा, मन और कार्मण वर्गणा कहते हैं। पीछे-पीछे रहनेवाली वर्गणा पूर्व-पूर्व की वर्गणा में अनंतानंत अधिक परमाणुओं की बनी हुई होती है। उसमें कार्मण वर्गणा के अणु कर्म बनने के योग्य वर्गणा कहलाती है।

कार्मण वर्गणा आत्मा के साथ चिपकने के बाद ही उसे कर्म कहते हैं। जिस प्रकार दुनिया में हवा के साथ उड़नेवाली धूल को रज कहते हैं, परंतु वही रज तेल आदि दागवाले वस्त्र पर लगने पर और वस्त्र के साथ एकमेक हो जाने पर मैल कहलाता है। रज ही मैल बनता है। उसी प्रकार कार्मण वर्गणा ही कर्म बनता है। दूध-साकर, लोह-अग्नि जिस प्रकार एकमेक होता है, वैसे ही आत्मा और कर्म एकमेक होते हैं और आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में व्याप्त होता है।

स्नेहाऽभ्यक्त शरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।

राग-द्वेषाऽऽक्लिन्नस्य कर्म बन्धो भवत्येव ॥^{११}

प्रशमरति में उमास्वाति म.सा. ने भी इसी परिपेक्ष्य में यह श्लोक उल्लिखित किया है। जैसे तेल का मालिश करके बाजार में घूमने पर धूल के रजकण चिपकने पर सारा शरीर भर जाता है। उसी तरह चौदह राजलोक के इस ब्रह्माण्ड में अनंतानंत कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु भरे पड़े वे राग द्वेष करनेवाले जीव पर

सतत चिपकते जाते है। वे अपनी तरफ से स्वयं नहीं चिपकते परंतु राग-द्वेष की प्रवृत्ति करके स्वयं चुम्बकीय शक्ति से उन्हें खींचते रहते हैं और जैसे आटे में पानी डालकर पिण्ड बनाया जाता है, वैसे ही जीव अपने राग-द्वेष के शुभाशुभ अध्यवसाय से उन कर्मण वर्गणाओं के पुद्गल परमाणुओं को पिण्ड रूप में बनाकर कर्म रूप में परिणमन करते हैं। ऐसे राग-द्वेष के अध्यवसाय कदम-कदम पर बनते रहते है। क्योंकि उन्हें वैसे निमित्त मिलते रहते है।

एवं अद्वविहं कम्मं राग दोष समज्जिअं।^{१२}

इस तरह राग द्वेष से उपार्जित आठों ही कर्म है। अर्थात् आठों ही कर्म राग-द्वेष से उपार्जित होते है।

इस प्रकार कर्म केवल संसार मात्र ही नहीं है, किन्तु एक स्वतन्त्र वस्तुभूत पदार्थ भी है, जो जीव की राग द्वेषात्मक क्रिया से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ लग जाते है।

अर्थात् संक्षेप से हम यह कह सकते है कि राग द्वेष से युक्त संसारी जीव शुभ या अशुभ परिणति में रमण करता है तब कर्म रूपी पुद्गल उससे आकृष्ट होकर आत्मा के साथ चिपक जाते है और अच्छा बुरा फल देते है। उन्हीं का नाम कर्म अर्थात् यही कर्म का स्वरूप है।

कर्म की पौद्गलिकता - इस विश्व में अनेक पुद्गल है। लेकिन सभी पुद्गल कर्म स्वरूप नहीं बनते है। आठ वर्गणाओं में जो कर्मण वर्गणा है, उसमें जो पुद्गल प्रयुक्त होते है। वे ही कर्म रूप में ग्रहण होते है और इसी कारण से सभी 'कर्म' पुद्गल स्वरूप कहे जाते है। ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में लिखा है। वह इस प्रकार -

चित्तं पोग्गलरुवं विन्नेयं सव्वमेवेदं।^{१३}

कम्मं च चित्तपोग्गलरुवं।^{१४}

ज्ञानावरणीय आदि कर्म चित्र-विचित्र अनेक फल अनुभवों में कारणभूत होने से विचित्र स्वरूप वाले हैं तथा ये सभी कर्म पुद्गल द्रव्यमय समझना चाहिए।

कर्म बन्ध की प्रक्रिया - बन्ध का सामान्य अर्थ दो भिन्न-भिन्न अस्तित्व वाली वस्तुओं का एक दूसरे के साथ मिल जाना, संयुक्त हो जाना। लौकिक व्यवहार में संप्रयुक्त बन्ध के इस अर्थ को शास्त्रकार भगवंतों ने भी स्वीकार किया है, कि पृथक्-पृथक् अस्तित्ववाले आत्म तत्त्व और अनात्म तत्त्व (कर्म) का जो विशिष्ट संयोग होता है उसे बन्ध कहते है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने "श्रावक प्रज्ञप्ति" की टीका में बन्ध की व्याख्या इस प्रकार की है - "कषाय सहित होने के कारण जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण किया करता है उसे बन्ध कहते है।^{१५} "तत्त्वार्थ टीका"^{१६} तथा "षड्दर्शन समुच्चय"^{१७} में भी बन्ध की इसी व्याख्या को स्वीकृत की है।

आत्मा और कर्म के संयोग को दर्शनान्तरों ने अन्य नामों से स्वीकार किया है। जिसका आचार्य हरिभद्रसूरि ने "योगबिन्दु" में स्पष्ट उल्लेख किया है।

भ्रान्ति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम्।^{१८}

आत्मा और कर्म का जो सम्बन्ध है उसे वेदान्त दर्शनवादी तथा सौगत (बौद्ध) भ्रान्ति कहते हैं सांख्य उसे प्रवृत्ति कहते हैं तथा जैन दर्शनकार उसे ही बन्ध कहते हैं।

जीव के साथ कार्मण वर्गणा के संमिश्रण की इस रासायनिक प्रक्रिया में दो क्रम हैं। सबसे प्रथम पुद्गल का ग्रहण होता है जिसे आश्रव कहते हैं तथा ग्रहण किये गये पुद्गलों का आत्मा में परिणमन - यह बंध तत्त्व कहलाता है। परिणमन यह क्रिया विशेष है। एक वस्तु अपना अस्तित्व खोकर दूसरे में मिल जाती है। जैसे शक्कर पहले जो अपने कण-कण रूप में थी वह दूध में मिल कर तन्मय हो जाती है, एकरस बन जाती है - यह परिणमन है। अंग्रेजी में दो क्रियाएँ प्रयोग में आती हैं। To Enolve इसका अर्थ है मिलना। परंतु इस मिलन में वस्तु अपने स्वतंत्र अस्तित्व को स्थायी रखकर मिलती है। एक व्यक्ति चारों में Enolve है अर्थात् मिला हुआ है। दूसरी क्रिया है To Desolve इसका अर्थ है पिघल जाना, एकरस हो जाना। शक्कर दूध में Desolve हो गई। उसी तरह कार्मण वर्गणा के परमाणु पहले आत्मा में Enolve होते हैं फिर कर्म बंध के मिथ्यात्वादि हेतु से Desolve होते हैं, एक रस हो जाते हैं।

कर्म के मुख्य पाँच हेतु आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक में बताये - १. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. कषाय, ४. योग, ५. प्रमाद।^{१९}

मिथ्यात्व - मिथ्यात्व का अपर नाम मिथ्यादर्शन है। मिथ्या अर्थात् विपरीत झूठा और दर्शन अर्थात् देखना-विश्वास-श्रद्धा। मिथ्यादर्शन सम्यग् दर्शन से विपरीत अर्थवाला है। तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है तथा उससे जो विपरीत अवस्था हो उसे मिथ्यादर्शन अर्थात् मिथ्यात्व कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है। (१) अभिगृहीत और (२) अनभिगृहीत। दूसरों के उपदेश को सुनकर और ग्रहण करके जो अतत्त्व श्रद्धान होता है उसे अभिगृहीत मिथ्या दर्शन कहते हैं। इसके सिवाय जो परोपदेश से प्राप्त नहीं होता अथवा जो अनादिकाल से जीवों के साथ लगा हुआ है ऐसे अतत्त्व श्रद्धान को अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। मिथ्यात्व कर्मबंध का मूल कारण है। जैसे वस्त्र यानि कपडे की उत्पत्ति में तन्तु धागा कारण है। घड़ा बनाने में मिट्टी कारण है। धान्यादि की उत्पत्ति में बीज कारण है। वैसे ही कर्म की उत्पत्ति में मिथ्यात्व कारणभूत है। मिथ्यात्व की उपस्थिति में कर्म की अधिक प्रकृतियाँ बनती हैं। अविरति जिस तरह अहिंसा-सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि व्रत हैं। उसका पालन करनेवाला व्रती कहलाता है। यम-नियम का पालन करने से कर्म का बंध नहीं होता है। इसके विपरीत हिंसा, असत्य, मैथुन आदि का सेवन करने अर्थात् अविरति में रहने के कारण आत्मा कर्म-बंध करता है, यह कर्मबंध का दूसरा हेतु है।

(३) कषाय - जिससे संसार की वृद्धि हो जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को क्लुषित बनाये समभाव की मर्यादा को तोड़े उसे कषाय कहते हैं। कषाय सबसे अधिक कर्म बंधन में कारण है। तत्त्वार्थ में उमास्वाति महाराज ने बताया है कि “सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादते” कषायादि से युक्त जब जीव होता है तब कर्म योग्य पुद्गलों को जीव खींचता है, ग्रहण करता है। कषाय भाव में जीव कर्म से लिप्त होता है।

अतः उसे कर्मबन्ध का कारण माना है। वाचक उमास्वाति ने इस सूत्र में अन्य चार हेतुओं को गौण मानकर कषाय को ही कर्मबन्ध का मुख्य हेतु माना है।

(४) योग - मन-वचन और काया - ये तीन योग भी कर्म बन्ध के हेतु हैं। जीवात्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति इन तीन योग के सहायता से ही होती है। अतः योग भी कर्म बन्ध का कारण है।

(५) प्रमाद - मोक्षमार्ग की उपासना में शिथिलता लाना और इन्द्रियादि के विषयों में आसक्त बनना यह प्रमाद है। विकथा आदि में रस रखना, आलस्यभाव रखना, आन्तरिक अनुत्साह, आगम विहित कुशल क्रियानुष्ठानादि है उनमें अनादर करना प्रमाद है। मन-वचन कायादि योगों, का दुष्प्रणिधान, आर्त्तध्यान की प्रवृत्ति प्रमाद भाव है।^{२०} प्रमाद के पाँच प्रकार हैं।

मज्ज-विषय कषाया निद्रा विकथा य पञ्चमा भणिया।

ए ए पञ्च पमाया जीवा पांडति संसारे ॥^{२१}

मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा - ये पाँच प्रकार के प्रमाद बताए गए हैं जो जीवों को संसार में गिराते हैं। पतन के कारणभूत प्रमाद भी कर्म बन्ध का हेतु है।

मिथ्यात्व आदि हेतुओं द्वारा कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् या तप्त अयः पिण्ड वत् एकभाव होना ही बन्ध है।

मिथ्यात्व आदि पाँच हेतुओं 'प्रज्ञापना'^{२२} 'धर्मसंग्रहणी'^{२३} तथा 'स्थानांगसूत्र'^{२४} में भी बताये हैं तथा कम्मपयडी आदि कर्म विषयक ग्रन्थों में प्रमाद को असंयम या कषाय में अन्तर्भाव करके चार हेतु कहे हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।^{२५} इन चार हेतुओं पर सूक्ष्मता और मूल दृष्टि से देखा जाय तो मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये कषाय के अंग हैं। ये कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते जिससे कर्मशास्त्र में कषाय और योग इन दोनों को कर्मबन्ध का हेतु मानकर भी कर्मत्व का विवचन किया है। इस सम्बन्ध में कर्मशास्त्रियों का मन्तव्य यह है कि जीव क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ संश्लिष्ट होने वाले कर्म परमाणुओं को कर्म कहते हैं। संसारी जीवों के क्रिया के आधार हैं - मन, वचन और काया।

इनकी क्रिया व्यापार से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन कंपन होता है जिसे योग कहते हैं। इस योग व्यापार से कर्म परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्मा के राग, द्वेष, मोह आदि भावों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बन्ध जाते हैं। इस प्रकार कर्म परमाणुओं को आत्मा के समीप लाने का कार्य योग करता है और आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध कराने का कार्य कषाय करते हैं। इसीलिए योग और कषाय इन दोनों को कर्म ग्रन्थों में बन्ध हेतुओं के रूप में स्वीकार किया गया है।

उक्त दृष्टिकोण के सिवाय कषाय और योग को कर्मबन्ध का हेतु मानने का दूसरा कारण यह भी है कि कर्म का बन्ध होते समय बध्यमान कर्म परमाणु में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार अंशों का निर्माण होता है उनके कारण कषाय और योग है। प्रकृति और प्रदेश अंशों का निर्माण योग से तथा स्थिति व अनुभाग

अंशो का निर्माण कषाय से होता है।

तथा तीसरा दृष्टिकोण कषाय और योग इन दो को मुख्य मानने का कारण यह भी है कि कषायों के नष्ट हो जाने पर योग के रहने तक कर्म का आश्रव होगा तो अवश्य, किन्तु कषाय के अभाव में वे वहाँ ठहर नहीं सकेंगे। अतः वे अपना फल नहीं दिखा सकते। उदाहरण के रूप में योग को वायु, कषाय को गोंद, आत्मा को दीवार और कर्म परमाणुओं को धूलि की उपमा दी जा सकती है।

यदि दीवार पर गोंद आदि की स्निग्धता लगी हो तो वायु के साथ उड़कर आनेवाली धूलि दीवार से चिपक जाती है और यदि दीवार साफ सुथरी सपाट हो तो वायु के साथ उड़कर आनेवाली धूलि दीवार से न चिपक कर तुरन्त झड़ जाती है। ये मिथ्यात्व आदि योग पर्यन्त कर्म मात्र के समान बन्ध हेतु होने से सामान्य कारण कहलाते हैं। अर्थात् इनसे आत्म शक्तियों को आवृत्त करनेवाले ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों का बन्ध अहर्निश आत्मा के साथ होता है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन चारित्र आदि स्वाभाविक भाव है तथा राग द्वेष और मोह ये वैभाविक भाव है। आत्मा जब वैभाविक भावों में जाती है तब कर्मबन्ध के बन्धनों से बंधती है, इस बात से सभी दार्शनिक सहमत हैं। औपनिषद् ऋषियों ने स्पष्ट कहा कि अनात्मा-देहादि में आत्मत्व का अभिमान करना मिथ्याज्ञान है, मोह है, और वही बन्ध है।

न्यायदर्शन ने भी मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का कारण माना है और मिथ्याज्ञान का दूसरा नाम मोह है तथा यही कर्मबन्ध का कारण है।³⁰ वैशेषिक दर्शन और न्यायदर्शन समान तंत्रीय है। अतः न्याय दर्शन का समर्थन करते हुए उसने भी मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का हेतु माना है।³¹ सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के अभेद ज्ञान मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का कारण माना है।³² योग में कर्मबन्ध का कारण क्लेश को बताया है और क्लेश का हेतु अविद्या माना है।³³ इसी प्रकार वेदान्त दर्शन, भगवद्गीता में भी कर्मबन्ध का हेतु अविद्या कहा है।³⁴

जैन दर्शन ने भी अन्य दर्शनकारों की तरह सामान्यतः मिथ्याज्ञान, मोह, अविद्या आदि को कर्मबन्ध का हेतु माना है।

जैसे कि - रागो य दोसोश्चिय कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।³⁵

अर्थात् राग द्वेष और मोह बन्ध के कारण हैं। इस कथन में दर्शनान्तरों की मान्यता का समावेश हो जाता है।

आचार्य हरिभद्र सूरिने भी 'योगशतक' में राग-द्वेष तथा मोह को आत्मा के दूषण बताये हैं तथा उनको आत्मा के वैभाविक परिणाम कहे हैं।³⁶ तथा "श्रावक-प्रज्ञप्ति" में भी कर्मबन्ध के हेतु कहे हैं।³⁷

उपरोक्त बन्ध चार प्रकार का है - प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक-प्रज्ञप्ति में बताया है।

सो बंधो पयइठिईअनुभाग पएसभेओ ओ।³⁸

जिस प्रकार सन्तप्त लोहे के गोले को पानी में डालने पर वह सब ओर से पानी को ग्रहण किया करता है। उसी प्रकार क्रोधादि कषायों से सन्तप्त हुआ जीव जो सब ओर से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण किया करता है वह बन्ध कहा जाता है। वह चार प्रकार का है - (१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध (४) प्रदेशबन्ध - इन चारों का अर्थ 'नवतत्त्व' में संक्षेप से इस प्रकार बताया है।

पयई सहावो वुत्तो ठिई कालावहारणं ।

अणुभागो रसो णेओ, पएसो दल संचओ ॥^{३६}

प्रकृति का अर्थ स्वभाव, स्थिति अर्थात् समय की निश्चितता, अनुभाग यानि रस, प्रदेश यानि परमाणुओं का प्रमाण।

आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा रचित 'श्रावक प्रज्ञप्ति' में इसी स्वरूप को इस प्रकार बताया है।

(१) प्रकृति बन्ध : इनमें ज्ञानावरणादि रूप स्वभाव को लिए हुए जो कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होता है। उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

(२) स्थिति बन्ध : ज्ञानावरणादि रूप उन पुद्गलों के मूल व उत्तर प्रकृतियों के रूप में आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने के उत्कृष्ट और जघन्य काल को स्थितिबन्ध कहा जाता है।

(३) अनुभाग बन्ध : उन्हीं कर्म पुद्गलों में हीनाधिक फलदान शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसे आगामी काल में यथा समय भोगा जाता है। उसका नाम अनुभाग बन्ध है।

(४) प्रदेश बन्ध : इन्हीं कर्म परमाणुओं का आत्मा प्रदेशों के साथ जो एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है तथा समयानुसार विशिष्ट विपाक से रहित वेदन किया जाता है यह प्रदेश बन्ध कहलाता है।^{३७}

प्रकृति बन्ध आदि उक्त चारों प्रकारों का स्वरूप शास्त्रों में दिये गये लड्डुओं के दृष्टांत द्वारा स्पष्ट होता है।

जैसे आटा, घी, चीनी के समान होने पर भी वातनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव वात को शमन करनेवाले होते हैं और पित्तनाशक वस्तुओं से बने लड्डुओं में पित्त को शमन करने की शक्ति एवं कफ नाशक औषधियों से संयुक्त में कफ का नाश करने की शक्ति होती है, वैसे ही आत्मा द्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलों में से कुछ कर्म पुद्गलों में ज्ञान को आच्छादित करने की, कुछ में दर्शन गुण को आवृत्त करने की शक्ति आदि की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार गृहीत कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों स्वभावों के बन्ध और स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृति बन्ध कहते हैं।

जैसे उक्त औषधि मिश्रित लड्डुओं में से कुछ की एक सप्ताह, कुछ एक पक्ष, कुछ एक माह तक अपने स्वभाव में बने रहने की काल मर्यादा होती है। इस मर्यादा को स्थिति कहते हैं। इसी प्रकार कोई कर्म आत्मा के साथ २० कोडाकोडि सागरोपम रहता है तो कोई ३०, ७० कोडाकोडि सागरोपम रहता है। यही उनका स्थिति बन्ध है और उस स्थिति के बाद बद्ध कर्म अपने स्वभाव का भी त्याग कर देते हैं।

जैसे उक्त औषधि मिश्रित लड्डुओं में से कुछ लड्डुओं में मधुरता अधिक होती है, तो कुछ में कम, कुछ

में कटुक रस अधिक होता है तो कुछ में कम। कुछ में कटुक रस अधिक होता है तो कुछ कम या मध्यम होता है। वैसे ही कुछ कर्म दलिकों में शुभ रस अधिक, कुछ में मध्यम और कुछ में अल्प होता है। इसी प्रकार कुछ दलिकों में अशुभ रस अधिक, कुछ में मध्यम और कुछ में कम होता है। इस कर्म दलिकों को शुभाशुभ रसों में जो तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम मन्द, मन्दतर, मन्दतम फल देने की शक्ति होती है। उस शक्ति का कर्म पुद्गलों में बन्ध होना वह अनुभाग बन्ध है। उन औषधि मिश्रित लड्डुओं में से कुछ का परिमाण दो तोले का, कुछ का पाँच तोले का और कुछ का दस पन्द्रह तोले का होता है। इसी प्रकार प्रदेश बन्ध में किन्हीं कर्म स्कन्धों में परमाणु की संख्या अधिक और किन्हीं में कम होती है। इस तरह भिन्न-भिन्न परमाणु संख्यायुक्त कर्म दलिकों का आत्मा के साथ बंधना प्रदेश बन्ध है।³⁶ कर्मबंध की पद्धति मकान बांधते समय सीमेंट रेती में पानी डालकर जो मिश्रण किया जाता है, उसमें भी मिश्रण की प्रक्रिया पदार्थों पर आधार है। पानी यदि बिलकुल कम होगा तो मिश्रण बराबर नहीं होगा। उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म बंध में भी कषायादि की मात्रा आधारभूत प्रमाण है। सीमेंट रेती में मिश्रण पानी के आधार पर होता है वैसे ही आत्मा के साथ जड़ कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का मिश्रण कषाय के आधार पर होता है। जिस प्रकार पानी कम ज्यादा हो तो मिश्रण में फरक पडता है। उसी तरह कषायों में तीव्रता या मंदता आदि के कारण कर्म के बंध में भी शैथिल्य या दृढ़ता आती है। अतः कर्म बन्ध की पद्धति के चार प्रकार है -

(१) स्पृष्ट (२) बद्ध (३) निधत्त (४) निकाचित।

(१) स्पृष्ट - सूचि समूह के परस्पर बन्ध के समान गुरु कर्मों का जीव प्रदेश के साथ बन्धन होता है। वह स्पृष्ट बंध है। अल्प कषाय आदि के कारण से बंधे कर्म जो आत्म के साथ स्पर्शमात्र सम्बन्ध से चिपक कर रहे हैं उन्हें सामान्य पश्चात्ताप मात्र से ही दूर किये जा सकते हैं। धागे में हल्की सी गांठ जो शिथिल ही लगाई गई है वह आसानी से खुल जाती है, वैसे कर्मबंध स्पर्श मात्र कहलाता है। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान में विचारधारा बिगाड़ने से जो कर्मबंध हुआ वह शिथिल स्पर्श मात्र ही था। अतः २ घड़ी में तो कर्मक्षय भी हो गया।

(२) बद्ध - पैक बण्डल में बन्धी हुई सूईयों के समान गुरु कर्मों का जीव प्रदेशों के साथ बन्धन होता है। उसे बद्धबन्ध कहते हैं। यह विशेष प्रयत्न अर्थात् प्रायश्चित्त आदि द्वारा क्षय होता है, जैसे धागे में गांठ खींचकर लगाई हो तो खोलने में कठिनाई होती है, वैसे ही यह गाढ़ बन्ध होता है। जैसे अईमुत्ता मुनि को प्रायश्चित्त करते हुए कर्मों का क्षय हो गया। स्वेच्छा से कर्म करता है।

(३) निधत्त बन्ध - सूईयों कई वर्षों से चिपकी हुई पडी है, जिसमें पानी या जंग लग जाने से एक दूसरे से ज्यादा चिपक जाने से आसानी से अलग नहीं पडती। रेशमी धागे में लगाई गई पक्की गांठ खोलना बहुत मुश्किल है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्म का बंध तीव्र कषाय से ज्यादा मजबूत होता है, जो आसानी से नहीं छूटता। यह निधत्तबन्ध तपश्चर्या आदि से बड़ी कठिनाई से क्षय होता है। जैसे अर्जुनमाली। इच्छा से आनंद पूर्वक कर्म करता है।

(४) निकाचित बन्ध-सुईयाँ अग्नि की गरमी के कारण पिघल कर लोहे की प्लेट के जैसे एक रस हो गई। अब सुई स्वतंत्र आकार में नहीं दिखती है। अब उसे किसी भी प्रयत्न से अलग नहीं कर सकते। रेशमी धागे में गाँठ कसकर लगा दी, ऊपर मोम लगा दिया जाय, अब वह खुलना संभव नहीं है। उसी प्रकार निकाचित कर्म बंध तपादि अनुष्ठान से सक्षम नहीं होते हैं। जैसे महावीर स्वामी ने १८ वें त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालकों के कानों में गरम-गरम शीशा डलवाकर जो भयंकर निकाचित कर्म बांधा था। वह अंतिम सत्ताईसवें भव में महावीर स्वामी के कानों में खीले ठोंके गए।^{३९} यह स्वतंत्र शंका रहित रस पूर्वक करता है।

कर्म के भेद-प्रभेद - सामान्यतः कर्म का कार्य है मोक्ष प्राप्ति न होने देना। इस दृष्टि से विचारे तो कर्म का कोई भेद नहीं होता है और भेद प्रभेद करने की आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन जैसे हम क्षुधा शान्त करने के लिए भोजन करते हैं तब ही वह भोजन रुधिर मांस आदि धातु-उपधातुओं के रूप में परिवर्तित होते हैं। उसी प्रकार कर्म परमाणु भी कृत कर्म के अनुरूप जीव के गुणों को आवृत्त करने के साथ साथ सुख-दुःख कर वेदन कराते रहते हैं। इसी आपेक्षिक दृष्टिकोण के अनुसार कर्मों के भेद किये गये हैं।

साधारणतया सभी दर्शनिकों ने कर्म के भेदों का उल्लेख अच्छा कर्म और बुरा कर्म इन दो प्रकारों में किया है। लोक व्यवहार में भी कर्म के भेदों के लिए यही धारणा प्रचलित है। इन्हीं को विभिन्न शास्त्रकारों ने शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुक्ल-कृष्ण आदि नामों से सम्बोधित किया है। जैसे 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में कर्म के दो भेद इस प्रकार मिलते हैं -

‘तत्र पुण्यं शुभाः कर्म कर्मपुद्गलाः । त एव त्वशुभाः पापम् ।^{४०} शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।^{४१}

अच्छा फल देनेवाला कर्मपुद्गल पुण्य है, तथा बुरा फल देनेवाला कर्मपुद्गल पापरूप है। इससे यह कहा जा सकता है कि कर्म के शुभ-अशुभ आदि के रूप में जो दो भेद दिये हैं, वे प्राचीनतम हैं और प्रारम्भिक कर्म विचारणा के समय दर्शनिकों ने यही दो भेद स्वीकार किये होंगे। इनके अतिरिक्त भी दर्शनिकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कर्म के भेद किये हैं। जैसे कि गीता में सात्त्विक, राजस् और तामस् ये तीन भेद मिलते हैं।^{४२} इसका पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ आदि पूर्वोक्त सर्वमान्य भेदों में समावेश हो जाता है।

फल की दृष्टि से कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद दर्शनान्तरों में दिखाई देते हैं। जिसका फल आरब्ध हुआ वह प्रारब्ध, जो वर्तमान जन्म में कृत हो रहा है वह क्रियमाण है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरब्ध नहीं हुआ है वह संचित है। इन भेदों में जैन दर्शन मान्य उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिए संचित और बन्ध के लिए क्रियमाण शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण क्रमशः उदय, सत्ता और बन्ध के ही अपर नाम हैं। इनका इस प्रकार नाम देने के पीछे भी रहस्य है। वह इस प्रकार कि जिस समय कर्म-क्रिया की जाती है, उस समय वह क्रिया अवश्य दिखती है। लेकिन उस समय के व्यतीत हो जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती, वह अदृश्य रूप ले लेती है। क्रिया आदि से उत्पन्न उन सभी संचित कर्मों का एक साथ भोगना विपाक सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके परिणामों में से कुछ अच्छे और

कुछ बुरे ऐसे परस्पर विरोधी दोनों प्रकार के फल देनेवाले परिणाम होते हैं। जैसे कि कोई संचित कर्म स्वर्गफल देनेवाला होता है तो कोई संचित कर्म नरक जैसे भयंकर दुःख देनेवाले भी होते हैं। इसलिए दोनों प्रकार के कर्मों के फलों को भोगना पहले प्रारम्भ होता है, उतने को प्रारब्ध कहते हैं तथा शेष को संचित। क्रियमाण का अर्थ है जो अभी वर्तमान में हो रहा है।

वेदान्त दर्शन में कर्म के प्रारब्ध कार्य एवं अनारब्ध कार्य ये दो भेद किये हैं।^{५३} यद्यपि इतर दर्शनों में कर्म विपाक का कुछ न कुछ संकेत अवश्य किया गया है, लेकिन योग और बौद्ध दर्शन में अपेक्षाकृत कुछ विशेष वर्णन देखने को मिलता है तथा उसमें विपाक काल की दृष्टि से भी कुछ भेद गिनाये हैं। जैसे कि -

अच्छा कर्म और बुरा कर्म मानने की दृष्टि से बौद्ध और योग दर्शन में कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण शुक्ल और अकृष्ण अशुक्ल ऐसे चार भेद किये हैं -

कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।^{५४}

योगियों के कर्म अशुक्लाकृष्ण है परन्तु दूसरों के कर्म त्रिविध है। भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन किया है कि यह कर्म जाति चार प्रकार की है - (१) कृष्ण (२) शुक्ल (३) शुक्ल कृष्ण (४) अशुक्लाकृष्ण।

इनमें दुरात्माओं का कर्म कृष्ण है। कृष्ण-शुक्ल कर्म बाह्य व्यापार से साध्य होता है, उसमें परपीड़न तथा परानुग्रह से कर्माशय संचित होता है। तपस्वी स्वाध्यायी और ध्यानी व्यक्तियों का कर्म शुक्ल है। यह केवल मन के आधीन होने के कारण बाल साधन शून्य है। अतः यह कर्म पर पीड़नादि पूर्वक नहीं होता है। क्लेशहीन, चरम-देह संन्यासीयों का कर्म अशुक्लाकृष्ण है। योगियों का कर्म फल संन्यास के कारण अशुक्ल और निषिद्ध कर्म त्याग के कारण अकृष्ण होता है। अन्य प्राणियों के कर्म उपयुक्त प्रकार से त्रिविध होते हैं।^{५५}

योग दर्शन में कर्माशय के दो भेद किये गये हैं। जैसे कि -

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः।^{५६}

क्लेशमूलक कर्माशय दो प्रकार का है - दृष्ट जन्म वेदनीय और अदृष्ट जन्म वेदनीय। जिस जन्म में कर्म का संचय किया गया है, यदि उसी जन्म में वह फल देता है, तो उसे दृष्ट जन्म वेदनीय और यदि दूसरे जन्म में अर्थात् जन्मान्तर में फलोदय होता है, तो उसे अदृष्ट जन्म वेदनीय कहते हैं। इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं- नियत विपाक और अनियत विपाक। यह विपाक भी तीन प्रकार का बताया गया है। जाति, आयु और भोग।^{५७} अर्थात् बद्ध कर्मों का विपाक जन्म के रूप में आयु के रूप में और भोग के रूप में हो सकता है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि अमुक कर्म जन्म रूप अमुक कर्म आयु रूप और अमुक कर्म योग के रूप में अपना फल प्रदान करता है। सभी कर्म मिलाकर जाति आदि तीन रूप में फल देते हैं। इतना ही संकेत मात्र किया गया है। जो कर्म दृष्ट जन्म वेदनीय है, वह केवल आयु और भोग इन दो रूपों में अपना फल देता है। क्योंकि जन्मान्तर में न जाने के कारण उसका विपाक जाति (जन्म) रूप से होना सम्भव नहीं है।

कर्म के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए योग-दर्शन में आशय और वासना इन दो शब्दों का प्रयोग देखने

में आता है। लेकिन इन दोनों में अन्तर यह है कि एक जन्म में संचित कर्म को तो कर्माशय और अनेक जन्मों के कर्म संस्कारों की परम्परा को वासना कहते हैं। अतः वासना की परम्परा के अनादि होने से उसका विपाक असंख्य जन्म आयु और भोगों को माना गया है।

न्यायवार्तिककार ने कर्म विपाक को अनियत बताया है। कर्म का फल इसी लोक में या परलोक में या जात्यन्तर प्राप्त हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। कर्म के अन्य सहकारी कारणों का सन्निधान न हो तथा सन्निहित कारणों में भी कोई प्रतिबन्धक न हो तब कर्म अपना फल प्रदान करता है। परन्तु यह नियम कब पूरा हो इसका निर्णय होना कठिन है। कर्म की गति दुर्विज्ञेय है। अतः मनुष्य उस प्रक्रिया का पार नहीं पा सकता।^{५८}

बौद्ध दर्शन में कर्म के भेद कृत्य, पाकदान, पापकाल और पाकस्थान - इन चार दृष्टिपाक से किये गये हैं। कृत्य की दृष्टि से चार भेदों के नाम हैं - जनक, उत्थंभक, उपपीडक और उपघातक। जनक कर्म तो नवीन कर्म को उत्पन्न करके अपना विपाक प्रदान करता है। उत्थंभक कर्म अपना विपाक तो नहीं देता, परन्तु दूसरों के विपाक में अनुकूल बन जाता है। उपपीडक कर्म दूसरे कर्मों के विपाक में बाधक बन जाता है और उपघातक कर्म अन्य कर्मों के विपाक का घात करके अपना ही विपाक प्रदर्शित करता है।

पाकदान की अपेक्षा से बौद्ध दर्शन में किये गये कर्म के चार भेद इस प्रकार हैं - गुरूक बहुल अथवा अचिरण, आसन और अभ्यस्त। इन में से गुरूक और बहुल ये दोनों कर्म दूसरे के विपाक को रोककर पहले अपना फल प्रदान करते हैं। आसन अर्थात् मरणकाल में किया गया कर्म। यह कर्म भी पूर्वकृत कर्मों की अपेक्षा अपना फल पहले ही दे देता है। पूर्व में किये गये कर्म चाहे जैसे हो, परन्तु मरण समय में किये गये कर्म के आधार से नया जन्म शीघ्र प्राप्त होता है और उक्त तीन के अभाव में ही अभ्यस्त कर्म अपना फल देते हैं।^{५९}

पाककाल की दृष्टि से किये गये कर्म के चार भेदों के नाम इस प्रकार हैं - दृष्ट धर्म वेदनीय, उपपज्ज वेदनीय, अहोर्कर्म और अपरापर वेदनीय।^{६०} इन भेदों में से दृष्ट धर्म वेदनीय का विपाक वर्तमान जन्म में होता है तथा उपपज्ज वेदनीय कर्म के फल की प्राप्ति नवीन जन्म धारण करने पर होती है। जिस कर्म का विपाक ही नहीं, उसे अहोर्कर्म कहते हैं और अनेक भवों में जिसका विपाक हो वह अपरापर वेदनीय कर्म कहलाता है। इनकी तुलना योग दर्शन में बताये गये दृष्ट जन्म वेदनीय आदि भेदों के साथ की जा सकती है।

पाक स्थान की दृष्टि से अकुशल, कामावचर कुशल, रूपावचर कुशल और अरूपावचर कुशल ये चार भेद कर्म के होते हैं। अकुशल कर्म का विपाक नरक में, कामावचर कुशल कर्म का सुगति में, रूपावचर कुशल कर्म का रूपी ब्रह्मलोक में और अरूपावचर कुशल कर्म का अरूपलोक में विपाक होता है।

इस प्रकार इतर दर्शनों में भी विपाक और विपाककाल की दृष्टि से कर्म के कुछ भेद बताये गये हैं। लेकिन जैन ग्रन्थों में कर्म के भेद प्रभेदों का व्यवस्थित वर्गीकरण एक ही दृष्टि से नहीं अपितु विविध अपेक्षाओं, स्थितियों आदि को लक्ष्य में रखकर किया गया है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जैन दर्शन में भी विपाकों को दृष्टि में रखकर कर्मों के भेद गिनाये हैं। लेकिन विपाक के होने, न होने, अमुक समय में होने आदि की दृष्टि से जो भेद

हो सकते हैं, उन्हें विविध दशाओं के रूप में चित्रित किया गया है कि कर्मों के अमुक-अमुक भेद है और अमुक अवस्थाएँ होती हैं। किन्तु अन्य दर्शनों में इस प्रकार का श्रेणी विभाजन नहीं पाया जाता है।

जैन वाङ्मय में कर्म के भेदों प्रभेदों का अत्यंत विस्तार से विवेचन किया गया है। जैनागम में सर्वमान्य द्वादशाङ्गी जिसमें चौदह पूर्व समाविष्ट है। जिसका आठवाँ कर्मवाद पूर्व है। जिसमें कर्म का गहनता-गंभीरता से विश्लेषण किया गया है तथा वह सर्वज्ञ कथित होने से निःशंकित है और उसी कारण आज दिन तक कर्म-विवेचन का स्वरूप वैसा ही चला आ रहा है, क्योंकि सर्वज्ञ राग-द्वेष से विरक्त होने से उनका कथन निष्पक्ष होता है। जबकि अन्य दर्शनों में वैसा अभाव होने के कारण अनेक विचार धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। लेकिन जैन दर्शन में अस्खलित रूप से वही धारा प्रवाहित होती रहेगी। जैसे कि आगम में कर्म के प्रधानतया आठ भेद बताये हैं तथा १५८ उत्तर प्रकृतियों का विवेचन किया है।

वैसे तो आत्मा में अनन्त गुण है। जिसमें से कुछ सामान्य और कुछ असामान्य। जो गुण जीव में तथा उसके अतिरिक्त में भी पाये जाते हैं - वे प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि साधारण गुण कहे जाते हैं तथा जो जीव में ही पाये जाते हैं, जैसे - सुख, ज्ञान, दर्शन, चैतन्य आदि ये असामान्य गुण हैं।

यद्यपि आत्मा में अनन्त गुणों के होने से उनको आवृत्त करनेवाले कर्मों के भी अनन्त भेद होंगे, परंतु सरलता से समझने के लिए उन अनंत गुणों में से आठ गुण मुख्य हैं। उनमें शेष सभी गुणों का समावेश हो जाता है। ये आठ गुण इस प्रकार द्रव्यसंग्रह की टीका में मिलते हैं। 'सम्मत्तणण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं अगुरूलहु अब्वावाहं अड्डगुणा हुंति सिद्धाणं'।^{५१}

(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) सम्यक्त्व (४) वीर्य (५) अव्याबाध सुख (६) अटल अवगाहन (७) अमूर्तत्व और (८) अगुरूलघुत्व।

उक्त आठ गुणों को आवृत्त करने के कारण कर्म परमाणु भी आठ गुणों में विभक्त हो जाते हैं और अलग-अलग नामों से सम्बोधित किये जाते हैं। अर्थात् आत्मा के अनन्त गुणों में से ज्ञान दर्शन आदि आठ गुणों को मुख्य मानने से उनको आवृत्त करनेवाले कर्मों के भी आठ भेद हैं। श्रावक प्रज्ञप्ति^{५२} में भी कर्म के ८ प्रकार बताये हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए इसी प्रकार का विवेचन 'धर्मसंग्रहणी' में किया है -

नाणादिपरिणति विधायणादिसमत्थसंजुयं कम्मं।

तं पुण अड्डपगारं पन्नतं वीय रागेहिं ॥^{५३}

कर्म जीव के ज्ञान, दर्शन आदि परिणति का नाश करनेवाला और जीव को शांता अशांता का अनुभव कराने का सामर्थ्य वाला है। यह कर्म प्रतिनियतस्वभाव के भेद के कारण आठ प्रकार का है। ऐसा वीतराग परमात्मा ने कहा है।

उनके नाम उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार मिलते हैं।

नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तथा ।

वेयणिज्जं तथा मोहं अडकम्मं तहेव य ॥

नामकम्मं च गोयं च अन्तराय तहेवय ।

एवमथाइं कम्माइं अट्टेव उ समासओ ॥^{५४}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणी में इन्हीं नामों का उल्लेख किया है।

पढमं नाणावरणं बित्तिं पुण होइ दंसणावरणं ।

तत्तिं च वेयणिज्जं तथा चउत्थंच मोहणियं ॥

आउय नामं गोत्तं चरिमं पुण अंतराइयं होइ ।

मूलप्पगडीउ एया उत्तरपगडी अतो वुच्छ ॥^{५५}

(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८)

अंतराय - ये आठ मूल कर्म हैं। इन आठ कर्मों का वर्णन श्रीभगवती,^{५६} स्थानांग,^{५७} प्रज्ञापना,^{५८} पंचसंग्रह,^{५९} प्रथम कर्मग्रंथ,^{६०} तत्त्वार्थ,^{६१} नवतत्त्व,^{६२} श्रावक-प्रज्ञप्ति,^{६३} प्रशामरति^{६४} आदि ग्रंथों में भी है।

इन में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय - ये चार कर्म जीव के ज्ञान दर्शन आदि अनुजीवी स्वाभाविक गुणों को आवृत्त करनेवाले होने से आत्म स्वभाव को साक्षात् प्रभावित करते हैं। उस पर सीधा असर डालते हैं। इससे आत्म गुणों का विकास सीधा अवरुद्ध हो जाता है। जबकि वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म यद्यपि साक्षात् आत्म स्वरूप को अवरुद्ध नहीं करते। ये प्रतिजीवी गुणों को प्रभावित करते हैं किन्तु आत्मा को पौद्गलिक सम्बन्ध रखने में निमित्त बनते हैं। अमूर्त होने पर भी आत्मा मूर्त दिखती है एवं शरीर कृत सुख-दुःख का वेदन करती है। लेकिन इन चार कर्मों की क्षमता मर्यादित है। जब आत्मा के अनुजीवी गुणों को आवृत्त करनेवाले कर्मों का सम्पूर्ण रूप से नाश हो जाता है तब सशरीर होते हुए भी यह जीव केंवलज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, जीवमुक्त होकर समस्त चराचर पदार्थों का ज्ञाता-दृष्टा बन जाता है और इस अवस्था में शरीर आदि रहने पर भी आत्म-निर्मलता आदि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है तथा उन प्रतिजीवी गुण घातक कर्मों से जन्य शरीर आदि का क्षय होने पर जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर इस जन्म मरण रूप संसार का सदा के लिए अन्त कर देता है। उसे अपुनर्भव मोक्ष दशा प्राप्त हो जाती है।

अनुजीवी गुणों को आवृत्त करनेवाले कर्मों को घाती एवं प्रतिजीवी गुणों को आच्छादित करनेवाले कर्मों को अघाती इस प्रकार आठ कर्मों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

ज्ञानावरण आदि चारों कर्मों की घाती संज्ञा सार्थक है। इनका सीधा प्रभाव जीव के स्वाभाविक मूल गुणों-ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और वीर्य पर पड़ता है। ये इन गुणों का घात करते हैं, जैसे कि ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान गुण को, दर्शनावरण दर्शन गुण को, मोहनीय सम्यक्त्व गुण को और अन्तराय अनन्त वीर्य को आवृत्त करते

है। बादलों का समूह जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करके उसे निस्तेज कर देते हैं, उसी प्रकार घाती कर्म भी आत्म गुणों को घात करके उसे निस्तेज बना देते हैं। लेकिन इतना तो अवश्य समझने योग्य है कि घाती कर्म आत्मा के गुणों को कितना ही आच्छादित कर दे, फिर भी उसका अनन्तवां भाग तो अवश्य अनावृत्त रहता है, क्योंकि घाति कर्मों का भी सम्पूर्ण आवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं है। यदि अनन्तवां भाव भी आवृत्त हो जाय तो जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। तथा जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जीव ही अजीव माना जायेगा। जैसा कि नंदीसूत्र में कहा है -

सर्व जीवाणं णियमं अक्खरस्स अनंत भागो णिच्चुघादिओ हवइ।

जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवतं पावेज्जा ॥^{६५}

सभी जीवों का निश्चित अक्षर का अनन्तवां भाग अनावृत्त होता है। यदि वह भी आच्छादित हो जाय तो जीव अजीवता को प्राप्त कर लेगा। आत्म गुणों का साक्षात् घात करने से घाती कर्मों को कर्म कहते हैं और अघाती कर्मों का आत्मा के साथ परोक्ष सम्बन्ध होने से तथा कर्मों के कार्य में सहायक होने से उन्हें नोकर्म भी कहते हैं।

आठ कर्मों को लक्षण एवं स्वभाव से स्पष्ट किया जाता है।

(१) ज्ञानावरण कर्म - आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करनेवाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है। ज्ञान अर्थात् विशेष रूप से वस्तु का बोध होना, जिसमें मतिज्ञान आदि आते हैं।

सामान्य विशेषात्मके वस्तुनि विशेष ग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः।^{६६}

आद्यं ज्ञानावरणं ज्ञायते अर्थो विशेषरूप तथाऽनेनेति ज्ञानं मतिज्ञानादि^{६७} ज्ञानमात्रियते येन कर्मणा करणेऽनीयरि ज्ञाना वरणीयं विशेषावधारणामित्यर्थः।^{६८}

‘ज्ञानस्य आवरणं ज्ञानावरणं ज्ञानं मतिज्ञानादि।’^{६९}

(१) जो आवृत्त करता है वह आवरण। इसमें जो कर्म ज्ञान का आवरण करता है वह ज्ञानावरण। ज्ञानावरण कर्म का आवरण जितना प्रगाढ़ होगा उतना ही जीव की ज्ञान चेतना का विकास अल्प होगा और आवरण जितना अल्प होगा उतना विकास अधिक होगा। इसका स्वभाव (कपड़े की पट्टी) जैसा है। यदि आँख पर मोटे, पतले कपड़े की जैसी पट्टी बन्धी होगी तदनुसार पदार्थ को विशेष रूप से नहीं देख सकता है।

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तहाऽऽवरणं।^{७०}

कर्मरूप पट के समान ज्ञानरूप चक्षु से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। इस कर्म से जीव का अनन्त ज्ञान गुण आवृत्त बना हुआ रहता है।

(२) दर्शनावरण कर्म - यह कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आवृत्त करता है। वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करनेवाले बोध को दर्शन कहते हैं।

‘सामान्य विशेषात्मके वस्तुनि सामान्य ग्रहणात्मको बोधः।’^{७१}

दर्शनावरण कर्म द्वारा जीव की पदार्थ के सामान्य रूप का अवलोकन करनेवाली शक्ति आवृत्त होती है चक्षुदर्शनादि।

‘सामान्यावबोध वारकत्वात्। दर्शनं चक्षुदर्शनादि।’^{७३}

दर्शन का आवरण दर्शनावरण या दर्शनावरणीय कहलाता है। इसका स्वभाव द्वारपाल के समान है। ‘वित्ति समं दर्शनावरणं।’^{७३} जिस प्रकार द्वारपाल द्वार पर ही रोककर व्यक्ति को राजा के दर्शन नहीं करने देता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट नहीं होने देता। अथवा द्वारपाल के द्वारा रोके गये मनुष्य को राजा नहीं देख सकता। उसी प्रकार जीवरूपी राजा दर्शनावरण कर्म के उदय से पदार्थ और विषय को नहीं देख सकता है। इस कर्म से जीव का अनन्त दर्शन आवृत्त बना हुआ रहता है।

(३) वेदनीय कर्म - यह कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छादित करता है। इस वेदनीय कर्म द्वारा संसारी जीव को शाता (सुख) अशाता (दुःख) दोनों का वेदन होता है। उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

‘तृतीयं च वेदनीयं साता सातरूपेण वेद्यत इति वेदनीयम्।’^{७४}

इस कर्म के उदय से संसारी जीवों को ऐसी वस्तुओं से सम्बन्ध हो जाता है जिसके निमित्त से वो सुख-दुःख दोनों का अनुभव करते हैं। संसारी जीवों को एकान्त रूप से सुख नहीं मिलता है किन्तु दुःख का अंश भी मिश्रित रहता है। इसीलिए इस कर्म की तुलना मधुलिप्त तलवार को चाटने से की गई है। जैसे शहद से लिपटी तलवार को चाटने से पहले सुख का अनुभव होता है लेकिन जिह्वा कट जाने से दुःख का भी अनुभव होता है। उसी प्रकार वेदनीय कर्म के उदय से संसारी जीव को शाता और अशाता दोनों प्राप्त होता है। अर्थात् वेदनीय कर्म जन्य वैषयिक सुख वास्तव में दुःख का रूप है। यह कर्म जीव के अव्याबाध अनन्त सुख को रोकता है।^{७४}

(४) मोहनीय कर्म - यह कर्म आत्मा को मोहित कर लेता है - विकृत बना देता है। जिससे हित अहित का भान नहीं रहता और सदाचरण में प्रवृत्ति नहीं करने देता है। स्व-पर विवेक जीव का सम्यक्त्व गुण तथा अनन्तचारित्र गुण को प्राप्ति में जीव को बाधा पहुँचाने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव मदिरा के समान है।

‘मज्जं व मोहनीय।’^{७५}

मदिरा पीने पर जैसे व्यक्ति अपने कर्तव्याकर्तव्य, हिताहित व अच्छे बुरे का भान भूल जाता है। वैसे ही मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव सत्-असत् - अच्छे-बुरे के विवेक से शून्य होकर परवश हो जाता है। वह सांसारिक विकारों में फंस जाता है। अपने वास्तविक स्वभाव को भूलकर स्त्री-पुत्र-धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थों को अपना समझ लेता है। उनकी प्राप्ति होने पर वह सुखी होता है। तथा चले जाने पर दुःखी होता है।

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म का वर्चस्व सबसे ज्यादा है तथा सब कर्म में यह भयंकर और बलवान है। सभी कर्मों की जड़ मोह है। अतः मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर शेष सभी कर्म निःशेष हो जाते हैं। जैसे राजा मरने पर सेना भाग जाती है।

मोहनीय के दो भेद है - (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय आत्मा के सम्यक्त्व शुद्ध श्रद्धा को विकृत बना देता है। जैसे शराबी बेहोश होकर विवेकहीन बन जाता है, वैसे ही दर्शन मोहनीय के उदय से जीव पर पदार्थों को अपना समझने लगता है। चारित्र गुण को आवृत्त करता है। जिससे वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि साधु व श्रावक सम्बन्धी व्रतों का पालन नहीं कर पाता।

आयुष्य कर्म - जिस कर्म के अस्तित्व से लोक व्यवहार में जीवित और क्षय होने पर 'मर गया' कहलाता है।

यद् भावाभावयोः जीवितमरणं तदायुः।^{१७}

अर्थात् इस कर्म के सद्भाव से प्राणी जीता है और क्षय हो जाने पर मर जाता है। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति में से किसी एक पर्याय विशेष में समय विशेष तक रोक दिया जाता है, उसे आयु कर्म कहते हैं।

इसका स्वभाव बेडी के समान है - 'आउ हडिसरिसं'।^{१८}

जैसे अपराधी को दण्ड देने पर अमुक समय तक कारागार में डाल दिया जाता है। अपराधी तो चाहता है कि मैं जेल से मुक्त हो जाऊं, लेकिन इच्छा रखते हुए वह अवधि पूरी हुए बिना जेल से छूट नहीं सकता है। वैसे ही आयुष्यकर्म जब तक रहता है तब तक दुःखी से भी दुःखी जीव चाहते हुए भी प्राप्त शरीर से वहाँ तक छूट नहीं सकता है तथा सुखी जीव इच्छा रखते हुए भी आयु के पूर्ण होने पर एक क्षण के लिए भी जिन्दा नहीं रख सकता है।

स्वयं महावीर परमात्मा को निर्वाण के समय इन्द्र महाराज ने आकर विनती की थी कि हे परम तारक परमात्मा ! आप तो मोक्ष में जा रहे हैं, पर आपके सन्तानिकों को दो हजार वर्ष तक पीड़ा होगी। अब दो घड़ी यह भस्मग्रह शेष रहा है। इसलिए दो घड़ी तक आपकी आयु बढ़ा ले तो भस्मग्रह उतर जाने के कारण, पश्चात् के आपके संतानिकों अर्थात् साधु-साध्वी को शांता उत्पन्न होगी।

यह सुनकर भगवान ने कहा कि हे इन्द्र ! यह बात तीन काल में नहीं हो सकती। तुम दो घड़ी आयु बढ़ाने के लिए कह रहे हो पर मुझ से एक समय मात्र भी आयु बढ़ाई नहीं जा सकती। टूटी आयु किसी से भी बढ़ाई नहीं जा सकती है।^{१९}

आयुष्य कर्म चार प्रकार का है - नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु एवं देवायु। इस कर्म से जीव को अक्षय स्थिति प्राप्त नहीं होती है।

(६) नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव आदि कहलाते हैं। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है।^{२०} अथवा जिस कर्म के उदय से जीव गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करता है। अथवा उसके शरीर आदि बनते हैं, उसे नाम कर्म कहते हैं।^{२१}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'श्रावक प्रज्ञप्ति' की टीका में नामकर्म की व्याख्या इस प्रकार की है -
तथा गत्यादि शुभा शुभनमनाम्नामयतीति नाम ।^{६२}

'नामयतीति नाम' इस निरुक्ति के अनुसार जो कर्म शुभ या अशुभ गति आदि पर्यायों के अनुभव के प्रति नमाता है उसे नामकर्म कहा जाता है।

इस कर्म को चित्रकार की उपमा दी है। जैसे कि-

'नाम कम्मचित्तिसमं' ।^{६३}

नाम कर्म चित्रकार के समान होता है। जैसे चित्रकार अनेक चित्र बनाता है, वैसे ही नाम कर्म भी जीव के अमूर्त होने पर भी उसके मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक रूपों का निर्माण करता है। जैसा स्थानांग टीका में कहा है -

जह चित्तयरो मिडगो अणेग रुवाइं कुणइ सुवाइं ।

सोहणमसोहणाइं चोक्खम चोक्खेहिं वण्णेहिं ।

तह नाम पि हु कम्मं, अणेग सूराइं कुणइ जीवस्स ।

सोहणमसोहणाइं इट्ठाणि ठाइं लोयस्स ॥^{६४}

यह कर्म जीव को अरूपी स्वरूप प्राप्त नहीं होने देता है।

गोत्रकर्म - जो कर्म जीव को उच्च या नीच कुल में जन्म लेने का निमित्त बनता है अथवा जिस कर्म के उदय से पूज्यता या अपूज्यता का भाव पैदा होता है, जीव उच्च या नीच (कुलीन या अकुलीन) कहलाता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं ।^{६५}

आचार्य हरिभद्रसूरि 'श्रावक प्रज्ञप्ति' की टीका में कुछ विशेष रूप से इसकी व्याख्या की है- 'गां वाचं त्रायते इति गोत्रम्' इस निरुक्ति के अनुसार यद्यपि गोत्र का अर्थ वचन का रक्षण करनेवाला होता है, तो भी रुढ़ि में क्रिया का प्रयोजन कर्मव्युत्पत्ति है, अर्थ क्रिया नहीं है, ऐसा मानकर 'गोत्र' संज्ञा को भी कर्म विशेष में रुढ़ समझना चाहिए। अथवा गूयते शब्दते उच्चावचैः शब्दैः आत्मा यस्मात् तत् गोत्रम्' । इस निरुक्ति के अनुसार जिसके आश्रय से जीव ऊंच-नीच शब्दों से कहा जाता है उसका नाम गोत्र है ।^{६६} इस प्रकार उसका गोत्र यह नाम सार्थक भी कहा जा सकता है अथवा जो पर्यायविशेष ऊंच या नीच कुल में उत्पत्ति को प्रकट करनेवाली है उसका नाम गोत्र है और उस रूप में जिस कर्म का वेदन किया जाता है उसका नाम गोत्रकर्म है। इसका स्वभाव कुंभकार के समान है। 'गोदे कुलाल सरिसं' ।^{६७}

स्थानांग में -

जह कुम्भारो भंडारं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स ।

इस गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेय मत्थं ॥^{६८}

जैसे कुम्भकार मिट्टी के छोटे बड़े घड़ा आदि विविध प्रकार के बर्तन बनाता है। उनमें से कुछ घड़े ऐसे

होते हैं, जिन्हें लोग कलश बनाकर अक्षत चन्दन आदि से चर्चित करते हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जो मदिरा रखने के कारण नीच माने जाते हैं। इसी प्रकार जिस कर्म के कारण जीव का व्यक्तित्व प्रशंसनीय, पूजनीय बनता है उसे उच्च कहते हैं और जिसका व्यक्तित्व अप्रशंसनीय, अपूजनीय बनता है उसे नीच कहते हैं। इसमें मुख्य कारण गोत्र कर्म है। इस कर्म का स्वभाव ऐसा है कि यह जीव के अगुरुलघु गुण को प्राप्त नहीं होने देता है।

(८) अंतराय कर्म - जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य रूप शक्तियों का विघात करता है। दानादि में विघ्न रूप होता है अथवा मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने देता।

‘जीवं चार्थ साधनं चान्तरा एति पततीत्यन्तरायम्।’

इस कर्म के कारण जीव का सामर्थ्य केवल कुछ अंशों में ही प्रकट होता है। मनुष्य में संकल्प विकल्प शक्ति साहस, वीरता आदि की अधिकता या न्यूनता दिखती है, उसका कारण अंतराय कर्म है।

आचार्य हरिभद्र ने “श्रावक प्रज्ञप्ति” की टीका में भी इसी प्रकार की व्याख्या की है। दानादि विषयक विघ्न का नाम अन्तराय है, इस अन्तराय के कारणभूत कर्म को अन्तराय कहा जाता है। अथवा ‘अन्तरा एति अन्तराय’ इस निरुक्ति के अनुसार जो जीव और दानादि के मध्य में अन्तरा अर्थात् व्यवधान रूप से उपस्थित होता है उसे अन्तराय कर्म जानना चाहिए।^{१९} इस कर्म का स्वभाव भंडारी के समान है - सिरि हरिअ समंअं।^{२०}

जह राया दाणाइ ण कुणइ भंडारिए विकूलंमि।

एवं जेणं जीवो कम्मं तं अन्तरायं पि ॥^{२१}

जैसे राजा की आज्ञा होने पर भी भण्डारी के प्रतिकूल होने पर याचक को इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ जाती है, वैसे ही अन्तराय कर्म भी जीव को इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधक बन जाता है। उसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने देता। अर्थात् यह जीव अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धि वाला है। परन्तु अंतराय कर्म के उदय से जीव को अनन्त दानादि प्रगट नहीं हो पाते हैं।

इन आठ कर्मों का वर्णन आचार्य हरिभद्र रचित ‘प्रज्ञापना सूत्र’^{२२} की टीका; ‘तत्त्वार्थ टीका’^{२३} समर्थ टीकाकार मलयगिरि रचित ‘धर्मसंग्रहणी की टीका’^{२४} में मिलता है तथा कर्म के स्वभाव का दृष्टांत ‘नवतत्त्व’^{२५} में भी मिलता है।

ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के मुख्य भेद को मूल प्रकृति और उनके अवान्तर भेदों को उत्तर प्रकृति कहते हैं। ज्ञानावरण आदि आठों मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है-

इह नाणदंसणावरण वेअमोहाउ नामगोआणि।

विघं च पणनवदु-अट्टवीस चउतिसयदुपणविहं ॥^{२६}

ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नव, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की एक सौ तीन, गोत्र की दो और अंतराय की पाँच उत्तर प्रकृति हैं। कुल मिलाकर इनके भेद एकसौ अट्ठान्न होते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड^{२७} में १५८ भेद बताये हैं। तथा उमास्वाति रचित ‘तत्त्वार्थ सूत्र’^{२८} ‘प्रशमरति’^{२९}

तथा आचार्य हरिभद्र सूरि रचित 'श्रावक प्रज्ञप्ति'^{१००} 'धर्मसंग्रहणी'^{१०१} तथा 'नवतत्त्व'^{१०२} में आठों कर्मों के सत्तानवे (९७) भेद किये हैं, क्योंकि उसमें नाम कर्म की ४२ प्रकृति ली है।

'पंचनवद्वयष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद् द्विपंच भेदा यथाक्रमम्।'

पाँच, नव, दो, अष्टादश, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद यथाक्रम से ज्ञानावरण आदि कर्मों के उत्तर भेद हैं।

तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और बंध, उदय, सत्ता आदि के अपेक्षाओं से इन अवान्तर भेदों की संख्या एक सौ बीस, एक सौ बाईस, एक सौ अड़तालीस भी बतायी गयी है। जिसका उत्तर प्रकृति के विवेचन के बाद स्पष्ट किया जायेगा।

(१) ज्ञानावरण - जीव जिस शक्ति के द्वारा संसार के समस्त पदार्थों का बोध प्राप्त करता है वह ज्ञान कहलाता है। आत्मा की इस शक्ति को आवृत्त करनेवाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं - पढमं पंचवियम्पं, मइसुयओहिमणकेवलावरणं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणी में ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद बताये हैं। (१) मतिज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञानावरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मनःपर्यव ज्ञानावरणीय (५) केवल ज्ञानावरणीय। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान - इन पाँच ज्ञानों को आवृत्त करनेवाले कर्म मतिज्ञानावरण आदि कहलाते हैं। मतिज्ञान आदि का विवेचन ज्ञान-मीमांसा अध्याय में विस्तार से कर दिया है। अतः यहाँ संक्षेप में संकेत किया है। दूसरा दर्शनावरण के नव विकल्प हैं, पाँच निद्रा और दर्शन चतुष्क।^{१०३}

(२) दर्शनावरण - कोश में दर्शन के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। लेकिन यहाँ हम दर्शनावरण कर्म के भेदों का विचार कर रहे हैं। अतः दर्शनावरण शब्द में जो दर्शन शब्द है यह वस्तु के सामान्य बोध का परिचायक समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य विशेषात्मक पदार्थों के आकार रूप विशेष अंश को ग्रहण नहीं करके जो केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।^{१०४} आत्मा के दर्शन गुण को जो आच्छादित करता है वह कर्म दर्शनावरण कहलाता है।

दर्शनावरण के असंख्यात भेद हो सकते हैं। लेकिन सरलता से समझने के लिए उन असंख्यात भेदों का समावेश मुख्य नव भेदों में हो जाता है -

निद्रा-निद्रानिद्रा पयला तह होइ पयलपयला य।

थीणङ्गी अ सुरूद्धा निद्रापणगं जिणाभिहितं ॥

नयणेयरोहिकेवलदंसणवरण चउव्विहं होइ।^{१०५}

(१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचला प्रचला (५) थीणङ्गी (६) चक्षुदर्शन (७) अचक्षुदर्शन (८) अवधिदर्शन (९) केवलदर्शन।

(१) निद्रा - जिस निद्रा में प्राणी सुख पूर्वक जग जाता है।

(२) निद्रानिद्रा - जिस निद्रा में प्राणि कठिनता निद्रा करता है।

(३) प्रचला - जिस निद्रा में प्राणी बैठे-बैठे निद्रा करता है।

(४) प्रचलाप्रचला - जिस निद्रा में प्राणी चलते-चलते निद्रा करता है।

(५) थीणद्धि - यह निद्रा अति संक्लिष्ट कर्म का उदय होने पर प्राणी को आती है। इस नींद की अवस्था में प्राणी सोते-सोते उठकर दिन में चिन्तित दुष्कर व्यापार को भी प्रायः सिद्ध करता है। इस निद्रा के उदय वाले व्यक्ति को दीक्षा देने का निषेध है। इस प्रकार की इन पाँच निद्राओं के कारणभूत जो कर्म है, उन्हें यथाक्रम से उक्त निद्रादि पाँच दर्शनावरण जानना चाहिए। ये सब प्राप्त दर्शन के विनाशक और अप्राप्त दर्शन के चूँकि रोधक है, इस लिए इन्हें दर्शनावरण के रूप में ग्रहण किया गया है।

(६) 'नयन' शब्द चक्षुवाचक है। चक्षु इन्द्रियजन्य सामान्य उपयोग का जो आवरण किया करता है उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

(७) चक्षु से भिन्न अन्य इन्द्रियों से होनेवाले सामान्य उपयोग के आवरक कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहा जाता है।

(८-९) इसी प्रकार अवधि और केवल रूप सामान्य उपयोग के आवरक कर्म को क्रम से अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण जानना चाहिए।^{१०६}

दर्शनावरण में जो पाँचवा भेद थीणद्धि है उसकी विशेषता बताते हुए प्रथम कर्मग्रन्थकार कहते हैं कि यदि वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन वाले जीव को 'स्त्यानर्द्धि' निद्रा का उदय हो तो उसमें वासुदेव के आधे बल के बराबर बल हो जाता है।^{१०७} इस निद्रा वाला जीव नरक में जाता है।

स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम 'स्त्यानगृद्धि' भी है। जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रगट हो जाय, अथवा जिसके उदय से जीव सुप्त अवस्था में रौद्र कर्म करता है।^{१०८} अथवा जिस निद्रा में चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकांक्षा का एकीकरण हो जाय उसे 'स्त्यानगृद्धि' कहते हैं।

३. वेदनीय - जिस कर्म के उदय से व्यक्ति को सुख-दुःख की प्राप्ति हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यद्यपि ज्ञानावरण आदि सभी कर्म अपने विपाक का वेदन कराते हैं। लेकिन 'पंकज' जैसे 'कमल' के अर्थ में रुढ़ है। वैसे ही वेदनीय शब्द को साता-असाता रूप फल विपाक वेदन कराने में रुढ़ समझना चाहिए।^{१०९} वेदनीय कर्म दो प्रकार का है। (१) शाता वेदनीय (२) अशातावेदनीय।^{११०}

(१) शातावेदनीय - जिसका वेदन सुखस्वरूप से होता है या जो सुख का वेदन कराता है उसे शातावेदनीय कहते हैं।^{१११} अथवा शाता वेदनीय जन्य सुखादि का वेदन रति मोहनीय कर्म के उदय द्वारा किया जाता है। अर्थात् रति मोहनीय कर्म के उदय से जो जीव को सुखकारक इन्द्रिय विषयों का अनुभव कराता है, उस कर्म को शाता वेदनीय कर्म कहते हैं।^{११२}

(२) अशातावेदनीय - जिसका वेदन दुःखस्वरूप से होता है या जो दुःख का वेदन कराता है। जिस

कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव होता है। उसे अशातावेदनीय कहते हैं। अशातावेदनीय कर्म के विपाक वेदन के लिए अरति मोहनीय कर्म का उदय जरूरी है।

समस्त संसारी जीव वेदनीय कर्म के उदय से दुःख-सुख का अनुभव करते हैं। वे न तो एकान्त रूप से सुख का ही और न दुःख का ही वेदन करते हैं। उनका जीवन सुख-दुःख से मिश्रित होता है। फिर भी देवगति और मनुष्य गति प्रायः शाता वेदनीय और तिर्यच और नरक गति में अशाता वेदनीय का उदय रहता है।^{११३} यहाँ प्रायः शब्द से यह संकेत किया गया है कि देव और मनुष्यों के शाता वेदनीय के सिवाय अशाता वेदनीय का भी और नरक तथा तिर्यचों को अशाता के सिवाय शाता का भी उदय सम्भव है। चाहे वह अल्पांश हो, लेकिन संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(४) मोहनीय कर्म - मोहनीय कर्म के उदय से जीव अपने हिताहित को नहीं समझ पाता है। मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं। (१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। (१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय (३) मिश्र मोहनीय।

दुविहं च मोहणीयं दंसणमोहं चरित्तमोहं च।

दंसणमोहं तिविहं, सम्मेयर मीसवेयणियं ॥^{११४}

दर्शन से यहाँ सम्यग् दर्शन अभिप्रेत है। तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग् दर्शन को जो मोहित करता है वह दर्शनमोहनीय कहलाता है। वह दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का है।^{११५}

(१) सम्यक्त्व मोहनीय - जिस कर्म के उदय से तत्त्व रुचि रूप सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है तथा सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंकाएँ हुआ करती हैं। अर्थात् यह कर्म यद्यपि शुद्ध होने के कारण तत्त्व रुचि रूप सम्यक्त्व में व्याघात नहीं पहुँचाता है। तात्त्विक रुचि का निमित्त भी है। किन्तु आत्म स्वभाव रूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व होने नहीं देता। उनका प्रतिबन्धक है। जैसे चश्मा आँखों का आच्छादन होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता है, वैसे ही शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यक्त्व मोहनीय भी तत्त्वार्थ श्रद्धान में रुकावट नहीं करता। परन्तु चश्मे की तरह वह आवरण रूप तो है ही। सम्यक्त्व मोहनीय में अतिचारों की संभावना है तथा औपशमिक और क्षायिक दर्शन के लिए मोह रूप भी है। इसलिए इसे दर्शन मोहनीय के भेदों में ग्रहण किया गया है।

(२) मिश्र मोहनीय - इसका दूसरा नाम सम्यग् मिथ्यात्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को तत्त्व रुचि नहीं है और अतत्त्व रुचि भी नहीं होती है, किन्तु डोलायमान स्थिति रहती है, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं। मिश्र मोहनीय का उदाहरण ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है - जैसे नालिकेर द्वीप (जहाँ नारियल के सिवाय अन्य खाद्यान्न पैदा नहीं होता है) में उत्पन्न व्यक्ति ने अन्य के विषय में न कुछ सुना हो और न देखा हो तो उसे अन्न के बारे में न तो रुचि-राग होता है और न अरुचि द्वेष, किन्तु वह तटस्थ रहता है। इसी प्रकार जब मिश्र

मोहनीय कर्म का उदय होता है तब जीव को वीतराग प्ररूपित धर्म पर रुचि अरुचि नहीं होती, यानी उसे दृढ श्रद्धा नहीं होती है कि वीतराग ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है और न अश्रद्धा होती है कि वह असत्य है, अविश्वसनीय है।^{११६} वीतराग और सरागी एवं उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है।

आत्मा के गुणों का घात करने वाली कर्म प्रकृतियों में मिश्र मोहनीय प्रकृति का कार्य विलक्षण प्रकार का है। जैसे दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सके, तब प्रत्येक अंश का मिश्र रूप (कुछ खट्टा और कुछ मीठा दोनों का मिलाप रूप खट्टा-मीठा) स्वाद आता है। वैसे ही मिश्र मोहनीय के परिणाम केवल सम्यक्त्व रूप या केवल मिथ्यात्व रूप न होकर दोनों के मिले-जुले होते हैं। अर्थात् एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते हैं।^{११७}

‘गोम्मटसार’ जीवकाण्ड में उपरोक्त उदाहरण देकर मिश्र मोहनीय को विशेष स्पष्ट किया है।

(३) मिथ्यात्व मोहनीय - जिस कर्म के उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो उसे मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को जीव आदि तत्त्वों के स्वरूप लक्षण और जिन प्ररूपित धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती है।^{११८} जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग का अनुसरण करता है। हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि, अदेव में देवबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि होती है। जैसे रोगी को पथ्य की चीजें अच्छी नहीं लगती है और कूपथ्य की वस्तुएँ रुचिकर प्रतीत होती है, ऐसी ही वृत्ति मिथ्यात्व मोहनीय से ग्रस्त जीव की होती है।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के दस भेद बताये हैं -

१. साधु को साधु न समझना।
२. असाधु को साधु समझना।
३. अहिंसा मूलक धर्म को धर्म नहीं मानना।
४. हिंसा झूठ आदि अधर्म पाप मूलक कार्यों को धर्म मानना।
५. अजीव को जीव समझना।
६. जीव में अजीव बुद्धि रखना जैसे गाय, पक्षी, जल वनस्पति आदि मूक प्राणियों में आत्मा नहीं है।
७. कुमार्ग को सन्मार्ग मानना।
८. सुमार्ग को उन्मार्ग समझना, मोक्ष के कारणों को संसार के बन्ध का कारण बताना।
९. कर्म रहित को कर्म-सहित मानना, जैसे कि परमात्मा निष्कर्म है, किन्तु उन्हें भक्तों की रक्षा करनेवाला कहना।
१०. कर्म सहित को कर्म-रहित कहना, जैसे कि भक्तों की रक्षा और शत्रुओं का नाश करना, बिना राग-द्वेष के नहीं हो सकता है। फिर भी परमात्मा को कर्म-रहित मानना। भगवान सब करते हुए भी अलिप्त है आदि कहना।^{११९}

उक्त भेदों के सिवाय भिन्न-भिन्न दृष्टियों, प्रकारों और अपेक्षाओं से मिथ्यात्व के और भी भेद शास्त्रों में कथित हैं।

(२) चारित्र मोहनीय - आत्मा को अपने स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करने को चारित्र कहते हैं, अथवा पाप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चारित्र गुण को घात करनेवाले कर्म को चारित्र मोहनीय कहते हैं।^{१२०} चारित्र मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं। (१) कषाय वेदनीय (२) नोकषाय वेदनीय। इनके यथाक्रम से सोलह और नौ भेद जानना।

दुविहं चरित्तमोहं कषाय तह णोकसायवेयणियं।

सोलसनवभेदं पुण जह संखं तह मुणेयव्वं ॥^{१२१}

(१) कषाय वेदनीय - जो आत्मा के गुणों के स्वाभाविक रूप को नष्ट करे अथवा कष यानि जन्म-मरण रूप संसार और उसकी आय प्राप्ति हो, उसे कषाय कहते हैं।^{१२२} अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप आत्मा के परिणाम सम्यक्त्व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं, वे कषाय कहलाते हैं।^{१२३} अथवा जिन क्रोधादि रूप परिणामों के द्वारा आत्मा के साथ कर्म संश्लिष्ट होते हैं, चिपकते हैं उन क्रोधादि परिणामों को 'कषाय' कहते हैं और जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है वह कषाय वेदनीय कर्म है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'श्रावक प्रज्ञप्ति' की टीका में कषाय वेदनीय की व्याख्या इस प्रकार की - 'तत्र क्रोधादि कषायरूपेण यद्वेद्यते तत्कषायवेदनीयम्।'

जिसका वेदन क्रोधादि कषाय रूप से हुआ करता है उसे कषाय वेदनीय कहते हैं। कषाय के मूल चार भेद हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रत्येक अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यात, प्रत्याख्यात और संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार का है।^{१२४} इन सोलह कषाय को प्रज्ञापना^{१२५} एवं कर्मप्रकृति^{१२६} में भी बताया है।

(१) अनन्तानुबंधि - जिस कषाय के उदय से जीव को अनन्तकाल संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है तथा जो जीव के सम्यक्त्व गुण का घात करता है। उसे अनन्तानुबंधी^{१२७} कहते हैं अथवा अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं तथा जो कषाय उसकी अनुबंधी है उन्हें अनन्तानुबंधी कहते हैं।^{१२८}

यद्यपि अनन्तानुबंधी कषाय चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, लेकिन उनको चारित्र के साथ सम्यक्त्व का घातक भी इसलिए माना जाता है कि मिथ्यात्व के बन्ध उदय और सत्ता के साथ अनन्तानुबंधी कषाय का अविनाभावी सम्बन्ध है। इसलिए दो में से एक की विवक्षा करने पर दूसरे की विवक्षा आ ही जाती है।^{१२९} मिथ्यात्व के साथ उदय होनेवाला कषाय सम्यक्त्व का घात करता है। अतः अनन्तानुबंधी के द्वारा सम्यक्त्व और संयम का घात होता है।^{१३०}

अनन्तानुबंधी क्राध आदि के परिणामों को बताने के लिए शास्त्रों में प्रतीक स्वरूप क्रमशः पर्वतभेद, पत्थर वंशमूल और कृमिराग की उपमा दी गई है। अर्थात् जैसे पर्वत के फटने से आयी दरार कभी नहीं जुड़ती है,

वैसे ही अनंतानुबंधी क्रोध, कठोर परिश्रम एवं अनेक उपाय करने पर भी शान्त नहीं होता है। अनंतानुबंधी मान के परिणाम पत्थर के खंभे के समान होता है जो कठोर परिश्रम करने पर भी नमना अशक्य है। अर्थात् नहीं नमता है। अनंतानुबंधी माया वंशमूल-बांस की जड़ में रहनेवाली वक्रता का सरल ऋजु होना प्रयत्न करने पर भी संभव नहीं है। अनंतानुबंधी लोभ कृमिराग सदृश है। किरमिची रंग जैसे किसी उपाय से दूर नहीं होता है वैसे ही अनंतानुबंधी लोभ के परिणाम उपाय करने पर भी दूर नहीं होते हैं। अनंतानुबंधी कषाय जन्म जन्मान्तरों तक विद्यमान रहते हैं। अर्थात् इनकी वासना संख्यात असंख्यात यावत् अनन्तभवों तक रह सकती है। इसके उदय वाला जीव नरक योग्य कर्मों का बन्ध करता है। अर्थात् वह जीव नरक में जाता है।

(५) अप्रत्याख्यान कषाय - जिसमें अल्प भी प्रत्याख्यान करने का उत्साह नहीं होता है।^{१३१} अथवा जिनके उदित होने पर जीव को देश प्रत्याख्यान और सर्व प्रत्याख्यान का लाभ नहीं हो सकता है।^{१३२} अर्थात् जिसके उदय से जीव देशविरति को स्वल्प मात्र में भी करने में समर्थ नहीं होता है। श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। वह अप्रत्याख्यान कषाय कहलाता है।^{१३३}

अप्रत्याख्यान क्रोधादि के परिणामों की पहचान के लिए क्रमशः पृथ्वी भेद, अस्थि, मेषशृंग (भेड सींग), चक्रमल (कीचड़) आदि की उपमा दी है। अर्थात् सूखी मिट्टी में आयी दरार पानी के संयोग से पुनः भर जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यान क्रोध कठोर परिश्रम करने पर शान्त हो जाता है। हड्डी का नमाना, भेडों के सींगों में रहनेवाली वक्रता को हटाना तथा गाड़ी के पहिये के कीचड़ को दूर करना यह सभी कठोर परिश्रम एवं अनेक उपाय द्वारा जैसे साध्य हैं, उसी प्रकार अप्रत्याख्यान मान, माया और लोभ के परिणाम अति परिश्रम एवं अनेक उपाय द्वारा दूर किये जा सकते हैं। इसकी मर्यादा एक वर्ष की है। इनके उदय से जीव तिर्यच के योग्य कर्मों का बंध करके तिर्यच गति में जाता है।

(३) प्रत्याख्यान - प्रत्याख्यान, संयम, महाव्रत तीनों समानार्थक है। जिस कषाय के उदय से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो अर्थात् श्रमणधर्म की प्राप्ति न हो उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।^{१३४} इसका उदय होने पर एकदेश त्यागरूप श्रावकाचार देशविरति के पालन में बाधा नहीं आती है, किन्तु सर्वविरति, सर्वथा त्याग, श्रमणधर्म, महाव्रतों का पालन नहीं हो पाता है।^{१३५}

इसका अर्थ आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'श्रावक प्रज्ञप्ति' की टीका में कुछ विशेष रूप से स्पष्ट किया है। उन्होंने 'आवरण' में जो 'आङ्' उपसर्ग है उसका 'मर्यादा' अर्थ भी किया है और 'ईषत्' अर्थ भी किया है। जो प्रत्याख्यान का आवरण करते हैं उसे स्पष्ट होने नहीं देते हैं। उनका नाम प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि है। ये मर्यादा में महाव्रतस्वरूप सर्वविरति को आच्छादित करते हैं, न कि देशविरति को। ईषत् अर्थ में भी वे सर्वविरति को ही अल्पमात्रा में आच्छादित किया करते हैं, देशविरति को नहीं।^{१३६}

प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि परिणामों के लिए धूलि-रेखा, सूखी लकड़ी, गोमूत्र-रेखा और काजल के रंग की उपमा दी गई है। अर्थात् धूलि में खींची गयी रेखा हवा आदि के द्वारा कुछ समय में भर जाती है। वैसे

ही प्रत्याख्यानावरण क्रोध भी कुछ उपायों से शान्त हो जाता है। सूखी लकड़ी में तेल आदि की मालिश करने से नरमाई आने के कारण संभावना हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान मान प्रयत्न और परिश्रम द्वारा शान्त होनेवाला होता है। प्रत्याख्यानावरण माया के परिणाम चलते हुए मूतने वाले बैल की मूत्र की रेखा की वक्रता के समान होते हैं। इस मूत्र रेखा की टेढ़ी-मेढ़ी लकीर पवन आदि से सूख जाने पर मिट जाती है। वैसे ही कुटिल परिणाम परिश्रम और उपाय से दूर हो जाता है। काजल का रंग साधारण परिश्रम से दूर हो जाता है वैसे ही प्रत्याख्यानावरण लोभ परिणाम कुछ प्रयत्न से दूर हो सकते हैं। इनकी काल मर्यादा चार माह की बतायी गयी है और इसके उदय से जीव मनुष्य गति के योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

(४) संज्वलन - जिस कषाय का उदय आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न होने दे अर्थात् 'परिषर्हों' और उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म सर्वविरति चारित्र पालन करने में प्रभावित करे उसे संज्वलन कहते हैं।^{१३०} संज्वलन की व्याख्या आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति टीका में विशेष रूप से की है। वह इस प्रकार 'संज्वलन' में सम् उपसर्ग का अर्थ यदि ईषत् करते हैं तो जो परिषह आदि के आने पर चारित्रवान् को भी किंचित् जलाते हैं, संतप्त किया करते हैं, वे संज्वलन क्रोधादि कहलाते हैं। अथवा 'सम्' का अर्थ एकीभाव होता है, तदनुसार जो चारित्र के साथ एकीभूत होकर जलते हैं, प्रकाशित रहते हैं अथवा जिनके उदित रहने पर भी चारित्र प्रकाशमान रहता है उसे वे नष्ट नहीं कर सकते हैं, उनको संज्वलन क्रोधादि समझना चाहिए।^{१३१}

संज्वलन क्रोधादि चतुष्क के परिणाम क्रमशः जलरेखा, वेंतलता, अपलेहिका (खुरपा) हल्दी के समान होते हैं। अर्थात् संज्वलन क्रोध जल में खींची जाने वाली रेखा के समान तत्काल शांत हो जाता है। बिना परिश्रम के नमाये जानेवाले वेंत के समान संज्वलन मान क्षण-मात्र में अपने आग्रह को छोड़कर नमने वाला होता है। अवलेखिका यानी वांस का छिलका। जैसे वांस के छिलके में रहनेवाली वक्रता बिना श्रम के सीधी हो जाती है, वैसे ही संज्वलन माया के परिणाम सरलता से दूर हो जाते हैं, सहज ही छूटने वाले हल्दी के रंग के समान संज्वलन लोभ के परिणाम हैं। इसकी काल मर्यादा एक पक्ष है। इन कषायों की स्थिति में जीव को देवगति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

संज्वलन क्रोधादि के स्वरूप को बतानेवाली गाथाएँ इस प्रकार हैं -

जलरेणु-पुढवि-पव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।

तिणसलयाकड्डडिथ सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १ ॥

माया वलेहि गोमुत्तिमिढसिंघघणवंसमूलसमा ।

लोहो हलिद्द खंजन कट्ठम किमिरागसारित्थो ॥ २ ॥

पक्ख चउम्मास वच्छरजावजीवाणुगामिणो कमसो ।

देवनरतिरिनारयगति साहणहेयवो भणिया ॥ ३ ॥^{१३२}

‘कर्मग्रंथ’^{१४०} में भी संज्वलन क्रोधादि का स्वरूप बताया गया है। जिसका कोष्टक इस प्रकार है-

| संज्वलन क्रोधादि का कोष्टक | | | | |
|----------------------------|-----------------|----------|------------------|-------------|
| कषाय | स्वभाव | काल | घातक | प्रापक |
| अनंतानुबंधी क्रोध | पर्वत की रेखा | यावज्जीव | सम्यक्त्व | नरकगति |
| अनंतानुबंधी मान | पर्वत के स्तम्भ | यावज्जीव | सम्यक्त्व | नरकगति |
| अनंतानुबंधी माया | वंशमूल | यावज्जीव | सम्यक्त्व | नरकगति |
| अनंतानुबंधी लोभ | किरमची रंग | यावज्जीव | सम्यक्त्व | नरकगति |
| अप्रत्याख्यान क्रोध | पृथ्वी की रेखा | एक वर्ष | देशविरति | तिर्य्यचगति |
| अप्रत्याख्यान मान | हड्डी के स्तंभ | एक वर्ष | देशविरति | तिर्य्यचगति |
| अप्रत्याख्यान माया | मेढ के सींग | एक वर्ष | देशविरति | तिर्य्यचगति |
| अप्रत्याख्यान लोभ | चक्रमल | एक वर्ष | देशविरति | तिर्य्यचगति |
| प्रत्याख्यान क्रोध | धूलि की रेखा | चार माह | सर्व विरति | मनुष्यगति |
| प्रत्याख्यान मान | काष्ठ के स्तंभ | चार माह | सर्व विरति | मनुष्यगति |
| प्रत्याख्यान माया | गोमूत्र | चार माह | सर्व विरति | मनुष्यगति |
| प्रत्याख्यान लोभ | काजल का रंग | चार माह | सर्व विरति | मनुष्यगति |
| संज्वलन क्रोध | जल की रेखा | १५ दिन | यथाख्यात चारित्र | देवगति |
| संज्वलन मान | वैतलता | १५ दिन | यथाख्यात चारित्र | देवगति |
| संज्वलन माया | वांस का छिलका | १५ दिन | यथाख्यात चारित्र | देवगति |
| संज्वलन लोभ | हल्दी | १५ दिन | यथाख्यात चारित्र | देवगति |

कषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के वर्णन के पश्चात् अब नोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के भेदों का वर्णन किया जाता है।

इत्थी पुरिस नपुंसग वेद तिग चेव होइ नायव्वं ।

हासरति अरति भयं, सोग दुगंछा य छक्कंति ॥^{१४१}

जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के सहवर्ती हो कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता हो अथवा कषायों को उदय के साथ जिसका उदय होता हो अथवा कषायों को पैदा करने में उत्तेजित करने में सहायक हो उसे नोकषाय कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव नोकषाय का वेदन करता है उसे नोकषाय कहते हैं।^{१४२} नोकषाय वेदनीय मोहकर्म के नौ भेद हैं - १. स्त्रीवेद, २. पुरुषवेद, ३. नपुंसकवेद, ४. हास्य, ५. रति, ६. अरति, ७. भय, ८. शोक, ९. जुगुप्सा।

१. स्त्रीवेद जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा हुआ करती है। उसे स्त्रीवेद कहते हैं।
२. पुरुषवेद जिसके उदय से पुरुष को स्त्री की अभिलाषा हुआ करती है। उसे पुरुषवेद कहते हैं।
३. नपुंसकवेद - जिसके उदय से स्त्री व पुरुष उभय की अभिलाषा होती है। उसे नपुंसकवेद कहते हैं।
४. हास्य - जिसके उदय से प्राणी को किसी निमित्त को पाकर या बिना निमित्त के भी हंसी आती है। वह हास्य कहलाता है।
५. रति - जिसके उदय से बाह्य व अभ्यन्तर वस्तुओं में प्रीति हुआ करती है। उसे रति मोहनीय कहते हैं।
६. अरति - जिसके उदय से सकारण या निष्कारण पदार्थों पर अप्रीति हुआ करती है। उसे अरति मोहनीय कहते हैं।
७. भय - जिसके उदय से किसी निमित्त के मिलने पर या बिना निमित्त के ही प्राणी अपने संकल्प के अनुसार भयभीत होता है। उसे भय कहते हैं।
८. शोक - जिसके उदय से प्राणी किसी इष्ट जन के वियोग आदि अनेक प्रकार से विलाप करता है। वह शोक नोकषाय कहलाता है।
९. जुगुप्सा - जिसके उदय से चेतन व अचेतन वस्तुओं में घृणा उत्पन्न होती है। उसे जुगुप्सा नोकषाय कहा जाता है।^{१४३}

इसमें जो तीन वेद हैं इनका विकार एक एक से बढ़कर होता है। जैसे कि पुरुष वेद का विकार 'घास की अग्नि' के समान होता है जो शीघ्र शान्त हो जाता है। स्त्री वेद का विकार 'करीषाम्नि' के समान के सदृश है, जो जल्दी शान्त नहीं होता है, तथा नपुंसकवेद का विकार नगर-दाह के समान होता है, जैसे नगर में आग लगने पर वह कई दिनों तक नगर को जलाती है। उसको बुझाने में बहुत दिन लगते हैं, वैसे ही नपुंसक वेद का विकार बहुत देर से शांत होता है।^{१४४}

कषाय वेदनीय के सोलह और नोकषाय वेदनीय के ९ इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के २५ दर्शनीय मोहनीय के ३ इस प्रकार २८ भेद हुए।

(५) आयुष्य कर्म - जीवों के अस्तित्व का नियामक आयुर्कर्म है। आयु कर्म के दो प्रकार- (१) अपवर्तनीय (२) अनपवर्तनीय।

१. अपवर्तनीय - बाल्य निमित्त के सम्बन्ध से जो आयु बांधे गये समय से कम हो जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। अर्थात् जल में डूबने शस्त्रघात विषपान फांसी आदि बाल्य कारणों से सौ-पचास आदि वर्षों के लिए आयु बांधी गयी थी। उसे अन्तर्मुहूर्त में भोग लेना आयु का अपवर्तन है।^{१४५} इस आयु को अकाल मृत्यु भी कहते हैं।

२. अनपवर्तनीय - जो आयु किसी भी कारण से कम न हो जितने काल के लिए बांधी गयी थी उतने काल तक भोगी जाए, वह अनपवर्तनीय आयु कहलाती है।

उपपात जन्म वाले अर्थात् नारक और देव, तद्भव मोक्षगामी तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और असंख्य वर्ष वाले देवकुरु, उतरकुरु में उत्पन्न मनुष्य और तिर्यच अनपवर्तनीय आयु वाले होते है, इनके अतिरिक्त शेष मनुष्य, तिर्यच अपवर्त्य वाले है।^{१४६}

आयुष्य कर्म चार प्रकार का जानना चाहिए।

आउं च एत्थ कम्मं चउव्विहं नवारि होंति नायव्वं।

नारयतिरियनरामरगति भेद विभागतो जाण ॥^{१४७}

यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है - १. नारक, २. तिर्यच, ३. मनुष्य, ४. देव।

१. नारक - जिसके उदय से उर्ध्वगमन स्वभाव वाले जीव को तीव्र शीत उष्ण आदि वाले नरकों (नरकगति) में जीवन बिताना पड़ता है उसे नरक आयु कहते है।

२. तिर्यच - जिसके उदय से तिर्यच गति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है उसे तिर्यच आयु कहते है।

३. मनुष्य आयु - जिसके उदय से जीव मनुष्य पर्याय में जीवन बिताना है, वह मनुष्य आयु है।

४. देवायु - जिसके उदय से देव पर्याय में अवस्थान होता है उसे देवायु कहते है।^{१४८}

(६) नाम कर्म - जिस कर्म से जीव गति आदि पर्यायों का अनुभवन करने के लिए बाध्य हो, जिस कर्म की भिन्नता से जीव में जीव आदि का भेद उत्पन्न हो, देहादि की भिन्नता का कारण हो उसे नाम कर्म कहते है।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या संक्षेप व विस्तार दृष्टि से शास्त्रों में बयालीस, सडसठ, तिरानवे और एक सौ तीन बतायी है।^{१४९} इसमें न तो किसी प्रकृति का समावेश है किन्तु संख्या भिन्नता का कारण संक्षेप व विस्तार की अपेक्षा दृष्टि है। वह इस प्रकार संक्षेप दृष्टि से नामकर्म के बयालीस अवान्तर भेद माने गये हैं जिसका कारण यह है कि नामकर्म की उत्तरकर्म प्रकृतियों की संख्या को संक्षेप में समझने के लिए सर्वप्रथम पिंड और अपिंड इन दो वर्गों में विभाजित करके पिंड प्रकृतियाँ चौदह, प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ, त्रस दशक प्रकृतियाँ दस और स्थावर दशक प्रकृतियाँ दस है। गति-जाति शरीर आदि चौदह मूल पिण्ड प्रकृतियाँ। इस प्रकार (८+१०+१०+१४=४२) बयालीस संक्षेप दृष्टि से नामकर्म की प्रकृतियाँ है।

नामकर्म के सडसठ भेद आपेक्षिक दृष्टि से माने गये है। आठ प्रत्येक प्रकृति दस (त्रस दशक) दस (स्थावर एक) के साथ चौदह पिंड प्रकृतियों में से बंधन और संघात नामकर्म के पाँच अवान्तर भेदों की अभेद विवक्षा से शरीर नामकर्म के पाँच भेदों से गर्भित कर लिया जाता है, क्योंकि बंधन और संघात नामकर्म अपने-अपने नामकर्म वाले शरीर के साथ बंधती है। शरीर के साथ इनका अविनाभाव संबंध है। तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श - इन चार पिंड प्रकृतियों के क्रमशः पाँच, दो, पाँच, आठ कुल बीस भेदों में से एक समय में एक ही प्रकृति का बन्ध व उदय होने से बन्ध और उदय अवस्था में अभेद विवक्षा से उन उनकी मूल पिंड प्रकृतियों में समाविष्ट करके मुख्य चार भेद लिये जाते है। मूल पिंड प्रकृति १४ के उत्तर पैसठ भेद होते है। उसमें से बंधन संघातन के पाँच पाँच कम तथा वर्णादि के १६ कम करने पर (६५-२६=३९) (३९+२८=६७) सडसठ नामकर्म के भेद होते है।

विस्तार दृष्टि से नामकर्म के तेरानवों और एक सौ तीन भेद हैं। इनमें अपेक्षा दृष्टि से भेद हैं। चौदह पिंड प्रकृतियों के पैसठ है और अपिंड प्रकृतियों के अट्ठाईस भेदों का योग होने पर (६५+२८=९३) तेरानवे होता है। इसीलिए नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तेरानवे कही गई है। लेकिन बन्धन नामकर्म के मूल पाँच भेदों के जो संयोगज अंग पन्द्रह भी बनते है तब पाँच के स्थान पर पन्द्रह भेदों की विवक्षा करने पर पिंड प्रकृतियों की संख्या पचहत्तर बनती है। अतः (७५+२८=१०३) नामकर्म की १०३ प्रकृतियाँ होती है।

नामकर्म की उक्त विभिन्न संख्याओं में से कर्म विचारणा के सन्दर्भ में बन्ध उदय योग्य प्रकृतियों का विचार करने के लिए सडसठ तथा सत्ता के लिए मुख्य रूप से तेरानवे भेदों का उल्लेख किया जाता है।

अब संक्षेप से नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियों का विवेचन किया जाता है - पिंड प्रकृति अपिंडप्रकृति। पिंड प्रकृति में मूल चौदह है -

“गइ जाइ तणु उवंगा-बंधण-संघयणाणि संघयणा संटाण वण्ण गंध रस फास अणुपुव्वि विहगगई पिंड पयडित्ति चउदसन्”^{१५०}

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधण, संघात, संघयण, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वि, विहायोगति - इन चौदह पिंड प्रकृतियों के उत्तर पैसठ भेद है।

१. गति - जिसके उदय से जीव नरकादि गति को प्राप्त होता है वह नरकगति नामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार तिर्यचगति मनुष्यगति एवं देवगति नामकर्मों का भी स्वरूप समझना चाहिए।

२. जाति - जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय आदि जीवों में उत्पन्न होता है उसे जाति नामकर्म कहते है। अभिप्राय यह है कि जीवों में जो एकेन्द्रिय आदिरूप सदृश परिणाम हुआ करता है उसका नाम जाति है। वह जिस कर्म के उदय से हुआ करती उसे भी कारण में कार्य का उपचार करके जाति नामकर्म कहा जाता है।^{१५१} न्याय सूत्र में जाति की व्याख्या इस प्रकार की - 'समान प्रवासात्मिका जातिः।'^{१५२}

अनेक व्यक्तियों में एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते है, जैसे गोत्व (गायपन) सभी भिन्न-भिन्न रंगो आकृति वाली गाय में एकता, समानता बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म और जिसके उदय से द्वीन्द्रिय जाति में उत्पन्न होता है वह द्वीन्द्रिय जातिकर्म कहलाता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जातिकर्म होते है।

१. एकेन्द्रिय जाति में जीव को एक इन्द्रिय (स्पर्श) होती है। जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि।^{१५३}

२. बेइन्द्रिय जाति नाम कर्म में जीव को स्पर्शन और रसन दो इन्द्रियाँ होती है। जैसे कि- शंख, सीप, अलसिया, चन्दनीया आदि।

३. त्रीन्द्रिय नामकर्म के उदय से जीव को स्पर्शन, रसन और घ्राण - ये तीन इन्द्रियाँ प्राप्त होती है। जैसे चींटी, मकोडा आदि।

४. चतुरिन्द्रिय नामकर्म के उदय से जीव को स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु - ये चार इन्द्रियाँ मिलती है। जैसे मच्छर, डांस, भँवरा आदि।

५. पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदय से जीव को स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत - ये पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त होती है। जैसे मनुष्य, गाय, पक्षी।^{१५४}

(३) शरीर - जिसके उदय से जीव के औदारिक आदि शरीर का सद्भाव होता है वह पाँच प्रकार का है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण। जिस नामकर्म के उदय से जीव औदारिक शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें औदारिक शरीर के रूप में परिणमाता है उसे औदारिक कहते है।^{१५५} अथवा जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर प्राप्त हो अथवा औदारिक शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर जीव औदारिक शरीर रूप परिणत करके जीव प्रदेशों के साथ अन्योन्य अनुगम रूप से सम्बन्धित करता है उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते है।^{१५६} अथवा रुधिर, मांस, हड्डी आदि सात धातुओं से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है।^{१५७}

यह औदारिक शरीर सभी गर्भ जन्मवाले और संमूर्च्छिम जन्म वाले मनुष्य और तिर्यचों का होता है।^{१५८}

वैक्रिय शरीर - जिस नामकर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर की प्राप्ति हो।^{१५९} अथवा वैक्रिय शरीर प्रयोग पुद्गलों को ग्रहण करके जीव वैक्रिय शरीर रूप में परिणत करता और जीव प्रदेशों के साथ अन्योन्य अनुगम से सम्बन्धित करता है उसे वैक्रिय शरीर नामकर्म कहते है।^{१६०}

जिस शरीर से विशिष्ट और विविध क्रियाएँ होती है, जो विविध गुण और ऋद्धियों से युक्त है। जैसे एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, आकाशगामी होकर पृथ्वी पर चलना, छोटे से बड़ा और बड़ा से छोटा शरीर बनाना, दृश्य अदृश्य रूप बनाना।^{१६१}

वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और अजन्मसिद्ध (लब्धिजन्य) दो प्रकार का होता है। जन्मसिद्ध वैक्रिय शरीर उपपात वाले देव और नारक को होता है।^{१६२} कृत्रिम वैक्रिय का कारण लब्धि है, वह लब्धि तप आदि के द्वारा प्राप्त होता है। उसके अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यच है। कृत्रिम वैक्रिय कारणभूत एक दूसरे प्रकार की भी लब्धि मानी गयी है जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि कुछ बादर वायुकाय के तथा तेजस्काय जीवों में मानी गयी हैं।^{१६३} जिससे वे भी लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के अधिकारी है।

(३) आहारक शरीर - जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर प्राप्त हो अथवा आहारक शरीर नामकर्म से प्राप्त होनेवाले शरीर को आहारक नामकर्म कहते है।^{१६४}

चौदह पूर्व धारी मुनिराज लब्धि विशेष के द्वारा महाविदेह में वर्तमान तीर्थकरों की ऋद्धि-दर्शन, संशय निवारण आदि कारणों से जो शरीर धारण करते है वह आहारक शरीर कहलाता है। यह लब्धि मनुष्य के सिवाय नहीं होती है। मनुष्य में भी मात्र चौदह पूर्वधारी मुनिराजों को ही प्राप्त होती है। मुनि अपनी विशिष्ट लब्धि द्वारा एक हस्तप्रमाण शरीर बनाते है। यह शरीर अन्य क्षेत्र में स्थित सर्वज्ञ के पास जाकर संदेह निवारण कर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है। यह सम्पूर्ण कार्य अन्तमुहूर्त में हो जाता है। यह सात धातुओं से रहित होता है। क्षण मात्र

में लाख योजन गमन करने में समर्थ है।

(४) तैजस शरीर - जिस नामकर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर प्राप्त हो या बने उसे तैजस शरीर नामकर्म कहते हैं।^{१६६} तैजस पुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस शरीर कहलाता है।^{१६७} प्राणियों के शरीर में स्थित उष्णता से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह शरीर 'आहार का पाचन' करता है। तपो विशेष से तैजस लब्धि (तेजोलेख्या) का कारण भी यही शरीर है।

(५) कार्मणशरीर - जिस नामकर्म से जीव को कार्मण शरीर की प्राप्ति हो वह कार्मण नामकर्म कहलाता है।^{१६८} ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मण शरीर कहलाता है। इसी शरीर के कारण जीव नरकादि रूप संसार भ्रमण (जन्म-मरण) करता है और अनेक दुःखों को प्राप्त करता है।

उत्तर के शरीर पूर्व-पूर्व के शरीर से सूक्ष्मतर है - 'परं परं सूक्ष्मम्'^{१६९}

(४) अंगोपांग - जिसके उदय से सिर आदि अंगों की और श्रोत्र आदि अंगोपांग की रचना होती है वह अंगोपांग नामकर्म कहलाते हैं। सिर, वक्ष पेट, पीठ, दो हाथ और उरु (पांव) ये आठ हैं। अंगुलि आदि को उपांग और शेष को अंगोपांग माना जाता है।

सीसमुरोदर पिंडी दो बाहू उरुभयाय अङ्गं।

अंगुलिमाइ उवंगा अंगोवंगाई सेसाइ ॥^{१७०}

बाहू पिंडी सिर, उरु, उयरंग, उवंग, अंगुलि पमुहा। सेसा अंगोवंगा। पढमतपुतिगसुकंगाणि^{१७०} यह अंगोपांग औदारिक शरीर अंगोपांग, वैक्रिय शरीर अंगोपांग और अहारक शरीर अंगोपांग के भेद से तीन प्रकार का है। जिसके उदय से औदारिक शरीर रूप से परिणित पुद्गलों का अंग उपांग और अंगोपांगों के रूप में विभाजन होता है वह औदारिक शरीरांगोपांग कहलाता है। इसी प्रकार वैक्रियशरीरांगोपांग और आहारकशरीरांगोपांग का भी स्वरूप समझना चाहिए। तैजस और कार्मण इन दो शरीरों के अंगोपांग की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वे जीव प्रदेशों के समान होते हैं।

(५) बन्धन - जिसके उदय से समस्त आत्मप्रदेशों के द्वारा पूर्व में ग्रहण किये गये तथा वर्तमान में ग्रहण किये जानेवाले पुद्गलों का परस्पर अथवा अन्य शरीरगत पुद्गलों के साथ लाख के समान सम्बन्ध होता है उसका नाम बन्धन नामकर्म है।^{१७१} वह औदारिक शरीर बन्धन आदि के भेद से पांच प्रकार का है।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का परस्पर एवं तैजस, कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म है। उसी प्रकार शेष चार २. वैक्रिय शरीर बन्धन नाम, ३. आहारक शरीर बन्धन नाम, ४. तैजस शरीर बन्धन नाम, ५. कार्मण शरीर बन्धन नाम का स्वरूप समझना चाहिए।^{१७२}

यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीरपाक परिणत पुद्गलों में वैसी ही अस्थिरता रहती है जैसी हवा में उड़ते हुए सत्तू के कणों में होती है।^{१७३}

यद्यपि बन्धन नाम मूल रूप में उपरोक्त पाँच भेद है। लेकिन अपेक्षा दृष्टि से पन्द्रह भेद भी होते हैं।

जैसे कि - १. औदारिक-औदारिक, २. वैक्रिय-वैक्रिय, ३. आहारक-आहारक, ४. तैजस-तैजस, ५. कार्मण-कार्मण, ६. औदारिक तैजस, ७. वैक्रिय तैजस, ८. आहारक तैजस, ९. औदारिक कार्मण, १०. वैक्रिय-कार्मण, ११. आहारक-कार्मण, १२. तैजस-कार्मण, १३. औदारिक-तैजस-कार्मण, १४. वैक्रिय तैजस कार्मण, १५. आहारक तैजस-कार्मण।^{१७४}

(६) संघात नामकर्म - जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण होने पर उन शरीरों की रचना होती है उसे संघातन नामकर्म कहते हैं।^{१७५} अथवा पूर्वगृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गलों का बन्धन तभी संभव है जब वे दोनों एक दूसरे के निकट होंगे। यह कार्य जिस कर्म के द्वारा किया जाता है, उसका नाम है संघात नामकर्म, अतः बन्धन नामकर्म के अनन्तर संघात नामकर्म का कथन होता है।^{१७६} जैसे दंताली से इधर-उधर बिखरी घास इकट्टी की जाती है, जिससे बाद में वह गट्टे के रूप में बंध जाती है। वैसे ही संघात नामकर्म शरीर योग्य पुद्गलों को सन्निहित करता है और बन्धन नामकर्म के द्वारा वे सम्बद्ध होते हैं।^{१७७} अर्थात् शरीर योग्य पुद्गलों को समीप में लाने का काम संघात नामकर्म का है और उसके बाद उन्हें उन-उन शरीर से बन्धन नामकर्म सम्बद्ध करता है। संघात नामकर्म मात्र पाँच प्रकार का है।

१. औदारिक संघात नामकर्म, २. वैक्रिय संघात नामकर्म, ३. आहारक संघात नामकर्म, ४. तैजस संघात नामकर्म, ५. कार्मण संघात नामकर्म।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप परिणत, गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो अर्थात् एकत्रित होकर वे एक-दूसरे के पास व्यवस्था पूर्वक जम जाय वह औदारिक संघात नामकर्म है। इसी प्रकार शेष चार का भी स्वरूप समझना।

संघात नामकर्म यद्यपि बन्धन नामकर्म का निकटतम सहयोगी है, लेकिन बन्धन नामकर्म की तरह अपेक्षा दृष्टि से उसके पन्द्रह भेद न मानकर गृहीत स्व शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण स्व शरीर पुद्गलों के संयोग रूप संघातों की शुभरूपता का प्राधान्य बताने के लिये संघात नामकर्म के मात्र पाँच भेद कहे गये हैं।^{१७८}

(७) संहनन नामकर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियाँ दृढ़ होती हैं। अथवा जिस कर्म के उदय से हड्डियों का आपस में जुड़ जाना अर्थात् रचना विशेष होती है। अथवा जिसके उदय से हड्डियों का बन्धन विशेष होता है उसे संहनन नामकर्म कहते हैं।^{१७९}

औदारिक शरीर के सिवाय अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियाँ नहीं होती हैं। अतः संहनन नाम कर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यच के औदारिक शरीर होने से उनमें ही संहनन नामकर्म का उदय पाया जाता है।^{१८०} इसके छः भेद हैं -

१. वज्र ऋषभ नाराच संहनन - वज्र का अर्थ कीलिका, ऋषभ का अर्थ परिवेष्टन पट्ट और नाराच का अर्थ दोनों तरफ मर्कटबन्ध है। तदनुसार जिसका उदय होने पर उभयतः मर्कटबन्ध से बंधी हुई व पट्ट के आकार

तीसरी हड्डी से वेष्टित दो हड्डियों के उपर उन तीनों हड्डियों की भेदक कीलिकासंज्ञक वज्र नामक हड्डी हुआ करती है उसे वज्रऋषभनाराचसंहनन नामकर्म कहते है।

२. ऋषभनाराचसंहनन - जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष में दोनों तरफ हड्डियों का मर्कटबन्ध हो तीसरी हड्डी का वेष्टन भी हो लेकिन तीनों हड्डियों को भेदनेवाली हड्डी की कीली न हो उसे ऋषभ नाराच संघयण कहते है।

३. नाराचसंहनन - जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन में केवल उभयतः मर्कटबन्ध रूप नाराच ही रहता है उसे नाराचसंहनन कहते है।

४. अर्धनाराच - जिस कर्म का उदय होने पर हड्डियों के परस्पर बन्धन में आधा नाराच रहता है उसे अर्धनाराच संहनन नामकर्म कहते है।

५. कीलिका संहनन - जिस कर्म के उदय में हड्डियाँ परस्पर कीलिका मात्र से सम्बद्ध रहा करती है उसका नाम कीलिका संहनन नामकर्म है।

६. छेवड्डु संहनन - जिस कर्म का उदय होने पर हड्डियाँ दोनों और चमडे स्नायु और मांस से सम्बद्ध रहा करती है। वह छेवड्डु संहनन है।^{१८१}

द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक चार गति के जीवों में छट्टा संघयण तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि में उत्पन्न जीवों में प्रथम संघयण, अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में छहो संघयण, पांचवे आरे में अन्तिम तीन संघयण और छट्टे आरे में अन्तिम एक संघयण वाले जीव होते है। सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रों तथा विद्याधर म्लेच्छ मनुष्यों और तिर्यच व नागेन्द्र पर्वत से परवर्ती तिर्यचों में छहों संघयण है।^{१८२}

८. संस्थान नामकर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर की विविध प्रकार की शुभ-अशुभ आकृतियाँ है उसे संस्थान नामकर्म कहते है। श्री भगवती सूत्र,^{१८३} प्रज्ञापना^{१८४} तथा सर्वार्थ सिद्धि,^{१८५} में यह दो प्रकार का बताया है। १. इत्थंलक्षण, २. अनित्थंलक्षण।

इत्थंलक्षण - जिसका निश्चित आकार बताया जाय कि यह वृत्ति, त्रिकोण, चतुष्कोण आकार वाला है वह इत्थंलक्षण कहा है।

अनित्थंलक्षण - जिसका कोई निश्चित आकार न बता सके जैसे कि मेघ आदि का।

संस्थान नामकर्म छः प्रकार का है। जिसका वर्णन इस प्रकार है-

(१) समचतुरस्र संस्थान नामकर्म - जिसके उदय से प्राणियों को समचतुरस्र संस्थान की प्राप्ति हो वह समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म है। सम का अर्थ समान, चतुः का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण है। अर्थात् पद्मासन लगाकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हो यानि आसन और कपाल का अन्तर दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कंधे और बांये जानु का अन्तर और बांये कंधे व दाहिने जानु का अन्तर समान हो अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिसके शरीर के सभी अवयव शुभ हो वह समचतुरस्र संस्थान कहलाता है।

(२) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान - जिसके उदय से न्यग्रोध (वटवृक्ष) के आकार में नाभि के ऊपर के सब अवयव समचतुरस्र संस्थान रूप समुचित प्रमाण से युक्त होते हैं पर नीचे के अवयव ऊपर के अवयवों के अनुरूप नहीं होते हैं। उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान कहते हैं।

(३) सादि संस्थान नामकर्म - जिसके उदय से नाभि के नीचे के सब अवयव समचतुरस्र संस्थान स्वरूप सुंदर पर उपर का भाग तदनुरूप नहीं होता है उसे सादि संस्थान नामकर्म कहा जाता है। सादि का अर्थ शाल्मली वृक्ष होता है। उसके आकार में अवयवों की रचना होने से सादि या साचि संस्थान कहा गया है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक और 'धवला' आदि में जहाँ इसका उल्लेख 'स्वातिसंस्थान' के नाम से किया गया है वहाँ 'स्वाति से सांप की वामी या शाल्मली वृक्ष को भी ग्रहण किया गया है। अभिप्राय वही रहा है।

(४) कुब्जसंस्थान नामकर्म - जिसके उदय से शिर ग्रीवा व हाथ-पांव आदि के यथोक्त प्रमाण में होने पर वृक्ष उदर व पीठ आदि तदनुरूप न होकर प्रचुर पुद्गल संचय से युक्त होते हैं उसे कुब्जसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

(५) वामन संस्थान नामकर्म - जिसके उदय से वक्ष और पेट आदि योग्य प्रमाण में होते हैं, पर हाथ-पांव छोटे होते हैं वह वामन संस्थान नामकर्म कहलाता है।

(६) हुण्डक संस्थान नामकर्म - जिसके उदय से शरीर के सब ही अवयव ठीक प्रमाण में न होकर बेडोल होते हैं उसका नाम हुण्डकसंस्थान है।

पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य के छहों संस्थान होते हैं। देव के समचतुरस्र संस्थान और नारकी तथा विकलेन्द्रिय के हुण्डकसंस्थान होता है।^{१८६}

वर्णनामकर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि वर्ण होते हैं या जीव का शरीर कृष्ण आदि वर्णों वाला बनता है उसे वर्णनामकर्म कहते हैं।^{१८७} वर्ण नामकर्म के पाँच भेद हैं - 'स्थानांग'^{१८८} तथा 'कर्मग्रंथ'^{१८९} में भी बताये हैं। (१) कृष्णवर्णनाम (२) नील वर्णनाम (३) लोहित वर्णनाम (४) हारिद् वर्णनाम (५) श्वेत वर्णनाम।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो उसे कृष्ण नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष कर्म के जानना।^{१९०}

गंध नामकर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर की शुभ या अशुभ गंध हो उसे गंध नामकर्म कहते हैं।^{१९१} इसके दो भेद हैं - १. सुरभि गंध, २. दुरभि गंध।^{१९२}

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर, केशर, कस्तुरी आदि पदार्थों जैसी सुगंध होती है; उसे सुरभि गंध नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की लहसुन, सडे-गले पदार्थों जैसी बुरी गंध हो, वह दुरभि गंध नामकर्म है।^{१९३}

रसनामकर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर तिक्त, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसों की उत्पत्ति हो वह रस नामकर्म है। रस नामकर्म के पाँच भेद हैं - १. तिक्त रसनाम, २. कटु रसनाम, ३. कषाय रसनाम, ४. आम्ल

रसनाम, ५. मधु रसनाम।^{१९४}

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चटपटा हो वह तिक्त रसनामकर्म है। इसी प्रकार अन्य रसों का भी स्वरूप जानना चाहिए।

स्पर्श नामकर्म - जिसके उदय से शरीर में स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। वह १. कर्कश, २. मृदु, ३. गुरु, ४. लघु, ५. स्निग्ध, ६. रुक्ष, ७. शीत, ८. उष्ण नामकर्म के भेद से आठ प्रकार का है।^{१९५} 'सर्वार्थसिद्धि'^{१९६} और 'कर्मप्रकृति'^{१९७} में भी ये भेद हैं।

इनमें जिसके उदय से शरीर में कर्कश स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है, वह कर्कश स्पर्श नामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार शेष का स्वरूप भी है।

आनुपूर्वी नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणी अपान्तरालगति (विग्रहगति) में श्रेणि के अनुसार नियत देश को जाता है उसका नाम आनुपूर्वी नामकर्म है। अन्य आचार्यों के अनुसार आनुपूर्वी या आनुपूर्व्य नामकर्म वह कहलाता है जिसके उदय से विग्रहगति में वर्तमान जीव के पूर्व शरीर के आकार का विनाश नहीं होता है। अन्य किन्हीं आचार्यों के मतानुसार जिसके उदय से निर्माण नामकर्म द्वारा निर्मित शरीर के अंग-उपांगों के विनिवेश क्रम का नियमन होता है उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इस प्रकार आनुपूर्वी के लक्षण के विषय में अनेक मत उपलब्ध होते हैं।

वह आनुपूर्वी नामकर्म चार प्रकार है - १. नरकानुपूर्वी, २. तिर्यचानुपूर्वी, ३. मनुष्यानुपूर्वी, ४. देवानुपूर्वी।

जिसके उदय से नरकभव के सन्मुख हुए जीव के विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है वह नष्ट नहीं होता है। उसे नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी कहते हैं। गर्ग महर्षि विरचित कर्मविपाक के अनुसार नरकायु का उदय होने पर मोड़ लेकर गमन करते हुए जीव के उस विग्रहवाली गति में नरकानुपूर्वी का उदय होता है।^{१९८} ऋजुगति में उसका उदय नहीं होता है, क्योंकि मुक्त जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजु गति से जाते हैं, परन्तु संसारी जीवों के उत्पत्ति स्थान कभी वर्तमान स्थिति स्थान से नीचे उपर, सीधा, तिरछा आदि हो सकता है। जो कभी उनको जहाँ उत्पन्न होना है वह नया स्थान पूर्व स्थान की बिल्कुल सरल रेखा में होता और कभी वक्र रेखा में, क्योंकि पुनर्जन्म के नवीन स्थान का आधार पूर्वकृत कर्म है और कर्म विविध प्रकार का है, जिससे संसारी जीव की गति ऋजु और वक्र दो प्रकार की हो सकती है।

संसारी जीव की वक्र गति अधिकतम तीन घुमावों वाली होती है। तीन घुमावों में वह अवश्य अपने उत्पत्ति स्थान में पहुँच जाता है।

जिस वक्रगति में एक घुमाव हो उसका काल दो समय, दो घुमाव हो उसका काल तीन समय तीन घुमाव हो तो उसका कालमान चार समय लगता है।

इसी प्रकार शेष तीन आनुपूर्वी का स्वरूप समझना चाहिए।

विहायोगति नामकर्म - जिसके उदय से जीव का गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म कहलाता है।

यह दो प्रकार की है। १. शुभ विहायोगति, २. अशुभविहायोगति।

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हंस, हाथी के सदृश शुभ हो वह शुभ विहायोगति नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊंट, गधे आदि की तरह अशुभ हो उसे अशुभ नामकर्म विहायोगति कहते हैं।^{१९९}

इस प्रकार विहायोगति नामकर्म के भेदों के साथ नामकर्म की गति, जाति आदि चौदह पिंड प्रकृति की उत्तरप्रकृतियों का निरूपण पूर्ण हो जाता है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं।

गइआईण उ कमसो चउपणपण तिपण पंच छच्छकं।

पण दुग पणह चउदुग इय उत्तरभेय पणसट्टी ॥^{२००}

गति के चार, जाति के पाँच, शरीर के पाँच, अंगोपांग के तीन, बन्धन के पाँच, संघात के पाँच, संघयण के छः, संहनन के छः, वर्ण के पाँच, गंध के दो, रस के पाँच, स्पर्श के आठ, आनुपूर्वी के चार और विहायोगति के दो भेद हैं। कुल भेदों की संख्या पैंसठ है तथा पूर्व में बताये गये अपेक्षा भेद से बंधन के पाँच स्थान पर पन्द्रह बन्धन नामकर्म के भेदों को लिया जाय तब पैंसठ के स्थान पर (६५+१०=७५) पचहत्तर पिंड प्रकृति के उत्तर भेद होंगे।

अब अपिंड प्रकृतियाँ जो २८ हैं प्रत्येक त्रस दशक और स्थावर दशक इन में से सर्व प्रथम प्रत्येक प्रकृति के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है -

नामकर्म की प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ हैं -

पराघा-उसास-आयवुज्जोअं।

अगुरुलहु तित्थ निमिणो वघायमिअ अड्ड पत्तेआ ॥^{२०१}

१. पराघात नाम, २. उच्छ्वास, ३. आतप नाम, ४. उद्योत नाम, ५. अगुरुलघु, ६. तीर्थकर नाम, ७. निर्माण नाम, ८. उपघात नाम।

(१) पराघात नामकर्म - जिसके उदय से प्राणी दूसरों के द्वारा पराजित नहीं होता है।

(२) उच्छ्वास नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धियुक्त होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म कहलाता है।

(३) आतप नामकर्म - जिस कर्म के उदय से प्राणी का स्वयं का शरीर उष्ण न होते हुए भी उष्ण प्रकाश करता है, वह आतप नामकर्म कहलाता है। आतप नामकर्म का उदय 'सूर्यबिम्ब' के बाहर स्थित पृथ्वीकाय जीवों को होता है।^{२०२} अन्य जीवों का नहीं।

(४) उद्योत जिसके उदय से जीव का शरीर शीतल (अनुष्ण) प्रकाश फैलाता है उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

इसका उदय लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तथा देव जब मूल शरीर की अपेक्षा

वैक्रिय शरीर धारण करते है उस समय तथा चन्द्रमा नक्षत्र और तारा मण्डल के पृथ्वीकाय के जीवों के शरीर उद्योत नामकर्म से युक्त होने के कारण शीतल प्रकाश फैलाते है। इसी प्रकार जुगुनू रत्न एवं प्रकाश फैलाने वाली दूसरी औषधियों में भी इसी उद्योत नामकर्म का उदय समझना चाहिए।^{२०३}

(५) अगुरुलघु - जिसके उदय से प्राणी का शरीर न भारी होती है और न हलका होता है उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते है।^{२०४}

(६) तीर्थकर नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव को तीर्थकर पद की प्राप्ति होती है उसे तीर्थकर नामकर्म कहते है। इसका उदय केवलज्ञान की दिव्य ज्योति प्राप्त होने के बाद होता है। तत्पश्चात् चोत्रीश अतिशय युक्त वाणी में उत्सर्ग मार्ग से धर्म की प्ररूपणा करते है।^{२०५}

(७) निर्माण नामकर्म - जिस कर्म के उदय से अंग-उपांग अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते है उसे निर्माण नामकर्म कहते है।^{२०६}

यह कर्म चित्रकार या शिल्पी के समान है।^{२०७} जैसे चित्रकार या शिल्पी मूर्ति या चित्र में यथास्थान हाथ, पैर, मुँह, चक्षु आदि अवयवों को चित्रित करता है। वैसे ही निर्माण नामकर्म भी शरीर के अवयवों का नियमन करता है।

(८) उपघात नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के अवयवों से क्लेश प्राप्त करता है वह उपघात नामकर्म कहलाता है।^{२०८}

प्रतिजिह्वा (पडजीभ) चोर दंत (ओठ के बहार निकले हुए दंत) लम्बिका (छट्टी अंगुली) आदि शरीरावयवों की उपघातक अवयवों में गणना होती है।

त्रस दशक-द्वीन्द्रिय ये पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव त्रस कहलाते है। उनमें घटने वाली प्रकृतियाँ दस होने से व त्रस दश कहलाती है।

तस बायर पज्जतं पत्तेय थिरं सुभं सुभगं च।

सुसराऽऽइज्ज जसं तसदसगं इमं होइ॥^{२०९}

१. त्रस नाम, २. बादर नाम, ३. पर्याप्त नाम, ४. प्रत्येकनाम, ५. स्थिर नाम, ६. शुभ नाम, ७. सुभ नाम, ८. सुस्वर नाम, ९. आदेय नाम, १०. यश-कीर्ति नाम।

(१) त्रस नाम - जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति होती है वह त्रसनामकर्म कहलाता है।^{२१०}

त्रस जीवों के बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये चार भेद हैं।^{२११} त्रस जीव गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते है। यद्यपि तेउकाय और वाउकाय जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय है। लेकिन उनमें त्रस के समान गति दिखने के कारण गतित्रस कहा जाता है। अतः त्रस के दो भेद गतित्रस और लब्धित्रस।

(२) बादर नामकर्म - जिसके उदय से जीव का शरीर बादर अर्थात् स्थूल होता है वह बादर नामकर्म कहलाता है।

बादरनाम यदुदयाद् बादरो भवति 'स्थूर' इत्यर्थः।^{२९२}

यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति तद् बादरनामइत्यर्थः।^{२९३}

बादर का जिसे आँख से देखा जा सके यह अर्थ नहीं है। क्योंकि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर भी आँखों से नहीं देखा जा सकता है। किन्तु बादर पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार का बादर परिणाम उत्पन्न करता है जिससे उन जीवों के शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति की क्षमता प्रकट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

(३) पर्याप्त नामकर्म - जिस नामकर्म से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त होता है उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं।^{२९४} पर्याप्त के छः भेद हैं - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

(४) प्रत्येक नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक जीव हो उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

(५) स्थिर नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव के दांत हड्डियाँ ग्रीवा आदि के अवयव स्थिर, निश्चल हो वह स्थिर नामकर्म कहलाता है।

(६) शुभ नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव के नाभि से उपर के अवयव शुभ हो वह शुभ नामकर्म कहलाता है।

(७) सुभग नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार उपकार किये बिना भी या किसी तरह सम्बन्ध न होने पर भी सबको प्रिय लगता है उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।^{२९५}

(८) आदेय नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो वह आदेय नामकर्म कहलाता है।

(९) यशः कीर्ति, पद - यश और कीर्ति इन दो शब्दों से निष्पन्न सामासिक पद है। किसी एक दिशा में जो ख्याति प्रशंसा होती है वह कीर्ति और सब दिशाओं में जो प्रशंसा-ख्याति हो वह यश।^{२९६}

एकदिगामिनि कीर्तिः सर्वदिगामुकं यशः।

दान तप आदि से जो नाम होता है उसे कीर्ति कहते हैं और पराक्रम वीरता शत्रु पर विजय उससे जो नाम होता है उसे यश कहते हैं। 'दान पुण्यकृता कीर्ति पराक्रम कृतं यशः।'

स्थावर दशक - जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे, गर्मी-सर्दी आदि से बचने का उपाय न कर सके वह स्थावर नामकर्म है।

पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु और वनस्पति कायिक जीव स्थावर जीव है।

सूक्ष्मनाम - जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो उसे सूक्ष्म नाम कर्म कहते हैं। सूक्ष्म

यानि चर्म-चक्षुओं से ही एक जीव का न दिखना ही नहीं है, अपितु सूक्ष्म नामकर्म का उदय जीवों में ऐसी सूक्ष्मता पैदा करता है जिससे समुदाय अवस्था में भी प्राणी दिखायी नहीं देते हैं। ये समस्त लोकाकाश में व्याप्त होते हैं।

अपर्याप्त नाम - जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर पाये, उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

साधारण नाम - जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो वह साधारण नामकर्म कहलाता है। उन सभी का जीवन, मरण, आहार, श्वासोच्छ्वास एक साथ में होता है।

जिनकी शिराएँ संधि अप्रकट हो, मूल, कन्द, त्वचा, कौपल, टहनी, पत्र, फूल तथा बीजों को तोड़ने पर समान भंग हो दोनों भागों में परस्पर तन्तु न लगे रहे उसे साधारण उसके विपरीत प्रत्येक वनस्पति समझना चाहिए।^{२१७}

साधारण का ऐसा ही स्वरूप 'जीवविचार'^{२१८} में भी बताया गया है।

अस्थिर नाम जिस कर्म के उदय से नासिका, मुँह, जीभ आदि शरीर अवयव चपल अस्थिर होते हैं उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

अशुभ नाम - जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हो उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

दुर्भग नाम - जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी जीव सबको अप्रिय लगता है, दूसरे जीव शत्रुता एवं ईर्ष्या, द्वेष, वैर भाव रखे वह दुर्भग नामकर्म कहलाता है।

दुःस्वर नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर व वचन श्रोता को सुनने में अप्रिय कर्कश प्रतीत हो उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

अनादेय नाम - जिस कर्म के उदय से जीव का युक्तियुक्त वचन भी अग्राह्य समझा जाता है उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

अयशः नाम - जिस कर्म के उदय से जीव का लोक में अपयश और अपकीर्ति फैले वह अयशः नामकर्म कहलाता है।

'थावर सुहम अपज्जं साहारणमथिर मसुभदुभगाणि दुस्सरऽणाइज्जाऽजस'^{२१९}

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ का विवेचन पूर्ण हुआ है। संक्षेप में नामकर्म की सभी प्रकृतियाँ का दो में समावेश हो सकता है। शुभनामकर्म और अशुभ नामकर्म।

नामेकम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा सुभणामे चेत्त अशुभ णामे चेव।^{२२०}

शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य।^{२२१}

शुभ प्रकृतियाँ पुण्य और अशुभ प्रकृतियाँ पाप रूपात्मक होती हैं।

गोत्र कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच कहलाता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं। कोशकारों

ने कुल, वंश, व्यक्ति विशेषों की सन्तान परम्परा आदि शब्दों के लिए गोत्र शब्द का प्रयोग किया। लेकिन यहाँ पर इस कर्म के उदय से जीव जाति, कुल की अपेक्षा से पूज्य-अपूज्य कुलीन-अकुलीन कहलाता है।

गोत्र कर्म दो प्रकार है। वह इस प्रकार-

गोयं दुविहं भेयं उच्चागोयं तहेव नीयं च।^{२२२}

गोत्र नामकर्म दो प्रकार का है। उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

‘उत्तराध्ययन’^{२२३} ‘प्रज्ञापना’^{२२४} ‘कर्मप्रकृति’^{२२५} ‘तत्त्वार्थ’^{२२६} ‘कर्मग्रन्थ’^{२२७} ‘धर्मसंग्रहणी’^{२२८} में भी दो भेद बताये हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है उसे उच्चगोत्र नामकर्म कहते हैं। उच्च गोत्र देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सम्मान, ऐश्वर्य के उत्कर्ष का कारण होता है।^{२२९} अथवा जिसके उदय से जीव अज्ञानी एवं विरूप होने पर भी उत्तम कुल के कारण पूजा जाता है उसे उच्चगोत्र नामकर्म कहते हैं।^{२३०}

उच्चगोत्र कर्म के आठ उपभेद हैं - १. जाति, २. कुल, ३. बल, ४. रूप, ५. तप, ६. श्रुत, ७. लाभ, ८. ऐश्वर्य।^{२३१}

जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है उसे नीच गोत्र नामकर्म कहा जाता है। चाण्डाल, मच्छीमार आदि।^{२३२}

अन्तराय - अन्तराय कर्म जीव को लाभ आदि की प्राप्ति में शुभ कार्यों को करने की क्षमता, सामर्थ्य में अवरोध खड़ा करता है। अन्तराय कर्म अपना प्रभाव दो प्रकार से दिखाता है - १. प्रत्युत्पन्न विनाशी, २. पिहित अगमिक पथ।^{२३३} प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय कर्म के उदय से प्राप्त वस्तुओं का भी विनाश हो जाता है, और पिहित आगमिक पथ अन्तराय भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति में अवरोधक हैं। अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का परमात्मा द्वारा कहा गया है।

चरिमं च पंचभेदं पन्नतं वीयरगोहिं।

तं दाणलाभभोगोवभोगविरियंतराइयं जाण।^{२३४}

१. दानांतराय कर्म, २. लाभांतराय कर्म, ३. भोगान्तराय कर्म, ४. उपभोगान्तराय कर्म, ५. वीर्यान्तराय कर्म।

‘उत्तराध्ययन सूत्र’^{२३५} ‘तत्त्वार्थ सूत्र’^{२३६} तथा ‘प्रथम कर्मग्रन्थ’^{२३७} में भी ये भेद हैं।

दानान्तराय कर्म - जिसके उदय से देने योग्य द्रव्य और ग्रहण करनेवाले विशिष्ट पात्र के रहते हुए भी तथा दान के फल को जानता हुआ भी जीव देने के लिए उत्साहित नहीं होता है। उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं।

लाभान्तराय - जिसके उदय से प्रसिद्ध दाता और उसके पास प्राप्त करने योग्य वस्तु के होने पर भी तथा मांगने में निपुण होता हुआ भी प्राणी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त नहीं कर पाता है। उसका नाम लाभान्तराय कर्म है।

भोगान्तराय कर्म - जिसके उदय से जीव वैभव के होने पर भी तथा विरतिरूप परिणाम के न होते हुए भी

भोगों को नहीं भोग सकता है। वह भोगान्तराय कहलाता है।

उपभोगान्तराय - उपभोगरूप वस्तुओं के होने पर तथा विरतिरूप परिणाम के न होने पर भी जिसके उदय से जीव उपभोग नहीं कर पाता उसे उपभोगान्तराय कहते हैं। जो वस्तु एक बार ही भोग में आती है उसे भोग कहा जाता है। जैसे माला, आहार आदि तथा जो वस्तु बार-बार भोगने में आती है उसे उपभोग कहा जाता है।

सइ भुज्जइ ति भोगो सो उण आहार फूलमाईसु।

उपभोग उ पुणो पुण उवभुज्जइ भुवणव-लयाई।

वीर्यान्तराय - जिसके उदय से प्राणी निरोगी व योग्य अवस्था को प्राप्त होकर भी हीन वीर्यवाला हुआ करता है। उसका नाम वीर्यान्तराय है। शक्ति सामर्थ्य पराक्रम होने पर भी तप, त्याग, ध्यान आदि नहीं करता है। वह जीव वीर्यान्तराय कर्म का बंध करता है।^{२३८}

आठों कर्मों के उत्तर प्रकृतियों के भेद 'उत्तराध्ययन सूत्र'^{२३९} 'तत्त्वार्थ सूत्र'^{२४०} 'प्रशामरति'^{२४१} 'कर्मग्रन्थ'^{२४२} तथा हरिभद्रसूरि रचित 'श्रावक प्रज्ञप्ति'^{२४३} तथा 'धर्मसंग्रहणी'^{२४४} में मिलते हैं।

इन्हीं उत्तर प्रकृतियों का विशेष विवेचन 'तत्त्वार्थभाष्य'^{२४५} 'उत्तराध्ययन टीका'^{२४६} 'प्रशामरति टीका'^{२४७} 'प्रथम कर्मग्रन्थ टीका'^{२४८} 'धर्मसंग्रहणी टीका'^{२४९} तथा आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'श्रावक प्रज्ञप्ति टीका'^{२५०} और 'प्रज्ञापना' में किया है।

लेकिन इतना विशेष है कि नामकर्म के भेद कर्मग्रंथ में ४२, ९३ तथा १०३ तीनों प्रकार बताये गये हैं। जब कि तत्त्वार्थ सूत्र, श्रावक प्रज्ञप्ति और धर्मसंग्रहणी में ४२ भेद ही नामकर्म के लिये है तथा उत्तराध्ययन सूत्र की मूल गाथा में नामकर्म के शुभ और अशुभ दो भेद बताये हैं। लेकिन इस संख्याओं में नामकर्म की मानी गई प्रकृतियों में से न तो किसी प्रकृति को छोड़ा गया है और न अधिकता के लिए किसी नई प्रकृति का समावेश ही किया है। इस संख्या की भिन्नता का कारण अपेक्षादृष्टि है।

प्रथम कर्मग्रंथ की टीका में उत्तर प्रकृतियों का विवेचन बहुत ही सचोट एवं युक्तियुक्त किया गया है तथा आचार्य हरिभद्रसूरि भी जैन वाङ्मय में एक कर्मवेत्ता बनकर 'श्रावक प्रज्ञप्ति टीका' एवं 'प्रज्ञापना टीका' में एक-एक प्रकृति का पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते सुंदर विवेचन किया है।

इस प्रकार आठ कर्मों के भेद एवं प्रभेदों व उनके लक्षण का संक्षेप में दिग्दर्शन किया गया। कर्म विचारणा के प्रसंग में उनका सैद्धान्तिक रूप अभिव्यक्त किया गया है। परंतु जब वे (कर्म) जीवन में अपना साकार रूप अंगीकार कर लेते हैं तब अपना अपना स्वभाव कार्य द्वारा भी प्रकट कर देते हैं और संसार अनंत संसार की जन्म मरण की परंपरा से जुड़ जाता है। कर्म कितने ही बलवान् क्यों न हो किन्तु आत्म शक्ति से उनकी शक्ति अधिक नहीं है वे नष्ट होते हैं। कर्म का बन्ध स्वयं आत्मा करती है और क्षय का कार्य आत्मा करती है। इसके बन्ध और क्षय होने तक प्रवाह में शक्ति द्वारा उनमें अनेक परिवर्तन होते हैं। कभी-कभी कर्म बलवान् बनकर अपना अपूर्व बल का प्रदर्शन करता है। लेकिन कर्म-विज्ञान का विज्ञाता स्वकीय जीवन में निराश

हताश और शोकाकुल नहीं होता है। जीव आवागमन से छुटकारा पाकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख चतुष्टय को आत्म शक्ति द्वारा जगाता है। कर्म सिद्धान्त वस्तुतः जीवन को सक्रिय बनाता है। बंध से लेकर क्षय होने तक आत्मा और कर्मशक्ति के बीच एक प्रकार का संघर्ष छिडा रहता है। जैन कर्म सिद्धान्त में बन्ध आदि अनेक अवस्थाओं द्वारा इस संघर्ष की स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया, जिससे कर्म की कभी प्रभावकता सिद्ध होती है तो कभी आत्मशक्ति की अपूर्व अजोड़ अद्भुत बलवत्ता प्रसिद्ध होती है।

(७) मूर्त का अमूर्त पर उपघात - कर्म की मूर्तता एवं आत्मा की अमूर्तता का संबंध तथा उपघात अनुग्रह आदि को लेकर विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद में चर्चाएँ हुई हैं वहाँ दूसरे गणधर अग्निभूति के शंका का समाधान करते हुए कहा कि जिस प्रकार मूर्त ऐसे घट का अमूर्त ऐसे आकाश के साथ संयोग संबंध है तथा अंगुली आदि द्रव्यों का संकोचन प्रसारण आदि क्रियाओं के साथ समवाय संबंध है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म का संबंध भी है।^{२५१}

यही बात आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्मसंग्रहणी में कही है -

मुत्तेणामुत्तिमतो जीवस्स कहं हवेज्ज संबंधो ।

सोम्म ! घडस्स व णभसा जह वा दव्वस्स किरियाए ॥

मूर्त ऐसे कर्मों का अमूर्त ऐसे आत्मा के साथ कैसे संबंध हो सकता है ? लेकिन उनकी यह मान्यता बराबर नहीं है। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि हे सौम्य ! जिस प्रकार अमूर्त ऐसे आकाश के साथ घड़ा का संबंध है, द्रव्य अंगुली आदि का अमूर्त संकोचन, प्रसारण आदि क्रियाओं के साथ संबंध है वैसे आत्मा और कर्म का संबंध है।^{२५२}

तथा मूर्त ऐसे कर्मों का अमूर्त ऐसे आत्मा पर अनुग्रह या उपघात कैसे घटित हो सकता है क्योंकि कर्म तो मूर्त है, वर्णवाला है, रूपी है और आत्मा अमूर्त है, वर्णादि रहित है, अरूपी है जैसे आकाश अमूर्त है उसको मूर्त ऐसे पत्थर से उपघात या फूल की माला से अनुग्रह अथवा अग्नि की ज्वाला से उपघात या चन्दन से अनुग्रह नहीं होता वैसे ही मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा पर उपघात या अनुग्रह नहीं होना चाहिए।

लेकिन उनकी यह धारणा युक्ति-युक्त नहीं है। आचार्य हरिभद्रसूरि इस तथ्य को एक दर्शनिक युक्तियों से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

मुत्तेणाममुत्तिमओ उवघायाऽणुग्गहा वि जुज्जति ।

जह विण्णाणस्स इहं मइरापाणोसहादीहिं ।^{२५३}

जिस प्रकार बुद्धि अमूर्त है फिर भी मदिरापान से उपघात और ब्राह्मी आदि औषधि से अनुग्रह होता है वैसे ही मूर्त कर्मों के द्वारा अमूर्त आत्मा को उपघात और अनुग्रह घटित होता है। अर्थात् विज्ञान विवाद करने की इच्छा, धैर्य, स्मृति आदि आत्मा के अमूर्त धर्म है उसको मदिरा-पान विष और मच्छर आदि के भक्षण से उपघात होता है और दूध, साकर, घी से युक्त औषधि सेवन से अनुग्रह होता ही है। लेकिन पत्थर और पुष्पमाला

के द्वारा अमूर्त ऐसे आकाश को उपघात या अनुग्रह नहीं होता है। यह जो दृष्टांत दिया है वह बराबर है क्योंकि आकाश चैतन्य रहित निर्जीव द्रव्य है यही सच्चा कारण है। जो चेतन होता है उसे उपघात या अनुग्रह होता है। निर्जीव में ज्ञानसंज्ञा का ही अभाव होता है। अतः आकाश में उपघात अनुग्रह नहीं होता है परंतु आकाश अमूर्त होने से उपघात अनुग्रह नहीं होता है। यह मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए विज्ञान के समान अमूर्त आत्मा में अनुग्रह और उपघात होता है। यही बात धर्मसंग्रहणी टीका^{२५४} तथा योगशतक की टीका^{२५५} में है।

अथवा संसारी आत्मा एकांत से सर्वथा अमूर्त नहीं है अनादि कर्म-प्रवाह के परिणाम को प्राप्त किया हुआ है। आत्मा अग्नि और लोहपिंड के संबंध के सदृश कर्म के साथ मिला हुआ है और कर्म मूर्तिमान होने से आत्मा भी उससे कथंचित् अनन्य होने से अमूर्त होने पर भी कथंचित् मूर्त है, उससे आत्मा अमूर्त होने से अनुग्रह या उपघात नहीं होता है ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए।

अहवा णेगंतोऽयं संसारी सव्वहा अमुत्तोत्ति ।

जमणादिकम्मसंतति परिणामावन्नरुवो सो ॥^{२५६}

उपरोक्त सम्पूर्ण तथ्य 'विशेषावश्यक - भाष्य'^{२५७} में भी स्पष्ट किया है।

(८) कर्तृभाव कर्मभाव परस्पर सापेक्ष - कर्ता और कर्म परस्पर सापेक्ष भाव से रहते हैं जैसे कि कार्यरूप कर्म प्रवाह से अनादि है उसी से शुभाशुभ अध्यवसाय रूप कारण के संबंध से जीव भी कर्म के कर्ता रूप में सिद्ध होता है।

जीव अपने शुभाशुभ अध्यवसाय रूप परिणाम विशेष से ज्ञानावरण आदि कर्मों में अनेक प्रकार का ज्ञानावरणकत्व आदि सामर्थ्य उत्पन्न करता है। कर्म अपनी उपस्थिति मात्र से फल नहीं देता है लेकिन निश्चित प्रकार के सामर्थ्य से युक्त होने पर ही वैसा-वैसा नियत फल देता है। उसी से कर्म अपनी सत्तामात्र से फल देने वाले नहीं होते परंतु कुछ उसी प्रकार निश्चल स्वभाव वाले होकर अमुक ही फल देते हैं, कर्मों का यह प्रतिनियत स्वभाव अपना संबंधी जीव के शुभाशुभ अध्यवसाय पर अवलंबित है। इसीसे सिद्ध होता है कि परिणाम विशेषरूप कारण के योग से जीव ही कर्म में फलसंबंधी नियत स्वभाव उत्पन्न करनेवाला होने से कर्ता है तथा जीव भी कर्म में प्रतिनियत स्वभाव का अपादान करने में हेतु नहीं बने तो अवश्य उस कर्म का प्रतिनियत स्वभाव असंभवित बनेगा कारण कि परिणामि और नियत कारण के अभाव में कार्य कभी उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार कर्मों के प्रतिनियत स्वभाव की अपेक्षा से जीव कर्मों का निमित्तकारण रूप में युक्ति से सिद्ध होता है उसी से जीव कर्मों का निमित्तकारण रूप में युक्ति से सिद्ध होता है। उसी से जीव कर्मों का कर्ता है। सर्वज्ञ के उपदेश से भी जीव कर्ता रूप में सिद्ध है।^{२५८} इस प्रकार कर्ता और कर्म का परस्पर सापेक्ष भाव हो तभी परिणाम्य परिणामिक बध्य और बंधक भाव घटित हो सकता है। जैसे कि 'योगशतक की टीका में आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख किया है कि यह आत्मा समय समय कर्म परमाणु के स्कंधो को बांधता है और उसमें राग द्वेष और मोह लाकर प्रकृति स्थिति रस और प्रदेश रूप में परिस्थिति का निर्माण करता है। और

उन कर्मों का उदयकाल परिपक्व होने पर उदय में आते हैं, और उदित कर्मों में रागादि उत्पन्न करने का यह परिणामक स्वभाव होता है और आत्मा में उनका रागादि रूप में परिणाम प्राप्त करना ऐसा परिणाम्य स्वभाव होता है। जैसे कि फूल का स्फटिक में प्रतिबिम्ब पड़ता है, दीवार में नहीं पड़ता है। अग्नि से तृण जलता है पत्थर नहीं जलता और तृण को अग्नि जलाती है जल को नहीं जलाती है। अर्थात् जिस प्रकार आत्मा में परिणामी स्वभाव और कर्मों में परिणामक स्वभाव है इसलिए ही कर्मोदय के निमित्त से आत्मा में रागादि परिणाम होते हैं। इन दोनों के सापेक्ष होने पर ही यह सब घटित हो सकता है।^{२५९}

(९) कर्म और पुनर्जन्म - कर्म और पुनर्जन्म का चक्र साथ-साथ ही चलता है। जीवात्मा में राग-द्वेष है वहाँ तक कर्म बंधन होता ही रहेगा और कर्म होगा तो पुनर्जन्म भी होना ही है। कहा है-

कर्मणः जन्म जन्मात् पुनः कर्म।

पुनरपि जन्म पुनरपि जन्म पुनरपि कर्म ॥

पाप प्रवृत्ति से बांधे हुए कर्म के कारण भवांतर में जीव को जन्म धारण करना पड़ता है और उस जन्म में जीव पुनः कर्म उपार्जन करता है और आगे पुनः जन्म धारण करता है। इस तरह कर्म के कारण जन्म और जन्म के कारण पुनः कर्म का विषमचक्र अनंतकाल तक चलता रहता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्वयं परमात्मा ने कर्म को जन्म-मरण का कारण बताया है -

कम्मं च जाई मरणस्स मूलं दुःखं जाई-मरणं वयन्ति।^{२६०}

कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही दुःख है।

दिगम्बर ग्रंथ पंचास्तिकाय में भी इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जो जीव संसार में स्थिर अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है उसके राग और द्वेष परिणाम होते हैं। उन परिणामों के कारण नये कर्म बन्धते हैं। कर्मबंध के फलस्वरूप गतियों में जन्म लेना पड़ता है।^{२६१}

अर्थात् सारांश रूप में हम यह कहते हैं कि कर्म संसार सन्तति का मूल कारण है जब कर्म का विच्छेद होगा तब ही जन्म-मरण की परंपरा का अंत होगा।

(१०) कर्म और जीव का अनादि संबंध - कर्म और जीव का संबंध अनादि काल से चला आ रहा है। जब वह अव्यवहार राशि निगोद में आया तब भी कर्म से वह संयुक्त था तथा व्यवहार राशि में आने के बाद भी उसकी विकास दृष्टि जागृत हुई है। लेकिन अभी भी संसार में है वहाँ तक कर्मों से जुड़ा हुआ है। अर्थात् कर्मों की आदि कब हुई इस कथन को हम किसी भी युक्ति से चरितार्थ नहीं कर सकते क्योंकि आगम ग्रन्थों में उसकी अनादि के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि 'योगबिन्दु' आदि ग्रन्थों में जीव और कर्म के अनादि संबंध बताते हुए कहते हैं कि जीव और कर्म का संयोग भी जीव की योग्यता बिना संभव नहीं है। उसी से जीव और कर्म सम्बन्धी जो योग्यता है वही उसका अनादि स्वभाव है उसीसे कर्म का जीव के साथ जो संयोग सम्बन्ध है वह भी अनादि काल का ही

जानना चाहिए।^{२६२}

यह अनादि सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से है - जब रागादि परिणामों का आगमन होता है तब कर्म का बंध होता है वह कर्म की सादि कहलाती है। लेकिन जब कर्म का बंध हुआ तब भी उसके पास पूर्वबद्ध कर्म तो अवस्थित है, वह कर्म जब बांधा होगा तब भी उस कर्म के पहले पूर्वबद्ध कर्म तो होगा ही इस प्रकार बीजांकुर न्याय से एक कर्म दूसरे कर्म का कारण बनता है। इस प्रकार आत्मा और कर्म का संबंध अनादि मानना ही न्यायपूर्वक है।^{२६३} इसी बात को आचार्य हरिभद्रसूरि दृष्टांत के द्वारा दृढ़ करते हैं -

सर्वं कयगं कम्मं ण यादिमंतं पवाहरुवेण ।

अणुभूयवतमाणातीतद्धासमयं मो णातं ॥^{२६४}

अणुभूयवतमाणे सर्वो वेसो पवाहओऽणादी ।

जह तह कम्मं णेयं कयकत्तं वत्तमाणसमं ॥^{२६५}

जैसे अणुभव किया है वर्तमान काल का जिसने ऐसा सम्पूर्ण अतीत काल प्रवाह से अनादि है वैसे ही कर्म व्यक्ति रूप में कृतक (कार्यरूप) होने पर भी प्रवाह से अनादि है।

अर्थात् जितना अतीत काल गया है वह सभी अतीत काल एक बार अवश्य वर्तमान अवस्था को प्राप्त कर चुका है। उदाहरण के रूप में जैसे कि अभी ई.सं. २००८ चल रहा है। उसके पूर्व में २००६, २००५, २००४, २००३, २००२ आदि वर्ष अभी भूतकाल कहे जाते हैं। परंतु उन वर्षों का जब प्रारंभ हुआ था तब तो वे भी वर्तमान ही थे। उसके पश्चात् भूतकाल बने हैं, अतः वर्तमान ही थे। उसकी सादि है फिर भी सम्पूर्ण भूतकाल अनादि है कारण कि समय के बिना यह लोक कभी भी संभवित नहीं है।

अर्थात् बीता हुआ अतीत काल विवक्षित वर्ष के वर्तमान काल में सादि होने पर भी प्रवाह से अनादि है। उसी प्रकार कर्म भी विवक्षित कर्म के आश्रयी सादि होने पर भी प्रवाह से अनादि है। इसी को आचार्य हरिभद्रसूरि दार्शनिकता से सिद्ध करते हैं जैसे जीव और कर्म पुद्गलों का संयोग, तथा बंध का सम्बन्ध पूर्वोक्त योग्यता से प्रवाह से अनादिकालीन है वैसे ही सांत अर्थात् अंतवाला भी है जो ऐसा स्वीकार नहीं करे तो प्रथम जीव कमलपत्र के समान शुद्ध होना चाहिए और पश्चात् उसको कर्म का सम्बन्ध हुआ वैसा मानना पड़ेगा और वैसा मानने पर पूर्व जो कहा गया (अनादि) उसके साथ विरोध आयेगा। अर्थात् जीव के साथ कर्मों के बंधन को आदिकालीन माने तो वह कार्य के कारण भूत योग्यता में भी आदिता आयेगी। उससे कर्मबंध को भी आदि मानना पड़ेगा। उससे तो मुक्तात्मा का अनंतत्व नहीं रहेगा। उस कारण से सभी दर्शनकारों ने योग्यता को अनादि रूप में माना है। तथा योग्यता को आदि माने तो निरंजन-परमात्मा सिद्ध को भी कदाचित् योग्यता आते ही कर्मबंध हो सकते हैं और वैसा स्वीकारे तो धर्म-क्रिया, देव-गुरु पूजा आदि क्रियाओं पर विश्वास ही नहीं रहेगा। उसी से जीव के साथ अनादि काल से प्रवाह पूर्वक आनेवाली योग्यता के द्वारा कर्म संयोग कर्मबंध कर्म भोक्तृत्व आदि प्रवाह से अनादि काल का ही सिद्ध होता है। जिनेश्वर परमात्मा के वचन प्रमाणिक होने से और उसमें

अपनी अल्पज्ञता होने से, परमात्मा द्वारा प्ररूपित जीव, कर्म और उसके सम्बन्धी योग्यता अनादिकालीन है। ऐसा दृढ विश्वास पूर्वक मानना चाहिए।^{२६६}

कंचन और मिट्टी के समान जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी उपायों के द्वारा दोनों का वियोग भी अवश्य हो सकता है। उसी को आचार्य हरिभद्रसूरि सुयुक्तियों द्वारा बताते हैं। जिज्ञासु अथवा अज्ञानी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जिसका संबन्ध अनादि से उसका अंत कैसे हो सकता है जिस प्रकार अभव्य में अभव्यता अनादि से है। अतः अनंतकाल तक रहती है, उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि काल से होने के कारण अनंत-काल तक रहना चाहिए। उससे जीव की मुक्ति की बात घटित नहीं होती है।

लेकिन यह बात युक्तियुक्त नहीं है। जिसका सम्बन्ध अनादिकाल से हो उसका अनंतकाल तक सम्बन्ध रहे यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि यह नियम तो व्यभिचार युक्त है। जैसे कंचन और मिट्टी का सम्बन्ध अनादि है फिर भी खार मिट्टी आदि के पुटपाक से उस सम्बन्ध का अंत आ सकता है। उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयी की उपासना से अंत लाया जा सकता है।

यद्यपि कंचन और उपल का सम्बन्ध अनादि का कहा है। लेकिन विचार करने पर पारमार्थिक रूप से वह अनादि सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि दोनों पृथ्वीकाय जीवद्रव्य के मूर्त शरीर ही हैं। उससे जब उन जीवद्रव्यों की पृथ्वीकाय रूप में - खाण में उत्पत्ति हुई तब उनका सम्बन्ध हुआ। अर्थात् संख्याता वर्षादि पूर्व का सम्बन्ध हो सकता है। परंतु अनादि काल का नहीं। अतः वास्तविक सम्बन्ध सादि और सान्त है फिर भी कंचन और उपल के सम्बन्ध अनादि कहा है। जिसका समाधान आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग-शतक की टीका में 'निसर्गमात्रतया' पद से किया है। अर्थात् यह दृष्टांत निसर्गमात्र रूप में ही देने में आया है। इस सम्बन्ध की आदि होने पर भी व्यवहारिक जीवों को उसकी आदि नहीं मिलती है। उसकी अपेक्षा से दोनों का सम्बन्ध अनादि है।

कंचन और उपल के समान दूसरे भी ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जो अनादि होने पर भी अनंत नहीं हैं, परंतु उनका अंत है।

१. प्राग्भाव न्यायदर्शन में अनादि है फिर भी सान्त है।
२. बीज और अंकुर की उत्पत्ति प्रवाह से अनादि है फिर भी बीज को न बोने अथवा अंकुर के नाश हो जाने पर अंत होता है।
३. मुर्गी और अंडे की उत्पत्ति अनादि होने पर भी दोनों में से एक का विनाश होने पर अंत भी होता है। उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर रत्नत्रयी की उपासना आदि से अंत आ सकता

है।^{२६७}

इसी बात का उल्लेख 'विशेषावश्यक-भाष्य'^{२६८} में भी ग्यारहवें गणधर के शंका के समाधान पर किया गया है।

(११) कर्म के विपाक - सम्पूर्ण प्रकृतियों का जो फल होता है उसको विपाक अथवा विपाकोदय

कहते हैं। इसी का नाम अनुभाग अथवा अनुभाग बन्ध है। जैसा कि उमास्वाति म. ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है।

विपाकोऽनुभावः।^{२६९}

वि शब्द का अर्थ है विविध अनेक प्रकार का और पाक शब्द का अर्थ परिणाम या फल। बंधे हुए कर्मों का फल अनेक प्रकार का हुआ करता है। अतएव उसको विपाक कहते हैं। तथा सभी जीव पूर्वकृत कर्मों के फल-विपाक को प्राप्त करते हैं।

ज्ञानावरण आदि आठों कर्म स्व-स्वभाव के अनुसार उदय काल में अपना विपाक दिखाते हैं। सामान्य रूप से देखा जाय तो विपाक हेय है। लेकिन विशेष की अपेक्षा से यहाँ विपाक कथंचिद् शुभ रूप भी है और कथंचिद् अशुभ रूप भी। इसीलिए उनकी अनुभाग शक्ति को विपाक की दृष्टि से पुण्य और पाप दो भागों में विभक्त की जा सकती है। दान, शीलं, मंदकषाय, सेवा, परोपकार आदि शुभ परिणामों से जिन कर्मों में शुभ अनुभाव विपाक प्राप्त होता है। उन्हें पुण्य कर्म तथा मदिरा-पान, मांस-भक्षण, कूड-कपट आदि अशुभ परिणामों से जिनका उत्कट अशुभ अनुभाव प्राप्त होता है उन्हें पापकर्म कहते हैं। पुण्यकर्मों का सुख और पापकर्मों का दुःख रूप विपाक होता है।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति।

दुचिण्णा-कम्मा दुचिण्णा फला भवन्ति ॥^{२७०}

दर्शनान्तरों ने भी कर्मों के विपाक को स्वीकारा है।

ते ह्यादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वाद्।^{२७१} वे (जाति आयु तथा भोग) पुण्य और अपुण्य के कारण सुख-फल तथा दुःख-फल है।

दुःख के हेतु अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश है। अतः जो कर्म अविद्या आदि के विरुद्ध होते हैं या जिनके द्वारा वे क्षीण होते हैं वे पुण्यकर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों द्वारा अविद्या आदि अपेक्षाकृत क्षीण हो जाते हैं वे भी पुण्य कर्म कहलाते हैं और अविद्या के पोषक कर्म अपुण्य या अधर्म कर्म होते हैं।^{२७२}

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म, कर्म के रूप से गणित होते हैं।^{२७३} मैत्री तथा करुणा और तन्मूलक परोपकार दान आदि भी अविद्या के कुछ विरोधी होने के कारण पुण्य कर्म होते हैं। क्रोध, लोभ और मोहमूलक हिंसा तथा असत्य इन्द्रियलौल्य आदि पुण्य विपरीत कर्म-समूह को पाप कर्म कहा जाता है। गौडपादजी कहते हैं कि यम-नियम, दया और दान ये धर्म या पुण्य कर्म हैं।^{२७४}

अशुभ कर्मों की विपाक शक्ति के तारतम्य की अपेक्षा से चार भेद हो जाते हैं। लता, दारु, अस्थि और शैल। अर्थात् लता आदि में जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक कठोरता है वैसे ही उनकी विपाक शक्ति में उत्तरोत्तर तीव्रता समझना चाहिए। लेकिन शुभ-कर्मों की विपाक शक्ति पुण्य और अशुभ कर्मों की विपाक शक्ति पाप ऐसी पुण्य-पाप रूप से शक्ति दोनों प्रकार की होती है। इसीलिए उन दोनों प्रकारों में भी प्रत्येक के चार-चार भेद

है। पुण्य रूप विपाक शक्ति के गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृत ये चार भेद है तथा नीम, कांजीर, विष और हलाहल ये चार भेद पाप रूप विपाक शक्ति के होते हैं।^{२७५}

सभी प्रकार के कर्मों के शुभ या अशुभ रूप विपाक फल का भोग जीव करता है। जैसे कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक प्रज्ञप्ति में कहा - ज्ञानावरणादि कर्मों का जब तीव्र विपाक से युक्त उदय होता है तब वे सम्यक्त्व रूप पुद्गल मिथ्यात्व के प्रदेशरूप होने से अपने स्वभाव से युक्त हो जाते हैं तथा नरकादि गति उदय होने पर जीव तत्रस्थ भयंकर वेदना भोगता है।^{२७६} आयु कर्म का उदय होने पर जीव पूर्वभव का त्याग कर नवीन भव धारण करता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विपाक के लिए भी जानना। लेकिन प्रत्येक कर्म के विपाक फल में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी सहकारी कारण है। जैसे कि आनुपूर्वी नामकर्म का उदय मरण के बाद पूर्व शरीर को छोड़कर परभव का शरीर ग्रहण करने के लिए जाने पर आकाश प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार गमन करते समय होता है। तब वह जीव के स्वभाव के स्वरूप को स्थिर करता है। कुछ कर्मों का विपाक शारीरिक पुद्गलों आदि के माध्यम से भी प्राप्त होता है। फिर भी इन सब का सम्बन्ध जीव से है। लेकिन विपाक माध्यमों व निमित्तों की प्रमुखता का बोध कराने के लिए उन्हें चार विभागों में विभाजित कर लिया गया है। जीव विपाकी, पुद्गल विपाकी, क्षेत्र विपाकी और भव विपाकी।

जीव विपाकी - जो प्रकृति जीव में ही अपना फल देती है। अर्थात् जिसका फल साक्षात् अनुजीवी गुणों के घातरूप प्राप्त होता है उसे जीव विपाकी कर्म कहते हैं।

पुद्गल विपाकी - जो प्रकृति शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं के माध्यम द्वारा अपना फल देती है, वह पुद्गल विपाकी है।

क्षेत्र विपाकी - विग्रह गति में जो कर्म उदय में आते हैं, उन्हें क्षेत्र विपाकी कहते हैं।

भव विपाकी - जो कर्म नर-नरकादि भवों में अपना फल देते हैं उन्हें भवविपाकी कहते हैं।^{२७७}

इन विभागों में दर्शनान्तर मान्य सभी विपाक भेदों का समावेश हो जाता है।

(१२) कर्म बन्ध हेतुओं के प्रतिपक्ष उपाय - इन मिथ्यात्वादि सामान्य हेतुओं के प्रतिपक्षी उपाय सम्यग्दर्शनादि हैं। मिथ्यात्व अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के कथित तत्त्वों पर अश्रद्धा जिसका प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शन है अर्थात् नवतत्त्वों पर अदृष्ट अचल श्रद्धा, तत्त्वों पर रुचि होना।

अविरति अर्थात् छःकाय जीवों की हिंसा, आरंभ, समारंभ का विरोध है। चारित्र (विरति) अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक हिंसादि का त्याग। कषाय का प्रतिपक्षी है सम्यग्ज्ञान तपयुक्त उपशम भाव। योग में आरम्भ-विषय-परिग्रहादि अप्रशस्त योगों के प्रतिपक्ष है ज्ञानाचारादि प्रशस्त योग और प्रशस्त योगों का प्रतिपक्ष है शैलेशीकरण एवं अयोग अवस्था।

प्रमाद का प्रतिपक्षी है अप्रमाद। तात्पर्य - सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं अप्रमाद तथा अयोग ये सब उपाय मिथ्यात्वादि सामान्य कर्मबन्ध हेतुओं के प्रतिपक्षी हैं और कर्मबन्धन के विशेष हेतुभूत ज्ञानादि

विरोध अन्तराय आदि के प्रतिपक्षी है ज्ञानादि की भक्ति उपासना दान इत्यादि।^{२५८}

अथवा 'श्रावक प्रज्ञप्ति' में आचार्य हरिभद्रसूरि ने उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त भी प्रतिपक्ष उपायों का उल्लेख संसार परिभ्रमण को समाप्त करने के लिए किया है।

अधिकार प्राप्त उन सम्यक्त्वादि गुणों के विषय में सदा स्मरण रखने उनके प्रति आदर का भाव रखने, उनके प्रतिपक्ष मिथ्यात्वादि की ओर से उद्विग्न रहने और उनके परिणाम दुःखोत्पादकता का विचार करने से प्रमाद दूर करना चाहिए। तथा कल्याणकारी जिनेन्द्र व सद्गुरु आदि के गुणों में अनुराग उत्तम साधुजनों की उपासना और उत्तरगुणों की श्रद्धा से भी प्रमाद दूर करना चाहिए। अर्थात् ये भी मिथ्यात्वादि के प्रतिपक्ष उपाय है।^{२५९}

यदि इन प्रतिपक्षी उपायों का पुनः पुनः आसेवन किया जाय तो सहज है कि मिथ्यात्वादि से उपार्जित कर्मबन्ध दूर हो जायेंगे। यह नियम है कि जो जिसके कारण का विरोध है उस विरोधी के सेवन से वह क्षीण हो जाता है। उदाहरणार्थ रोमाञ्च खड़े करने में कारणभूत भयंकर शीतकाल की ठंडी है और उसके विरुद्ध है अग्नि, तो अग्नि के आसेवन से रोमाञ्चादि विकार नष्ट हो जाता है। ठीक उसी प्रकार कर्मावरण में कारणभूत मिथ्यादर्शनादि के विरोधी है सम्यग्दर्शनादि गुणसमूह, तो उन सम्यग्दर्शनादि के आसेवन से कर्मावरण नष्ट होना युक्तियुक्त है। जिस प्रकार किसी प्रकाशादि वस्तु के विरुद्ध अंधकारादि पदार्थ उपलब्ध होता है तो वहाँ उस प्रकाशादि वस्तु का अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार उसके कारण के विरुद्ध पदार्थ उपलब्ध होने से भी उसका अभाव सिद्ध होता है। तो यहाँ कर्मकारण से विरुद्ध सम्यग्दर्शनादि की उपलब्धि से कर्मक्षय हो जाए इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।^{२६०}

(१३) कर्म का सर्वथा नाश कैसे ? - कर्मों का आत्मा के लोहपिंडवत् एकमेव सम्बन्ध होने से उनका सर्वथा नाश अशक्य लगता है, हाँ ! अंशतः उनका नाश हो सकता है। लेकिन यह विचारधारा अज्ञानता की ही सूचक है। आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि के सेवन से कर्मावरणों का अंशतः क्षय होता है, यह ज्ञानादि में दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान की साधना के लिए पढ़ाई का परिश्रम करते हैं तो क्रमशः ज्ञानवृद्धि का अनुभव होता है। जैसे एक व्यक्ति प्रथम दो श्लोक करता है। वह ही भविष्य में दस श्लोक भी करता है। क्योंकि अध्ययन करते-करते उत्तरोत्तर ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है और ज्ञान में वृद्धि को प्राप्त करता जाता है। प्रथम आवरण अधिक थे तो ज्ञान प्रगट नहीं था अब कुछ ज्ञान प्रगट हुआ है तब समझना चाहिए कि आवरणों का कुछ हास हुआ है। तो इससे सिद्ध होता है कि सर्वोच्च प्रतिपक्ष सेवन से कर्मावरण बिल्कुल नष्ट होकर सर्वज्ञता भी उत्पन्न हो सकती है। जैसे कि अल्प चिकित्सा से रोग का कुछ क्षय और उत्कृष्ट चिकित्सा से सर्वथा रोगनाश एवं अल्प पवन से बादल का कुछ बिखरना और अतिशय पवन से बादल का सर्वथा अभाव होता है। उसी प्रकार जीव से एकरस हुए भी कर्म-आवरण चिकित्सा से रोग की तरह प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शन के सेवन से क्षीण हो ही जाए इसमें कोई शंका का स्थान नहीं है। जो ऐसा नहीं होता तो आज तक सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके अनंत आत्मा मोक्ष में गये हैं। वह बात घटेगी नहीं।^{२६१}

(१४) गुणस्थान में कर्म का विचार - गुणस्थान में कर्म का विचार करने के पहले संक्षेप में गुणस्थान लक्षण एवं नाम का दिग्दर्शन अत्यावश्यक है। अतः पहले उसका स्वरूप प्रदर्शन करते हैं।

गुणस्थान - गुण एवं स्थान दो शब्दों से निष्पन्न पारिभाषिक शब्द है। गुणस्थानों का क्रम ऐसा है जिससे उन वर्गों में सभी संसारी जीवों की आध्यात्मिक स्थितियों का समावेश होने के साथ-साथ बंधादि संबंधी योग्यता दिखलाना सहज हो जाता है और एक जीव की योग्यता जो प्रति समय बदलती रहती है उसका भी दिग्दर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है तथा इससे यह बताना और समझना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आंतरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी और अमुक अमुक कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता का अधिकारी है। तथा आध्यात्मिक विकास की क्रमिकता की दृष्टि से देखा जाय तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थानक का महत्त्व अधिक है।

गुणस्थान शब्द का प्रयोग आगमोत्तर कालीन टीकाकारों एवं आचार्यों ने कर्मग्रन्थों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में किया है। किन्तु आगमों में गुणस्थान के बदले जीवस्थान शब्द का प्रयोग देखने में आता है और आगमोत्तर कालीन ग्रन्थों में जीवस्थान शब्द के लिए भूतग्राम शब्द प्रयुक्त किया गया है। समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि कहा है और उसकी टीका में अभयदेवसूरिजी म. ने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरणादि कर्मों की विशुद्धिजन्य बताया है। उनके अभिप्रायानुसार आगम में जिन चौदह जीवस्थानों के नामों का उल्लेख है, वे ही नाम गुणस्थानों के हैं। ये चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय उपशम क्षय, क्षयोपशम आदि भावाभावजनित अवस्थाओं से बनते हैं तथा परिणाम और परिणामी में अभेदोपचार से जीवस्थान को गुणस्थान कहते हैं।

आगमोत्तर कालीन साहित्य में गुणस्थान शब्द के अधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध होने का कारण यह है कि औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक गुण तो जीव में कर्म की अवस्थाओं से संबंधित हैं किन्तु पारिणामिक भाव एक ऐसा गुण है जिसमें किसी अन्य संयोग की अपेक्षा नहीं होती वह स्वाभाविक है। अतः इस गुण की प्रमुखता के कारण अभेदोपचार से जीव को भी गुण कहा और गुण की मुख्यता से पश्चात्पूर्ती साहित्य में संभवित गुणस्थान शब्द मुख्य एवं जीवस्थान शब्द गौण हो गया। कारण कुछ भी रहा हो लेकिन आगमों और पश्चात्पूर्ती साहित्य में शाब्दिक मतभेद होने पर भी गुणस्थान एवं जीव स्थान का आशय एक ही है इसमें किसी प्रकार मत भिन्नता नहीं है।

गुणस्थान का पारमार्थिक अर्थ है - ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप जीव स्वभाव विशेष आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्था आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्था में क्रमशः शुद्ध और विकास करती हुई आत्म परिणति का स्थान अथवा कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था में होनेवाले परिणामों का स्थान। उन परिणामों से युक्त जीव उस गुणस्थानक वाले कहे जाते हैं।

ये चौदह गुणस्थानक मोक्ष प्राप्त करने में सीढ़ियों के समान है। जैसे मकान के उपरी मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं। वैसे ही गुणस्थानों की भी स्थिति है। पूर्व-पूर्व गुणस्थानों से उत्तर-उत्तर गुणस्थानों में शुद्धि के बढ़ने से अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियों का बंध अधिक होता है और फिर इन शुभ प्रकृतियों का भी बंध विच्छेद हो जाने से शुद्धात्मदशा मोक्षदशा प्राप्त होती है।

चौदह गुणस्थानको के नाम -

मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।

नियट्टिअनियट्टि सुहुम वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥^{२८२}

'मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगिपर्यन्तेषु'^{२८३}

१. मिथ्यादृष्टि, २. सास्वादन सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग् मिथ्यादृष्टि, ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देशविरति, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्ति बादर संपराय, १०. सूक्ष्म संपराय, ११. उपशांत कषाय वीतराग-छद्मस्थ, १२. क्षीण-कषाय वीतराग छद्मस्थ, १३. सयोगी केवली, १४. अयोगी केवली।

जैन दर्शन में आत्म विकास के क्रम को दिखलाने के लिए जैसे चौदह गुणस्थान माने गये हैं, वैसे ही योगवासिष्ठ में भी चौदह भूमिकाओं का बड़ा रुचिकर वर्णन है। उनमें सात अज्ञान की और सात ज्ञान की भूमिकाएँ हैं जो जैन परिभाषा के अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सम्यक्त्व की सूचक हैं। अज्ञान की सात और ज्ञान की सात भूमिकाओं के नाम इस प्रकार हैं - अज्ञान की सात भूमिकाएँ - १. बीजजागृत, २. जागृत, ३. महाजागृत, ४. जागृतस्वप्न, ५. स्वप्न, ६. स्वप्न जागृत, ७. सुषुप्तक।^{२८४} ज्ञान की सात भूमिकाएँ - १. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. परार्थाभाविनी, ७. तुर्यागा।^{२८५}

अज्ञान की भूमिकाओं में उत्तरोत्तर अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल और ज्ञान की भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञानविकास में वृद्धि होने से उन्हें विकास क्रम की श्रेणियाँ कह सकते हैं।

योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन है - १. मूढ, २. क्षिप्त, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र, ५. निरुद्ध।^{२८६}

इन चित्तवृत्तियों की गुणस्थानों के साथ एक देश से तुलना हो सकती है। पूर्णतः नहीं।

जैन शास्त्रों में जैसे बंध के कारण कर्म-प्रकृतियों का वर्णन है। वैसे ही बौद्ध दर्शन में निम्नलिखित दस संयोजनाएँ बतायी गयी हैं - सक्काय, दिट्ठि, विचिकित्सा, सीलव्वत, पराभास, कामराग, परीध, रूपराग, अरूपरता, मान, उदघच्च और अविज्जा।^{२८७}

इनमें से प्रथम तीन संयोजनाओं के क्षय होने पर सोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है। पाँच औद्भागीय संयोजनाओं के नाश होने पर औपपातिक अनागामी अवस्था एवं दसों संयोजनाओं का नाश होने पर अरहा (अरिहंत) अवस्था प्राप्त होती है। यह वर्णन जैन शास्त्रगत कर्म प्रकृतियों के क्षयक्रम से मिलता जुलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मविकास के इच्छुक दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से विकासक्रम का उल्लेख किया है। पर उनमें क्रमबद्ध धारा के दर्शन नहीं हैं। जैन दर्शन में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है।

गुणस्थान में जब कर्म विषयक चिन्तन करते हैं, तब एक अपूर्व धारा प्रवाहित होती है। वह है बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता की। जीवों को सामान्य से मूल आठ कर्म और उत्तर प्रकृतियों में से कौन-कौन से गुणस्थान तक कितनी कितनी प्रकृतियाँ बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता में रह सकती हैं। क्योंकि प्रत्येक प्रकृतियों का अपने निश्चित गुणस्थान तक ही बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता होती है। मर्यादा में रहकर ही अपना प्रभाव दिखाती है। तत्पश्चात् उसका प्रभाव विच्छेद हो जाता है। सामान्य अपेक्षा से बंध प्रकृतियाँ १२०, उदय व उदीरणा १२२, सत्ता प्रकृतियाँ १४८ हैं।

बंध, उदय और उदीरणा में मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ कौन से गुणस्थान में कितनी रहती हैं। उसका कोष्टक इस प्रकार है-

| गुणस्थान | बंध | | उदय | | उदीरणा | |
|---------------------|-------------|--------------------|-------------|---------------|-------------|---------------|
| | मूल प्रकृति | उत्तर प्रकृति | मूल प्रकृति | उत्तर प्रकृति | मूल प्रकृति | उत्तर प्रकृति |
| ओघ से | ८ | १२० | ८ | १२२ | ८ | १२२ |
| मिथ्यात्व | ८ | ११७ | ८ | ११७ | ८/७ | १२२ |
| सारस्वादन | ८ | १०९ | ८ | १११ | ८/७ | १११ |
| मिश्र | ७ | ७४ | ८ | १०० | ८ | १०० |
| अविरति सम्यग्दृष्टि | ८ | ७७ | ८ | १०४ | ८/७ | १०४ |
| देशविरति | ८ | ६७ | ८ | ८७ | ८/७ | ८७ |
| प्रमत्तसंयत | ८ | ६३ | ८ | ८१ | ८/७ | ८१ |
| अप्रमत्त संयत | ८.७ | ५९.४८ | ८ | ७६ | ६ | ७३ |
| अपूर्वकरण | ७ | ५८, ५६, २६ | ८ | ७२ | ६ | ६९ |
| अनिवृत्ति बादर | ७ | २२, २१, २०, १९, १८ | ८ | ६६ | ६ | ६३ |
| सूक्ष्म संपराय | ६ | १७ | ८ | ६० | ६/५ | ५७ |
| उपशांत कषाय | १ | १ | ७ | ५९ | ५ | ५६ |
| क्षीण कषाय | १ | १ | ७ | ५७, ५५ | ५/२ | ५४, ५२ |
| सयोगी केवली | १ | १ | ४ | ४२ | २ | ३९ |
| अयोगी केवली | ० | ० | ४ | १२ | ० | ० |

२८८

सत्ता

| गुणस्थानक | मूलप्रकृति | उत्तर प्रकृति | | | | | | |
|--------------------|------------|---------------|-----|-----|-----|-----|-----|-----|
| | | | | | | | | |
| मिथ्यात्व | ८ | १४८ | | | | | | |
| सास्वादन | ८ | १४७ | | | | | | |
| मिश्र | ८ | १४७ | | | | | | |
| अविरत सम्यग्दृष्टि | ८ | १४८ | १४५ | १४१ | १४१ | १३८ | | |
| देशविरति | ८ | १४८ | १४५ | १४१ | १४१ | १३८ | | |
| प्रमत्त संयत | ८ | १४८ | १४५ | १४१ | १४१ | १३८ | | |
| अप्रमत्त संयत | ८ | १४८ | १४५ | १४१ | १४१ | १३८ | | |
| अपूर्वकरण | ८ | १४८ | १४५ | १३९ | १३८ | | | |
| अनिवृत्ति बादर | ८ | १४८ | १४२ | १३९ | | | | |
| क्षपक श्रेणी में | ८ | १३८ | १२२ | ११४ | ११३ | ११२ | १०५ | १०३ |
| सूक्ष्म संपराय | ८ | १४८ | | | | | | |
| क्षपक श्रेणी में | ८ | १०२ | | | | | | |
| उपशांत-कषाय | ८ | १४८ | १४२ | १३८ | | | | |
| क्षीण-कषाण | ७ | १०१ | ९९ | ८५ | | | | |
| सयोगी केवली | ४ | ८५ | | | | | | |
| अयोगी केवली | ४ | १२/१३ | | | | | | |

२८९

इस प्रकार बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता में उन-उन गुणगणों के योग्य प्रकृतियाँ का अपने-अपने गुणस्थानक तक बंधादि रहता है और उत्तर गुणस्थानों में बंधादि का विच्छेद होता जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'सम्यक्त्व-सप्तति' में मूल चौदह पिंडप्रकृति और उत्तर पाँसठ प्रकृतियों का वर्णन गुणस्थान में किया है। जैसे कि -

देवनरकगत्योराद्यानि चत्वारि गुणस्थानकानि, तिर्यग्गतौ पञ्च मनुष्यगतौ चतुर्देशापि।^{२९०}

देवनरकगति में प्रथम के चार गुणस्थानक, तिर्यचगति में पाँच एवं मनुष्यगति में पाँच गुणस्थानक होते हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय काय आदि में भी घटाये हैं।

(१५) कर्म स्थिति - कर्मों की समय मर्यादा का विचार जिसमें किया जाय उसको शास्त्र में स्थिति-बंध कहते हैं।

वैसे स्थिति बन्ध शब्द का प्रयोग गमन रहितता वस्तु के अस्तित्व विद्यमानता रहने के काल आयु के अर्थ में किया जाता है। लेकिन यहाँ स्थिति का अर्थ है आत्मा के साथ संश्लिष्ट कार्मण पुद्गल स्कंध की कर्म रूप में बने रहने की काल मर्यादा। बन्ध हो जाने के बाद जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ अवस्थित रहता है वह उसका स्थिति काल कहलाता है और बन्धनेवाले कर्मों में इस स्थिति काल की मर्यादा के पड़ने को स्थिति बंध कहते हैं।

जैन शास्त्रों में कर्मों की स्थिति का वर्णन अनेक दृष्टि से किया गया है। जैसे उत्कृष्ट, जघन्य और उपरितन स्थिति, सान्तर-निरन्तर स्थिति, आदि अनादि स्थिति आदि।

स्थिति के उक्त भेदों में उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ये दो प्रमुख हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि 'धर्मसंग्रहणी' आदि ग्रन्थों में इन दो स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं - आत्मा में उत्पन्न हुए एकपरिणाम से संचित कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तीर्थंकर और गणधर भगवंतों ने जो बताया है उसे ही मैं संक्षेप से कहता हूँ-^{२९१}

स्थिति अर्थात् सांसारिक शुभ अथवा अशुभ फल देने वाला काल। बंध होने के समय से लेकर निर्जीव होने के अन्तिम क्षण के काल को कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं तथा प्रत्येक प्रकृति की जघन्य स्थिति का बन्ध उनके बन्ध-विच्छेद के समय में होता है। अर्थात् जब उन प्रकृतियों के बन्ध का अन्तकाल आता है तभी जघन्य न्यूनतम स्थिति बंधती है। उसे जघन्य स्थिति कहते हैं।

उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है -

आदिल्लाणं तिण्हं चरिमस्स य तीस कोडिकोडीओ।

अंतराण मोहणिज्जस्स सत्तरी होंति विन्नेया।

नामस्स य गोत्तस्स य वीसं उक्कोसिया ठिती भणिया।

तेतीस सागराइं परमा आउस्स बोद्धव्वा ॥^{२९२}

आद्यतीन-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तिम अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोडी सागरोपम है। मोहनीय की ७० कोडाकोडी सागरोपम नाम और गोत्र की २० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम है।

जघन्य स्थिति -

वेदणियस्स उ बारस नामगोयाण अट्ट तु मुहुत्ता।

सेसाण जहन्नठिती, भिन्नमुहुत्तं विणिदिट्ठा ॥^{२९३}

वेदनीय की १२ मुहूर्त नाम गोत्र की ८ मुहूर्त और शेष कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

| कर्म के नाम | उत्कृष्ट स्थिति | जघन्य स्थिति |
|--------------------|---------------------|---------------|
| - ज्ञानावरणीय कर्म | ३० कोडाकोडी सागरोपम | अन्तर्मुहूर्त |
| दर्शनावरणीय कर्म | ३० कोडाकोडी सागरोपम | अन्तर्मुहूर्त |
| वेदनीय कर्म | ३० कोडाकोडी सागरोपम | १२ मुहूर्त |
| मोहनीय कर्म | ७० कोडाकोडी सागरोपम | अन्तर्मुहूर्त |
| आयुष्य कर्म | ३३ सोगरोपम | अन्तर्मुहूर्त |
| नामकर्म | २० कोडाकोडी सागरोपम | ८ मुहूर्त |
| गोत्र कर्म | २० कोडाकोडी सागरोपम | ८ मुहूर्त |
| अंतराय कर्म | ३० कोडाकोडी सागरोपम | अन्तर्मुहूर्त |

यह मूल कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति है। इसी प्रकार उत्तर प्रकृतियों की भी भिन्न-भिन्न उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति होती है।

मूल कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र,^{२९४} तत्त्वार्थ सूत्र,^{२९५} श्रावक-प्रज्ञप्ति,^{२९६} प्रज्ञापना टीका^{२९७} कर्मग्रंथ,^{२९८} नवतत्त्व^{२९९} एवं पांचवे कर्मग्रन्थ^{३००} में उत्तर प्रकृतियों, उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का वर्णन मिलता है।

कर्म के स्वामी - जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म के स्वामी की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है। जैसे कि मूलकर्म के स्वामी, उत्तर प्रकृतियों के स्वामी, प्रकृति, स्थिति-रस और प्रदेश बन्ध के स्वामी, सामान्य से बंध उदय, उदीरणा, सत्ता के स्वामी। लेकिन सामान्य दृष्टिकोण से चिन्तन किया जाय तो आठों कर्मों के स्वामी चारों गति के जीव है। क्योंकि सामान्यतः सर्वज्ञ भगवंतों का यह उपदेश है कि जब तक जीव कम्पता है, धूजता है, चलता है, स्पंदन करता है, क्षोभ पाता है, उन-उन भावों में परिणाम पाता है, तब तक जीव आयुष्य को छोड़कर सात प्रकार के कर्म प्रतिसमय बांधता है। आयुष्य कर्म जीवन में एक बार ही बांधता है।^{३०१}

गुणस्थानक की दृष्टि से देखा जाय तो १ से १० गुणस्थानक के जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय के स्वामी है। वेदनीय के १ से १३ गुणस्थान के जीव है। आयुष्य कर्म के मिश्र गुणस्थानक के बिना १ से ६ गुणस्थानक वाले जीव है।^{३०२}

चारों गतियों के जीवों को आठों ही कर्मों का उदय होता है। अतः देव, मनुष्य, तिर्यच और नारक चारों गतियों के जीव ८ कर्मों के उदय के स्वामी है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अंतराय का एक से बारह गुणस्थान तक उदय होता है। मोहनीय का एक से दस गुणस्थान तक उदय होता है। इन चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने पर शेष चार वेदनीय आयुष्य नाम और गोत्र कर्मों का १ से १४ गुणस्थानक तक उदय होता है। अतः ये इनके स्वामी है।

आठ कर्मों की सत्ता भी चारों गतियों के जीवों को होती है। जिसमें कर्मों की सत्ता होगी वही सत्तावान् (स्वामी) बनेगा। मोहनीय की सत्ता १ से ११, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय की सत्ता १ से १२ और

वेदनीय आयुष्य नाम और गोत्र की सत्ता १ से १४ गुणस्थानक तक होती है।

विशेष रूप से विचार किया जाय तो बासठ मार्गणा आदि में भी बंध, उदय, सत्ता का स्वामीत्व है। जैसे गति में नरकगति में कितनी प्रकृतियाँ का बंध, उदय, सत्ता आदि इसका विचार किया जाता है। स्वामीत्व का विश्लेषण बहुत ही विस्तृत रूप से कर्मग्रंथ एवं कर्म-प्रकृति में किया गया है।

(१६) कर्म का वैशिष्ट्य - कर्म सिद्धान्त भारतीय चिन्तकों के चिन्तन का नवनीत है। सभी आस्तिक दर्शनों का भव्य भवन कर्म सिद्धान्त पर ही आश्रित है। भले कर्म के स्वरूप में मतैक्य न हो लेकिन सभी चिन्तकों ने आध्यात्मिक विकास के लिए कर्म-मुक्ति आवश्यक मानी है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने कर्म-विषयक अपना-अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। परंतु जैन-दर्शन में कर्म-विषयक चिन्तन बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

इस संसार में चोरासीलाख जीवायोनियों में चारों गति के जीव पूर्वकृत कर्मों का भोग करते हैं। क्योंकि पूर्व में किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्म सौ कोटि युग के बाद भी भोगे बिना क्षय नहीं होते हैं।^{३०३} जिस प्रकार सैंकडो गायों में भी वत्स अपनी माता को शोध लेता है, वैसे कर्म व्यक्ति को सैंकडो वर्षों के बाद भी शोध लेते हैं। तथा कोष में धन के समान पूर्वकृत कर्म का फल पहले से ही विद्यमान रहता है और जिस-जिस रूप में अवस्थित रहता है उस-उस रूप में उसे सुलभ करने के लिए मनुष्य की बुद्धि सतत उद्यत रहती है। उसी प्रकार करने के लिए मानो हाथ में दीपक लिये आगे-आगे चलती है।^{३०४} इस प्रकार प्रत्येक संसारी जीवात्मा कर्म की बलवत्ता से दबे हुए है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि चारों गतियों में से तीन गतियों के जीव कर्म को पुरुषार्थ, संयोग के द्वारा सम्पूर्ण नाश करने में समर्थ नहीं हैं तथा मनुष्य गति में जिसका तथाभव्यत्व परिपक्व नहीं हुआ, चरम पुद्गल परावर्तन काल तक नहीं पहुँचा हो, वह भी कर्मों से पराजित हो जाता है। लेकिन जिस आत्मा का तथा भव्यत्व परिपक्व हो जाता है और चरम पुद्गल में आ जाता है वह सम्पूर्ण कर्मों को अपने प्रबल पुरुषार्थ तप, त्याग, ध्यान, भावना द्वारा क्षय कर सकता है और वह मनुष्य गति में ही शक्य है।

कर्म एवं आत्मवीर्य के बलाबल का चित्रण आचार्य हरिभद्रसूरि ने बहुत ही दार्शनिक शैली से किया है-
कत्थइ जीवो बलिओ कत्थइ कम्माइं होति बलियाइं।

एणण कारणेणं सव्वेसि न वीरिउक्करिसो ॥^{३०५}

देशकालादि में कभी जीव बलवान् होता है। इसी कारण अनंत जीव अत्यन्तक्लिष्ट विपाकवाले ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय करके सिद्धि पद प्राप्त हुए हैं। जैसे स्वयं महावीर परमात्मा के जीवन में अत्यंत क्लिष्ट विपाकोदय वाले कर्म आये लेकिन परमात्मा ने अपने आत्म वीर्य के प्रकर्ष पुरुषार्थ द्वारा कर्म के हाल-बेहाल कर दिये और उन्होंने उत्कृष्ट मोक्ष सुख को पा लिया। अतः इससे सिद्ध होता है कि जीव कर्म से बलवान् है लेकिन साथ में जितने सिद्ध हुए उससे अनंतगुण जीव कर्म के परवश होकर संसार सागर में भटकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उसीसे कभी देशकालादि की अपेक्षा से कर्म जीव से बलवान् है। यह भी बात सिद्ध होती है, जैसे कि नंदिषेण का प्रबल पुरुषार्थ होने पर भी निकाचित बंधा हुआ कर्म अवश्य उदय में आया और पुरुषार्थ को निर्बल बना दिया। लेकिन इतना तो निश्चित ही है कि 'कर्म से पूर्व में अनेकबार जीता हुआ भी जीव कभी तो

अपने स्वभाव से प्रगटित स्ववीर्य से बलवान् ऐसे कर्मों को भी चकचूर करता है।' (पृथ्वीराज चौहान से सत्रह बार हीरे हुए शाहबुद्दीन ने अठारहवीं बार पृथ्वीराज को भयंकर पराजय के गड्डे में डाल दिया। ऐसा इतिहास बोलता है) इसी प्रकार यह जीव अनेकबार कर्मों से पराजित होने पर भी कभी अपने प्रचंड वीर्यबल के द्वारा कर्म को पराजित बना देता है और अपने सम्यक्त्व आदि गुण को प्राप्त कर लेता है। योगबिन्दु^{३०६} और श्रावक प्रज्ञप्ति^{३०७} में यही उल्लेख मिलता है।

अतः कर्म-विज्ञान का विज्ञाता स्वकीय में निराश हताश और दीन शोकाकुल नहीं बनता है। क्योंकि वह स्पष्ट जानता है कि 'ईश्वर संज्ञक कोई विशिष्ट दिव्य शक्ति कर्म-प्रदायक नहीं है, कर्म फल का विधायक भी नहीं है। प्राणी के पुरुषार्थ के संयोग से कर्मों में एक ऐसी शक्ति निश्चयतः प्रगट हो जाती है कि वे स्वयं ही प्राणी को उसके कृत कर्मों का फल करवाने में सर्वथा सक्षम है। कर्म स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि भी नहीं है। वह प्राणी के पुरुषार्थ का और उसकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है। बहुधा कर्मवाद का महारथ भाग्यवाद की वैशाखी पर नहीं परन्तु पुरुषार्थ के राजपथ पर अग्रसर है।

कर्म-सिद्धान्त के वैशिष्ट्य से विशिष्ट आत्माएँ बाह्य भौतिक सुख सुविधाओं से शायद शून्य हो सकती है लेकिन आध्यात्मिक आत्म वैभव से आपूरित रहती है। उत्तरोत्तर समुत्थान मार्ग को संप्राप्त करती रहती है।

निष्कर्ष

अस्तु निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने कर्म सिद्धान्त जैसे गम्भीर गहन और व्यापक विषय को आगमिक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषित किया यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही संसूचक है।

कर्म विषय के प्रतिपादन में अपने पूर्वजों का अनुसरण करने के साथ ही निष्पक्षी बनकर इतना प्रगाढ़ एवं दार्शनिक तथ्यों से भरपूर चिन्तन दिया है वह प्रत्येक दार्शनिकों को नया आयाम देनेवाला है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योगबिन्दु' ग्रन्थ में कर्म और पुरुषार्थ की भिन्न-भिन्न व्याख्या करके उसे व्यवहार नय एवं निश्चय नय, बाध्य-बाधक भाव, गौण-प्रधान भाव समझाकर कर्म-सिद्धान्त के जिज्ञासुओं को एक नया दिग्दर्शन कराया है।^{३०८} 'धर्मसंग्रहणी'^{३०९} की टीका में इसका विस्तृत विवेचन है।

तथा सांख्यवादी (कालवादी) जो केवल काल से दोनों को भिन्न मानते हैं उनको भी कर्म और पुरुषार्थ दोनों परस्पर एक दूसरे के आश्रित हैं^{३१०} तथा व्यवहार नय आदि की अपेक्षा से सोचा जाय तो दैव और पुरुषार्थ समान बलवाले हैं। उसमें शास्त्र का विरोध नहीं आता है।^{३११} इस प्रकार कहकर सत्य तत्त्व को समझाया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि का यह कर्म विषयक चिन्तन युग-युगों तक अविस्मरणीय एवं गौरवान्वित रहेगा। क्योंकि उन्हें प्रत्येक सिद्धान्त को समन्वयता एवं उदारता से सिद्ध करने का प्रयास किया है।

यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन्होंने स्वयं ने भी अपने जीवन में कर्म की अशुभ शुभता का अनुभव नहीं किया हो अर्थात् प्रत्येक जीव अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता बनता है।

पंचम अध्याय की संदर्भ सूचि

| | | |
|-------------------------------|--------|----------------------|
| १. लोकतत्त्व निर्णय | श्लो. | ६२ |
| २. श्रीमद् भगवद् गीता | अ. | ३/६ |
| ३. षड्दर्शन समुच्चय | का. | ६४ |
| ४. श्री अभिधान राजेन्द्र कोष | भाग-३ | पृ. २५५ |
| ५. श्री स्थानांग सूत्र | स्था. | १ |
| ६. श्री सूत्रकृतांग सूत्र | श्रुत. | १ अ. १ |
| ७. कर्मग्रंथ | गा. | १/१ |
| ८. लोकतत्त्व निर्णय | श्लो. | १२ |
| ९. योगबिन्दु | श्लो. | ३०५ |
| १०. योगबिन्दु टीका | श्लो. | ३०५, ३०६ |
| ११. प्रशमरति | गा. | ५५ |
| १२. वंदितु सूत्र | गा. | ३९ |
| १३. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६२३ |
| १४. योगशतक | गा. | ५४ |
| १५. श्रावक प्रज्ञप्ति | अ. | ८० पूर्वार्ध |
| १६. तत्त्वार्थ टीका | का. | ८/३ पृ. ३७० |
| १७. षड्दर्शन समुच्चय टीका | गा. | ४७ पृ. २१२ |
| १८. योगबिन्दु | गा. | १८ |
| १९. योगशतक | अ. | ५४. |
| २०. तत्त्वार्थ टीका | गा. | ८/१२, पृ. ३६५ से ३६७ |
| २१. सम्बोध सित्तरी | पद | ७३ |
| २२. प्रज्ञापना | गा. | २३/१/२८७ |
| २३. धर्मसंग्रहणी | स्था. | ५६९ |
| २४. स्थानांग सूत्र | गा. | ५/२/४१८ |
| २५. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | १ |
| २६. पञ्चम कर्मग्रंथ | सू. | ५/९६. |
| २७. न्याय सूत्र | पृ. | ४/१/५ |
| २८. प्रशस्तपाद-विपर्यय निरूपण | का. | ५३८ |
| २९. सांख्य कारिका | सू. | ४४, ४७, ४८ |
| ३०. योगदर्शन | अ. | २/३/४ |
| ३१. श्री भगवद् गीता | अ. | ५/१५६ |
| ३२. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. | ३२/६ |
| ३३. योगशतक | गा. | ५३ |

| | | | |
|-----|----------------------------|-------|-------------|
| ३४. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | ३९३ |
| ३५. | वही | गा. | ८० |
| ३६. | नवतत्त्व | गा. | ३७ |
| ३७. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | ८०, पृ. ५९ |
| ३८. | प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | १/२ |
| ३९. | प्रशामरति | श्लो. | २२ |
| ४०. | षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. | २१२ |
| ४१. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ६/१, ३ |
| ४२. | श्री भगवद् गीता | अ. | १८ |
| ४३. | वेदान्त सूत्र | सू. | ५/१/१५ |
| ४४. | पातञ्जल योगदर्शन | पाद | ४/७ |
| ४५. | पातञ्जल भाष्य | सू. | ४/७ पृ. ४१६ |
| ४६. | पातञ्जल भाष्य | सू. | ४/७ पृ. ४१६ |
| ४७. | योग भाष्य | पाद | २/१३ |
| ४८. | न्याय मञ्जरी | पृ. | ५०५, २७५ |
| ४९. | अभि धम्मन्थ संग्रह | अ. | ५/१७ |
| ५०. | विशुद्धि मग्गा | अ. | १७/१४ |
| ५१. | द्रव्य संग्रह टीका | गा. | ६ |
| ५२. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | ७ |
| ५३. | धर्मसंग्रहणी | गा. | ६०५ |
| ५४. | धर्मसंग्रहणी सूत्र | गा. | ६०७, ६०८ |
| ५५. | उत्तराध्ययन सूत्र | अ. | ३३/२, ३ |
| ५६. | श्री भगवतीजी सूत्र | अ. | ३३/२, ३ |
| ५७. | स्थानांग टीका | स्था. | ८/३/५७३ |
| ५८. | प्रज्ञापना सूत्र | पद. | २३/१ |
| ५९. | श्री पंच संग्रह | भा. | २/२ |
| ६०. | प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/३ |
| ६१. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ८/५ |
| ६२. | नवतत्त्व | गा. | ५१ |
| ६३. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | १०, ११ |
| ६४. | प्रशामरति | गा. | ३५ |
| ६५. | नंदिसूत्र | सू. | ७५ |
| ६६. | प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ३ |
| ६७. | धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ६०७ |
| ६८. | प्रज्ञापना हारिभद्रीय टीका | पद | २३/१०३ |

| | | |
|----------------------------|-------|------------------|
| ६९. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १० |
| ७०. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/६ |
| ७१. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ३ |
| ७२. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | ६०७ |
| ७३. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/६ |
| ७४. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १० |
| ७५. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/१२ |
| ७६. वही | गा. | २३ |
| ७७. प्रश्न राजवार्तिक | अ. | ८/१०/२ |
| ७८. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | २३ |
| ७९. कल्पसूत्र | पृ. | २६२, २६३ |
| ८०. स्थानांग टीका | स्था. | २/५/१०५ |
| ८१. प्रज्ञापना टीका | पद. | २३/१/२८८ |
| ८२. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | ११ पृ. ८ |
| ८३. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | २३ |
| ८४. स्थानांग टीका | स्था. | २/५/१०५ |
| ८५. प्रज्ञापना सूत्र | पद | २३/१/२८८ |
| ८६. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | ११ |
| ८७. कर्म प्रकृति | गा. | ३५ |
| ८८. स्थानांग टीका | स्था. | २/५/१०५ |
| ८९. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | ११ |
| ९०. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ५३ |
| ९१. स्थानांग टीका | स्था. | २/५/०५ |
| ९२. प्रज्ञापना टीका | पद. | २३, पृ. १३० |
| ९३. तत्त्वार्थ टीका | अ. | ८१५, पृ. ३७२ |
| ९४. धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ६०७, ६०८, पृ. २८ |
| ९५. नवतत्त्व | गा. | ३८ |
| ९६. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/१३ |
| ९७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड | गा. | २६ |
| ९८. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ७/६ |
| ९९. प्रशामरति | गा. | ३५ |
| १००. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | १२ से २७ |
| १०१. धर्मसंग्रहणी | गा. | १ से २३ |
| १०२. नवतत्त्व | गा. | ३८ |
| १०३. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६०९ |

| | | |
|-----------------------------|-------|------------------|
| १०४. पंच संग्रह | आ. | १/१३८ |
| १०५. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६१० |
| १०६. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १३, १४ पृ. १, १० |
| १०७. प्रथम कर्मग्रन्थ | गा. | १० |
| १०८. सर्वार्थ सिद्धि | अ. | ८/७ |
| १०९. प्रथम कर्मग्रन्थ टीका | गा. | ३ |
| ११०. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६११ |
| १११. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १५ |
| ११२. जीव प्राभूत | अ. | २५/१७/८ |
| ११३. प्रथम कर्मग्रन्थ | गा. | १३ |
| ११४. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६१२ |
| ११५. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १५ पृ. ११ |
| ११६. प्रथम कर्मग्रन्थ | गा. | १६ |
| ११७. गौम्मटसार जीवकाण्ड | गा. | २२ |
| ११८. प्रथम कर्मग्रन्थ | गा. | १६ |
| ११९. स्थानांग सूत्र | स्था. | १०, सू. ७३६ |
| १२०. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १५, पृ. ११ |
| १२१. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६१३ |
| १२२. विशेषावश्यक भाष्य | गा. | १२२७ |
| १२३. प्रथम कर्मग्रन्थ टीका | गा. | ६१ |
| १२४. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १६ |
| १२५. प्रज्ञापना सूत्र | पद. | २३/२ |
| १२६. कर्म प्रकृति | गा. | ५६ |
| १२७. तत्त्वार्थ भाष्य | अ. | ८/१० |
| १२८. गौम्मटसार जीवकाण्ड | गा. | २८३ |
| १२९. पंचाध्यायी | उत्त. | १/४० |
| १३०. जीव प्राभूत | | ५४६/७१/१२ |
| १३१. प्रथम कर्मग्रन्थ टीका | गा. | १७ |
| १३२. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १७ |
| १३३. सर्वार्थ सिद्धि | अ. | ८/६ |
| १३४. प्रथम कर्मग्रन्थ टीका | गा. | १७ |
| १३५. तत्त्वार्थ भाष्य | अ. | ८/१० |
| १३६. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १७ |
| १३७. गौम्मटसार जीवकाण्ड | गा. | २८६ |
| १३८. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १७ पृ. १३ |

| | | |
|-----------------------------|-------|--------------|
| १३९. वही | गा. | १७ पृ. १३ |
| १४०. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/१८, १९, २० |
| १४१. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६१५ |
| १४२. धवला | | १३/१५ |
| १४३. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | १८ |
| १४४. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/२२ |
| १४५. सर्वार्थ सिद्धि | अ. | २/५३ |
| १४६. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | २/५२ |
| १४७. धर्मसंग्रहणी | गा. | १०४ |
| १४८. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | १९ |
| १४९. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | २३ |
| १५०. वही | गा. | २५ |
| १५१. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २० |
| १५२. न्यायसूत्र | अ. | २/२/६६ |
| १५३. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | २/२३ |
| १५४. वही | अ. | २/२५ |
| १५५. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २० |
| १५६. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | २३ |
| १५७. स्थानांग टीका | स्था. | ५, सू. ३७५ |
| १५८. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | २/५६ |
| १५९. कर्मप्रकृति टीका | गा. | ६८ |
| १६०. कर्मग्रंथ टीका | गा. | १/३३ |
| १६१. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | २/४७ |
| १६२. वही | अ. | २/३५ |
| १६३. वही | अ. | २/४८ |
| १६४. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ३३ |
| १६५. कर्म प्रकृति | गा. | ६८ |
| १६६. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ३३ |
| १६७. वही | गा. | ३३ |
| १६८. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | २/३८ |
| १६९. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २० |
| १७०. कर्मग्रंथ | गा. | १/३५ |
| १७१. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २० |
| १७२. कर्म प्रकृति | गा. | ७० |
| १७३. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ३५ |

| | | |
|-----------------------------|-------|------------|
| १७४. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ३७ |
| १७५. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | २० |
| १७६. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ३६ |
| १७७. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ३६ |
| १७८. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ३६ |
| १७९. वही | गा. | ६७ |
| १८०. वही | गा. | ३८ |
| १८१. धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ६१७ |
| १८२. कर्म प्रकृति | गा. | ८८, ८९ |
| १८३. श्री भगवतीजी सूत्र | श. | २५/३/७२४ |
| १८४. प्रज्ञापना सूत्र | षट्. | १/५ |
| १८५. सर्वार्थ सिद्धि | अ. | ५/२५ |
| १८६. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २० |
| १८७. कर्मप्रकृति टीका | गा. | ६१ |
| १८८. स्थानांग सूत्र | स्था. | ५, सू. ३६० |
| १८९. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ३६ |
| १९०. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २१ |
| १९१. सर्वार्थ सिद्धि | अ. | ८/११ |
| १९२. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ४० |
| १९३. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ४० |
| १९४. कर्म प्रकृति | गा. | ६२ |
| १९५. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ४० |
| १९६. सर्वार्थ सिद्धि | अ. | २/२३ |
| १९७. कर्म प्रकृति | गा. | ६२ |
| १९८. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २१ |
| १९९. वही | गा. | २२ |
| २००. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ३० |
| २०१. वही | गा. | २५ |
| २०२. कर्मप्रकृति टीका | गा. | १६ |
| २०३. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ४५ |
| २०४. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ४६ |
| २०५. वही | गा. | ४६ |
| २०६. कर्मग्रंथ प्रथम टीका | गा. | ४७ |
| २०७. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ४७ |
| २०८. वही | गा. | ४७ |

| | | |
|-----------------------------|-------|------------|
| २०९. नवतत्त्व | गा. | १७ |
| २१०. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ४८ |
| २११. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ४८ |
| २१२. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २२ |
| २१३. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | ४८ |
| २१४. प्रज्ञापना टीका | पद. | १/१२ |
| २१५. प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | १/४९ |
| २१६. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/५० |
| २१७. कर्मप्रकृति टीका | गा. | १०० |
| २१८. जीव विचार | गा. | ८ से १० |
| २१९. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | १/२७ |
| २२०. स्थानांग | स्था. | २, सू. १०५ |
| २२१. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ६/३, ५ |
| २२२. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | २५ |
| २२३. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. | ३३/३५ |
| २२४. प्रज्ञापना सूत्र | पद. | २३/२ |
| २२५. कर्मप्रकृति | गा. | १०१ |
| २२६. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ८/१३ |
| २२७. कर्मग्रंथ | गा. | १/५२ |
| २२८. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६२२ |
| २२९. तत्त्वार्थ भाष्य | अ. | ८/१३ |
| २३०. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २५ |
| २३१. उत्तराध्ययन सूत्र | गा. | ३३/१५ |
| २३२. तत्त्वार्थ भाष्य | अ. | ८/१३ |
| २३३. स्थानांग | स्था. | २/१०५ |
| २३४. धर्मसंग्रहणी | गा. | ६२२, ६२३ |
| २३५. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. | ३३/१५ |
| २३६. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ८/१५ |
| २३७. प्रथम कर्मग्रंथ | गा. | ५२ |
| २३८. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | गा. | २६ |
| २३९. उत्तराध्ययन सूत्र | आ. | ५ से १५ |
| २४०. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ८/७ से १५ |
| २४१. प्रशमरति | गा. | ३५ |
| २४२. कर्मग्रंथ | गा. | १/३ से ३१ |
| २४३. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | १२ से १६ |

| | | | |
|------|------------------------|-------|--------------------------|
| २४४. | धर्मसंग्रहणी | गा. | ६०९ से ६२३ |
| २४५. | तत्त्वार्थ भाष्य | अ. | ८/७ से १५ पृ. ३५३ से ३७३ |
| २४६. | उत्तराध्ययन सूत्र टीका | गा. | ३३/५ से १५ |
| २४७. | प्रशामरति | गा. | ३५ |
| २४८. | प्रथम कर्मग्रंथ टीका | गा. | १/३ से ३१ |
| २४९. | धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ६०९ से ६२३ पृ. २९ से ३८ |
| २५०. | श्रावक प्रज्ञप्ति टीका | पृ. | १ से २१ |
| २५१. | विशेषावश्यक भाष्य | गा. | १६३५ |
| २५२. | धर्मसंग्रहणी | गा. | ६२५ |
| २५३. | योगशतक | गा. | ५६ |
| २५४. | धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ६२५, पृ. ३९ |
| २५५. | योगशतक टीका | गा. | ५६, पृ. १८७ |
| २५६. | धर्मसंग्रहणी | गा. | ६२६ |
| २५७. | विशेषावश्यक भाष्य | गा. | १६३८, १६३८ |
| २५८. | धर्मसंग्रहणी | गा. | २७६ से २८० |
| २५९. | योगशतक टीका | गा. | ५३ |
| २६०. | उत्तराध्ययन सूत्र | अ. | ३२/७ |
| २६१. | पञ्चास्तिकाय | गा. | १२८ |
| २६२. | योगबिन्दु | गा. | ८ |
| २६३. | धर्मसंग्रहणी | गा. | ५७१ |
| २६४. | योगशतक | गा. | ५५ |
| २६५. | धर्मसंग्रहणी | गा. | ५७३ |
| २६६. | योगबिन्दु | श्लो. | ११ |
| २६७. | योगशतक टीका | गा. | ५७ |
| २६८. | विशेषावश्यक भाष्य | गा. | १९७७ |
| २६९. | तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ८/२२ |
| २७०. | दशाश्रुतस्कंध | अ. | ६ |
| २७१. | पातञ्जल योगदर्शन | सू. | २/१५ |
| २७२. | पातञ्जल योगदर्शन टीका | सू. | २/१५, पृ. १७४ |
| २७३. | मनुस्मृति | अ. | ६/९२ |
| २७४. | सांख्यकारिका | का. | २३ |
| २७५. | कर्मप्रकृति | गा. | १४१, १४३ |
| २७६. | श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | ९८ |
| २७७. | कर्मग्रंथ | गा. | ५/१९, २०, २१ |
| २७८. | ललित विस्तरा | पृ. | १८४ |

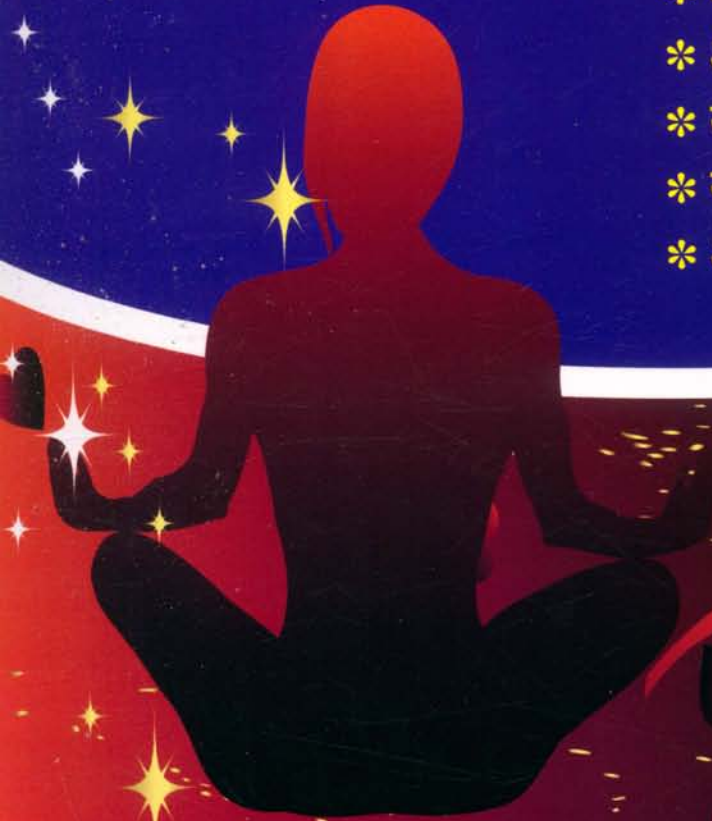
| | | |
|--------------------------------------|-------|------------------------|
| २७९. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | १०४, १०५ |
| २८०. ललित विस्तरा टीका तथा पञ्जिका | पृ. | १८४, १८५ |
| २८१. वही | पृ. | १८४, १८५ |
| २८२. कर्मग्रंथ | गा. | २/२ |
| २८३. सम्यक्त्व समतिका टीका | गा. | १० |
| २८४. योगवासिष्ठ उत्पत्तिकरण | सर्ग. | ११७/११, १२ |
| २८५. वही | सर्ग. | ११८/५, ६ |
| २८६. पातञ्जल योगदर्शन भाष्य | पाद. | १/१ |
| २८७. मराठी में भाषान्तरित दीर्घनिकाय | पृ. | १७५ की टिप्पणी |
| २८८. द्वितीय कर्मग्रंथ | गा. | ३ से २५ |
| २८९. वही | गा. | २५ से ३४ |
| २९०. सम्यक्त्व समतिका | गा. | १० पृ. २०, २१ |
| २९१. धर्मसंग्रहणी | गा. | ५५ |
| २९२. वही | गा. | ७४५, ७४६ |
| २९३. वही | गा. | ७४७ |
| २९४. उत्तराध्ययन सूत्र | अ. | ३२/१९ से २३ |
| २९५. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. | ८/१५ से |
| २९६. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | २८, २९, ३० |
| २९७. प्रज्ञापना सूत्र टीका | पद. | २३ पृ. १५०. |
| २९८. कर्मग्रंथ | गा. | ५/२६/२७ |
| २९९. नवतत्त्व | गा. | ५०, ५१, ५२ |
| ३००. पंचम कर्मग्रंथ | गा. | ५/२८ से ५२ |
| ३०१. धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ५८० |
| ३०२. कर्मग्रंथ | गा. | ६/५ |
| ३०३. सम्यक्त्व समतिका | गा. | ६३, पृ. २२५ |
| ३०४. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका | स्त. | २ बूलो ६७, पृ. ८४ |
| ३०५. धर्मसंग्रहणी | गा. | ७८० |
| ३०६. योगबिन्दु | गा. | ३२७ |
| ३०७. श्रावक प्रज्ञप्ति | गा. | १०१ |
| ३०८. योगबिन्दु | गा. | ३१९, ३२०, ३३६, ३३७ |
| ३०९. धर्मसंग्रहणी टीका | गा. | ७८६, ७८८, पृ. १०८, १०९ |
| ३१०. योगबिन्दु | गा. | ३२४ |
| ३११. वही | गा. | ३३८ |



6

छठा अध्याय

- * योग की व्युत्पत्ति
- * योग की परिभाषा
- * योग का लक्षण
- * निश्चयनय से
- * व्यवहारनय से
- * योग के अधिकारी
- * योग के भेद-प्रभेद
- * योग शुद्धि के कारण
- * योग में साधकतत्त्व
- * योग में बाधक तत्त्व
- * योग की विधि
- * सद्नुष्ठान में योग
- * असद्नुष्ठान में तीर्थ-विच्छेद
- * आशयशुद्धि में योग
- * योग की दृष्टियाँ
- * योग की परिलब्धियाँ
- * आचार्य हरिभद्रसूरि का योग वैशिष्ट्य



षष्ठम् अध्याय

योग - दर्शन

भारत भूमि में दर्शन एवं योग के बीज तो बहुत पहले से ही बोये गये हैं। उसकी उपज भी क्रमशः बहुत बढ़ती गई। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने दर्शन एवं योग को आत्मसात् किया तथा उत्तरकाल में योग-प्रियता उत्तरोत्तर विकास की श्रेणी में विकस्वर बने, अतः उन्होंने अपनी मति-वैभवता को विपुल बनाते हुए एवं प्राणियों के हित की इच्छा से योग ग्रन्थों की रचना कर एक अचिन्त्य चिन्तन जगत के सामने प्रस्तुत किया जिसमें उनके मुख्य चार ग्रन्थ विशेष योग-जिज्ञासुओं के लिए पठनीय, मननीय एवं चिन्तनीय है।

१. योग-विशिका
२. योग-शतक
३. योग दृष्टि समुच्चय
४. योग बिन्दु

षोडशक प्रकरण में भी योग विषयक चिन्तन उपलब्ध होता है।

इन योग ग्रन्थों का बोध सरल एवं सुगम्य बने उसके लिए आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने स्वयं ने इन में से तीन ग्रन्थों पर टीका लिखी एवं योग विशिका पर महोपाध्याय यशोविजयजी म. ने टीका लिखी।

इन योग - ग्रन्थों में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने योग की सामग्री भर दी है साथ ही उदारवादी एवं समन्वयवादी बनकर सभी दर्शनों की योग मान्यताओं को स्थान दिया है। इसी कारण इनके योग विषयक ग्रन्थों का प्रभाव अध्यात्म जिज्ञासुओं पर गहरा पड़ा।

आचार्य श्री हरिभद्र को विशाल साहित्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। उनके पास केवल साहित्यिक उत्तराधिकार ही था, ऐसा भी नहीं है। उनके योग-विषयक विविध आचार और प्रतिपादन के ऊपर से ऐसा निःशंक प्रतीत होता है कि वे योगमार्ग के अनुभवी भी थे। इसीसे उन्होंने अपने अनुभव तथा साहित्यिक विरासत के बल पर योग विषय से सम्बद्ध ऐसी कृतियों की रचना की है। जो योग-परम्परा विषयक आज तक के ज्ञान साहित्य में अपनी अनोखी विशेषता रखती है।

(१) योग की व्युत्पत्ति - आगम शास्त्रों में भी योग शब्द की व्युत्पत्ति मिलती है। 'योजनं योगः' युज् धातु से योग शब्द की निष्पत्ति होती है। युज् धातु को व्याकरण का घञ् प्रत्यय लगने पर 'योग' शब्द बनता है। जिसका अर्थ जोड़ना संयुक्त करना स्वीकारा गया है। वैसे युज् धातु के अन्य भी अर्थ होते हैं। लेकिन आचार्य श्री हरिभद्र सूरिने भी अपने पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए इसी अर्थ को अपने ग्रंथों में ग्रंथित किया है, उनके

स्वयं के ये उद्गार हमें मिलते हैं -

‘युज्यते इति योग।’^१ ‘योजनाद् योग।’^२ ‘जोयणाओ जोगो।’^३

अर्थात् एक दूसरे का परस्पर संयुक्त होना ही योग है। यहाँ साध्य मोक्ष है और उसका साधक आत्मा है। जीवात्मा कर्म वासनाओं से बंधा हुआ है, अध्यात्म साधना द्वारा वहाँ से मुक्त होकर मोक्ष के साथ जुड़ना वही योग है।

(२) योग की परिभाषा - योगविद्या एक ऐसी विद्या है जिसको प्रायः सभी दर्शनों ने सभी धर्मों ने स्वीकारी है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक साधना है जिसको कोई भी व्यक्ति जात-पात-वर्ण या संप्रदाय के भेदभाव बिना मान्य करता है। क्योंकि भारतीय संस्कृति के जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। अतः मोक्षमार्ग के लिए अनिवार्य साधन यह योग है।

जिस प्रकार शास्त्र में -

१. रोग
२. रोग का कारण
३. आरोग्य
४. आरोग्य का कारण

इस प्रकार चतुर्व्यूह में रोग का उपचार करने में आता है, उसी प्रकार योगशास्त्र में (योग दर्शन के ऊपर महर्षि व्यास के भाष्य में) भी चतुर्व्यूह का उल्लेख मिलता है।

१. संसार
२. संसार का कारण
३. मोक्ष
४. मोक्ष का कारण।

चिकित्सा शास्त्र के समान ही योग भी आध्यात्मिक साधना के लिए चार बातों को स्वीकार करता है।

१. आध्यात्मिक दुःख
२. इसका कारण (अज्ञान)
३. अज्ञान को दूर करने के लिए सम्यग्ज्ञान और
४. पूर्णता की प्राप्ति (मुक्ति)

इस प्रकार सम्पूर्ण आध्यात्मिक मान्यताएँ प्रस्तुत चार सिद्धांतों को स्वीकारते हैं, चाहे फिर भिन्न-भिन्न परंपरा और अलग-अलग संस्कारों के लिए नामभेद में भिन्नता हो सकती है।

योग साधना में अनेक प्रकार के आचार-ध्यान और तप का समावेश करने में आया है। लेकिन इन सभी का मूलभूत लक्ष्य तो आत्मा का पूर्ण विकास करना ही है। आत्म विकास में मनोविकारों के स्रोतों का मूल से उच्छेद करना आवश्यक है, और वह योग से ही सुसाध्य है।

योग सभी दर्शनों को मान्य होने से सभी दर्शनकारों ने योग की परिभाषा अपनी-अपनी मान्यतानुसार दी

है। वे इस प्रकार है -

गीता में 'कर्म करने की कुशलता' को योग कहा है।

योग दर्शन में 'चित्तवृत्ति निरोध' को योग माना है।

बौद्ध दर्शन में 'कुशल प्रवृत्ति' को योग स्वीकारा है।

जैन दर्शन में 'मोक्षेण उजोयणाओत्ति' मोक्ष के साथ आत्मा का युंजन करे वह योग माना है। अर्थात् आत्मा को महानन्द से जोड़ता है। अतः वह योग है।^{१४}

ज्ञानसार में भी योग की परिभाषा यही मिलती है - 'मोक्षेण योजनात् योगः।'^{१५} तत्त्वार्थ सूत्र में मन-वचन-काया की क्रिया का निरोध संवर है और वही योग कहलाता है।^{१६} उपाध्याय यशोविजयजी म. ने योगविशिका की टीका में 'परिशुद्ध धर्म व्यापार' को योग कहा है।^{१७}

उपरोक्त सम्पूर्ण व्याख्याओं को भी समाविष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग विषयक यह भी एक व्याख्या प्रस्तुत की है कि 'मोक्ष का कारणभूत ऐसा सम्पूर्ण धर्म व्यापार' योग ही कहलाता है।^{१८}

महर्षि पतञ्जलि ने अपने बनाये हुए योगसूत्र में 'चित्तवृत्ति' को योग कहा है।^{१९} वह चित्तवृत्ति दो प्रकार की है - सर्व और आंशिक। चित्तवृत्ति का निरोध सर्व रूप से चौदहवे गुणस्थान शैलेशी अवस्था में अयोगी दशा के समय प्राप्त होता है। उसके पश्चात् शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस दशा को महर्षि पतञ्जलि 'असंप्रज्ञात योग' कहते हैं। परंतु देश से चित्तप्रवृत्ति का निरोध, अपुनर्बन्धक अवस्था से लेकर वीतरागावस्था तक सभी जगह यह संभव है। बाह्यभावों की निवृत्ति परभव दशा का त्याग ही अंतरंग शुद्ध का परिणामात्मक लक्षण है। महर्षि पतञ्जलि का वचन है कि - स्वयं की भूमिका के अनुसार उचित आचरण करना (२) अकुशल चित्तवृत्तियों को रोकना। इन दोनों में मोक्ष के साथ आत्मा का जुड़ना ऐसा योग शब्द का अन्वर्थ है वह घट सकता है।

तथा बौद्धदर्शनकार के अनुसार 'कुशल प्रवृत्ति' ही योग है, यह भी लक्षण सार्थक है कारण कि मोक्ष प्राप्ति का कारणभूत रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप प्रवृत्ति द्वारा भी आत्मा का मोक्ष के साथ युंजन होता है, इसीलिए योग का लक्षण इसमें भी घटता है, लेकिन यह लक्षण गौण जानना, कारण कि प्रवृत्ति भी अन्त में त्यागने योग्य है। मात्र प्रारम्भ में ही आदरने योग्य है अन्त में तो अयोगी बनना है।

महर्षि पतञ्जलि का लक्षण निवृत्ति प्रधान है और बौद्ध का योग लक्षण प्रवृत्ति प्रधान होने से एक-एक अंश का प्रतिपादन करता है। इसलिए आंशिक है। अकुशल की निवृत्ति करो या कुशल की प्रवृत्ति करो परंतु दोनों प्रक्रिया के द्वारा आत्मा मोक्ष के साथ जोड़ा जाए तो ही उस क्रिया को योग कहा जाता है। संसार को पुष्ट करने के लिए निरोध और प्रवृत्ति की जाए तो वह योग नहीं है, तो फिर आत्मा को मोक्ष के साथ युंजित करे वह योग है यह आचार्य हरिभद्र का लक्षण परिपूर्ण यथार्थ है। बगुला मछली को पकड़ता है। शिकारी शिकार करने में चित्तवृत्ति का निरोध करता है। लेकिन मोक्ष के साथ युंजन नहीं है। इसी प्रकार सुख, स्वर्ग, राज्यादिक की प्राप्ति के लिए होम-हवन-पूजा रूप कुशल प्रवृत्ति देखी जाती है। लेकिन वहाँ भी मोक्ष के साथ युंजन अर्थ नहीं

है। इसलिए दोनों के लक्षण में अन्वय-व्यभिचार है। अतः 'मोक्ष के साथ जोड़े वह योग है' यह सर्वोत्तम श्रेष्ठ पूर्ण लक्षण है। प्रथम पातञ्जल लक्षण में मुख्य रूप से भूमिशुद्धि अभिप्रेत है। दूसरे लक्षण में भूमिशुद्धि में से निष्पन्न परिणाम अभिप्रेत है। जब कि तीसरा लक्षण उपरोक्त दोनों लक्षण को अपने में समाविष्ट करके कहता है कि चित्तशुद्धि या चित्तशुद्धि से निष्पन्न जीवन धर्म दोनों अन्त में तो मोक्ष तक ले जाते हैं, उसके मूल में चित्त का अक्लिष्टत्व होना चाहिए, जहाँ क्लेश होता है, वहाँ कभी भी कुशल प्रवृत्ति नहीं होती है, इस प्रकार एक में कारण दूसरे में कार्य और तीसरे लक्षण में उभय का समावेश होता है, क्योंकि इस लक्षण में साध्य शुद्धि के साथ साधन शुद्धि है। साध्य मोक्ष है और साधन मोक्ष को उद्देश्य में रखकर किये जानेवाले अनुष्ठान है, इसलिए यथार्थ कार्य-कारण भाव होने से लक्षण यथार्थ निर्दोष है।

'योगविशिका' के इस श्लोक में यदि चिन्तन करते हैं, तो तुलनात्मक दृष्टि स्पष्ट देखी जाती है। योग लक्षण का स्वरूप तीनों दृष्टियों से समुपस्थित करके तुलना का द्वार आचार्य हरिभद्र ने खोल दिया है। योग कल्याण मार्ग का दीर्घतम धर्म व्यापार है। इसमें हमें दो अंश समुपलब्ध होते हैं - एक निषेधरूप और दूसरा विधिरूप। क्लेशों को दूर करना निषेधरूप है और इससे प्रकट होनेवाली शुद्धि के कारण चित्त की कुशलमार्ग में ही प्रवृत्ति यह विधिरूप है, इन दोनों पहलुओं को अपने में समाविष्ट करनेवाला धर्म-व्यापार ही वस्तुतः पूर्ण योग है, परन्तु इस योग का स्वरूप महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति शब्द से मुख्यतया अभावात्मक सूचित किया है, जब कि बौद्ध परंपरा ने कुशलचित्त की एकाग्रता या उपसम्पदा जैसे शब्दों के द्वारा प्रधानरूप से भावात्मक सूचित किया है। ऊपरी तौर से देखनेवालों को ये लक्षण विरोधी से प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु परमार्थतः इसमें कोई विरोध नहीं है, एक ही वस्तु के दो पहलुओं को गौण और मुख्यभाव से बतलाने के ये दो प्रयत्न हैं, मानो यह भाव सूचित करने के लिए ही हरिभद्रसूरि ने पातञ्जल और बौद्ध परम्परा मान्य दोनों लक्षणों का तुलनादृष्टि से निर्देश किया है और अन्त में जैन सम्मत लक्षण में उपर्युक्त दोनों लक्षणों का दृष्टिभेद से समावेश सूचित किया है। यह लक्षण उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में दिया है। उनका अभिप्रेत लक्षण ऐसा है कि 'जो धर्मव्यापार मोक्ष के साथ सम्बन्ध जोड़े वह योग' यह लक्षण सर्वग्राही होने से उसमें निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों स्वरूप समा जाते हैं।

'योगशतक' में आचार्य हरिभद्रसूरिने अपुनर्बन्धक आदि चार प्रकार के योगी जीवों के द्वारा अपनी-अपनी भूमिका के उचित जो अनुष्ठान जिनेश्वर भगवान की आज्ञा से युक्त किया जाय वे सभी अनुष्ठान ही योग कहलाते हैं।¹⁹

आ. हरिभद्रसूरिने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'योग' का मोक्ष का हेतु अर्थ होने से अनेक दर्शनों के योगशास्त्रों के साथ थोड़ा सा भी भेद नहीं पड़ता, क्योंकि सभी दर्शनों में मोक्ष साध्य है। साध्य में भेद नहीं होने से क्रिया भेद होने पर भी वचन भेद उसमें कारण नहीं बनता।²⁰

'ठाणाङ्गओ विसेसेण' के द्वारा उन्होंने आत्मा की आलय-विहारादि कोई भी धर्मप्रवृत्ति यदि आत्मा को कर्म-बन्धन से शरीरादि बन्धनों से मुक्त करवा के स्वाभाविक महानन्द के साथ जोड़े वह धर्मप्रवृत्ति योग है।²¹

इस प्रकार योग की परिभाषा का परिष्कृत लक्षण आचार्य हरिभद्रसूरिने प्रस्तुत किया है।

योग का लक्षण निश्चय नय से - जो अवश्य फल देता है अथवा शीघ्र फल की प्राप्ति हो उसे निश्चयनय की अपेक्षा से योग कहा जाता है।

निश्चय नय का लक्षण 'योगशतक' में बताते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र इस रत्नत्रयी का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना, आत्मा के साथ मिलन होना, आत्मा में अवस्थित होना ही निश्चय नय से योग कहलाता है। क्योंकि वही आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ता है ऐसा लक्षण मैं अपनी मति-कल्पना से नहीं परंतु योगियों के नाथ तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है।¹³

जिस प्रकार इष्ट नगर में पहुँचने के लिए उसके मार्ग का यथार्थ ज्ञान उस मार्ग के यथार्थ ज्ञान के प्रति विश्वास, उसी मार्ग पर गमन इन तीनों का समन्वय होना आवश्यक है। तब वह इष्ट नगर की प्राप्ति कर सकता है। उसी प्रकार मोक्षमार्ग की प्राप्ति में भी सम्यग्ज्ञानादि हेतु है। आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है -
 "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र ही मोक्ष का श्रेष्ठ मार्ग है।¹⁴ इस रत्नत्रयी को अपनाकर अनेक आत्मा मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। इसीलिए आचार्य हरिभद्रसूरिने मूल श्लोक में 'जोगिनाहेहिं' पद में बहुवचन लिखकर यह सूचित किया है कि मुक्त जीव एक, दो, पाँच या संख्यात-असंख्यात नहीं है परंतु अनंत है और इसके द्वारा जो ईश्वर सर्वज्ञ परमात्मा एक ही है ऐसा मानते हैं उनका प्रतिक्षेप हो जाता है।

जो मुक्तात्मा को एक ही अद्वैत माने तो अन्य संसारी जीवों के द्वारा मुक्ति प्राप्ति के लिए किया जाता हुआ योग का सेवन निरर्थक होने का प्रसंग आ जायेगा। कारण कि ईश्वर एक होने से दूसरे जीव की मुक्ति असंभवित होगी। दूसरे जीव को मोक्ष गमन का अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। जिससे योग सेवन भी नहीं करेंगे और धीरे-धीरे योग मार्ग ही विलीन हो जायेगा, जो कि यथार्थ नहीं है।¹⁵

साथ ही आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि निश्चय नय का यह लक्षण तभी सार्थक सिद्ध होता है जब कि वे तीनों रत्नत्रयी आत्मा से जुड़े और जब ये तीनों तत्त्व आत्मा से जुड़ते हैं तभी कर्मों का क्षय होता है। कर्मों का क्षय होते ही आत्मा मोक्षमार्ग का अधिकारी बन जाता है।

योग का लक्षण व्यवहार नय से - आगमों में निश्चय नय को जितना महत्त्व दिया है उतना ही महत्त्व व्यवहार नय को भी दिया है। अतः आचार्य हरिभद्रसूरिने गुरुविनयादि व्यवहार को भी योग के अन्तर्गत समाविष्ट किया है, क्योंकि उन्होंने इस सत्य को उजागर किया है कि यदि निश्चय नय के योग को प्राप्त करना हो, लोकोत्तर कोटी के योग को पाना हो तो लौकिक व्यवहार को भी अपनाना होगा। अतः उन्होंने 'योगशतक' में व्यवहार नय का उल्लेख इस प्रकार किया है -

व्यवहारओ उ एसो, विन्नेओ एयकारणाणं पि ।
 जो संबंधो सो विय, कारण कज्जोवयाराओ ॥
 गुरु विणओ सूस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु ।
 तह चेवाणुट्टाणं विहि-पडिसेहेसु जहसत्ति ॥¹⁶

इस रत्नत्रयी के कारणों (जो विनयादि) के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध वह भी कारण में कार्य का उपचार करने से व्यवहार नय मत में 'योग' कहलाता है।

जो योग फलप्राप्ति के प्रति सामान्य से योग्यता धारण करता है ऐसा जो प्रस्तुत योग, व्यवहारनय से योग कहलाता है। जिस प्रकार प्रत्येक गेहूं के कण-कण में अंकुरोत्पादन की योग्यता सामान्य रूप से होती है, परंतु प्रत्येक कण में से अनन्तर या निश्चय में अंकुरे उत्पन्न हो ही ऐसा नियम नहीं है। कारण कि उनका चूर्ण करके भोजन भी बनाया जाता है। परंतु योग्यता मात्र से कारण को कार्योत्पत्ति का कारण समझकर व्यवहार होता है, उसी प्रकार गुरु विनयादि गुण भी योग की उत्पत्ति की योग्यता धारण करने से व्यवहार नय से योग कहलाता है।

रत्नत्रयी तो आत्मा का वास्तविक गुण है। इनका तो आत्मा के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। उसीसे उन गुणों के साथ आत्मा का जो संबंध है वह तो योग कहलाता ही है कारण कि वे मुक्ति के प्रधान कारण हैं। परन्तु रत्नत्रयी के कारणभूत ऐसे गुरु विनय शुश्रूषा धर्मानुष्ठान आदि को भी कहा है, वह सभी नयों के अभिप्राय को स्वीकार करके कहा है। अर्थात् निश्चय नय से जैसे कार्य को कार्य कहते हैं, वैसे ही व्यवहारनय से कारण को भी कारण में कार्य का उपचार करके कार्य कहा जाता है। उसीसे व्यवहार नय से गुरु विनयादि रूप धर्मानुष्ठान भी रत्नत्रय के कारण होने से योग कहलाते हैं।

जिस प्रकार रत्नत्रयी का जो संबंध वह निश्चयनय से योग कहलाता है, उसी प्रकार रत्नत्रयी के कारणों के साथ जो संबंध वह भी व्यवहार नय से योग कहलाता है।

व्यवहार नय से कारण में कार्य का उपचार करके जो योग कहा है, वे कारण दो प्रकार के हैं। (१) अनन्तर (२) परंपर। भिन्न-भिन्न कारण होने से दोनों कारणों को योग कहा है।

आचार्य हरिभद्र योग सम्बन्धी विषयों के गहन अनुभवी होने के कारण व्यवहारनय के योग को 'टीका' में एक व्यवहारिक दृष्टांत देकर सरल सुगम्य रूप से समझाया है। जिस प्रकार 'घी ही आयुष्य है' यह जो व्यवहार प्रयोग लोक में देखने में आता है, वह अनन्तर कारण में कार्य का उपचार है। घृत आदि मादक पदार्थ आयुष्य की स्थिति का अनन्तर कारण बनता है। अतः घृत ही आयुष्य कहलाता है। घृत यह आयुष्य का कारण होने से 'घृत ही आयुष्य है' यह अनन्तर कारण में कार्य का उपचार हुआ। उसी प्रकार रत्नत्रयी के अनन्तर कारण गुरु विनयादि के साथ आत्मा का जो संबंध वह योग कहलाता है। यह अनन्तर कारण में कार्य का उपचार समझना।

दूसरा परंपर कारण - 'वर्षा तंदुल बरसाते है' इस दृष्टांत में पारमार्थिक रूप से देखने जाए तो तंदुल का वर्षा कभी नहीं होता है। परंतु वर्षा पानी बरसाता है, फिर भी वर्षा का पानी तंदुल का कारण बनता है, उसी से तंदुल बरसाता है। व्यवहार प्रयोग होता है। यहाँ तंदुल का कारण पानी और पानी का कारण वर्षा, इस प्रकार परंपरा से वर्षा कारण बनता है, उस परंपरा से कारण बनने वाले ऐसे वर्षा में तंदुल कार्य का उपचार किया है। उसी प्रकार रत्नत्रयी के अनन्तर कारण गुरु विनयादि और गुरु विनयादि के जो सेवा-भक्ति-वैयावच्च आदि परंपर कारण बनते हैं, उसमें योग का उपचार करना वह परंपरा कारण में कार्योपचार से योग समझना।^{१०}

व्यवहार योग का स्वरूप इस प्रकार है - धर्मशास्त्रों में कथित विधि, गुरु का विनय, परिचर्या करना, यथाशक्ति विधि निषेधों का पालन करना। गुरुदेवों का विनय करना। धर्मशास्त्र सुनने की अतिशय उत्कंठा होना, शास्त्रों का ज्ञानाभ्यास स्थानशुद्धि, शरीरशुद्धि, मनशुद्धि, वस्त्रशुद्धि पूर्वक करना।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक की वृत्ति में यहाँ तक कह दिया कि -

‘अविधे, प्रत्यवाय हेतुत्वात् अकृतोऽविधिकृत योगादवरम् असच्चिकित्सोदाहरणादिति भावनीयम्।’

अर्थात् अविधि से किया गया योग का सेवन अनर्थ का कारण बनता है। अविधि से किये गये योग के सेवन से तो नहीं किये गये योग का सेवन श्रेष्ठ है। प्रतिक्रिया लाएँ वैसी विपरीत चिकित्सा करने से तो चिकित्सा न करनी अच्छी है। अर्थात् जिस औषधि से विपरीत परिणाम आये उससे तो औषधि न लेना अच्छा है। उसी प्रकार अविधि से योग का सेवन करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। परंतु उससे विपरीत अन्य का पराभव स्वर्ग यशादि की इच्छा होने से संसार बढ़ता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने यह बात विधि निरपेक्ष जीवों के लिए की है कि वे अविधि से योग का सेवन करके गर्व धारण करते हैं। उच्छृंखल बनकर दूसरे का पराभव करते हैं, प्रायश्चित्त आदि का सेवन भी नहीं करते हैं, अविधिमार्ग को प्रोत्साहन देते हैं, ऐसे जीवों के लिए अविधिकृत योग सेवन से योग सेवन नहीं करना ही अच्छा है, लेकिन विधि सापेक्षवाले जीवों के लिए यह बात नहीं है, क्योंकि उनके संघयणबल, रोगावस्था आदि के कारण अविधि हो भी जाती है तो उनको अत्यंत दुःख होता है। प्रायश्चित्त आदि भी ग्रहण करते हैं, अतः उन जीवों के लिए तो नहीं करने से तो अविधि से भी करना अच्छा है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस कथन के द्वारा योगमार्ग के साधक आत्माओं को योग का अनुष्ठान विधिपूर्वक करने का आग्रह सूचित किया है, साथ में ही व्यवहार योग को विशेष महत्त्व दिया है और कहा है कि कालक्रम से व्यवहार योग से प्रकृष्ट स्वरूप ऐसे सम्यग्ज्ञानादि गुणों की निश्चय प्राप्ति होती है, क्योंकि शुश्रूषा आदि व्यवहार योग का पुनः पुनः आसेवन करने से भविष्य में यह व्यवहार योग निश्चययोग की प्राप्ति का अवन्ध्य कारण होने से निश्चय रूप से सिद्धि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार व्यवहार योग के संस्कार एकबार जो बीज रूप में आत्मा में स्थिर बन जाते हैं तो उत्तरोत्तर भवों में अनुबन्धरूप बनने के कारण भवोभव में चारों तरफ से अत्यंत गाढ़ बनने से मार्गानुसारी और जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का अनुसरण करने से विशुद्ध बना हुआ ऐसा यह धर्मानुष्ठान गाढ़ अनुबन्धवाला बनता है और अन्त में निश्चित निश्चययोग की प्राप्ति होती है।^{१८}

योग के अधिकारी - अनादि कालीन संसार में दो मार्ग प्रवाहित हैं - एक भोग का दूसरा योग का। संसार में जो जीव भोग विलासिता में बह रहे हैं, उनके पीछे-पीछे बहनेवाले ‘आनुस्रोत सिकि’ वाले कहलाते हैं तथा उससे विपरीत मार्ग में बहनेवाले जीव प्रतिस्त्रोत-सिकि वाले कहलाते हैं। योगी आत्माएँ प्रातिस्त्रोतसिकि वृत्ति का आलंबन लेकर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचते हैं।

लेकिन प्रश्न होता है कि इस योग मार्ग के अधिकारी कौन ? क्योंकि योग्य जीव ही योग का अधिकारी बन सकता है, योग्यता के बिना कार्य करना संभव नहीं है, तथा योग्यता के साथ ही योग्य सामग्री की अनुकूलता भी आवश्यक है। जैसे हम व्यवहार में देखते हैं कि मूंग में पकने की योग्यता होगी तो ही अनुकूल अग्नि, पानी आदि सामग्री मिलने पर पकते हैं। करडु मूंग में पकने की योग्यता नहीं होने के कारण अनुकूल सामग्री मिलने पर भी नहीं पकते हैं। अर्थात् योग्यता एवं अनुकूल सामग्री दोनों का मिलन होना आवश्यक है। उसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि योगमार्ग के ज्ञाता थे। अतः उन्होंने योगमार्ग में उन्हीं जीवों को ग्रहण किये हैं जो योग्य हो, अतः योगशतक में उन्होंने यथार्थ जैन जीवन के चार क्रम-विकास विभाग बताये हैं, जिस प्रकार वैदिक परंपरा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास - ये चार आश्रम हैं। जैनत्व जाति से, अनुवंश से अथवा किसी प्रवृत्ति-विशेष से नहीं माना गया है, परन्तु वह तो आध्यात्मिक भूमिका पर निर्भर है। जब किसी व्यक्ति की दृष्टि मोक्षाभिमुख होती है तब वह जैनत्व की प्रथम भूमिका है। इसका पारिभाषिक नाम 'अपुनर्बन्धक' है। मोक्ष के प्रति सहज श्रद्धा रुचि का प्रगट होने एवं यथाशक्ति तत्त्वों की जानकारी होना यह सम्यग्दृष्टि नाम की दूसरी भूमिका है। जब वह श्रद्धा रुचि एवं समझ आंशिक रूप से जीवन में उतरती है तब देशविरति नामकी तीसरी भूमिका प्रगट होती है। इससे आगे सम्पूर्ण रूप से चारित्र एवं त्याग की कला उत्तरोत्तर विकसित होने लगती है तब सर्व-विरति नाम की चौथी भूमिका अर्थात् अन्तिम भूमिका आती है। इन भूमिकावाले ही आत्मा उत्तरोत्तर योग को प्राप्त करते है।

प्रथम अधिकारी अपुनर्बन्धक - आचार्य हरिभद्रसूरि सर्व प्रथम जिसने सच्ची भूमिका का स्पर्श नहीं किया और केवल उस ओर अभिमुख बने हुए आत्मा को योग का अधिकारी बताते हुए कहते है कि वह जीव जो अनादि काल से तीव्र राग-द्वेष-मोह आदि के परिणाम होने से कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधता था। लेकिन अब मोह का अंश अल्प क्षीण हो जाने के कारण तथा कर्म प्रकृतियों का आधिक्य कम होने के कारण, चरमावर्तकाल में भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधने के कारण अपुनर्बन्धक कहलाता है।^{१९}

'योगशतक' में 'अपुनर्बन्धक' के लक्षण बताते हुए कहा कि -

(१) यह जीव तीव्र भाव से हिंसादि पापों को नहीं करता है।

(२) संसार की समस्त वस्तुएँ स्वजन-परिजन धन-माल मिलकत आदि को न तो बहुमान देता है और न उन वस्तुओं की इच्छा करता है।

(३) सभी स्थानों में उचित आचरण करता है, धार्मिक कार्यों में अपनी शक्ति को छुपाता नहीं है और व्यवहारिक में धर्म या धर्मी की निन्दा हो वैसा आचरण नहीं करता है।^{२०}

योगबिन्दु में इसी लक्षण को आचार्य हरिभद्रसूरि ने दूसरे शब्दों में प्रस्तुत किया है - जैसे कि जो जीवात्मा भवाभिन्दी दोषों से (क्षुद्रस्वभाव, लोभी, दीन, मत्सरी, भयवाला, कपटी, अज्ञानी) विरोधी गुणवाला (उदारता, निर्लोभता, अदीनता, अमत्सर) तथा अभ्यास के कारण योग के गुणों में क्रमिक विकास करनेवाला हो प्रायः करके वह अपुनर्बन्धक होता है।^{२१}

योग की पूर्वभूमिका (पूर्वसेवा) भी इस अपुनर्बन्धक आत्माओं को ही होती है, कारण कि इन आत्माओं में आंशिक मुक्ति के अनुकूल शुभ भाव होते हैं। तथा पूर्वसेवा के योग से आत्मा योग रूप महाप्रसाद ऊपर चढ सकता है। अतः पूर्वसेवा यह महल का प्रथम सोपान है। अनुभवी योगीन्द्रों ने कहा है कि - निवृत्ति की दिशा में विशेष रूप से उन्मुख समाज में बहुतबार आवश्यक धर्म की उपेक्षा होने लगती है। हरिभद्रसूरि ने शायद यह तत्कालीन समाज में देखा और उन्हें लगा कि आध्यात्मिक माने जाने वाले निवृत्तिपरायण लोकोत्तर धर्म के नाम पर लौकिक धर्मों का उच्छेद कभी वंछनीय नहीं है, इसीलिए उन्होंने समाज के धारक एवं पोषक सभी धर्मों के आचरण को आवश्यक माना। जब वे गुरु-देव और अतिथि के आदर-सत्कार की बात कहते हैं तब केवल जैन गुरु, जैन देव या जैन अतिथि की बात नहीं कहते। वे तो गुरुवर्ग और माता-पिता-कलाचार्य तथा आप्तजनों को उद्दिष्ट करके कहते हैं। देव की बात भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों द्वारा पूजित सभी देवों को लक्ष्य में रखकर करते हैं।^{२२} तथा अतिथिवर्ग में वे सभी अतिथियों का समावेश करते हैं। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में लौकिक धर्म सद्गुणपोषक और सद्गुणवर्धक बनते हैं। धीरे-धीरे इन सद्गुणों के विकास के द्वारा लोकोत्तर धर्म और आध्यात्मिकता के सच्चे विकास में प्रवेश हो सकता है। यह बात उन्होंने एक दृष्टांत द्वारा समझाई है। वे कहते हैं कि अरण्य में भूला पडा हुआ यात्री पगदण्डी मिलने से धीरे-धीरे मुख्यमार्ग में पहुँच जाता है। वैसे ही योग का प्रथम अधिकारी लोकधर्म का यथावत् पालन करते हुए सुसंस्कार और विवेक की अभिवृद्धि से योग के मुख्यमार्ग में प्रवेश करता है। हरिभद्रसूरि के पहले ऐसा स्पष्ट विधान शायद ही किसी जैनाचार्य ने किया होगा।

इसके साथ ही मार्गाभिमुख और मार्गपतित जीव भी योग की पूर्वभूमिका प्राप्त करने की योग्यता वाले होते हैं।

‘मार्गाभिमुख’ और ‘मार्गपतित’ शब्द में जो मार्ग शब्द आया है उसकी परिभाषा ‘ललित-विस्तरा’ ग्रन्थ में इस प्रकार है - मार्ग यानी चित्त की सरलता (जिस प्रकार सर्प दर में प्रवेश करता है तब वह सीधा सरल जाता है) उसी प्रकार मार्ग यानि विशिष्ट क्षयोपशम, विशिष्ट गुणस्थानक की प्राप्ति रूप क्षयोपशम, इस मार्ग में प्रवेश करने के लिए योग्य भाव को प्राप्त करनेवाला मनुष्य मार्गाभिमुख कहलाता और मार्ग में प्रवेश किये हुए को मार्गपतित कहते हैं। ये आत्मा भगवद् आज्ञा को समझने के लिए योग्य होते हैं, ऐसे जीवों को भी अपुनर्बन्धक जीवों में समाविष्ट किये हैं।

पंचसूत्र की वृत्ति में उपरोक्त विवरण को स्पष्ट रूप से कहा है -

‘इयं च भगवती सदाज्ञा सर्वैर्वा पुनर्बन्धकादि गम्या। अपुनर्बन्धकादयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां कर्मस्थितिं तथाऽपुनर्बन्धकत्वेन क्षपयन्ति ते खल्वपुनर्बन्धकाः ॥ आदिशब्दान्मार्गपतितमार्गाभि-मुखादयः। परिगृह्यन्ते, दृढप्रतिज्ञालोचनादि गम्यलिङ्गाः।’^{२३}

योगमार्ग के ज्ञाता भगवत् गोपेन्द्र आदि भी योग की योग्यता वाले अपुनर्बन्धक आदि जीवों को ही मानते हैं। उनका कथन है कि जब तक पुरुष का प्रकृति से अधिकार दूर नहीं होता है तब तक पुरुष का यथार्थ योग मार्ग में प्रवेश करने की इच्छा नहीं होती है।^{२४}

गीता में भी श्रीकृष्णने अर्जुन से यही बात कही है कि - हे अर्जुन ! तीन गुणवाली प्रकृति का उपदेश देनेवाले वेद के ही वाक्य है और इसके द्वारा भोगसुखों की प्राप्ति होती है, जो अनित्य है। अतः त्रिगुणस्वरूप प्रकृति के व्यापार को छोड़कर भोग की लालच को छोड़कर नित्यसुख के स्थानरूप सात्विक प्रकृति को ग्रहण करके अबंधकभाव को भज। अबन्धकवाले को ही सत्यमार्ग प्राप्त करने की जिज्ञासा होती है।^{३५}

आचार्य हरिभद्रसूरि भी इसी बात को दृढ़ करते हुए कहते हैं - मोक्ष के साथ जो क्रिया संबंध कराती है, वह योग कहलाता है। ऐसा महा मुनिवरों ने कहा है और वह योग प्रकृति का अधिकार का एक अंश से निवृत्त होने पर निश्चय से शीघ्र प्राप्त होता है।^{३६}

इन सभी योगीन्द्रों ने अपुनर्बंधक आत्मा को योग का अधिकारी स्वीकारा है।

अपुनर्बंधक अवस्था से निम्न कक्षावाले सकृद्बन्ध, द्विर्बन्धक और चरमावर्ती जीव भी योग के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि सकृद् बंधादि त्रिविध जीवों में योग्यता अत्यंत अल्प होने से अधिकारी नहीं है।

योगीदृष्टि समुच्चय में कुलयोगी और प्रवृत्तचक्र योगी महात्माओं को ही इस योग के अधिकारी कहे हैं, गोत्रयोगी और निष्पन्न योगी को नहीं।^{३७}

आचार्य हरिभद्र ने तो यहाँ तक कह दिया है कि - योग के ग्रन्थ पढ़ने के भी योग्य जीव ही अधिकारी होते हैं, अयोग्य आत्माओं को तो पढ़ने की भी आज्ञा नहीं देनी चाहिए। क्योंकि उल्टा अनर्थ हो जाता है। उन आत्माओं का शास्त्र भी उपकार नहीं कर सकते हैं।^{३८}

(२) सम्यग्दृष्टि - योग का दूसरा अधिकारी सम्यग्दृष्टि आत्मा है। यह आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि करते हुए ग्रन्थिभेद करके औपशमिक आदि सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को जिनोक्त तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा होती है। दुःखी जीवों को द्रव्य से और भाव से जो दुःख होते हैं उनको दूर करने की इच्छा होती है। संसार की निर्गुणता जानकर विरक्त बनता है। मोक्ष की अभिलाषा और क्रोध तथा विषयतृष्णा का शमन करता है।^{३९} इन पाँच गुणों का आविर्भाव होने से आत्मा का चित्त मोक्ष-मार्ग के चिन्तन में रहता है। फिर चाहे उसका शरीर संसार में रहे। लेकिन उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ भाव से योगरूप होती हैं।^{४०} अर्थात् सम्यग्-दृष्टि जीव की कुटुम्ब विषयक प्रवृत्ति भी कर्म-निर्जरा करनेवाली होती है, कारण कि इनका मन मोक्ष में होता है।^{४१} निश्चय दृष्टि से सर्व प्रवृत्तियों का आधार जीवात्माओं का चित्त होता है और चित्त मोक्ष की अभिलाषावाला होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि की सभी प्रवृत्तियाँ मोक्षफल को देनेवाली होती हैं। उन प्रवृत्ति को शास्त्रकारों ने भावयोग कहा है।^{४२}

सम्यग्दृष्टि आत्मा को सुनने की तीव्र जिज्ञासा होती है। प्रतिकूल सामग्री मिलने पर भी धर्म के प्रति अत्यंत प्रीति होती है, धर्म को कभी छोड़ता नहीं है। स्वस्थता समाधान तथा चित्त व्यवस्थित रहे वैसी देवगुरु की नियमित परिचर्या करता है ऐसा जीव अणुव्रत आदि का पालन करता हुआ योग विकास में वृद्धि को प्राप्त करता है।^{४३}

(३) देशविरति - योगमार्ग का तीसरा अधिकारी चारित्रवंत आत्मा है। यह आत्मा (१) मार्गानुसारी (२) श्रद्धावान् (३) धर्मोपदेश के योग्य (४) क्रिया तत्पर (५) गुणानुरागी (६) शक्य में प्रयत्नशील होता है।^{३४}

ये लक्षण देशचारित्री और सर्व-चारित्री के है। यद्यपि सम्यग् दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् २ से ९ पत्त्योपम काल बीत जाने के बाद चारित्र मोहनीयादि कर्म का क्षयोपशम होता है, तब देशविरति धर्म जीव प्राप्त करता है और संख्यात सागरोपम जाने के बाद सर्व विरति चारित्र को प्राप्त करता है।^{३५}

यह जीवात्मा सद्धर्म में किसी भी प्रकार की स्वलना न हो वैसी आजीविका जीता है। निर्दोष दान देता है। वीतराग परमात्मा की पूजा करता है। विधिपूर्वक भोजन करता है। त्रिविध संध्या के नियम का पालन करता है। चैत्यवंदन करता है। मुनि भगवंतों की स्थान-पात्र-आहार आदि से भक्ति करता है। रात्रि में शयन करते समय पूरे दिन की दिनचर्या को याद करके दोषों की क्षमा मांगकर, संसार की अनित्यता, असारता विचारते हुए भावनाओं से भावित बनते हुए योगधर्म का अवसान में सेवन करता है।

यदि किसी को यह शंका हो जाए कि गृहस्थ आरंभ समारंभ से युक्त होता है तो वह कैसे योग का पालन कर सके ? उसका समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि - देशविरति चारित्रवान् भी अपने जीवन में संसारस्थ होते हुए भी उपरोक्त नियमों का पालन सुचारु रूप से करते हुए मोक्षमार्ग गमन स्वरूप योग का सुंदर पालन कर सकता है। क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गृहस्थ आरंभ-समारंभवाला होने पर भी चैत्यवंदन, मुनिसेवा, धर्मविषयक श्रवण - ये सभी प्रवृत्तियाँ गृहस्थ के लिए योगरूप है। तो फिर भावनामय मार्ग को तो कैसे योग नहीं कह सकते। अर्थात् वह तो अवश्य योग स्वरूप है। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है।^{३६}

अन्य दर्शनकारों ने भी कहा कि आत्मा ने जो-जो आश्रव कार्य किये हो, परंतु जिस कार्य के आगे-पीछे समाधिरूप फल की प्राप्ति होती हो तो वे साश्रवकार्य भी समाधि कहलाते हैं। समाधि अर्थात् रागद्वेष की हानि, कषायों का पराभव यह उपरोक्त भावयोग से भिन्न नहीं है। अतः चारित्रवान् आत्मा को जिस प्रकार समाधि फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार मार्गानुसारितादि के द्वारा क्रमशः क्रियातत्परता स्वरूप भावयोग की भी प्राप्ति होती है। अन्यदर्शन जिसे समाधि कहते हैं उसे ही जैन दर्शनकार भावयोग कहते हैं।^{३७}

(४) सर्वविरतिवान् - योग का चतुर्थ अधिकारी सर्वविरतिवान् आत्मा है। चारित्रवान् आत्मा में जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा पालन की परिणति भिन्न-भिन्न होने से सामायिक की शुद्धि भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः चारित्रवान् जीव अनेक प्रकार के है। लेकिन ये जीव अन्त में यावत् क्षायिकवीतरागी होते हैं।

आचार्य हरिभद्र सामायिक की शुद्धि का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि सामायिक शुद्धि तब ही संभव है जब कि जीवात्मा शास्त्रविहित भावों और निषिद्धभावों दोनों कार्यों के प्रति समभाव को धारण करे। यदि शास्त्रों में निषिद्धभावों पर अल्पद्वेष तथा विहितभावों पर अल्प भी राग होता है तो सामायिक अशुद्ध बनती है।^{३८}

यह चारित्रवान् आत्मा साधु-समाचारी सुरम्यरीति से पालन करता है। गुरु की आज्ञा में रहकर गुरुकुलवास करता है। यथायोग्य विनय करता है। नियतकाल का ध्यान रखकर निवास स्थान की प्रमार्जना करता है। शक्ति

को छुपाये बिना सभी कार्यों में प्रवृत्त बनता है। गुरु के वचन को पालने में अपना कल्याण समझता है। संवर करता है। शुद्धभिक्षावृत्ति से जीवन को यापन करता है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्वाध्याय करता है। मृत्यु पर्यंत उपसर्गों परिषर्गों का सामना करने में तत्पर रहता है। इस प्रकार चारित्रवान् आत्मा की ज्ञान तथा क्रिया दोनों मोक्ष के रूप में ही होती है।^{३९}

इस प्रकार सामान्यरूप से चारों प्रकार के आत्माओं को मोक्ष के अधिकारी बताये हैं। लेकिन 'योगविशिका' में आचार्य हरिभद्रसूरि स्थानादि पांच योग के अधिकारी 'देशविरति' और 'सर्वविरति' वाले को ही स्वीकार करते हैं। तथा अपुनर्बंधकादि में तो 'योग' का बीजमात्र ही मानते हैं। अतः उनमें योग का बीजमात्र होने से ही कुछ व्यवहारनय वाले योग मानते हैं, क्योंकि क्रियास्वरूप और ज्ञानस्वरूप ऐसे इन पाँच योगों का चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। उसी से जहाँ-जहाँ चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होगा, वहाँ-वहाँ योग होता है। ऐसी अन्वय व्याप्ति बनती है। उसी से दोनों चारित्रवाले को निश्चय ये योग होते हैं। तथा जहाँ-जहाँ चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम नहीं होता है वहाँ-वहाँ योग भी नहीं होता। इस व्यतिरेक से अपुनर्बंधकादि को योग नहीं होता है। इसी कारण से अध्यात्म आदि प्रकार के योग की प्राप्ति भी चारित्र से आरंभ होती है। यह बात आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में प्ररूपित की है।

देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः

अत्र पूर्वोदित योगोऽध्यात्मादि संप्रवर्तते।

अपुनर्बंधकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः

अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥^{४०}

अपुनर्बंधक आत्माओं को अध्यात्म और भावनारूप ऐसा यह योग व्यवहारनय से तात्त्विक होता है और निश्चयनय से उसके उत्तरगुणस्थानकवर्ती चारित्रवान् को तात्त्विक योग होता है।

सकृद्बन्धक और आदि शब्द से द्विबन्धक जीवों के तो परिणाम अशुद्ध होने से निश्चय या व्यवहार इन दोनों नय की अपेक्षा से स्थानादि योग योगरूप में नहीं है परन्तु योग का आभास मात्र है ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में कहा है।

सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।

प्रत्यपायफलप्रायस्तथा वेषादिमात्रतः ॥^{४१}

सकृदावर्तनादि जीव वेषादिमात्र ही होने से यह योग उनको अतात्त्विक होता है तथा अनर्थकारी फलवाला प्रायः होता है।

इस प्रकार इन सब अधिकारियों के विषय में जब चिन्तन करते हैं तब यह प्रतीत होता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के अधिकारियों की अधिकारिता उनके अनुरूप ही बताई है तथा साथ ही जो योग के अनधिकारी हैं उनका भी स्पष्ट कथन किया है, साथ में सकृद्बन्धक आदि अनधिकारियों के लिए यह भी कहा

कि यद्यपि सकृद्बंधक, द्विर्बंधक और चरमावर्ती जीव अपुनर्बंधकावस्था की पूर्वभूमिका उत्तरोत्तर नीचे-नीचे होने के कारण-परंपरा से वे भी योगदशा के अभिमुख हैं और क्रमशः वृद्धि होने पर योगदशा प्राप्त करने के अधिकारी हैं। उसीसे अन्यशास्त्रों में उनको भी अधिकारी कहे हैं, तथापि यह योग्यता अल्प होने से योग-प्रकरण में इन अपुनर्बंधकादि चतुर्विध जीवों से अन्य सकृद्बंधकादि त्रिविध जीवों को योग के अधिकारी नहीं कहे हैं, जिस प्रकार अल्पधन से मनुष्य धनवान् नहीं कहलाता, अल्परूप से रूपवान् नहीं कहलाता, अल्पज्ञान से ज्ञानवान् नहीं कहलाता। उसी प्रकार सकृद्बंधादि जीवों में योग की योग्यता अल्प होने से उनको अधिकारी नहीं कहे।^{४२}

योग के भेद प्रभेद - आत्मा प्रारंभ में अनेक क्लेश कर्म एवं आवरण से युक्त होती है। 'नदी घोल' के न्याय से वह धीरे-धीरे अपने विकास क्रम में अग्रसर बनती है, उसमें प्रत्येक आत्मा के परिणामों में भिन्नता होती है। जिससे योग के भी भेद-प्रभेद शास्त्रकारों ने किये। कुछ भेद में आत्मा के योग परिणाम अल्प होते हैं, तो कुछ भेद में उत्कृष्ट भी होते हैं। इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरिने पूर्वाचार्यों का अनुकरण एवं अपने अनुभव बल पर अपने ही ग्रन्थों में भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है। तथा अन्य दर्शनकारों ने जो योग के भेद माने हैं वे भी इनके द्वारा प्ररूपित भेदों में समाविष्ट हो जाते हैं। उनकी माध्यस्थवृत्ति ने अन्य दर्शन के योग को भी अलग नहीं रखा है, हां ! इतना अवश्य हो सकता है कि नाम में भेदता आ सकती है, लेकिन पारमार्थिक भिन्नता नहीं है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने ज्ञानयोग एवं क्रियायोग दोनों को महत्त्व प्रदान किया है। ज्ञानयोग और क्रियायोग दोनों का जब समन्वय होता है तब आत्मा अपने निश्चित गन्तव्य स्थान में पहुँचती है। अतः योगविंशिका में सर्वप्रथम स्थानादि पाँच भेद बताकर उनको दो भागों में विभक्त किये हैं -

ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ तंतम्मि पंचहा एसो ।

दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ ॥^{४३}

स्थान, उर्ण, अर्थ, आलंबन और निरालंबन - यह पाँच प्रकार का योग शास्त्रों में कहा है, प्रथम दो प्रकार का योग क्रियायोग है तथा पीछे के तीन योग ज्ञानयोग है।

(१) स्थानयोग - जिसके द्वारा स्थिर बना जाय ऐसा आसन विशेष स्थानयोग कहलाता है। कायोत्सर्ग, पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन, वीरासन आदि।

(२) उर्णयोग - धर्मक्रिया में उच्चार्यमाण सूत्रों के शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना, यद्यपि यह वाचिक क्रिया है फिर भी मोक्षानुकुलात्म परिणामजनक होने से योग कहलाती है।

(३) अर्थयोग - धर्मक्रिया में उच्चार्यमाण सूत्रों के वाच्य अर्थ को जानने के लिए आत्मा के परिणाम वह अर्थयोग कहलाता है। अर्थों को जानने में चित्त उपरजित बनता है, और वह मोक्षानुकुलात्म परिणाम जनक होने से अर्थयोग बनता है।

(४) आलंबनयोग - प्रतिमा विषयक ध्यान। योग को प्रतिमा आदि के आलंबन में स्थिर करना।

(५) निरालंबन योग - बाह्यालंबन बिना ज्ञान मात्र में ही लीन हो जाना।

इन पाँचों योगों में से प्रथम के दो योग क्रियात्मक होने से कर्मयोग है और पश्चात् के तीन चित्तनात्मक होने से ज्ञानयोग है।

स्थानादि पाँच योग में योग का लक्षण आत्मा को मोक्ष के साथ युंजित करे वह योग। यह लक्षण घटित होने से निरूपचरित अर्थात् वास्तविक योग है। परंतु महर्षि पतञ्जलि चित्तवृत्ति निरोध को योग कहते हैं, कारण कि तेरहवें गुणस्थान के अंत में किया जाता योग निरोध ही मोक्ष का आसन्न कारण है। उससे चित्तवृत्तिनिरोध को निरूपचरित योग कहा है, और उसकी पूर्व-पूर्व भूमिकारूप स्थानादि पाँचों योग परंपरा से मोक्ष के कारण बनते हैं, उसीसे स्थानादि पाँचों योग चित्तवृत्तिनिरोधात्मक ऐसे मुख्य योग के कारण बनते हैं। परंतु अनंतरूप से मोक्ष के कारण नहीं है। उसीसे साक्षात् योग नहीं है, कारण में कार्य का उपचार करके स्थानादि में योगरूपता लायी गई है। षोडशकजी की टीका में भी यम, नियम चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग के अंग होने से अंग में अंगी का उपचार करके योग कहा है।

तात्पर्यार्थ चित्तवृत्तिनिरोध में साक्षात् योगरूपता है, और यमादि में योगांगता के कारण और स्थानादि में कार्यकारण भाव होने से उपचरित योगरूपता है। यह पतञ्जलि सूत्रकार के लक्षण को ध्यान में रखकर कहा गया है।

जैनदर्शनकार के मान्य ऐसे योग के लक्षण को ध्यान में रखा जाय तो चित्तवृत्तिनिरोध और स्थानादि पाँचों योग उभय निरूपचरित है।^{४४}

मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के तारतम्य से स्थानादि योगों के असंख्यभेद होते हैं, फिर भी सभी को ध्यान में आ सके ऐसी स्थूलबुद्धि से परिणामों की तरतमता के आधार से चौदह गुणस्थानक के समान योगशास्त्र में बतायी हुई रीति से (१) इच्छा (२) प्रवृत्ति (३) स्थिरता (४) सिद्धि - ये चार भेद किये हैं।

(१) इच्छा - स्थानादि योग से युक्त ऐसे योगी महात्माओं की कथा करने और सुनने में अतिशय प्रीतिवाली और दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक उल्लास से विशेष परिणाम को बढ़ानेवाली ऐसी भावना इच्छा योग कहलाता है।

(२) प्रवृत्ति - सर्वत्र उपशमभाव पूर्वक स्थानादि में योग का सेवन वह प्रवृत्ति योग कहलाता है।

(३) स्थिरता - स्थानादि में योग बाधक विघ्न उसकी चिंता रहित जो पालन वह स्थिरता योग कहलाता है।

(४) सिद्धि - उस स्थानादि योगों का स्वयं को जो फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार का फल दूसरे में भी प्रापक बन सके ऐसा सिद्ध बना हुआ अनुष्ठान सिद्धियोग कहलाता है।^{४५}

उपरोक्त भावों को प्रस्तुत करते हुए अध्यात्मसार के प्रबंध तीसरे का श्लोक इस प्रकार है -

इच्छा तद्वत्कथाप्रीतियुक्ताऽविपरिणामिनी।

प्रवृत्तिः पालनं सम्यक् सर्वत्रोपशमान्वितम् ॥

सत्क्षयोपशमोत्कर्षादितिचारादिचिन्तया ।

रहितं तु स्थिरं सिद्धिं परेषामर्थसाधकम् ॥^{६६}

ज्ञानसार में उपाध्याय यशोविजयजी म. ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।^{६७}

इस प्रकार स्थानादि पाँचों योग इच्छादि चार-चार प्रकार के होते हैं। अर्थात् प्रत्येक के चार-चार भेद होने से $4 \times 4 = 16$ भेद हुए।

योग के 16 भेदों में कुछ मतभेद है जैसे कि योगविंशिका के मूल 16वीं गाथा की टीका में “तदेवं हेतुभेदानुभावभेदेन चेच्छादिभेदविवेचनं कृतं” जो पंक्ति है यह देखते हुए ऐसा ज्ञात होता है श्रद्धा-प्रीति-धृति-धारणा स्वरूप पूर्वतस्वर्ती कारणभेद और अनुकंपा-निर्वेद-संवेग शमत्व स्वरूप पश्चाद्वर्ती कारणभेद के साथ स्थानादि पाँच योगों का गुणाकार करे अशीति भेद 16 होते हैं, ऐसा अर्थ होता है। लेकिन इस अर्थ के लिए विशिष्ट प्रमाण नहीं मिलता है किन्तु विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि इच्छायोग का कार्य अनुकंपा, प्रवृत्तियोग का कार्य निर्वेद, स्थिरता योग का कार्य संवेग और सिद्धियोग का कार्य शमत्व इस प्रकार एक-एक कार्य कहे गये उसका उसके साथ गुणाकार करना तो स्पष्ट विरोध दिखता है।

१६वीं गाथा की टीका में 16 भेद वाला योग कहा है। अशीति शब्द का दो बार प्रयोग होने से टीकाकारश्री 16 भेदवाला ही योग बता रहे हैं, ऐसा ज्ञात होता है।

कुछ गीतार्थ महामुनि इसी ग्रंथ की 16वीं गाथा में आनेवाले प्रीति-भक्ति-वचन और असंग इस प्रकार चार अनुष्ठान इच्छादि योगवाले होने से स्थानादि पाँच योगों को इच्छादि चार से और उनको प्रीति आदि से गुणाकार करने पर 16 भेद होते हैं। योगवाला अनुष्ठान का विषय होने से यह अर्थ अधिक युक्ति संगत लगता है। बीच में प्रासंगिक विधि-अविधि की चर्चा होने से प्रीति आदि अनुष्ठान का वर्णन दूरवर्ती बना है।^{६८}

गाथा 16वीं और १६वीं गाथा में टीकाकारश्री ने जो ‘अशीति’ शब्द का दो बार प्रयोग किया है, वह उचित ही लगता है। उसका संशोधन करते हुए पूज्य उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. कृत ज्ञानासाराष्टक उपर खंरतरगच्छीय आचार्य म. श्री दीपचंद्रसूरि के शिष्ट श्री देवचंद्रसूरि रचित ‘ज्ञानमञ्जरी’ की टीका में २७ वे योगाष्टक की छठी गाथा में अंतिम में और सातवे गाथा के अवतरण में निम्न लिखित स्पष्ट पाठ मिलता है।

एकाग्रयोगस्यैवापरनाम अनालंबन योग इति एवं स्थानाद्याः पञ्च इच्छादेर्गुणिता विशंति-र्भवन्ति, ते च प्रत्येकमनुष्ठानचतुष्कयोजिता अशीतिप्रकारा भवन्ति तत्स्वरूप निरूपणायोपदिशति।^{६९}

स्थानादि पाँच योगों को इच्छादि चार से गुणाकार करने पर 16 होते हैं और उनको 16 भेदों को प्रीति-भक्ति-वचन और असंग इस चार प्रकार के अनुष्ठान से गुणाकार करने पर 16 भेद होते हैं। इस प्रकार का संस्कृत पाठ भी बराबर मिलता है। अतः यह अधिक युक्ति संगत है।

स्थानादि योग की प्रवृत्ति देशविरति चारित्रवाले सर्व-विरति चारित्र को ही होती है। ऐसा तीसरी गाथा में कहा है और बात की पुष्टि तीसरी गाथा की टीका में योगबिन्दु को साक्षी देकर की है तथा साथ में यह भी कहा

कि 'अध्यात्मादि' योग भी चारित्रवान् आत्मा को ही प्राप्त होते है। अतः स्थानादि योगों का अध्यात्मिक योगों के साथ संबंध है, तथा अध्यात्म योग का स्थानादि योग में अन्तर्भाव होता है। वह इस प्रकार -

(१) देवसेवा पूजा, जप, तत्त्वचिंतन स्वरूप भेदवाला अध्यात्म योग का समावेश अनुक्रम से स्थान, उर्ण और अर्थयोग में होता है।

(२) भावनायोग में नियमा प्रवर्धमान परिणाम तथा चित्तवृत्ति-निरोध युक्त ऐसा अभ्यास होता है, इसमें देवसेवादि कायिकप्रवृत्ति में, जापादि वाचिक प्रवृत्ति में, तत्त्वचिंतन मानसिकप्रवृत्ति में चित्तवृत्ति निरोध होता है। अतः यह भावनायोग भी स्थान, उर्ण एवं अर्थयोग में समाविष्ट होता है।

(३) आध्यान - प्रशस्त एक अर्थ विषयक चित्त की स्थिरता वह आध्यान कहा जाता है। पवन रहित स्थिर दीपक जैसा चित्त पदार्थ के उचित चिंतन में स्थिर, सूक्ष्मदृष्टि गम्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि तत्त्वों का सूक्ष्म उपयोग आलंबन योग में उसका अन्तर्भाव होता है।

(४) समतायोग - अविद्या के द्वारा इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में जो कल्पना जीवों को होती है उस कल्पना को सम्यग्ज्ञान के बल से दूर करके समभाव की जो वृत्ति वह समतायोग है।

(५) वृत्तिसंक्षय - अन्य द्रव्य के संयोग से उत्पन्न मानसिक और कायिक वृत्तियों का नाश (फिर से उत्पन्न न हो) वह वृत्तिसंक्षय। इन दोनों का निरालंबन योग में समावेश किया है।^{५०}

'योगबिन्दु'^{५१} में इन पाँचों योगों का विस्तार से वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरिने किया है।

योगशास्त्रों में विविध प्रकार से योग के दो-दो भेद बताये हैं।

(१) सानुबन्ध (२) निरनुबन्ध।

(१) सानुबन्ध - इस योग से अपाय रहित अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, कषाय अज्ञान रूप अपाय का सर्वथा अभाव होने पर अपुनर्बन्धक आदि योगी मोक्षमार्ग की प्राप्ति में उस प्रकार के अनुबन्ध रूप उपादान कारण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-संपराय, यथाख्यात आदि शुद्ध चारित्र की गुणश्रेणी को बढ़ाते हुए कर्म कलंक का नाश करता है और अनुक्रम से अध्यात्म, भावना, ध्यान, वृत्तिसंक्षय रूप योग जिनको दोषाभाव रूप होते है और उससे अवश्य मोक्ष की सिद्धि होती है।

(२) अननुबन्ध-निरनुबन्ध - यह दोष से युक्त होने से अशुद्ध योग है, उसमें यम, नियम आदि होने पर भी मिथ्यात्व से युक्त होने से संसारवृद्धि करनेवाला ही है। तथा कांटा, ताप आदि मार्ग गमन में विघ्नकारक होते है उसी प्रकार मोह, मिथ्यात्व आदि भी मोक्षमार्ग में गमनशील आत्माओं को कंटक तथा ताप के समान विघ्न करनेवाले बनते है ऐसा अन्यदर्शनकार भी कहते है।

यह (निरनुबन्ध) योग दो प्रकार का है - (१) आश्रवयुक्त (२) आश्रव रहित (निराश्रव)।

(१) साश्रवयोग - जिनको अनेक जन्मों तक संसार में परिभ्रमण करने का है उनको साश्रवयोग होता है।

(२) निराश्रव - जिनको एक जन्म के पश्चात् मुक्त बनने का है उस योगी को निराश्रव योग होता है।

जो आश्रव है वही बंध का हेतु है, उसीसे जन्म-मरण की परंपरा चलती है क्योंकि आश्रवयोग और बंधयोग वह सांपरिक-कषायरूप है वही आश्रवबंध योग का हेतु है। यह अर्थ युक्तियुक्त घटित होता है।

उसी प्रकार अंतिम देहधारी को संपराय कर्म का वियोग होने से आश्रव योग होने पर भी अनाश्रव कहलाता है। ऐसा पूज्यों का मत है।⁴³

‘षोडशक’ और ‘ज्ञानसार’⁴³ में योग के दो भेद बताये हैं - वे इस प्रकार -

सालम्बनो निरालम्बनश्च, योग परो द्विधा ज्ञेयः

जिनरूपध्यानं खल्व्वाद्यस्तत्त्वगस्त्वपरः ॥⁴⁴

परम योग सालंबन और निरालंबन दो प्रकार का है।

समवसरण में बिराजमान ऐसे जिनेश्वर के रूप का जो ध्यान वह सालंबन योग समझना तथा उसके तत्त्व को अरूपी ऐसे केवलज्ञानादि गुणों के अनुसरण का जो ध्यान वह दूसरा अनालंबन योग समझना।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगविशिका में भी ये दो भेद किये हैं-

आलंबणं पि एयं, रूढमरूढी य इत्थ परमु त्ति।

तगुणपरिणइरूढो, सुहूमो अणालंबणो नाम ॥⁴⁴

इस योग संबंधी प्रकरण में समवसरणस्थ जिनप्रतिमास्वरूप रूपी और सिद्ध परमात्मा स्वरूप अरूपी दो प्रकार का आलंबन है। वहाँ सिद्ध परमात्मा के गुण जो केवलज्ञानादि है, उसके साथ एकाकारता रूप जो परिणति विशेष वह सूक्ष्म अनालंबन योग है।

योगबिन्दु में संप्रज्ञातयोग और असंप्रज्ञातयोग दो प्रकार के योग बताये हैं -

उपर्युक्त जो अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय योग के पाँच भेद कहे हैं, उसमें चौथे समता योग को महर्षि पतञ्जलि आदि अन्य योगियों ने संप्रज्ञात समाधि योग कहा है। कारण कि जिसमें यथार्थ उत्कृष्ट रूप से युक्त पर्याय विद्यमान होते हैं ऐसे ज्ञान से युक्त यह समाधि है। इस समाधि के फलरूप में आत्मा चरम जन्म को प्राप्त करके पुनः नये जन्म-मरण का कारण नष्ट हो जाय ऐसी क्षपकश्रेणी को प्राप्त करके अनुक्रम से केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

इस संप्रज्ञात योग के पश्चात् अन्तिम योग को असंप्रज्ञात समाधि योग अन्यदर्शनकार कहते हैं उसके बल से सम्पूर्ण कर्म दलिकों को अनुक्रम से क्षय करते तथा सभी मन-वचन-काया की जो प्रवृत्ति है, उसका भी अंत में निरोध करके मोक्षावस्था को सिद्ध करता है।⁴⁵

योगविशिका की टीका में उपाध्याय यशोविजयजी म. ने इसी बात की पुष्टि की है कि जैनदर्शन की जो क्षपकश्रेणी कहलाती है उसे ही अन्यदर्शनकार संप्रज्ञात समाधि कहते हैं तथा क्षपकश्रेणी के पश्चात् जो केवलज्ञान प्राप्त होता है उसे परदर्शनकार असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इन दोनों में नामभेद है, लेकिन अर्थ बिल्कुल अघटित नहीं है।

असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण वृत्तियों का जिसमें अभाव है वह असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है।

सम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है - (१) सयोगी केवली (२) अयोगी केवली। प्रथम समाधि में मानसिकवृत्तियों रूप संकल्प-विकल्पज्ञान का अत्यंत उच्छेद होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने से उपदेश देने स्वरूप वचनयोग और आहार-विहार-निहार-विद्यादिरूप काययोग अवश्य होता है। यह समाधि तेरहवें गुणस्थानक में होती है। तथा अयोगीकेवली रूप दूसरी असम्प्रज्ञातसमाधि वह परिस्पन्दरूप योगात्मक वृत्तियों का क्षय होने से प्रगट होती है, कारण कि मन-वचन-काया के योग से रहित है उसीसे पूर्णतः पुद्गलभावरहित है - सर्वथा कर्मबंधरहित है, अनाश्रवभाव और पूर्ण संवरभाव को प्राप्त किये हुए है। यह अवस्था ही मुक्ति प्राप्ति का अनंतर कारण है।^{५०}

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने सभी दर्शनों की समाधि को जैन दर्शन की समाधि से समन्वय करके योगाभ्यासी को एक सापेक्षज्ञान की अनुभूति कराई है।

योगदृष्टि समुच्चय में तीन प्रकार के योग बताये हैं - (१) इच्छायोग (२) शास्त्रयोग (३) सामर्थ्ययोग।

(१) इच्छायोग - इस योग में आत्मा को धर्म करने की इच्छा होती है। आगमों के अर्थों को बराबर सुनता है तथा ज्ञानवान् होता है, लेकिन उस आत्मा का प्रमाद के वश से जो अपूर्ण धर्मयोग होता है वह इच्छायोग कहलाता है।

(२) शास्त्रयोग - प्रमाद रहित और श्रद्धावंत आत्मा को शास्त्रीय सूक्ष्म अवबोध के कारण आगम वचनों के साथ अखंड तथा उसी कारण अतिचार रहित ऐसा यथाशक्ति किया जाता जो धर्मयोग वह शास्त्रयोग कहलाता है।

(३) सामर्थ्ययोग - सामान्य रीति से शास्त्रों में बताये हुए उपयोगवाला और विशिष्ट प्रकार की शक्ति की अतिशय प्रबलता होने से शास्त्र के विषय से पर ऐसा यह तीसरा सामर्थ्ययोग है।^{५१}

सामर्थ्य योग दो प्रकार का है।

(१) धर्मसंन्यास - क्षायोपशमिक भावों के भेद उसका त्याग करना ही धर्म संन्यास योग है। यह योग द्वितीय अपूर्वकरण अर्थात् क्षपकश्रेणि काल में ही प्रगट होता है।

(२) योगसंन्यास - मन-वचन-कायिक क्रियाओं का सर्वथा त्याग - योग संन्यास कहलाता है। यह योग आयोजिका करण करने के बाद केवली परमात्मा को होता है।

इच्छायोग से प्रारंभ की गई मुक्ति नगर की प्राप्ति की यात्रा यहाँ समाप्त होती है। यह योग संन्यास नाम का सामर्थ्य योग ही इस जीव को अल्पकाल में मुक्ति के साथ युंजित करता है और निश्चय से जोड़ता है। अतः इस योग को सर्वसंन्यास योग कहते हैं।

गीता आदि अनेक ग्रन्थों में 'संन्यास' पद बहुत प्रसिद्ध है। आचार्य हरिभद्र के पहले किसी जैन आचार्य

ने इसको स्वीकार किया हो ऐसा नहीं लगता। हरिभद्र इस 'संन्यास' शब्द को अपनाते हैं, इतना ही नहीं, धर्म-संन्यास, योग-संन्यास और सर्व-संन्यास के रूप त्रिविध संन्यास का निरूपण करके वे ऐसा सूचित करते हैं कि जैन परम्परा में गुणस्थान के नाम से जिस विकास क्रम का वर्णन आता है वह इस त्रिविध संन्यास में आ जाता है।

महाभारत, गीता और मनुस्मृति अनेक ग्रंथों का परिशीलन योगदृष्टि समुच्चय में दृष्टिगोचर होता है। इसमें गीता के परिशीलन की गहरी छाप हरिभद्र के मानस-पटल पर अंकित देखी जाती है। गीता में संन्यास और त्याग के प्रश्न की चर्चा विस्तार से आती है, गीताकार ने मात्र कर्म संन्यास को संन्यास न कहकर काम्यकर्म के त्याग को भी संन्यास कहा है^{१०} और नियत कर्म करने पर भी उसके फल के विषय में अनासक्त रहने पर मुख्य भाग देकर संन्यास का हार्द स्थापित किया है।^{११} हरिभद्र जैन परम्परा के वातावरण में ही पनपे हैं, यह परंपरा निवृत्ति प्रधान तो है ही, परंतु सम्प्रदाय के रूप में व्यवस्थित होने से उनका बाहरी ढांचा पहले से ऐसा बनता रहता कि जिसमें प्रवृत्तिमात्र के त्याग के संस्कार का पोषण अधिक मात्रा में होता आ रहा था। हरिभद्र ने देखा कि वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए अनेक प्रवृत्तियाँ अनिवार्य रूप से करनी पड़ती हैं। उनके सर्वथा त्याग पर अथवा उनकी उपेक्षा पर भार देने से सच्चा त्याग नहीं साधता बल्कि कृत्रिमता आती है। योग अथवा धार्मिक जीवन में कृत्रिमता को स्थान नहीं हो सकता, इससे उन्होंने गीता में निरूपित संन्यास के दो तत्त्वों का निर्देश योगदृष्टि समुच्चय में किया। एक तो काम्य तथा फलाभिसन्धि वाले कर्मों का ही त्याग और दूसरा है नियत एवं अनिवार्य कर्मानुष्ठान में असंगतता एवं अनासक्ति। इन दो तत्त्वों को स्वीकार कर उन्होंने इतर निवृत्ति प्रधान परम्पराओं की भांति जैन परम्परा को भी प्रवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का बोध कराया है।

५. योगशुद्धि के कारण - योग को प्राप्त करने के लिए हमारे जीवन में सर्व प्रथम उनके कारणों को अर्थात् योगशुद्धि के कारणों एवं योगशुद्धि को भी जानना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगशतक के अन्दर योगशुद्धि के कारणों को प्रस्तुत किये हैं। वे इस प्रकार हैं- निष्पाप ऐसा गमन, आसन, स्थान, शयन आदि के द्वारा काया की शुद्धि विचारना, निष्पाप ऐसे ही वचनों का उच्चारण करने के द्वारा वचन योग की शुद्धि विचारना तथा निष्पाप ऐसे शुभ चिन्तनों से मन शुद्धि विचारना अर्थात् धर्म के अविरोधि या उत्तरोत्तर धर्मसाधक ऐसा शुभ-चिन्तन यही सत्य योगशुद्धि का कारण है।

तथा भिन्न-भिन्न गुणस्थानों की अपेक्षा से योगशुद्धि जघन्य-मध्यम और उत्कृष्टादि भेदों से भी होती है। जैसे कि - जिस प्रकार अपना जीव देशविरतिधर बना हो तो उस गुणस्थानक के योग्य जघन्ययोग शुद्धि प्राप्त करता है, उसके पश्चात् मध्यम और उत्कृष्ट, पश्चात् सर्व विरतिवान् यह आत्मा होता है वहाँ भी क्रमशः जघन्य-मध्यम और उत्कृष्ट योगशुद्धि प्राप्त करता है, इस प्रकार क्रमशः जघन्य-मध्यम उत्कृष्ट योगशुद्धि को प्राप्त करना और इस प्रकार क्रमशः विकास होने पर उत्तरोत्तर गुणस्थान के समीपता की प्राप्ति होती है तथा आरोहण सरल और सफलतादायक बनता है।

अन्यदर्शनकार इन तीन प्रकार की योगशुद्धि प्रकारान्तर से बताते हैं। वह इस प्रकार है -

सामुद्रिक शास्त्र अथवा अंगशास्त्रों में वर्णित प्रमाणोपेत शरीर, सुंदर चाल, परिपूर्ण अंगता आदि शब्द से कोढ़ खुंथ आदि दोषों से रहित देदीप्यमान और विशिष्ट रूप तथा आकृति द्वारा देहशुद्धि जानना। प्रतिभासंपन्नता, आकर्षकता आदि कायाशुद्धि के अन्तर्गत आती है। बाहर से दिखनेवाली काया की प्रतिभा भी श्रोताओं को गुणवृद्धि और आकर्षण का कारण बनती है। तथा वाणी भी गंभीर-मधुर-अल्पाक्षर तथा आज्ञापक (गुरु के वचन को सुनकर 'तहत्ति-इच्छं) इत्यादि भिन्न-भिन्न अनेक भेदों से उस-उस योग के उचित ऐसी वाग्शुद्धि जानना।

तथा में समुद्र तैरता हूँ, मैं नदी पार उतारता हूँ, मैं सरोवर तैर रहा हूँ इत्यादि हमेशा अथवा क्वचित् भिन्न-भिन्न उज्वल स्वप्नों को निद्रा में देखने के द्वारा मन की शुद्धि जानना।

अन्य दर्शनकार के मत को प्रस्तुत करके आचार्य हरिभद्रसूरि अपने आशय को बताते हैं कि यह शुद्धि भी हमको मान्य है, परंतु अंतर इतना ही है कि यह जो तन्त्रान्तरीय मान्य योगशुद्धि बाह्य है तथा अत्यावश्यक नहीं है जबकि जैन सम्मत योगशुद्धि अभ्यंतर है और जरूरी है और जो उभय योगशुद्धि हो तो सोने में सुगंध के समान स्वीकार करने योग्य है।

इस प्रकार उस-उस गुणस्थान के योग की उचितता को स्वीकार करके योग की शुद्ध भूमिका समझनी चाहिए। बाह्य मन-वचन और काया संबंधी शुद्धि भी सुंदर योगशुद्धि कहलाती है। जो स्वयं को अन्य को प्राप्त और स्वीकार्य गुणस्थानक में स्थिरता और उर्ध्वारोहण करानेवाली है।

योगशुद्धि दो प्रकार की है - (१) ४२ पुण्य प्रकृतिओं के उदयजन्य (२) मोहनीय कर्म के क्षयोपशम जन्य प्रथम की बाह्य है दूसरी अभ्यंतर है। वादियों को जीतने में, विशाल सभा में, श्रोतावर्ग को प्रतिबोध करने में और बाल जीवों को धर्म में आकर्षित करने में शरीर की सुंदरता, वाणी की मधुरता और मन के शुभ-संकल्प अवश्य सहायक है, कारण है, निमित्त है, उसीसे छेद-सूत्रादि आगमों में जब जैनाचार्य वादिओं के समक्ष वाद-विवाद करने राज्यसभा में उपस्थित होते हैं तब उनको सुंदर स्वच्छ और सुघड़ ऐसे श्वेत वस्त्र धारण करने को कहा है, परंतु यह बाह्य शुद्धि आत्यंतिक जरूरी नहीं है, जब कि मोहनीय कर्म के क्षयोपशम जन्य इर्यासमित्तिजन्य कायशुद्धि, भाषासमिति और वचन गुप्तिजन्य वचनशुद्धि और मनगुप्तिजन्य मनशुद्धि प्राप्त गुणस्थानक की स्थिरता में और स्वीकार्य गुणस्थानक के उर्ध्वारोहण में अत्यंत आवश्यक है। एक पुण्य कर्म के उदयजन्य है तथा दूसरी मोहनीय कर्म के क्षयोपशमजन्य है। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि अन्य दर्शन मान्य योग शुद्धि का भी निषेध नहीं करते हैं। परंतु 'साध्वेव' कहकर सम्मति देते हैं। लेकिन उसकी प्रधानता बताने में वे दूर रहते हैं।^{१५}

योग के बाधक तत्त्व - प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य में कुछ न कुछ विघ्न प्रायः आते ही रहते हैं। अतः नीतिकारों ने कहा है 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' श्रेष्ठ कार्य बहुत विघ्नवाले होते हैं। आध्यात्मिक विकास श्रेणि में योग भी एक श्रेष्ठ कार्य है। अतः योग-सिद्धि में भी अनेक प्रतिबंधक भावों का प्रादुर्भाव होता है। जिसे शास्त्रकार भगवंत बाधक तत्त्व कहते हैं। बाधक अर्थात् अंतराय-विघ्न। विघ्न में कंटकविघ्न, ज्वरविघ्न और मोहविघ्न - ये

तीनों आत्मा को लक्ष्य स्थान पर पहुँचाने में बाधक बनते हैं। जब योगी इन पर विजय प्राप्त करता है तब निश्चित श्रेणी को प्राप्त करता है। इनका वर्णन 'आशय शुद्धि में योग' में पाँच आशयों में विघ्नजय नाम के आशय में विस्तार से किया जायेगा।

साथ में आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन बाधक तत्त्वों के साथ राग द्वेष और मोह आत्मा के इन तीनों दोषों का भी उल्लेख किया है। मोहविघ्न जो आंतरिक विघ्न है इसके अन्तर राग-द्वेष और मोह का भी समावेश हो सकता है। जिस प्रकार मोहविघ्न आत्मा को भ्रमित बना देता है। उसी प्रकार राग-द्वेष और मोह भी आत्मा के वैभाविक परिणाम है। ये आत्मा को दूषित बनाते हैं। ये दोष आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आच्छादित करते हैं। आत्मा को विभावदशा में ले जाते हैं।^{६३}

राग यह एक प्रकार की आसक्ति है। द्वेष अप्रीति का सूचक है तथा मोह यह अज्ञानमूलक है।^{६३} इन तीनों के कारण आत्मा कर्मों के बंधन करती है और अनेक पीडाओं को प्राप्त करती है। ये भी आत्मा को गन्तव्य स्थान में पहुँचने में बाधक बनते हैं। क्योंकि रागादि से कर्म की परंपरा सतत चालू रहती है। जिससे भव-भ्रमण भी अनवरत चलते रहते हैं। अतः आचार्य हरिभद्रसूरिने इन बाधक तत्त्वों को दूर करने के लिए उनके प्रतिपक्षी साधक तत्त्वों की भी स्थापना की है।

योग के साधक तत्त्व - साधक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख यद्यपि प्राप्त नहीं होता है फिर भी कंटकविघ्न आदि पर विजय प्राप्त करने के शुभ परिणाम एवं रागादि दोषों की प्रतिपक्ष भावनाओं का तत्त्व चिंतन करना साधक तत्त्वों के अन्तर्गत गिन सकते हैं।

प्रतिपक्ष भावना में साधक आत्मा संप्रेक्षण करता है और चिन्तन करता है। इन रागादि तीनों दोषों में से मुझे अतिशय हत-प्रहत कौन करते हैं? उसकी गवेषणा करता है।

ये तीनों आत्मा के दोष हैं। इनका अपनयन करने के लिए स्वरूपचिंतन, परिणामचिंतन और विपाकदोषचिंतन - इस प्रकार क्रमशः एक-एक दोषों का तीन-तीन प्रकार से तत्त्वचिंतन करना चाहिए।^{६४}

संसार में राग के अनेक साधन हैं, उसमें सर्वोच्च कक्षा का राग स्त्री है। साधक स्त्री सम्बन्धी राग होने पर सम्यग्बुद्धि पूर्वक उस स्त्री के शरीर का स्वरूप चिंतन करता है कि यह शरीर कीचड-मांस-रुधिर-अस्थि तथा विष्टामय मात्र ही है। शारीरिक रोग और वृद्धत्व रोग के परिणाम हैं तथा नरकादि दुर्गतियों की प्राप्ति विपाक स्वरूप है।

इसी प्रकार धनार्जन सैंकड़ों दुःखों से युक्त है। यह इसका स्वरूप है। तथा अत्यंत पुरुषार्थ से प्राप्त किया हो तो भी गमनपरिणाम वाला है तथा उसको प्राप्त करने में अर्जित पापों से कुगति के विपाक देनेवाला है।

जब द्वेषभाव आता है तब जिसके ऊपर द्वेष होता है वह जीव और पुद्गल मेरे से भिन्न है तथा यह द्वेष अनवस्थित परिणतिवाला है और परलोक में आत्मा को पतन की खाई में गिरा देनेवाला है।

मोह के विषय में भी सामान्य से उत्पाद-व्यय और ध्रुवतायुक्त वस्तु के स्वरूप को अनुभवपूर्वक युक्तियों के साथ सम्यग् प्रकार से विचारना।^{६५}

राग-द्वेष तथा मोह - ये दोष आत्मा को अनादि काल से सताते हैं। उसको दूर करने के लिए भावनाश्रुतपाठ, तीर्थ श्रवण, आत्म संप्रेक्षण - इन तीन उपायों को अपनाने से अवश्य रागादि दोष दूर होते हैं और परमात्मा की आज्ञानुसार तत्त्वचिंतन करने पर अवश्य तत्त्वबोध प्राप्त होता है और तत्त्वबोध से योग-सिद्धि प्राप्त होती है। यह आत्म-संप्रेक्षण योग-सिद्धि का कारण है। अतः विधिपूर्वक होना चाहिए तब ही अवनध्य फल की प्राप्ति होती है।^{६६}

योग की विधि - आत्म संप्रेक्षण योग-सिद्धि का कारण है। अतः इसे हम योग की विधि भी मान सकते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि का स्पष्ट कथन है कि सभी कार्य में विधि की अपेक्षा सर्व प्रथम होती है। सामान्य रूप से एक घट बनाना हो तो भी विधिपूर्वक बनायेंगे तो घट बनेगा। उसी प्रकार यह तो महान् कार्य है। अतः तत्त्वचिंतन में विधि अवश्य अपनानी चाहिए।

तत्त्वचिंतन से पहले सर्वप्रथम वीतराग परमात्मा बलवान् है। अतः उनकी आज्ञा पालन और उनके प्रति हार्दिक बहुमान निर्बल को भी बलवान् बनाता है। (२) एकान्त स्थान में चिन्तन करना जिससे चिन्तन की धारा में व्याघात न हो। (३) सम्यग् उपयोगपूर्वक चिंतन करना। (४) गुरु-देवों को प्रणाम करना, प्रणाम करने से अनुग्रह होता है। अनुग्रह से अधिकृत तत्त्वचिंतन की सिद्धि होती है। व्यवहार में मंत्र-रत्नादि की विधिपूर्वक सेवा-पूजा करनेवाले भव्यात्माओं को मंत्र-रत्नादि निर्जीव होने से स्वयं उपकार नहीं करने पर भी 'उनका ही यह उपकार' इस प्रकार हम कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। (५) पद्मासन आदि आसन लगाना। आसन विशेष से काया का निरोध होता है और योग सेवन करनेवाले अन्य योगि महात्माओं के प्रति बहुमान भाव होता है। (६) डांस-मच्छर आदि की अवगणना, वैसा करने में वीर्योल्लास की वृद्धि तथा इष्टफल की प्राप्ति होती है। (७) एकाग्रचित्त होकर इन रागादि निमित्तों का तत्त्वचिंतन करना।

इन सात विधियों से युक्त किया गया तत्त्वचिंतन ही इष्टसिद्धि अर्थात् यथार्थ योगदशा की सिद्धि का प्रधानतर अंग है।

यह तत्त्वचिंतन ही असत् प्रवृत्तियों की निवृत्ति करनेवाला चित्त की स्थिरता करनेवाला तथा उभयलोक का साधक है ऐसा समयज्ञ पुरुष कहते हैं।^{६७}

उपरोक्त विधिपूर्वक तत्त्वचिंतन करते-करते जो तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है वह प्रथम के दो ज्ञान- (१) श्रुतज्ञान (२) चिंतामयज्ञान का निरास करके भावनामय ज्ञान होता है। इस तत्त्वज्ञान से बड़ी से बड़ी उक्त तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग की विधि भी अत्यावश्यक समझकर उसका उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। पातञ्जल योग में इसके समकक्ष योग-विधि या तत्त्वचिन्तन का वर्णन नहीं मिलता।

सदनुष्ठान में योग - आचार्य हरिभद्रसूरि की दृष्टि में सदनुष्ठान में ही योग की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। क्योंकि कोई भी अनुष्ठान सदनुष्ठान होगा तभी वह योग की कोटी में आ सकता है। अतः सर्व प्रथम

आचार्य हरिभद्रसूरि योगदृष्टि समुच्चय में सदनुष्ठान का लक्षण बताते हुए कहते हैं -

आदरः करणे प्रीतिरविघ्न सम्पदागमः ।

जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥^{६८}

जिस अनुष्ठान के प्रति आदर प्रीति, विघ्नाभाव, सम्पदागम, जिज्ञासा, तज्ज्ञसेवा तथा ज्ञानियों का अनुग्रह आदि सात भाव जहाँ संभवित होते हैं वह सदनुष्ठान कहलाता है।

(१) आदर - हृदय में जिन-जिन अनुष्ठानों के प्रति आदर होता है उन-उन अनुष्ठानों को सेवन करने के लिए प्रयत्न विशेष सहज हो जाता है। धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति हार्दिक बहुमान-प्रेम वह आदर कहलाता है।

(२) करने में प्रीति - जिस-जिस अनुष्ठान का योग मिले। उन-उन अनुष्ठानों का आचरण करने में अतिशय राग होगा। अर्थात् आदर के साथ राग-पूर्वक क्रिया हुआ धर्मानुष्ठान ही सदनुष्ठान कहलाता है।

(३) विघ्नाभाव - जो अनुष्ठान अतिशय प्रयत्नपूर्वक और बहुत ही प्रीति पूर्वक क्रिया गया हो वैसा विवेकपूर्वक क्रिया गया अनुष्ठान में स्वयमेव शुभभाव प्रगट होते हैं, तथा शुभ भावों से पूर्वबद्ध पापकर्मों का नाश होता है तथा पापकर्मों का नाश होने से जो विघ्न आनेवाले थे अथवा संभव थे वे सभी दूर हो जाते हैं।

(४) सम्पदागम - धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति अतिशय रागपूर्वक किये गये अनुष्ठान से जो शुभभाव प्रगट होते हैं उससे जिस प्रकार पूर्वबद्ध पापकर्मों का नाश होता है तथा पापजन्य विघ्न नहीं आते हैं। उसी प्रकार शुभ भावों से उत्कृष्ट पुण्यबंध होता है और पुण्यबल से संपत्ति की प्राप्ति होती है। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है - बाह्य और आभ्यंतर। अनुष्ठान के आचरण के समय सेवित शुभयोग और प्रशस्त रागादि से बंधे हुए द्रव्य पुण्य से बाह्यलक्ष्मी रूप सम्पत्ति मिलती है, और सांसारिक भावों का राग घटने रूप मोहनीय कर्म के क्षयोपशम स्वरूप भावपुण्य से भवभय, पापभय, करुणा, विनय, दाक्षिण्यता और उदारता आदि गुणों की प्राप्ति रूप आभ्यंतर संपत्ति मिलती है।

(५) जिज्ञासा - अनुष्ठान करने की विधि तथा उसके द्वारा प्राप्त फलों को जानने की जो तमन्ना वह जिज्ञासा कहलाती है। जिज्ञासा के बिना ज्ञान का लाभ नहीं होता है और फल-प्राप्ति के बिना अनुष्ठानों में उपादेयता बुद्धि नहीं आती है। उपादेयता बुद्धि के बिना आदरभाव प्रगट नहीं होता है। आदरभाव बिना अनुष्ठान में राग नहीं होता है। अतः सभी भावों की प्राप्ति का मूलकारण जिज्ञासा है।

(६) तज्ज्ञसेवा - इष्टपूर्तादि जो-जो धर्मानुष्ठान करना हो और उसकी विधि जानना हो तो उनकी विधि के ज्ञाता पुरुषों का समागम तथा उनकी सेवा इस कार्य में अतिशय आवश्यक है कारण कि ज्ञाता की सेवा करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होगा। जिससे बोध प्रगट होगा। बोध होगा तभी विधि का ज्ञान तथा अनुष्ठान के प्रति आदरबुद्धि-उपादेयबुद्धि और राग प्रगट होता है। उन धर्मानुष्ठान के ज्ञाता महात्माओं की सेवा अंतःस्तल में हो तभी वह सदनुष्ठान बनता है।

(७) उन ज्ञानियों का अनुग्रह - अनुष्ठानों का ज्ञान जिनको हो उनकी कृपादृष्टि भी जरूरी है। कारण कि

ज्ञानी महापुरुषों की कृपादृष्टि से ही ज्ञान प्राप्त होता है।^{६९}

योग ग्रंथों में विविध प्रकार के अनुष्ठान बताये गये हैं। उसमें से कौनसे अनुष्ठान सदनुष्ठान बन सकते हैं इसका विशेष प्रस्तुतीकरण आचार्य हरिभद्रसूरिने अपने ग्रन्थों में किया है - सर्व प्रथम योगबिन्दु में पाँच प्रकार के अनुष्ठान बताये हैं -

विषं गरोऽननुष्ठानं, तद्धेतुमृतं परम्।

गुर्वादिपूजानुष्ठानं, मपेक्षादिविधानतः ॥^{७०}

विष, गरल, अननुष्ठान, तद्धेतु और अमृत - ये पाँच प्रकार के अनुष्ठान के भेद देवपूजा, गुरु भक्ति आदि क्रिया की अपेक्षा से बताये गये हैं।

(१) विष अनुष्ठान - कीर्ति आदि प्राप्त करने की इच्छा से होने वाला यह अनुष्ठान आत्मा के शुद्ध परिणामों का नाश करनेवाला होने से विष कहलाता है, तथा विशाल अनुष्ठान का अल्प लाभ होता है तथा आत्मा की लघुता होने से यह विष अनुष्ठान जानना।

(२) गर अनुष्ठान - देव संबंधि भोगों की अभिलाषा से जो धर्मानुष्ठान किया जाता है वह भविष्य में आत्मा के दुःख के तथा पतन के कारण होने से पंडित पुरुषों ने गर अनुष्ठान कहा है।

(३) अननुष्ठान - शुद्ध अथवा शुभ भावना के उपयोग के बिना अर्थात् इहलोक और परलोक सम्बन्धी विचार करने की शक्ति रहित समूर्च्छिम जीवों की प्रवृत्ति के समान किसी प्रकार के विचारों से रहित ऐसे पुरुषों की गुरु-देव पूजा, भक्ति, जप, तप, स्वाध्याय आदि क्रिया अननुष्ठान किये जाते हैं। वे अननुष्ठान कहलाते हैं। कारण कि वहाँ मन का उपयोग नहीं है।

(४) तद्धेतु - योग के ज्ञाता, पूर्व सेवादिक ऊपर जो राग, बहुमान भाव होता है उसको योग का उत्तम हेतु कहा है। कारण कि उससे युक्त जो भाव पूर्वक सद् अनुष्ठान उसमें शुभ भाव का अंश समाविष्ट है।

(५) अमृत अनुष्ठान - अत्यंत संवेग भाववन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण में श्रेष्ठतर भाव से युक्त मोक्ष मात्र की अभिलाषावाला जो मुनिभगवन्त उत्तम भाव से सम्यग् उपयोग से तप, जप, ध्यानमय अनुष्ठान करते हैं वे अत्यंत संवेग-रंग से गर्भित होने से उसको तीर्थकर परमात्मा ने अमृतानुष्ठान कहा है।

इस प्रकार विष, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु और अमृत - ये पाँच भेद अनुष्ठान के हैं। उस अनुष्ठान को करनेवाले ऐसे जीवों के कालादि योग से देश, काल, द्रव्य, भाव आदि स्वभाव के योग से अनुष्ठान में भेद पड़ते हैं। चरम पुद्गल परावर्तन में स्थित और चरम सिवाय अन्य पुद्गल परावर्तन में स्थित जीवों में वैसी-वैसी योग्यता से मृक्ति तथा उस मार्ग के प्रति अद्वेष अथवा द्वेष रूप अध्यवसाय के कारण देव, पूजा, गुरु भक्ति तप, जाप, ध्यान में विलक्षण भेद होते हैं। उसका कारण यही है कि अद्वेष से तद्धेतु और अमृत अनुष्ठान होता है और द्वेष से विष, गर और अननुष्ठान होते हैं। यह बात सभी प्रकार से न्याय से सिद्ध समझनी चाहिए। तथा इससे यह समझना चाहिए कि चरम पुद्गल परावर्तन में रहे हुए जीवों के जो एक भव मात्र करनेवाले हो अथवा तीन, पाँच

अथवा संख्याता भव में ही जन्म-मरण का नाम करनेवाले हो वैसे जीवात्माओं की देव पूजा, गुरु-भक्ति, व्रत-पचक्खाण आदि सभी धर्मानुष्ठान मुक्ति के लिए होने से मुक्ति रूप ही जानना।^{१९}

तद्धेतु अनुष्ठान एवं अमृत अनुष्ठान योग के हेतु बनने से वह अनुष्ठान योग कहलाता है। उसमें मुख्य रीति से पूर्व सेवामें सिद्धि प्राप्त होने पर सभी योगों का क्रमिक प्रकाश होता है।

योग में प्रथम तीन प्रकार की शुद्धि से युक्त ऐसा क्रियामय अनुष्ठान करना तथा सम्यग् शास्त्रों की आज्ञा के आधीन रहना। अर्थात् वैसे शास्त्र गुरु के पास विनय पूर्वक पढ़कर, उन शास्त्रों की आज्ञा पूर्वक वर्तन करना, तथा सम्यक् प्रकार से आत्मा की शुद्धि तथा देव-गुरु की शुद्धि विचारना, लिंग, शुद्धि अर्थात् साधुओं के वेष, आचार, प्रवृत्ति की शुद्धि भी समझना, कारण कि वैसी विधि का ज्ञान होने पर ही योग में शुद्धता पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले आत्मा धार्मिक जानना। उनकी अनुष्ठान में जो प्रवृत्ति होती है उसको योग कहते हैं।

अनुष्ठान तीन प्रकार से शुद्ध होता है। (१) विषय से शुद्ध (२) स्वरूप से शुद्ध (३) अनुबन्ध से शुद्ध-इन तीन से युक्त अनुष्ठानों को करनेवाला आत्मा मोक्ष का अर्थी कहलाता है।

(१) विषय से शुद्ध - पाँच इन्द्रिय तथा मन से जगत के अनुभव किये हुए पदार्थों के प्रति ममत्व, भोग की अभिलाषा और वैसे पदार्थों के संग्रह से आत्मा आर्त तथा रौद्र ध्यान के द्वारा अनेक प्रकार के कर्म बांधकर अनेक दुःख के भोग का हेतु बनता है। ऐसी वैराग्य भावना से भोग को छोड़ने की प्रवृत्ति करना वह विषयशुद्ध कहलाता है। तथा अरिहंत परमात्मा ने जिस तत्त्व का उपदेश दिया है वे धर्मशास्त्रों तथा देवगुरु में श्रद्धा रखना, मोक्ष के लिए काया से प्रवृत्ति करना, आदर सत्कार करना - वह वचन शुद्धता। इस प्रकार मन-वचन-काया की शुद्धता रखनी वह अपुर्नबन्धक जीवों का विषय जानना।

(२) स्वरूप से शुद्ध - बोध जिसमें है वह आत्मा और उसका स्वरूप अथवा लक्षण ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप चैतन्य जानना।

(३) अनुबन्ध से शुद्ध - वस्तु स्वरूप के बोध से अंतर में परिणाम की शुद्धता उत्पन्न होती है। वह आत्मा का स्वभाव, उस स्वभाव के बल से आत्मा के शुद्ध परिणाम की परम्परा से तद्धेतु और अमृत अनुष्ठान का अनुबन्ध रूप फल विशेष होता है। अतः अनुबन्ध शुद्ध कहलाता है।

ये तीन प्रकार की शुद्धता आत्मा को पाप से रहित बनाती है। और परम्परा से मुक्ति की साधक बनती है।

इस प्रकार शुद्धता वाले अनुष्ठान तीन प्रकार के हैं।

(१) प्रथम मुक्ति के लिए किये जाते सदनुष्ठान से प्रयत्न करनेवाले के कदाचित् अनादि काल के मोह के अशुभ संस्कारवाले कर्म के उदय से पतन हो जाता है तो भी मुक्ति भाव की उपादेयता का अंश होने से शुभ है ऐसा मानना, अथवा मुक्ति को ध्येय में रखकर प्राणनाश हो ऐसा आपघात, भृगुपात, आतापना, फांसी, मरणांत तप करना रूप मरण भी शुभ भाव से युक्त होने से प्रथम अनुष्ठान रूप में शुभ गिना है।

यम-नियम-आसन आदि केवल लौकिक दृष्टि से व्यवस्थित किए हुए परन्तु शास्त्र संमत नहीं है।

क्योंकि उस अनुष्ठानों में प्रायः ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप सम्यग् योग का अभाव है। यह दूसरा अनुष्ठान शुभ आचार रूप होने से व्यवहार से शुद्ध अनुष्ठान रूप कहा है।

जिसमें तत्त्व का यथा स्वरूप ज्ञान हो, मन-वचन-काया शांत प्रवृत्ति वाले हो, अत्यन्त उत्सुकता न हो ऐसा बनकर यम-नियम पाले वह तीसरा अनुष्ठान है।

इन तीनों अनुष्ठान में से तीसरे शुद्ध अनुष्ठान से दोषों का नाश होता है। क्योंकि उसमें मन की शुद्धता है। कुछ दर्शनकार अंतर की शुद्धिवाले अनुष्ठान को गृह-निर्माण के लिए प्रथम भूमि की शुद्धता समान मानते हैं।

इस प्रकार दृढ श्रद्धा और ज्ञान युक्त अनुष्ठान का महान् फल प्राप्त होता है और वही अनुष्ठान योगरूप होने से मोक्ष-मार्ग में गमन करनेवाला बनता है।^{७२}

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योगविशिका' में चैत्यवंदनादि अनुष्ठानों को भी सद्-अनुष्ठानों के अन्तर्गत गिना है। यदि वह मोक्ष का साधक बनता हो तो इसका विवेचन इस प्रकार किया है -

ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु।

हियमेयं विन्नेयं, सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥^{७३}

स्थानादि योगों में प्रयत्नवाले महात्माओं का चैत्यवंदन अनुष्ठान परंपरा से मोक्ष का हेतु बनता है तथा उत्तम अनुष्ठान होने से अनन्तर रूप में भी हितकारी (मोक्षहेतु) बनता है।

'योगविशिका टीका' में उपाध्याय यशोविजयजी म. ने भी इस बात को विशेष स्पष्ट की है कि प्रणिधान प्रवृत्ति आदि आशय की उपेक्षा करके गतानुगतिक अथवा मान-सम्मान को बढ़ाने बाह्य से धर्मानुष्ठान करते हैं वह धर्मानुष्ठान मोक्ष साधक नहीं बनता है, परंतु जो धर्मानुष्ठान प्रणिधानादि आशय पूर्वक और स्थानादि योग के उपयोग पूर्वक किया जाता है वही मोक्ष साधक बनता है। उसमें भी सूक्ष्म निरीक्षण, चिन्तन करते हैं तो आचरण किये जाते धर्मानुष्ठान में रहे हुए जो स्थानादि योगों का सेवन है वही निश्चित मोक्ष हेतु है। तथापि स्थानादि योग मोक्ष हेतु होने से उस योगवाला धर्मानुष्ठान भी मोक्ष हेतु कहलाता है। अनन्तर रूप से योग मोक्षहेतु है और परंपरा से धर्मानुष्ठान भी मोक्ष हेतु है।

तथा चैत्यवंदन धर्मानुष्ठान यह उत्तम अनुष्ठान होने से स्वतंत्र रूप से भी मोक्ष का हेतु है। कारण कि योग के परिणाम से किये हुए पुण्यानुबंधी पुण्य का निक्षेप होने से निर्मल चित्त के संस्कार रूप प्रशान्तवाहिता से युक्त ऐसे यह चैत्यवंदनादि अनुष्ठान स्वतंत्र रूप से भी मोक्षहेतु है। इसमें नयभेद ही कारण है।^{७४}

उत्तमानुष्ठान प्रीति-भक्ति-आगम अर्थात् शास्त्र वचन का अनुसरण करनेवाला तथा असंगतायुक्त चार प्रकार के हैं। उसमें यह असंग अनुष्ठान ही चरम योग है।^{७५}

(१) प्रीति अनुष्ठान - जिस आत्मा को संसार निर्गुण भासित होता है उसी को आत्मा की भवातीत अवस्था के प्रति और उसके उपायभूत धर्मानुष्ठानों के प्रति रुचि जागृत होती है। उसके लिए वह आत्मा अतिशय प्रयत्न विशेष करता है। उससे जैसे-जैसे संसार का राग घटता जाता है और मोक्ष का राग बढ़ता जाता है। अतः

उस जीव को 'परम प्रीति' उत्पन्न होती है। परम प्रीति होने से संसार के दूसरे कार्यों को छोड़कर जब भी समय मिलता है तब दौड़-दौड़ कर धर्मानुष्ठान में यह जीव जुड़ जाता है। जिस प्रकार नाटक, सरकस, टी.वी आदि देखने में राग होने से दूसरा सभी छोड़कर वहाँ चला जाता है। उसी प्रकार धर्मकार्यों में आत्मा ओत-प्रोत बन जाता है वही प्रीति अनुष्ठान है।

(२) भक्ति अनुष्ठान - प्रीति अनुष्ठान के समान तुल्य आचार वाला है, परन्तु प्रीति अनुष्ठान के समय मोक्ष के राग से उसके उपायभूत धर्मानुष्ठानों के प्रति भी राग-विशेष होने से धर्मानुष्ठान करने में परम प्रीति होती है। परन्तु जैसे-जैसे धर्म गुरु का योग मिलता जाय वैसे-वैसे तत्त्व समझता है। यह धर्मानुष्ठान ही संसार तारक है, आदरणीय है, सेवनीय है। ऐसा समझने से उन-उन अनुष्ठानों के प्रति पूज्यत्व की बुद्धि विशेष प्रगट होती जाती है। उससे पूज्यत्व की बुद्धिपूर्वक अधिक से अधिक विशुद्धतर ऐसा व्यवहार क्रिया बढ़ती जाती है। वह भक्ति अनुष्ठान कहलाता है।

दोनों अनुष्ठान बाह्य आचरण से तुल्य दिखने पर भी अंतरंग आत्म परिणाम से भिन्न है। प्रीति अनुष्ठान से भक्ति अनुष्ठान अधिक-अधिक विशुद्धतर अंतरंग परिणतिवाला होता है।

'षोडशक' में आचार्य हरिभद्रसूरि व्यवहारिक दृष्टांत देकर उपरोक्त अनुष्ठान में बाह्य तुल्यता एवं अंतर परिणति की भिन्नता को बताते हैं।

अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वद्धिता च जननीति।

तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात्प्रीतिभक्तिगम् ॥^{१६}

पत्नी निश्चित अत्यंत वल्लभ होती है और माता भी उसी के समान प्रीति का पात्र है। फिर भी यह 'मेरी माता मेरा हित करने वाली है' ऐसा भी मन में होता है। दोनों के लिए खाना-पीना-वेशभूषा आदि देने का कृत्य समान होता है। परन्तु अंतरंग परिणाम एक के प्रति प्रीति का दूसरे के प्रति भक्ति का (पूज्यत्व) होता है। इसी प्रकार प्रीति-भक्ति अनुष्ठान को भी जानना।

(३) वचनानुष्ठान - शास्त्रार्थ के प्रतिसंधान पूर्वक सभी स्थानों पर चारित्रवान् आत्मा की जो उचित प्रवृत्ति वह वचनानुष्ठान कहलाता है।

(४) असंग अनुष्ठान - क्रिया-प्रवृत्ति के समय शास्त्रों के वचनों की परवशता से निरपेक्ष अत्यंत दृढतर संस्कार के बल से चन्दन-गन्ध के न्याय से स्वयं को आत्मसात् बना हुआ। जिनकल्पिकादि मुनिओं का जो क्रिया-सेवन वह असंगानुष्ठान कहलाता है।

यह असंगानुष्ठान वचनानुष्ठान के संस्कार से होता है। इसको एक दृष्टांत देकर आचार्य हरिभद्रसूरि 'षोडशक' में समझाते हुए कहते हैं कि घट बनाते समय दंड का संयोग होता है वहाँ तक दंड के संयोग से तो चक्र-भ्रमण होता ही है। परन्तु दंड लेने के पश्चात् भी उसके उत्तरकाल में पूर्वभ्रमण से उत्पन्न हुए चक्र भ्रमण के संस्कार से दंड बिना भी चक्र-भ्रमण होता है। उसी प्रकार भिक्षाटनादि विषयक धर्मानुष्ठान प्रथम जो थे वे वचनानुष्ठान

के व्यापार से होते थे और अभी असंगानुष्ठान समय में भिक्षाटनादि धर्मानुष्ठान मात्र पूर्व में पुनः पुनः अनुभव किये हुए अनुष्ठानों से उत्पन्न संस्कारों से सहजरूप में प्रवर्तमान होते हैं। इन दोनों अनुष्ठानों में इतना अंतर है।^{१७}

तथा इसमें अंतिम जो असंगानुष्ठान वह तो अनालंबन योग स्वरूप है।

इस प्रकार जो अनुष्ठान सद-अनुष्ठान के लक्षणों अर्थात् भावों के साथ किया जाता है वह सदनुष्ठान योग का हेतु बनता है। वही मुक्ति का परम कारण है। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने अन्य अनुष्ठानों की अपेक्षा सदनुष्ठान में ही योग की सार्थकता सिद्ध की है। जो पारमार्थिक रूप से सत्य है।

असदनुष्ठान में तीर्थ-विच्छेद - आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने योग ग्रन्थों में सदनुष्ठान में योग की सार्थकता सिद्ध की है। क्योंकि कोई भी अनुष्ठान श्रद्धा-बहुमानभाव-प्रेम तथा विधिपूर्वक एवं आशयशुद्धि पूर्वक करते हैं। तब वह सदनुष्ठान बनकर योग का हेतु बनता है और तीर्थ-उन्नति एवं मोक्ष का साधक बनता है। लेकिन साथ में उन्होंने अपने चिंतन में यह बताया कि यदि हम श्रद्धा बहुमानभाव अविधिपूर्वक कुछ भी धर्मानुष्ठान करेंगे तो वह सद-अनुष्ठान नहीं हो सकता है। इससे भी आगे बढ़कर यहाँ तक कह दिया कि उससे तीर्थ-विच्छेद भी हो जाता है। जैसा कि योगविशिका में स्पष्ट कहा है -

तित्थस्सुच्छेयाइ वि नालंबणमित्थ जं स एमेव।

सुत्तकिरियाइ नासो एसो असमंजसविहाणा ॥^{१८}

अविधि से अनुष्ठान यदि कोई कर रहा हो तो उसे चला लेना चाहिए, नहीं तो 'तीर्थ का उच्छेद हो जायेगा' इत्यादि उक्तियाँ भी अविधि अनुष्ठान चलाने में आलंबन रूप नहीं है। कारण कि वैसा करने से अस्त-व्यस्त विधान करने से सूत्रानुसारी क्रिया का नाश होता है और वही पारमार्थिक रूप से तीर्थोच्छेद है।

अविधि से धर्मानुष्ठान करने वाले जीव दो प्रकार के हैं - (१) विधि सापेक्ष (२) विधि निरपेक्ष

(१) विधि सापेक्ष - जिन महात्माओं को यह धर्म रुचिगम्य लगता है। तीर्थकरों के प्रति उनके शासन के प्रति अनन्य राग है, बहुमान भाव है। शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि से धर्मानुष्ठान करने की उत्कट भावना है। विधि पूर्वक क्रिया करने वालों के प्रति पूज्यभाव है, परन्तु शरीर संघयण बल-संयोगबल सानुकूल न होने से विधि-पूर्वक धर्मानुष्ठान नहीं होता है अतिचार हो जाता है, तथा उसकी विशुद्धि करने की पूरी तमन्ना होती है। ऐसे जीव विधि सापेक्ष अविधिकर्तृक कहे जाते हैं। ऐसे जीव अविधि से भी धर्मानुष्ठान करे तो भी सद्गुरु का संयोग हो जाते, विधि समझते शारीरिक बल अनुकूल होते ही विधि मार्ग में आ जाते हैं, कारण कि उनको विधि की सम्पूर्ण रूप से अपेक्षा है, तथा अविधि की परंपरा चलाते नहीं है। शायद प्रतिकूल संयोग में स्वयं अविधि का आचरण हो भी जाय तो भी दूसरों को अविधि का उपदेश नहीं देते हैं। मूल-सूत्र अर्थ और उसकी परम्परा अखंड रखते हैं। उसका उच्छेद नहीं होने देते हैं। अतः योग्य है।

परन्तु जो जीव अविधि से धर्मानुष्ठान करते हैं, विधि का उच्छेद करते हैं। सूत्र और अर्थ का नाश करके भी स्वयं की अविधि को विधि बताते हैं। चलती प्रणालिका का उच्छेद करते हैं। "जो जीव कुछ भी नहीं करते

उससे तो हम अच्छे है” ऐसा कहकर मान को धारण करते है। विधि मार्ग की उपेक्षा करते है। तथा वे दूसरों की बुद्धि में भी यह अविधि ही विधि होगी ऐसी भ्रमणा उत्पन्न करते हुए अविधि की ही परम्परा चलानेवाले बनने से मूल सूत्र और अर्थ दोनों के उच्छेदक होने से शासन के वास्तव में विडम्बक जीव है ये जीव विधि निरपेक्ष अविधि करनेवाले जानना।

इन दोनों जीवों में बहुत अंतर है, एक का हृदय भाव परिणति युक्त होने से आराधक बनता है और दूसरे का हृदय भाव परिणति से शून्य तथा मानादि कषाय का पोषक और उन्मार्ग का प्रचारक होने से विराधक है।

अविधि का आचरण करने वाले दोनों जीव अंतर परिणति के भेद नहीं जानने वाले जीव को यह संदेह होता है कि - जो अविधि से भी धर्मानुष्ठान होता है यह मार्ग यदि आप नहीं स्वीकारेंगे तो विधिपूर्वक धर्म आराधना करनेवाले जीव दो-चार परिमित होने से तथा कालान्तर में उनका भी अभाव होने से तीर्थ का उच्छेद हो जायेगा। उससे मनचाही अविधि करे तो भी चला लेना चाहिए। जिससे भगवान के द्वारा कहा हुआ शासन पंचम आरे के अंतिम तक टिक सके। अर्थात् तीर्थ के अनुच्छेद के लिए अविधिवाला धर्मानुष्ठान भी चला लेना चाहिए। ऐसी उक्ति जो अविधि-रसिक जीव देते है वह युक्तियुक्त नहीं है। कारण कि अविधिपूर्वक अनुष्ठान करने पर जिसको जैसा योग्य लगे वैसा अनुष्ठान करने लग जायेंगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आचरणा को चलाने से शास्त्र में कहा हुआ जो मूल मार्ग उसको अन्यथा करने से तथा अशुद्ध मार्ग की परम्परा प्रवृत्त होने से तीर्थकर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित मूलसूत्र और उसका अनुसरण करनेवाली क्रिया का विनाश होगा और वास्तव में तो वही सत्य तीर्थोच्छेद है।

तीर्थ का अर्थ उपाध्याय यशोविजयजी म. टीका में इस प्रकार करते है - तीर्थ अर्थात् सूत्र और सूत्रोक्त क्रिया। जो इस मूल मार्ग का विच्छेद हो जायेगा तो असंमजस आचरण वाले जन समूह से तीर्थ कैसे चलेगा। जन-समूह वह तीर्थ नहीं है। कारण कि जिनेश्वर की आज्ञा से रहित जन समुदाय तो ‘अस्थि का माला’ कहा गया है। किन्तु परमात्मा की आज्ञा शिरोधार्य करनेवाले साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ को यहाँ तीर्थ स्वरूप में स्वीकारा गया है।^{१९}

एगो साहू एगा य साहुणी सावओवि सङ्घी वा।

आणाजुत्ती संघो सेसो पुण अट्टिसंघाओ ॥^{२०}

संबोध सित्तरि में कहा है कि परमात्मा की आज्ञा को शिरोधार्य करनेवाला एक साधु-एक साध्वी, एक श्रावक और एक श्राविका रूप भी चतुर्विध संघ कहलाता है। शेष तो ‘अस्थियों का समूह है’। और ऐसा एक भी जीव हो तो वह तीर्थ की उन्नति करता है। लेकिन तीर्थ उच्छेद नहीं होता है। किन्तु अविधि की आचरणा में ही तीर्थ उच्छेद है।

आचार्य हरिभद्र सूरि तो यहाँ तक कहते है कि अविधि की प्ररूपणा करने में भी दोष है, इतना ही नहीं लेकिन उपदेशक शब्दों से अविधि की प्ररूपणा नहीं करता है, लेकिन पंचम काल में विधि का पालन अशक्य

है। विधि का यदि पक्ष रखा तो जनसंख्या की कमी होने से तीर्थ का विच्छेद हो जायेगा। इसलिए कुछ अविधि भी चला लेनी चाहिए। 'अगर मामा नहीं है तो काणा मामा भी अच्छा' - इस न्यायानुसार क्रिया न करनेवाले से अविधिवाले अच्छे हैं। इत्यादि विचार मन-मस्तिष्क में घूमते रहने से अविधि की प्ररूपणा का आभोग आशय उपयोग हृदय में प्रतिष्ठित होने से कंठ से मुख से चाहे विधि की प्ररूपणा करता हो लेकिन अविधि हो तो भी चलेगी - ये विचार हृदयगत होने से अविधि के कथन की अनुमोदना का दोष अवश्य लगता है। अतः वास्तव में उपदेशक को श्रोता को यथार्थ सम्यग् विधि का बोध करवाना चाहिए। उसके साथ अविधि निषेध का भी सुन्दर सुस्पष्ट शब्दों से करना चाहिए। जिससे सामान्य व्यक्ति भी विधि-निषेध को जान सके। इस अविधि का निषेध जो उपदेशक न करे और उपेक्षावृत्ति का सेवन करे तो उपदेशक को अविधि के मार्ग का अनुमोदन होने से उन्मार्ग प्ररूपणा के प्रवर्तक माने जायेंगे। इसीसे परोपकार परायण शास्त्रज्ञ ऐसे धर्माचार्य को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। लेकिन सामर्थ्यवान् बनकर प्रकर्षप्रज्ञा से विधि की प्ररूपणा के साथ अविधि का निषेध विधि से प्राप्त गुण लाभ तथा अविधि से होनेवाले अनर्थों का दृष्टांत आदि देकर श्रोताओं को विधि-मार्ग में प्रवेश करवाना चाहिए। इसमें एक भी विधि-रसिक जीव को सम्यग् का लाभ होगा तो क्रमशः आगे देशविरति और सर्वविरति प्राप्त कर षट्काय जीवों का संरक्षक बनकर चौदह राजलोक में अमारी पटह बजाने द्वारा मेरे द्वारा किसी जीव को दुःख न हो, उपद्रव न हो एसी प्रकृष्ट भावना द्वारा गुणस्थानों में चढ़ता है और अपने सम्पर्क में आने वाले दूसरे जीवों को भी सर्वविरति मार्ग पर प्रेरित करता है और वही सच्ची तीर्थोन्नति है। अविधि की प्ररूपणा से बोधिबीज का नाश होता है और जीव धर्म से विमुख बनता है। वही तो सच्चा तीर्थ-विच्छेद है।⁶²

अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्पष्ट कह दिया कि अविधि का अनुष्ठान करनेवाले बहुत लोग हो तो भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि यह स्पष्ट शास्त्रवचन है कि बहुत लोक करते हैं वह करना चाहिए। इस प्रकार की मति शास्त्र निरपेक्ष है। उसको छोड़ देना चाहिए। क्योंकि संसार में अनार्यों से आर्यों, आर्यों में भी जैन, जैनों में भी परिणामी जैन अल्प होते हैं। अतः बहुजनवाला मार्ग यदि सच्चा माना जाय तो मिथ्यात्वमति वाले मार्ग को मार्ग ही⁶³ कहना पड़ेगा। उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. ने ३५० गाथा का सीमंधर स्वामी⁶⁴ के स्तवन, ज्ञानसार आदि में भी कहा है।

सारांश - असदनुष्ठान में ही तीर्थ का उच्छेद होता है। अतः असदनुष्ठान करनेवाले बहुजन हो तो भी त्याज्य छोड़ने योग्य है। यह निश्चित है।

आशयशुद्धि में योग - आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग को बाह्य-क्रिया कलापों तक ही सीमित न रखकर आंतर परिणाम की परिणति से भी संयुक्त किया है। क्योंकि उनका अंतिम लक्ष्य अपवर्ग की प्राप्ति था और वह जब तक आंतर परिणति शुद्ध विशुद्ध नहीं होगी। वहाँ तक सम्पूर्ण क्रिया द्रव्य योग के अन्तर्गत समाविष्ट हो जायेगी। जो साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं बन सकती है। अतः शुभ-आशय पूर्वक की गई क्रिया ही भावयोग बनती है। इसीलिए 'षोडशक' प्रकरण में आचार्य हरिभद्रसूरि ने उसे ही तात्त्विक योग कहा है।

आशयभेदा एते सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः ।

भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥^{६६}

प्रणिधानादि ये सभी पाँच प्रकार के आशयभेद ही तात्त्विक योग जानना चाहिए। यही भावयोग कहलाता है। इस भावयोग के बिना की हुई सम्पूर्ण चेष्टा द्रव्यक्रिया और तुच्छ है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन पाँच आशयों के द्वारा साधक की प्रारम्भिक भूमिका से लेकर अंतिम भूमिका तक की आंतर परिणति को प्रगट कर दी है। उनकी योग विषयक पैनी बुद्धि वास्तविक रूप से अद्वितीय थी। उनका चिन्तन था कि चाहे यह आशय कायिक क्रिया रूप हो। लेकिन इन आशयों के द्वारा जब शुद्धि विशुद्धि में आत्मा अग्रेसर बढ़ता जाता है तब वह लक्ष्य स्थान को पा लेता है। प्रणिधान आशय में उन्होंने आत्मा को मध्यस्थ परोपकारी एवं दृढ़ प्रतिज्ञा वाला बताया है। जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आते हैं, जिससे व्यक्ति अपने से हीनस्थ गुणवालों के प्रति द्वेष करता है। समय पाकर भी यथाशक्ति परोपकार नहीं करता तथा स्वीकार किये हुए धर्मानुष्ठान में बिघ्न आने पर छोड़ने के परिणामवाला हो जाता है। लेकिन प्रणिधान नाम के आशय में आनेवाला आत्मा की परिणति कुछ विशिष्ट स्वरूप को धारण कर लेती है। वह अपने से हीन गुणवाले पर भी द्वेष नहीं करता। जिससे उस व्यक्ति में एक भी गुण होने पर भी बहुमान आता है तथा द्वेष का अभाव होने से निकट वर्तित्व आता है। सम्बन्ध में मधुरता बढ़ने से भविष्य में उन-उन व्यक्तियों को भी गुणियल बनाने में समर्थ बन सके। दूसरों के परोपकार करने की वृत्ति होने से स्वयं को जिन-जिन गुणों की प्राप्ति हुई है, वे गुण दूसरों को कैसे प्राप्त हो, हमेशा इस प्रकार का चित्त रहता है। स्वयं जिस अनुष्ठान को स्वीकार करता है, वह धर्मानुष्ठान पालन करने में सतत उद्यमशील रहता है। अर्थात् निर्दोष वस्तु के चिन्तन मनवाला स्वयं की स्वीकृत धर्मक्रिया में अविचल, हीन गुणवालों के उपर करुणचित्तवाला और परोपकारपरायण अध्यवसाय युक्त प्रथम प्रणिधान आशय कहलाता है।

(२) प्रवृत्ति - दूसरे आशय के द्वारा आत्मा की क्रमिक विकास दृष्टि को बताया है। जैसे-जैसे आत्मा आंगे के आशय में आता है, वैसे-वैसे आत्मिक विकास प्रगतिशील होता जाता है। इस आशय में आत्मा को जो अनुष्ठान प्राप्त होता है उसमें विशेष उपयोग पूर्वक प्रयत्न करता है, तथा मुझे अपने आत्म कल्याण के लिए वीतराग प्रणीत धर्मानुष्ठान करना ही चाहिए, क्योंकि उसके द्वारा ही मोह का पराभव करके कर्मक्षय होना शक्य है, तथा वह निस्पृह निर्मोह, और उपयोगवंत होता है। उत्सुकता आदि दोषों से रहित श्रेष्ठ, प्रकृष्ट अनुष्ठान होता है। उत्सुकता नहीं होने से एकाग्रचित्त अनुष्ठान होता है।

(३) विघ्नजय - विघ्नों का जय इति विघ्नजय अर्थात् धर्मकार्य में आनेवाले अंतराय को दूर करने के आत्मा के परिणाम विशेष वह 'विघ्नजय' नाम का तीसरा आशय है।

प्रवृत्ति नाम के दूसरे आशय से जीव धर्मकार्य में प्रवृत्त होता है। परंतु विघ्न आने पर प्रवृत्ति मंद हो जाती है। लेकिन इस आशयवाला व्यक्ति विघ्नों से पराभूत न बनकर शूरवीरता से विघ्नों का सामना करता है। इस

प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ने वाला आत्मा का जो स्थिरतावाला परिणाम विघ्नजय कहलाता है।

विजय प्राप्त करने योग्य विघ्न तीन प्रकार के हैं - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अतः आत्मा के परिणाम भी तीन प्रकार के कहे जाते हैं। इन तीनों विघ्नजय को आचार्य हरिभद्रसूरि ने दृष्टान्त देकर सचोट रूप से समझाया है।

जघन्य विघ्नजय - जैसे कोई पथिक एक गाँव से दूसरे गाँव में गमन करना चाहता है लेकिन जिस मार्ग से वह गमन कर रहा है वह मार्ग कांटों से भरपूर है। ये कंटक उसके मार्ग गमन में विघ्न रूप है। उसी प्रकार मोक्ष का इच्छुक आत्मा मोक्षमार्ग में प्रयाण करता है लेकिन उसकी धर्मक्रिया में शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि परिषह विघ्नरूप है। यदि उस मार्ग में से कंटकों को हटा दिया जाय तो गमन निश्चित हो जाता है। उसी प्रकार शीत, उष्णादि परिषहों पर विजय करने का आत्मवीर्य प्रकर्षरूप आत्म परिणाम प्रगट हो जाय तो मोक्षमार्ग की गति भी सुकर बन जाती है। अतः परिषह को जीतनेवाला आत्मा परिणाम वह प्रथम जघन्य विघ्नजय है।

मध्यम विघ्नजय - एक गाँव से दूसरे गाँव जाने में बुखार आदि शारीरिक पीडा उत्पन्न होने पर वहाँ जाना कठिन हो जाता है। कंटक तो बाह्य विघ्न था लेकिन यह आंतरिक विघ्न है। अतः जाने की इच्छा होने पर भी प्रवृत्ति करने में अशक्तिमान होता है। फिर भी वह बुखार आदि की अवगणना गति करने में कारण बनती है। उसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रयाण करनेवाले आराधक आत्मा को भी बुखार के समान शारीरिक रोग ही विशिष्ट धर्मानुष्ठान की आराधना करने में प्रतिबंधक होने से विघ्नस्वरूप है। अतः रोग दूर करना, अथवा रोग उत्पन्न ही न हो उसका ध्यान रखना, जैसा कि 'पिंडनिर्युक्ति' में कहा कि हित-मित तथा पथ्य आहार लेने से रोग उत्पन्न नहीं होते हैं। अथवा रोग की उपेक्षा करना 'मध्यम विघ्नजय' है।

उत्कृष्ट विघ्नजय - एक गाँव से दूसरे गाँव में जाने की इच्छावाले पथिक को दिशा का भ्रम रूप विघ्न होने से तथा दूसरों के द्वारा पुनः पुनः समझाने पर भी विश्वास न होने से मंदोत्साह वाला बनता है और दिशा भ्रम दूर जाने पर स्वयं सही दिशा जान लेने पर तथा अन्य पथिकों द्वारा बार-बार यही दिशा बराबर है, ऐसा कहने पर वह मंदोत्साह को छोड़कर शीघ्र तेज गति से चलता है। उसी प्रकार दिशा के भ्रम तुल्य मिथ्यात्वादि मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले मनोविभ्रम यह विघ्नरूप है। मोहनीय के उदय से उसे सत्य धर्म अच्छा नहीं लगता है। अन्य ज्ञानी आत्मा के कहने पर भी अहंकार, मिथ्यात्व से जीव सत्य मार्ग स्वीकार नहीं करता है और संसार में इधर-उधर भटकता है। लेकिन गुरु पारतन्त्र्य द्वारा और मिथ्यात्वादि की प्रतिपक्ष भावना से उस आत्मा के मन का विभ्रम दूर होने से मिथ्यात्वादि महाविघ्नों का पराभव रूप विजय ही धारावाही मोक्षमार्ग तरफ के प्रयाण का संपादक बनती है। यह अन्तिम अर्थात् तीसरा उत्कृष्ट विघ्नजय है।

(४) सिद्धि - अहिंसादि अधिकृत धर्म की अतिचार रहित ऐसी प्राप्ति वह सिद्धि कहलाती है। अर्थात् प्रणिधान-प्रवृत्ति और विघ्नजय द्वारा अहिंसा-सत्य-अचौर्य आदि जिन-जिन अधिकृत धर्मानुष्ठानों की प्राप्ति हुई हो तो उस प्राप्ति से जो अधिक गुणवाले गुरु आदि के प्रति विनय वैयावच बहुमान भाव आदि से युक्त होना तथा हीनगुणवालों पर दया, दान, आपत्तियों को दूर करनेवाला होना तथा मध्यम गुणवाले आत्माओं पर परस्पर

उपकार करनेवाला आत्म परिणाम को सिद्धि नाम का आशय कहते हैं।

(५) विनियोग - सिद्धि नाम के चतुर्थ आशय की प्राप्ति का उत्तरकार्य विनियोग है। अर्थात् जिस धर्मस्थान की स्वयं में सिद्धि प्राप्त हुई हो उसका यथायोग्य उपायों द्वारा दूसरे जीवों में संपादन करना विनियोग कहलाता है।

धर्म का किया हुआ यह विनियोग भावि में आनेवाले अनेक भवों की परंपरा के क्रम से वृद्धि प्राप्त करता उत्कृष्ट धर्मस्थान की प्राप्ति का अवन्ध्यकारण बनता है। जिस प्रकार बाल्यावस्था में जिस विषय का अत्यंत अभ्यास किया हो वह विषय युवावस्था में अधिक दृढ़तर बनता है। वही इस जन्म में बारंबार विनियोग करने पर जो धर्मानुष्ठान अधिक भावित बना हो वह धर्मस्थान भावि के भवों में ज्यादा आत्मसात् बनता है। अतः विनियोग करना यह भावि की उत्कृष्ट धर्म प्राप्ति का अवन्ध्यकारण है। तथा अविच्छेद रूप से प्राप्ति होती है। तथा उत्तरोत्तर सुंदर धर्मानुष्ठान बनता है।^{६६}

इस प्रकार उपरोक्त प्रणिधानादि आशयों द्वारा परिशुद्ध बना हुआ सम्पूर्ण धर्मव्यापार सानुबन्ध होने से योग कहलाता है। और प्रणिधानादि आशय बिना किया हुआ सभी बाह्य क्रिया व्यवहार सानुबन्ध नहीं होने से तथा मोक्ष के साथ आत्मा को नहीं जोड़ने से तथा विपरीत कार्य के अभिमान से कषाय का हेतु बनने से योग नहीं कहलाता है।^{६७}

अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने आशय शुद्धि में योग को स्वीकारा है। भले वह बाह्य क्रिया हो लेकिन आशय शुद्ध है तो वह सानुबन्ध होने से योग कहलाता है। इन आशयों को आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने योग-ग्रन्थों में बहुत विस्तृत रूप से समझाये है। अन्यदर्शनों में ऐसा वर्णन कहीं देखने में नहीं आया।

योग की दृष्टियाँ - जैन शासन की परंपरा में मोक्ष तक की श्रेणियाँ बनाई है, जो आचार्य हरिभद्र तक चलती रही। इसमें मानव अत्यंत निम्न निकृष्ट श्रेणी से अत्यंत उज्ज्वल स्वरूप तक अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है। इन्हीं चौदह विकासोन्मुख श्रेणियों को गुणस्थानक कहा है। योगदृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास श्रेणि की नूतन पद्धति ही प्रस्तुत की है। उन्होंने आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर आध्यात्मिक उत्क्रांति को आठ अवस्थाओं में विभाजित किया है। जिन्हें आठ दृष्टियाँ कहकर सम्बोधित की है। ये आठ दृष्टियाँ आचार्य हरिभद्रसूरि के योग के आठ आधार स्तंभ हैं।

सम्यग् श्रद्धा से युक्त ऐसा जो बोध वह योग दृष्टि कहलाती है। इस अवबोध से असत् प्रवृत्तियों का नाश होता है और सत् प्रवृत्ति की प्राप्ति होती है। इसमें साधक आध्यात्मिक उन्नति करते हुए प्रत्येक अवस्था में नई-नई दृष्टि को प्राप्त करता है। इसी कारण इसे दृष्टि कहा गया है। यह दृष्टि सम्यक् श्रद्धा से जुड़ी हुई है। इससे वासना-प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर नाश होता जाता है और एक आदर्श पूर्णावस्था प्राप्त होती है।^{६८}

आठ दृष्टियों का स्वरूप 'योग-दृष्टि समुच्चय' ग्रन्थ में अत्यंत सुचारु रूप से किया है। यह आचार्य हरिभद्रसूरि का अपना मौलिक दृष्टिकोण है क्योंकि पहले किसी जैनाचार्य अथवा अन्यदर्शनकारों ने इसके

विषय में स्पष्टीकरण नहीं किया है।

आठ दृष्टियों का स्वरूप इस प्रकार है -

मित्रा तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा।

नामानि योगदृष्टीनां, लक्षणं च निबोधत ॥^{८८}

मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये योग की आठ दृष्टियों का आठ नाम यथार्थ है।

(१) मित्रा दृष्टि - मुक्ति मार्ग का प्रारंभ मोक्ष के प्रति अद्वेष भाव से प्रारंभ होता है। अल्पांश भी मुक्ति का अद्वेष प्रकट होता है, तब योग की दृष्टि प्रारंभ होती है। उसमें प्रथमदृष्टि को मित्रादृष्टि कहते हैं। आत्मा के आध्यात्मिक आत्महित के विकास का प्रथम सोपान है या अल्पज्ञान स्वरूप है। इसकी तुलना घास की अग्नि के अंगारों के प्रकाश से की जाती है। अर्थात् इस दृष्टिकाल में ज्ञान-बोध होता है, वह तृणाम्बिकण समान होता है। इसमें आत्महित की चिंता स्फुरायमान होने से धर्म के कार्यों में खेद परिश्रम नहीं लगता है, उन-उन कार्यों में सतत वीर्योल्लास बढ़ता रहता है। इसमें साधक योग बीजों का संग्रह करता है। ये योगबीज निःशंकतया मोक्ष के कारण है - तीर्थंकरों के सम्बन्ध में उच्च श्रेणी की मानसिक अवस्था का विकास करना, उनकी प्रार्थना, भक्ति, वंदन आदि करना, श्रद्धा, प्रीति, विश्वास रखना, काया से संशुद्ध प्रणाम करना। ये प्रमुख योगबीज है। साधक आत्मा पर मिथ्यात्व का, अज्ञान का प्रभाव होने पर भी मिथ्यात्व की मंदता के कारण योग प्राप्ति की योग्यता बढ़ती जाती है। धार्मिक विधियाँ उस अवधि में उत्तरोत्तर शुद्ध होती जाती हैं। आहारादि संज्ञाएँ, क्रोधादि कषाय आदि निग्रह करने में प्रयत्नशील रहता है। ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञा पर विजय प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध रहता है। ऐसा साधक आगे बढ़कर और भी अवशिष्ट योगबीजों का संग्रह करता है। वे योगबीज हैं - धर्मगुरुओं की परम सेवा, संसार के प्रति अंतरंग परिणति पूर्वक सहज वैराग्य, द्रव्य से अभिग्रहों का धारण करना, पूजन, श्रवण, धर्मशास्त्रों के प्रति हार्दिक बहुमान, प्रेम उनको प्रकाशित करना। इस प्रकार अधिकाधिक योगबीजों का संग्रह करता है।^{८९}

इस अवस्था में नियमों का पालन होता है। आध्यात्मिक पात्रता के लिए महर्षि पतञ्जलि ने यम को आद्य क्रम में रखा है, पतञ्जली योग के समान आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी पाँच तरह के यमों का वर्णन किया है।^{९०} जैसे - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और संयम। आचार्य हरिभद्रसूरिने आगे इस प्रत्येक यम की चार-चार अवस्थाएँ बताई हैं।^{९१}

(१) इच्छायम - इस अवस्था में साधक योग पालन की इच्छा दर्शाता है। योगी महात्मा पुरुषों की कथा सुनने में अतिशय रस होता है। बहुमान भाव से कथाओं को सुनता है, और कठिन लगनेवाली यमविषयक में रुचि लेता है।

(२) प्रवृत्तियम - सामान्य से सभी स्थानों पर उपशमभाव प्रधान पाँच यमों का पालन वही प्रवृत्तियम कहलाता है।

(३) स्थिरयम - अतिचारादि रूप विपक्ष की चिंता से रहित यमों का पालन करता है।

(४) सिद्धियम - अचिन्त्य शक्ति की प्राप्ति द्वारा परोपकार करने में समर्थ ऐसा यह यमपालन परमार्थ रूप से अन्तरात्मा की सिद्धि है। यह यम का चौथा प्रकार है।^{१३}

पाँचों यमों के चार-चार भेद होने से कुल २० भेद होते हैं।

पातञ्जल योग में इन भेदों का वर्णन या वर्गीकरण नहीं मिलता है। किन्तु पतञ्जलि भी महाव्रतों की मर्यादा न बताते हुए वर्णन करते हैं।^{१३} इससे स्पष्ट है कि सामान्य और विशेष ऐसे दो प्रकार के व्रत हैं।^{१४} सामान्य व्रत में भौतिक क्रिया विधियों का वर्ग है और विशेष व्रत में आध्यात्मिक वर्ग के व्रत हैं। इस कारण योग की सभी अवस्थाओं में यम अत्यंत आवश्यक है तथा मन की स्थिरता के लिए वे अपरिहार्य हैं।^{१५}

(२) तारा दृष्टि - यहाँ साधक को कुछ स्पष्ट बोध होता है।^{१६} जिससे हेय-उपादेय का विवेक कुछ अधिक होता है। उस बोध की तुलना कंडे की अग्निकणों के प्रकाश से की जाती है।^{१७} यह प्रकाश अल्पवीर्यवाला और अचिरकाल स्थायी होता है। पटुस्मृति के संस्कार नहीं होने से वंदनादि धर्म क्रियाएँ द्रव्य ही होती हैं। भावक्रिया हो जैसे संस्कार दृढ़ नहीं बनते हैं। हृदय में वैराग्य होता है परंतु गाढ़ अनुबंध वाला नहीं होने से मोह के निमित्त मिलते ही निस्तेज बन जाता है। बाह्यदृष्टि से धर्मानुष्ठान विधि सहित करता है। लेकिन विषय कषाय की वासना का पूरा ज्यादा होता है उससे क्रियाकाल में वह उछलने लगता है। वासनाओं के प्रति उपादेयबुद्धि अभी दूर नहीं होती है।

इस दृष्टि में, मुक्ति का अद्वेष होने से धर्मक्रियाओं में खेद नहीं होता है और धर्मतत्त्व को जानने, समझने श्रवण करने की उत्कंठा होती है तथा शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि आदि बाह्यशौच की अपेक्षा परपरिणति के त्यागरूप भावशौच तरफ आगे बढ़ता है। यथाशक्ति तप, स्वाध्याय, संतोष, परमात्म ध्यान रूप नियमों का समयानुकूल सेवन करता है।^{१८} यह योग का दूसरा अंग है। पतञ्जलि ऋषि के मत से भी।^{१९}

पातञ्जल योगसूत्र में भी (१) शौच (२) संतोष (३) तप (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वरप्रणिधान - ये पाँच नियम बताये हैं।^{२०} तथा इच्छादि रूप से चार-चार भेद किये हैं। इच्छानियम, प्रवृत्तिनियम, स्थिरतानियम और सिद्धिनियम।

यम-नियमों का अंतर स्पष्ट करते हुए डॉ. भगवानदास कहते हैं कि यमों का जीवनभर पालन होता है तो नियमों का विशिष्ट कालखंड में ही पालन किया जाता है।^{२१}

इस दृष्टि में अन्य गुणों का भी आविर्भाव होता है। यहाँ साधक को योग की कथाओं में रुचि होती है, प्रीति होती है। शुद्ध योगवाले योगियों पर अत्यंत बहुमानभाव होता है। बड़ी श्रद्धा के साथ वह महान् योगियों की सेवा करता है। जिससे उसके चारित्र के अल्प दोष दूर हो जाते हैं। उससे साधक की अवश्य योगवृद्धि होती है। क्षुद्र उपद्रवों का नाश होता है। व्याधि आदि दूर हो जाते हैं और शिष्ट पुरुषों में सन्माननीय बनता है। अशुभ प्रवृत्ति बंध हो जाने से इसको भव भ्रमण का भय नहीं रहता है। उचित कर्तव्यपालन में हमेशा जागृत रहता है।

अनाभोगवश भी अनुचित प्रवृत्ति नहीं करता है। आचार्य आदि गुणाधिक में ध्यान आदि आराधना देखकर, स्वयं को भी करने की जिज्ञासा होती है। तीव्र अभिलाषा प्रगट होती है। अपने से अधिक साधना करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं होता है। स्वयं में कायोत्सर्गादि आराधना में क्षति देखकर संत्रास होता है। हार्दिक दुःख होता है। अरे ! मैं विराधक हूँ।

इस दृष्टि में आया हुआ साधक आत्मचिन्ता करता है। यह संसार वास्तव में दुःखरूप, जन्म-जरा-मृत्यु के दुःखों से भरपूर है। संसारभाव को दूर करनेवाले साधनों का भी चिन्तन करता है। इस दुःखरूप भव का अंत कब आयेगा ? मुनिजनों की प्रवृत्ति विविध प्रकार की होती है, यह मेरे लिए जानना अशक्य है। शास्त्र का विस्तार गहन, गंभीर, महान् है, हमारी वैसी प्रज्ञा नहीं है, इसमें शिष्ट पुरुष ही प्रमाणभूत है। ऐसा इस दृष्टि में स्थित जीव सदा मानता है।^{१०२}

(३) बलादृष्टि - इस अवस्था में ज्ञानबोध और भी दृढ़ होता है। जिसकी उपमा काष्ठ की अनिकण के प्रकाश से की है। यह दीर्घकालस्थायी और तीव्र शक्तिवाला होता है। इसमें साधक तात्त्विक चर्चाओं में तीव्र जिज्ञासावाला होता है। हरिभद्रानुसार यहाँ विश्रामपूर्ण कायासन को प्राप्त करता है।^{१०३} जो की पतञ्जलि का तृतीय योगांग है।^{१०४} हरिभद्रानुसार इस दृष्टि में स्वभाव से असत् तृष्णा समाप्त हो जाती है। जिससे सर्वत्र सुखपूर्वक आसन होता है।^{१०५}

डॉ. भगवान दो प्रकार के आसनों का वर्णन करते हैं - (१) कायासन (२) स्वयं आसन या अध्यात्मासन।^{१०६} हरिभद्र के कायासन पतञ्जलि के आसनों के समानान्तर ही है, किन्तु भावासन बिल्कुल भिन्न है। मीमांसा करनेवाले व्यास भी बाह्य या भौतिक आसनों का वर्णन करते हैं। वह पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वरिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्येक, क्रौंच-निषादन, हस्ति-निषादन, उष्ट्र-निषादन, समसंस्थान, स्थिर सुख, यथामुख इत्यादि।^{१०७} उसमें आंतरिक या आध्यात्मिक आसनों को हरिभद्र के समान महत्त्व प्रदान नहीं किया है। अनादिकाल से मन ज्ञानेन्द्रिय के अनाध्यात्मिक गंदी गलियों में घूम रहा है। किन्तु यम-नियम के द्वारा उसको आध्यात्मिक मार्ग में जोड़ा जा सकता है।^{१०८} आध्यात्मिक स्थिति के बिना शारीरिक आसन स्थितियों का कोई महत्त्व नहीं है। तन-मन स्थिरता ही सच्चा सुखासन है।^{१०९} वस्तुतः पतञ्जलि के शास्त्रों में बताए गये आसनों में आध्यात्मिक पात्रता दिखाई नहीं देती है। वह तो केवल शारीरिक पात्रता की अहमियत रखती है। इसी विषम परिस्थिति से बचने के लिए कहा गया है कि 'अपने स्वभाव में स्थिर होने से शारीरिक पात्रता में भी स्थिरता आ जाती है।'^{११०} कहा है-

आप स्वभावमां रे अवधु, सदा मगन में रहना ।

जगत जीव है कर्माधीना, अचरीज कच्छुह न लीना ॥

तुम नही केरा कोइ नहीं तेरा, क्यो करे मेरा मेरा ।

तेरा है सो तेरी पासे, अवर सब अनेरा ॥ आप. ॥^{१११}

इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं - इस दृष्टि में साधक सभी कार्य सामान्यता से त्वरा (आकुल-व्याकुल) रहित करता है। तथा प्राप्तदृष्टि में अपाय (दोष-हानि) का परिहार करने मन की स्थिरता पूर्वक करता है। प्रथम दृष्टि में जीव मार्गाभिमुख बनता है। दूसरी दृष्टि में जीव मार्गपतित बनता है। तथा तीसरी दृष्टि में जीव मार्गानुसारी बनता है।

मनोहर रूपवती स्त्री से संयुक्त ऐसे युवान पुरुष को दिव्य गायन सुनने में जैसी शुश्रूषा होती है। उससे भी अधिक तत्त्वविषयक शुश्रूषा इस दृष्टिवाले जीव को होती है।^{११२}

तरुण सुखी स्त्री परिवर्यो रे, चतुर सुणे सुरगीत।

तेहथी रागे अतिघणे रे, धर्म सुण्यानी रीते रे ॥^{११३}

तरुण सुखी स्त्री परिवर्यो जी, जिम चाहे सुरगीत।

तेम सांभलवा तत्त्वने जी, एह दृष्टि सुविनित रे। जिनजी।^{११४}

इस दृष्टि में चारित्रपालन के अभ्यास को करते-करते साधक की वृत्तियाँ एकाग्र बनती हैं और तत्त्वचिंतन में स्थिरता का अनुभव करता है।

साधक विविध आसनों का सहारा लेकर चारित्र विकास की सम्पूर्ण क्रियाओं को आलस रहित करता है।

तत्त्वचर्चा का - श्रवण का संयोग मिले अथवा न मिले लेकिन शुश्रूषा गुण की विद्यमानता होने के कारण तथा शुभभाव पूर्वक प्रवृत्ति करने के कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय रूप फल अवश्य प्राप्त होता है। वही उत्तम बोधका कारण है। ध्यान-धारणा आदि में कभी विक्षेप नहीं आता है। उन-उन ध्यान-आराधना में स्वाभाविक कुशलता प्राप्त होती है। शुभ परिणामों के कारण समता भाव का विकास होता है। परिणाम में साधक अपनी प्रिय वस्तुका भी आग्रह नहीं करता है।

इस प्रकार इस दृष्टि में साधक की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। मन की स्थिरता प्राप्त होती है। समता भाव प्रगट होता है। और आत्मा की विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।^{११५}

(४) दीप्रादृष्टि - यह चौथी दृष्टि है। इस दृष्टि में दीपक के प्रकाश के समान तत्त्वबोध स्पष्ट और स्थिर होता है,^{११६} लेकिन वायु के झोंके से जिस प्रकार दीपक की लौह समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार कभी-कभी साधक का ज्ञानदीपक मिथ्यात्व के उदय से बुझ जाता है। इसमें साधक आध्यात्मिक को सुनता है। किन्तु सूक्ष्मता से बोध नहीं होता है। इस दृष्टि में प्राणायाम नाम के योग का चौथा अंग प्राप्त होता है।^{११७}

प्राणायाम में पतञ्जलि के अनुसार आध्यात्मिक पात्रता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मात्र शारीरिक पात्रता की आवश्यकता है। किन्तु यहाँ पर प्राणायाम का अर्थ सिर्फ श्वास नियंत्रण नहीं लिया गया है।^{११८} किन्तु दो प्रकार के प्राणायाम का वर्णन करते हैं - द्रव्य प्राणायाम और भाव प्राणायाम।^{११९}

द्रव्यप्राणायाम में श्वास खींचना पूरक है, श्वास छोड़ना रेचक है। तथा श्वास को रोककर रखना कुंभक है।^{१२०} यह पतञ्जलि के समानान्तर है।^{१२१} और इसको ही ये योग का चौथा अंग मानते हैं। जबकि जैनाचार्य

द्रव्य प्राणायाम नहीं भाव प्राणायाम को ही योग का चतुर्थ अंग स्वीकारते हैं।^{१२२}

भाव प्राणायाम भी इसी प्रकार होता है। लेकिन वह आध्यात्मिक भावना से युक्त होता है। आत्मा में से परभाव का त्याग करना अर्थात् आरोग्य संपत्ति और सांसारिक सुखोपभोगों के विचार और उनके प्रति आसक्ति को त्यागना रेचकभावप्राणायाम है। आत्मा में अंतरात्मभाव प्रगट करना अर्थात् मोक्ष और मोक्ष के साधक ज्ञान आदि का चिंतन करना यह पूरकभावप्राणायाम है। और आत्मा को स्वभाव दशा में स्थिर करना अर्थात् एकाग्रता चिंतन और ध्यान को आत्म संबंध में स्वीकारना यह कुंभकभावप्राणायाम है।

इस भाव प्राणायाम का वर्णन पतञ्जलि के योग सूत्र में नहीं मिलता है। इस भाव प्राणायाम से अवश्य योगदशा प्राप्त होती है।^{१२३}

इस दृष्टि में साधक प्राण से भी विशेष धर्म पर श्रद्धा रखता है, यह धर्म के लिए प्राणों का त्याग कर लेता है। परंतु प्राणरक्षा के लिए धर्म का कभी त्याग नहीं करता है।

इस दृष्टि में आये हुए व्यक्ति को यह बोध होता है कि धर्म ही एक सच्चा मित्र है। परभव में आत्मा के साथ वही आता है। शेष सभी तो शरीर के साथ ही विनाश हो जाते हैं। इस प्रकार उत्तम आशय से युक्त 'तत्त्वश्रवण' करता है। उसके प्रभाव से प्राणों से भी परम श्रेष्ठ धर्म को स्वीकारता है। इस प्रकार संसार को क्षारयुक्त पानी के तुल्य मानता है। और तत्त्वश्रुति को मधुर जल के समान मानता है।^{१२४}

उपाध्याय यशोविजयजी म. ने अध्यात्मसार^{१२५} में तथा विनयविजयजी^{१२६} ने श्री पुण्यप्रकाश के स्तवन में इन भावों को प्रस्तुत किये हैं।

तत्त्वश्रवण से अवश्य जीवों का परोपकारादि कल्याण होता है। यह तत्त्वश्रवण ज्ञानी गुरु के पास करता है। जिससे गुरु-भक्ति सहज प्रगट होती है। गुरु आज्ञा से यह परोपकारादि करता है और उससे आलोक और परलोक का हित साधता है। गुरु भक्ति से सानुबंध पुण्य का उपार्जन होता है। जो आगामी भवों में भी साथ चलता है।

इस गुरु भक्ति के प्रभाव से साधक ऐसा पुण्य का उपार्जन करता है जिसके परिणाम से ऐसे क्षेत्र में जन्म होता है जहाँ तीर्थकर के दर्शन होते हैं और आगे जाकर यह आत्मा तीर्थकर नामकर्म का भी बंध कर सकती है। इस प्रकार यह तत्त्व-श्रवण मोक्ष का अक्वन्ध्य कारण है। इतना होने पर भी इस दृष्टि में साधक को सूक्ष्म बोध नहीं होता है, कारण कि अभी उस साधक आत्मा की मोहग्रंथी का भेदन नहीं हुआ है। और जहाँ तक ग्रंथिभेद नहीं होता है वहाँ तक सूक्ष्मबोध भी प्राप्त नहीं होता है।

हेतु स्वरूप और फलज्ञान से ज्ञानीपुरुषों जो पारमार्थिक तत्त्वनिर्णय करते हैं वह 'सूक्ष्मबोध' कहलाता है। और वह 'वेद्यसंवेद्य' पद से होता है।^{१२७}

जिनागमों में ग्रन्थिभेद होने के पश्चात् सम्यग् दर्शन और देशविरति की अवस्था साधक को प्राप्त होती है। उसे 'वेद्यसंवेद्यपद' कहा जाता है। यह पद इस दृष्टि में नहीं होता है।

इस दृष्टि में रहे हुए साधक को अभिनिवेश नहीं रहता है। योगी पुरुषों का आग्रह श्रुत शील और समाधि में होता है। इस श्रुत शील और समाधि का अवध्यबीज परार्थकरण है। और यह आग्रह उचित है।

योगी पुरुष को कुतर्क का कोई प्रयोजन नहीं होता है। कुतर्क विकल्पों से उत्पन्न होते हैं। विकल्प शब्दात्मक और अर्थात्मक होते हैं। इन सभी विकल्पों का संबंध ज्ञानावरण और मोहनीय कर्म के साथ होता है।^{१२८}

प्रेक्षावान् पुरुष अतीन्द्रिय धर्मादि अर्थों की सिद्धि के लिए शुष्क तर्क में प्रवृत्ति नहीं करते हैं। कारण कि अतीन्द्रिय अर्थ शुष्क तर्क के विषय नहीं है। अतीन्द्रिय अर्थ आगम के विषय हैं। अतः आगमप्रधान प्राज्ञ और शीलवान् पुरुष योगतत्पर बनकर अतीन्द्रिय अर्थों को जानते हैं।

महामति महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि आगम से, अनुमान से और योगाभ्यास के रस से जो साधक अपनी प्रज्ञा को पृष्ट करता है वह साधक उत्तम तत्त्व को प्राप्त करता है।^{१२९}

अतीन्द्रिय अर्थों का निश्चय योगिज्ञान बिना अशक्य है। इस विषय में विवादास्पद नहीं है। विवाद से तो चित्त की स्वस्थता का नाश होता है।

हेतुवाद से यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय हो सकता होता तो इतने चिरकाल में तार्किकों, प्राज्ञपुरुषों ने कभी का निर्णय कर लिया होता। लेकिन अद्यावधि अतीन्द्रिय विषय में विवाद चल रहा है और भविष्य में चलता रहेगा।

इसलिए शुष्क तर्क, अनुमान, हेतुवाद अति रौद्र है, मिथ्याभिमान के कारण है। अतः मुमुक्षु आत्माओं को इसका त्याग करना चाहिए। वास्तव में मुमुक्षु आत्माओं के लिए किसी भी वस्तु में आग्रह उचित नहीं है। कारण कि मोक्ष में क्षायोपशमिक आदि धर्मों को भी छोड़ना ही है, तो फिर आग्रह किस लिए ? विवाद से चित्त की स्वस्थता का नाश क्यों करना ?

अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के निर्णय में प्रज्ञावंत पुरुषों के मार्ग को अपनाना चाहिए। उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर आरूढ़ होना ही न्याययुक्त है। उनके मार्ग का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

दीप्रादृष्टि में आये हुए साधक को इस प्रकार अनाग्रही बनकर सूक्ष्म भी परपीडा छोड़नी चाहिए। अन्य जीवों को अल्प भी दुःख न हो इसका सतत ध्यान रखकर जीना चाहिए। दूसरे जीवों पर परोपकार भी करना चाहिए और परोपकार के कार्य भी करना चाहिए।

माता-पिता आदि गुरुजनों की, आराध्य कुलदेवता आदि की, व्रतधारी द्विजों की, साधु-मुनिजनों की यथायोग्य पूजा करनी चाहिए।

जो जीव अपने कर्मों से हत-प्रहत अत्यंत पापी है। उनके प्रति भी अनुकंपा धारण करनी चाहिए। द्वेष नहीं करना यही उत्तम धर्म है।^{१३०}

इस प्रकार की स्थिति दीप्रादृष्टि वाले साधक की होती है। इस दृष्टि में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि लोकोत्तर धर्म के साथ लौकिक धर्म को अत्यावश्यक बताया है।

(५) स्थिरा दृष्टि - यहाँ पर आत्म तत्त्व का शाश्वत लक्षण प्रगट है और उसकी तुलना रत्न के प्रकाश से की है।^{१३१} इस दृष्टि में रत्न की प्रभा के समान स्थिर बोध होता है। अर्थात् नित्य-अप्रतिपाति। इस तत्त्वबोध में योगी को अल्प भी भ्रान्ति नहीं होती है। यहाँ साधक को सारासार बुद्धि होती है। जिससे अज्ञान का अंधकार दूर होता है। इस स्थिति में राग-द्वेष की ग्रंथी का भेदन होता है, जिससे लौकिक घटना में बच्चों के मिट्टी के घरोंदे के समान ये ग्रंथी रहती है। अर्थात् संसार की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ सम्यग् दृष्टि योगी को रमत के समान लगती है। यहाँ लौकिक वस्तुएँ को भी जादूगर के करिश्मे के समान, मरीचि का, गन्धर्वनगर एवं स्वप्न के समान लगती है। विवेक के द्वारा उस प्रकाश में साधक स्पष्ट रूप से बाह्य जगत और ज्ञानेन्द्रिय जनित सुखों का सच्चा स्वरूप का निरीक्षण कर लेता है। इसके पहले ज्ञानेन्द्रिय सुखों में बेकाबू बनकर जानवरों की भांति सुखोपभोग के लिए दौड़ लगाता था। किन्तु अब सारासार बुद्धि से निर्णय कर लेता है कि जो परम तत्त्व है वह आंतर तत्त्व है। एक ज्योति-स्वरूप है। अमूर्त और पीड़ा रहित है, अरोगी है। यह आत्मतत्त्व ही लोक में है। शेष सभी उपप्लव है। अब वह बाह्य सौंदर्य में आकृष्ट नहीं बनता है। इन्द्रिय जन्य सुखों की गवेषणा में नहीं भटकता है। किन्तु मन के अनुसार विचरते है। यह प्रत्याहार है।^{१३२}

पतञ्जलि योग में प्रत्याहार का पाँचवा स्थान है।^{१३३} ज्ञानेन्द्रिय का कार्य अपने-अपने विषयों में रत होना है। किन्तु उससे एकाग्र न होना यह मन का भाव प्रत्याहार है।^{१३४} प्रत्याहार का वर्णन करते हुए व्यास कहते है कि “मधुमक्खी जिस तरह राजमक्खी का अनुसरण करते हुए उठती-बैठती, उसी तरह ज्ञानेन्द्रियाँ मन का आज्ञानुसार चलती रुकती हैं।^{१३५} प्रत्याहार से मन अपने स्वभाव में वश होकर अपने एकाग्र-ध्यान में रहता हुआ जाना जाता है और चित्तनिरोध होने से ज्ञानेन्द्रियों से चित्त हटकर एकाग्रता में विलीन हो जाता है। मन भी हलन-चलन से रुक जाता है।^{१३६}

इस अवस्था में पतञ्जलि और हरिभद्रसूरि दोनों की उपलब्धि समान ही है। किन्तु उनके साधन भिन्न है। हरिभद्रसूरि की उपलब्धि सारासारबोध द्वारा है, तो पतञ्जलि की उपलब्धि अभ्यास द्वारा है।

इस दृष्टि में आया हुआ योगी यह जानता है कि धर्म के फलरूप में प्राप्त होने वाले भोगसुख भी प्रायः जीवों के लिए अनर्थकारी बनते है। अतः उसे भोगसुखों में आनंद नहीं होता है। कारण कि चन्दन काष्ठ की अग्नि भी जलाती ही है। इस प्रकार इस स्थिरादृष्टि में योगी पुरुष आन्तर आत्मानंद की अनुभूति करता है।^{१३७}

(६) कांतादृष्टि - कान्ता दृष्टि योगी का ज्ञान प्रकाश आकाश के ताराओं के प्रकाश के समान स्थिर, शान्त और दीर्घकालीन होता है।^{१३८} इस दृष्टि में धारणा नामके योगांग को योगी सिद्ध करता है। अर्थात् स्वयं के चित्त को अण्मतत्त्व के साथ जोड़ देता है। तथा सर्वथा इसके चित्त में हितकारी तत्त्वविचार ही चलते रहते है।

इस दृष्टि में विशिष्ट धर्म के प्रभाव से तथा विशुद्ध सदाचारों के पालन से योगी सभी जीवों का प्रिय बनता है। इसका चित्त धर्म में एकाग्रता का अनुभव करता है।

योगी का मन सदैव आगम-भावना में निमग्न रहता है। शरीर भले ही लौकिक कार्यों में लगा हो। ऐसे

साधक के उपभोग भव-भ्रमण के हेतु नहीं बनते हैं।

वैषयिक भोगसुखों को योगी मृगजल समान देखता है। विषयसुखों में मोहासक्ति नहीं होने का मुख्य कारण योगी की तत्त्वमीमांसा, इस दृष्टि में रहा हुआ योगी सर्वदा तत्त्वचिंतन में रमणशील रहता है। काया की अन्य प्रवृत्तियों के समय में भी इसका मन तत्त्वमीमांसा में रहा करता है। अतः मन में मोह उत्पन्न नहीं होता है।

इस दृष्टि में साधक को 'अन्यमुद्' नाम का दोष नहीं होता है। इसी कारण योगी तत्त्व-मीमांसा में अपने मन को स्थिर बना सकता है। जिस समय जो तत्त्वचिंतन अथवा क्रिया चलती हो उस समय उसी में वह मन बनता है तथा हर्षयुक्त रहता अन्य विचारों का आगमन नहीं होता है। अर्थात् दूसरी क्रियाओं के भी विचार नहीं आते है।

इस दृष्टि की एक विशेषता आचार्य हरिभद्रसूरि ने बताई है कि यह योगी 'सर्वजनप्रिय' बनता है। किसीका अप्रिय नहीं बनता है। यहाँ तक की पशु-पक्षी भी इस योगी के प्रति स्नेहभाव धारण करते हैं।^{१३९}

यह धारणा दृष्टि पतञ्जलि योग की धारण से मेल खाती है। यहाँ भी कांता और धारणा का अर्थ समान रूप से है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'^{१४०} इष्ट साध्य की साधना में मन की निमग्नता होना धारणा है, साधक धर्म सिद्धान्तों पर सहज एकाग्रचित्त हो सकता है। क्योंकि प्रत्याहार में ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषयों से खिंची हुई है। व्यास आगे कहते है नाभिक्षेत्र, हृदयकमल, कपाल, मस्तिष्क, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि क्षेत्रों पर या बाह्य वस्तुओं पर मन स्थिर करना ही धारणा है।^{१४१}

इस दृष्टि में विकास करता हुआ जीव ४ से ७ गुणस्थानकों में उत्तरोत्तर विकास साधता है।

(७) प्रभा दृष्टि - इस दृष्टि में योगी-पुरुष ध्यान सुख का अनुभव करता है। सूर्यप्रकाश के समान सूक्ष्म बोध के प्रकाश में आत्मतत्त्व का दर्शन प्राप्त करता है। आत्म दर्शन से आत्मविभोर बन जाता है। यहाँ योगी का चित्त पूर्णतया निरोगी बनता है। अर्थात् चित्त का एक भी विकार नहीं होता है। ध्यान का प्रकार सारासार ज्ञान (विवेक) पर अवलंबित है। हरिभद्रसूरि सुख की परिभाषा देते है। उनके मतानुसार जो भी पराधीन है, वह दुःख है और जो भी आत्मशक्ति के अधीन है-स्वाधीन है, वह सुख है। ध्यान का सुख अनुभवशील है, जिसका वर्णन अनिर्वचनीय है। ध्यान यह साधक को इतना प्रिय एवं निकटवर्ती हो जाता है कि इस अवस्था में कभी-कभी ऐसे ध्यान को योगी की प्रियतमा भी कह देते है।^{१४२}

पतञ्जलि में भी ऐसा स्वरूप दर्शन होता है। सातवाँ योगांग भी ध्यान ही है।^{१४३} धारणा से ध्यान बढ़ता है। मन की एकाग्रता का क्षेत्र संकुचित करना ही ध्यान है। ध्यान में मन की एकाग्रता एक ही विचार या वस्तु में सीमित होती रहती है। ध्यान की वस्तु को समझने की मानसिक चेष्टा सतत चलते रहने को ध्यान कहते है।^{१४४} मानसिक चेष्टा एक वस्तु छोड़कर दूसरी ओर प्रयत्न नहीं करती है।

इस प्रभादृष्टि में असंग अनुष्ठान होता है। इस असंग-अनुष्ठान को सांख्यदर्शन प्रशान्तवाहिता कहता है।

बौद्धदर्शन विसभागपरिक्षय कहता है।

शैवदर्शन शिववर्त्म कहता है।

महाव्रति को ध्रुवाध्वा कहते हैं।

इस प्रकार इस दृष्टि में महात्माएँ शीघ्रातिशीघ्र सत्प्रवृत्तिपद को प्राप्त करते हैं।^{१४५}

(८) परादृष्टि - आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की यह सर्वोच्च अवस्था है। इस दृष्टि के ज्ञानबोध की समानता चंद्र द्वारा प्राप्त प्रकाश से की है।^{१४६} इस दृष्टि में योगी को योग का आठवाँ अंग समाधि प्राप्त होता है। आसंग दोष दूर हो जाता है और सर्व प्रवृत्तियाँ आत्म-सात् हो जाती हैं।

इस दृष्टि में योगी निराचार बनता है। राग-द्वेष से पूर्णतः मुक्त रहता है। प्रतिक्रमण आदि आचार नहीं होते हैं। कारण कि इस दृष्टि में उसे किसी प्रकार के अतिचार नहीं लगते हैं।^{१४७}

इस दृष्टि में योगी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है। क्षपकश्रेणी में जब द्वितीय अपूर्वकरण करता है तब तात्त्विक रूप से 'धर्मसंन्यास' नाम का सामर्थ्य योग होता है। यहाँ योगी क्षमादि क्षायोपशमिक धर्मों से निवृत्त होता है। और क्षायिक गुणों की प्राप्ति होती है। यहाँ योगी केवलज्ञानी बनता है।

चार घाती कर्म है, ये कर्मरूपी बादल से आत्मा आच्छादित होता है। वे योगरूपी प्रचंड वायु के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। और श्रेणी पूर्ण होने से आत्मा सर्वज्ञ बनता है।

रागादि सभी दोषों का नाश होता है। आत्मा सर्वज्ञ बनता है और सम्पूर्ण लब्धियों के फलस्वरूप परम पदार्थ को प्राप्त करता है और अंत में योगान्त को प्राप्त करता है।

योगान्त अर्थात् शैलेषी अवस्था है। शैलेशी करण जो कि श्रेष्ठ शैलेशी योग है। उससे भव-व्याधि का क्षय करके भावनिर्वाण को प्राप्त करता है।^{१४८}

हरिभद्रसूरि के परा दृष्टि की तुलना पातञ्जल योग समाधि से की जा सकती है। जैसे वस्तु पूर्णतः स्वयं प्रकाशित होती है। उस तरह समाधि होती है।^{१४९} पूर्ण अंतस्तल तक की समाधि में मन भी ध्यान समाधि के आकार में लीन हो जाता है।^{१५०}

इस प्रकार हरिभद्रसूरि की योगदृष्टियों को दो विभाग में विभाजित किया जा सकता है। प्राथमिक योग में प्रथम की चार दृष्टियाँ समाविष्ट होती हैं। इन्हें ओघदृष्टियाँ या मिथ्यादृष्टियाँ भी कहते हैं। यहाँ साधक मिथ्यात्व लिये रहता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए बहुत प्रयत्नशील रहता है। ये चार दृष्टियाँ गुणहीन होती हैं तथा अंतिम की चार दृष्टियों में योगी मोक्ष का सच्चा स्वरूप समझ जाता है। मोक्ष प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा बनती है। यम-नियम के पालन में दृढ़ता आती है तथा उत्तरोत्तर विकास साधता है।

योग की परिलब्धियाँ - योगी महात्मा क्रमशः जैसे-जैसे योग दशा में अग्रसर होते हैं और योग की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करते हैं, वैसे-वैसे योग के अचिन्त्य प्रभाव से तीव्र पुण्योदय बढ़ता जाता है। और वह आहारादि में प्रतिबंध करनेवाले ऐसे पूर्वबंध कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने से श्रेष्ठ तथा परमात्र, हविर्पूर्ण घेवर

आदि विशिष्ट आहार की प्राप्ति होती है।

योग का सामर्थ्य बल ही ऐसा है कि मुनियों को योग के सामर्थ्य बलसे रत्नादि विशिष्ट लब्धियाँ भी प्राप्त होती है। ऐसा योग सम्बन्धी जैन-जैनेतर शास्त्रों में उसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। किन्तु लब्धियों की प्राप्ति होने के पश्चात् भी लब्धियों के द्वारा योगी महात्मा अभिमान स्वार्थ-वैर को पुष्ट नहीं करते है, परन्तु सभी छोड़कर मात्र परोपकार ही करते है।

मनुष्य धन के अभाव में अनेक कल्पनाओं में खो जाता है। यदि धन प्राप्ति हो जाए तो देश-विदेश में भ्रमण करूँ, गाड़ी-वाड़ी में बैठकर आनंद का उपभोग करूँ और विशिष्ट धन की प्राप्ति हो जाए तो प्लेन द्वारा देश-विदेश में घूम आऊँ, उसी प्रकार इस जीव की जब तक इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती है, तब तक अभिलिप्साएँ बढ़ती जाती है। यदि मुझे वैक्रिय शरीर मिले तो सभी जगह घूम आऊँ, आहारक शरीर मिले तो सीमंधर स्वामी के पास पहुँच जाऊँ, आकाशगामिनी लब्धि मिले तो नंदीश्वर द्वीप पहुँच जाऊँ, परंतु योगदशा के बिना प्रायः ऐसी लब्धियाँ अलभ्य है। योग का सामर्थ्य जब प्रगट होता है तब योग के बल से ये लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु उस समय भोगी के समान लिप्सा ही समाप्त हो जाती है। इसीलिए महात्मा पुरुष लब्धियों का उपयोग नहीं करते हैं। प्रसंग आता है तभी करते हैं।

विष्णुकुमार के पास वैक्रियलब्धि थी। परन्तु नमुचि का प्रसंग आया तब ही उपयोग किया। वज्रस्वामी के पास आकाशगामिनी विद्या थी। परन्तु पालिताणा में पुष्पपूजा का प्रसंग आया तो ही उपयोग किया। पूर्वों के पास आहारकलब्धि होती है। परन्तु प्रश्नोत्तरादि का प्रसंग होता है तब ही उपयोग करते थे। अर्थात् लब्धि की प्राप्ति होना पुण्योदय है। परन्तु बिना कारण उसका उपयोग करना प्रमाद है। अतः आहारक लब्धि की प्राप्ति सातवें गुणस्थान में होती है। परन्तु जब उपयोग करता है तब प्रमत्त (६) गुणस्थान में आता है।^{१५१}

जैसे-जैसे और विशिष्ट योग का सामर्थ्य विकसित होता है वैसे-वैसे रत्नादि लब्धियाँ, चित्र-विचित्र ऐसी अणिमादि लब्धियाँ तथा आमर्षोषधि आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती है।^{१५२}

रत्नादि लब्धियों का वर्णन महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगदर्शन में मिलता है। 'स्थान्युपनिमन्त्रणो संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।' ^{१५३}

योगी महात्मा जब योग अवस्था में आरूढ़ होते है तब उस स्थानगत देव योगी को योगमार्ग से विचलित करने अप्सरादि का वर्णन पूर्वक दैविक भोगों को उपनिमन्त्रण करते है तब दैविक भोगों के संग का अकरण तथा मेरे योग का कैसा प्रभाव है कि देवता भी मुझे निमन्त्रण देते है। इत्यादि अभिमान नहीं होना चाहिए। कारण कि दैविक संग और योग की दशा का अभिमान पुनः अनिष्ट का ही कारण बनता है। अतः इन से विरक्त आत्मा को ही योगदृढता से लब्धियाँ प्राप्त होती है।

योगदर्शन के प्रभाव से अणिमादि लब्धियों का प्रादुर्भाव होता है तथा प्रकाम्य आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

(१) अणिमा - स्थूल शरीर को छोटा बना सकते है। (२) लघिमा - गुरु शरीर को हल्का बनाना।

(३) महिमा - विस्तार वाला शरीर बनाना। (४) प्राप्ति - भूमि पर स्थित रहा हुआ अपनी अंगुली के अग्रभाग से सूर्य-चंद्र को स्पर्श करना। (५) प्राकाम्य - पानी के समान भूमि में उतर जाना। (६) इशित्व - भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति-नाश द्वारा स्वयं की रचना करना। (७) वशित्व - भौतिक पदार्थों के परवश नहीं रहना। (८) कामावसायित्व - अपनी इच्छानुसार संकल्पमात्र से भूतों में रचना कर सके।^{१५३}

तथा योगदर्शन में कायसंपत् इति प्रकार बताई है - शरीर में अतिशय सुंदर रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान शरीर के अवयवों की कठोरता प्राप्त होती है। वह कायसम्पद् तथा योगदशा के प्रभाव से भूतधर्मों में से योगी को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती है।^{१५४}

तथा जैन दर्शन में भी आवश्यकनिर्युक्ति तथा उसी पर रचित जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित 'विशेषावश्यकभाष्य' में आमषौषधि आदि लब्धियाँ योग दशा में प्राप्त होती है, यह बताया है।

आमषौषधि विप्रौषधि, श्लेष्मौषधि, जल्लौषधि, संभिन्नश्रोतोपलब्धि, ऋजुमति सर्वौषधि, चारणलब्धि, आशीविषलब्धि, केवलिलब्धि तथा मनःपर्यज्ञानित्व, पूर्वधरत्व, अरिहंतत्व, चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व, वासुदेवत्व इत्यादि लब्धियाँ भी आत्मा को योग प्रभाव से प्राप्त होती है। योगवृद्धि के बल से ऐसी लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती है, तो शोभन आहार की प्राप्ति तो सामान्य वस्तु है।^{१५५}

पातञ्जल योगदर्शन में आमषौषधि आदि लब्धियों का वर्णन नहीं मिलता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि का योग वैशिष्ट्य - आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग को अनेक वैशिष्ट्य से विशिष्ट बनाया है। उनका अपना वैदुष्य विरल एवं विशाल था। अपने आत्म वैदुष्य से उन्होंने योग को समलंकृत बनाया। उन्होंने योग विषय के सम्बन्ध में ऐसी श्रेष्ठ कृतियों की रचना की है, जो योग-परम्परा में आज भी अद्वितीय विशेषता रखती है। तत्त्वज्ञान विषयक स्वग्रन्थों में उन्होंने तुलना एवं बहुमानवृत्ति द्वारा जो समत्वभाव दर्शाया है, उस समत्व की प्रकर्षता उनके योग-विषयक ग्रन्थों में प्रस्फुटित होती है। इसके अतिरिक्त उनके योग-ग्रन्थों में दो मुद्दे ऐसे प्राप्त होते हैं जो अन्य कृतियों में वैसा स्पष्ट प्रस्तुतिकरण अशक्य है। उनमें से प्रथम है - अपनी परम्परा को भी अभिनव दृष्टि का कड़ुआ घूंट पिलाकर उसे सबल एवं सचेतन बनाना, और दूसरा - भिन्न-भिन्न पंथों और सम्प्रदायों में संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण अपूर्ण अध्ययन के कारण तथा परिभाषाभेद को लेकर उत्पन्न होनेवाली गलतफहमी के कारण जो अन्तर चला आता था और उसका संपोषण एवं संवर्धन होता रहता था उसको दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न। योग विषयक उनके चार ग्रन्थों में से दो प्राकृत में हैं और दो संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा में आलेखित 'योगविशिका' और 'योगशतक' मुख्यतया जैन परम्परा के आचार-विचार को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। परन्तु जब उनका अध्ययन करते हैं, तो ऐसा महसूस होता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि का आशय उन कृतियों के द्वारा जैन-परम्परा के रूढ़ मानस को विशेष विशाल एवं उदार बनाने का होगा। इसीसे उन्होंने योग-विशिका में जैन परम्परा में सामान्यरूप से प्रचलित चैत्यवंदन जैसी दैनिक क्रियाओं में ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा प्रीति, भक्ति आदि तत्त्व जो अन्य योग परम्पराओं में बहुत प्रसिद्ध हैं, घटाये हैं। इतना

ही नहीं, उन्होंने रूढिवादियों के सामने स्पष्ट घोषणा कर दी कि बहुजनसम्मत होना ही सच्चे धर्म या तीर्थ का लक्षण नहीं है। सच्चा धर्म और सच्चा तीर्थ तो किसी भी एक मनुष्य की विवेकदृष्टि में होता है। ऐसा कहकर उन्होंने 'लोकसंज्ञा' एवं 'महजनो येन गतः स पन्थाः' का प्रतिवाद किया। यह उनकी आत्म निर्भयता है। इस प्रकार प्राकृत ग्रन्थों को तो योग के वैशिष्ट्य से विशद बनाये ही हैं साथ में ही योग-परम्परा में उनका असाधारण वैशिष्ट्य पूर्ण समर्पण उनके प्राप्य दो संस्कृत ग्रन्थों में समुज्वल बना। वे दो ग्रन्थ है - योगदृष्टि समुच्चय और योगबिन्दु।

इन दो ग्रन्थों में उन्होंने योगतत्त्व का सांगोपांग प्रतिपादन किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'षोडशक प्रकरण' आदि में भी थोड़ी-बहुत योग-विषयक चर्चा की है। लेकिन अन्य सभी कृतियों से योग के विषय में इनका अपना अद्वितीय स्थान है। इतना ही नहीं उनके समय में भिन्न-भिन्न धर्म-परम्पराओं में योग-विषयक जो साहित्य रचा गया और जो उपलब्ध है उसमें साहित्य की दृष्टि से भी प्रस्तुत दो ग्रन्थ निराले हैं।

प्राचीन जैनागमों में प्रतिपादित ध्यान विषयक समग्र-विचार सरणी से तो हरिभद्र सुपरिचित थे। साथ ही वे सांख्य योग, शैव, पाशुपत और बौद्ध आदि परम्पराओं के योग-विषयक प्रस्थानों से भी विशेष परिचित एवं ज्ञाता थे। अतः उनकी चिन्तन धारा किसी विशाल दृष्टिकोण को लेकर चली। जो थी भिन्न-भिन्न परम्पराओं में योगतत्त्व के विषय में मात्र मौलिक समानता ही नहीं, किन्तु एकता भी है। ऐसा होने पर भी उन परम्पराओं में जो अन्तर माना या समझा जाता है उनका निवारण करना। हरिभद्र ने देखा कि सच्चा साधक भले किसी भी परम्परा का हो। उसका आध्यात्मिक विकास तो एक ही क्रम से होता है। उसके तारतम्य युक्त सोपान अनेक है। परन्तु विकास की दिशा तो एक ही होती है। अतः भले ही उसका प्ररूपण विविध परिभाषाओं में हो, विभिन्न शैली में हो, परन्तु प्ररूपण का आत्मा तो एक ही होगा। यह दृष्टि उनकी अनेक योग ग्रन्थों के अवगाहन के फलस्वरूप बनी होगी। इसीलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं ऐसे ग्रन्थ लिखूँ जो सभी योग शास्त्रों के दोहनरूप हो। जिसमें किसी एक ही सम्प्रदाय में रूढ परिभाषा या शैली का आश्रय न हो, लेकिन सर्वजनमान्य नयी परिभाषा एवं नयी शैली की इस प्रकार समायोजना की जाय जिससे कि अभ्यस्त सभी योग-परम्पराओं के योग विषयक मन्तव्य किस तरह एक है अथवा एक दूसरे के अतिनिकट है यह बतलाया जा सके और विभिन्न परम्पराओं में प्रवर्तमान पारस्परिक अज्ञान उसे दूर किया जा सके। ऐसे उदात्त-विशाल ध्येय से प्रस्तुत ग्रन्थों की रचना की :

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः ।

दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः ।^{१५७}

सर्वेषां योगशास्त्राणां मविरोधेन तत्त्वतः ।

सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥^{१५८}

इस प्रकार इन ग्रन्थों में आत्मा, कर्म, मोक्ष, सर्वज्ञ आदि में भिन्न नाम परिभाषा होने पर भी समदर्शिता से एकत्व की स्थापना करने का पूर्ण प्रयास है। उसमें तत्त्व से किसी का विरोध न हो, यह उनकी महान् विशेषता थी योग-विषय में।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक धारणाएँ विशाल एवं विराट थीं। सर्वोच्च कक्षा का प्रतिनिधित्व उन्होंने योग के विषय में किया है।

योग सम्बन्धी आज जो भी साहित्य मिलता है, उसमें सर्वोच्च श्रेणी का साहित्य आचार्य हरिभद्र का है। उन्होंने योग के जिज्ञासुओं की प्रत्येक जिज्ञासा को पूर्ण करने का भगीरथ प्रयत्न योग-ग्रन्थों में किया है। यह उनकी अपनी ही अद्वितीय सृष्टि है। आज उनके योग साहित्य की प्रशंसा भारतीय विद्वानों ने तो की ही है लेकिन विदेशी विद्वान् इससे अछूते नहीं रहे। आज उनके योग शास्त्रों से सभी योगाभ्यासी गौरव का अनुभव कर रहे हैं। क्योंकि उन्होंने किसी जाति या सम्प्रदाय को लेकर नहीं लिखा है। उन्होंने उदार भाव से सभी को योग की एक श्रृंखला में बांधने का प्रयत्न किया, जो आज हम सबके लिए गौरव का सूचक है।

एक विहंगमदृष्टि से अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि आचार्य हरिभद्र एक विद्वान् ही नहीं अपितु सहृदयी, समदर्शी और बहुमानवृत्ति से भी युक्त थे।

आज के इस आधुनिक युग में जिसे यान्त्रिक युग कहा जाता है। उस में भी योगज्ञ श्री हरिभद्रसूरिजी का योग तत्त्व अत्यन्त सामयिक एवं अनुसरणीय है। मानव मात्र के परित्राता बनकर जो योग सन्देश आपने हमें दिया है वह विश्व को जागृत कर एक नये श्रेष्ठ मानवजाति के निर्माण के लिए कल्याण कारक होगा ऐसा शोधार्थी का विचार है।

षष्ठम अध्याय की सन्दर्भ सूची

| | |
|----------------------|--------------|
| १. योगबिन्दु | गा. २०१ |
| २. योगविशिका | गा. १ |
| ३. योगशतक | गा. २२ |
| ४. योगशतक टीका | गा. २२ |
| ५. ज्ञानसार | अ. २८, गा. १ |
| ६. तत्त्वार्थ | अ. ६ सूत्र १ |
| ७. योगविशिका टीका | गा. १ |
| ८. योगविशिका | गा. १ |
| ९. पातञ्जल योगसूत्र | पाद १/२ |
| १०. योगशतक | गा. २१ |
| ११. योगबिन्दु | गा. ३, ४ |
| १२. योगविशिका टीका | गा. १ |
| १३. योगशतक | गा. २ |
| १४. तत्त्वार्थ सूत्र | अ. १/१ |
| १५. योगशतक टीका | गा. २ |
| १६. योगशतक | गा. ४, ५ |

| | | |
|-----|-------------------------|--------------------------------|
| १७. | योगशतक टीका | गा. ४, ५ |
| १८. | वही | गा. ६, ७ |
| १९. | वही | गा. ८, ९ |
| २०. | वही | गा. १३ |
| २१. | योगबिन्दु | गा. १७८ |
| २२. | वही | गा. ११०, ११७ |
| २३. | वही गुजराती विवेचन | गा. १७९ |
| २४. | योगबिन्दु | गा. १०१ |
| २५. | श्रीमद् भागवद् गीता | अ. २/४५ |
| २६. | योगबिन्दु | गा. २०१ |
| २७. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. २०९, २१३ |
| २८. | वही | गा. २२६ |
| २९. | योगशास्त्र | प्र. २/१५ |
| ३०. | योगबिन्दु | गा. २०३ |
| ३१. | योगबिन्दु टीका | गा. २०४ |
| ३२. | वही | गा. २०३ |
| ३३. | योगशतक | गा. १४ |
| ३४. | वही तथा योगबिन्दु | गा. १५ योगबिन्दु गा. २५३ |
| ३५. | विशेषावश्यक भाष्य | गा. १२२२ |
| ३६. | योगशतक | गा. ३०, ३१ |
| ३७. | योगशतक टीका | गा. १५ |
| ३८. | योगशतक | गा. १६, १७ |
| ३९. | वही | गा. ३४, ३५ |
| ४०. | योगबिन्दु | गा. ३५७, ३६९ |
| ४१. | वही | गा. ३७० |
| ४२. | योगशतक टीका | गा. ९ |
| ४३. | योगविंशति | गा. २ |
| ४४. | योगविंशति टीका | गा. २ पृ. २९ |
| ४५. | वही | गा. ५, ६ |
| ४६. | अध्यात्मसार | ३/८७, ८८ |
| ४७. | ज्ञानसार | अ. २८/४ |
| ४८. | योगविंशिका मूल तथा टीका | गा. ८, ९ |
| ४९. | ज्ञानमञ्जरी टीका | अ. २७/६ और सातवें के अवतरण में |
| ५०. | योगविंशिका टीका | गा. ३ |
| ५१. | योगबिन्दु | गा. ३५७ से ३६९ |

| | | |
|-----|-------------------------------------|--------------------------|
| ५२. | वही | गा. ३७२ से ३७७ |
| ५३. | ज्ञानसार | गा. २७/६ |
| ५४. | षोडशक प्रकरण | षो. १४/१ |
| ५५. | योगविंशति | गा. १९ |
| ५६. | योगबिन्दु | गा. ४२०, ४२१ |
| ५७. | योगविंशति टीका | गा. २० |
| ५८. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ३, ४, ५ |
| ५९. | गीता | अ. १८/२ |
| ६०. | वही | अ. १८/६, ९ |
| ६१. | योगशतक | गा. ४०, ४१ |
| ६२. | वही | गा. ५३ |
| ६३. | वही | गा. ५९ |
| ६४. | वही | गा. ६० |
| ६५. | वही | गा. ६७ से ७१ |
| ६६. | वही | गा. ५२ |
| ६७. | वही | गा. ६० से ६६ |
| ६८. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. १२३ |
| ६९. | योगदृष्टि समुच्चय टीका | गा. १२३ |
| ७०. | योगबिन्दु | गा. १५५ |
| ७१. | वही | गा. १५६ से १६१ |
| ७२. | वही | गा. २०९ से २१४, २१९, २२० |
| ७३. | योगविंशिका | गा. १६ |
| ७४. | योगविंशिका टीका | गा. १६ |
| ७५. | वही | गा. १७ |
| ७६. | षोडशक प्रकरण | षो. १०/५ |
| ७७. | वही | षो. १०/६ से ८ |
| ७८. | योगविंशिका | गा. १४ |
| ७९. | योगविंशिका टीका | गा. १४ |
| ८०. | संबोध सित्तरि | गा. ३७ |
| ८१. | योगविंशिका टीका | गा. १५ |
| ८२. | वही | गा. १६ |
| ८३. | सीमंधर स्वामी स्तवन (यशोविजयजी कृत) | गा. ७ से १० |
| ८४. | षोडशक | षो. ३/१२ |
| ८५. | षोडशक मूल तथा टीका | षो. ३/६ से १२ |
| ८६. | योगविंशिका टीका | गा. १ (टीका) |

| | | |
|------|--|----------------|
| ८७. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. १७ |
| ८८. | वही | गा. १३ |
| ८९. | वही | गा. २१ से २८ |
| ९०. | पातञ्जल योगसूत्र | गा. २/२९, ३० |
| ९१. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. २१४ |
| ९२. | वही | गा. २१३ से २१८ |
| ९३. | पातञ्जल योगसूत्र | पा. २/३१ |
| ९४. | वही विवेचन बंगाली बाबा | पृ. ८८ |
| ९५. | योग एज फिलोसोफी एन्ड रीलीजन (सुरेन्द्रनाथ गुप्ता) पृ. १४३, १४४ | गा. ४१ |
| ९६. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. १५ |
| ९७. | वही | गा. ४१ |
| ९८. | वही | पा. २/२९ |
| ९९. | पातञ्जल योगसूत्र | |
| १००. | वही | |
| १०१. | योगदृष्टि समुच्चय - डॉ. भगवानदास विवेचन | पृ. २७८ |
| १०२. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ४२ से ४८ |
| १०३. | वही टीका | गा. ४९ |
| १०४. | पातञ्जल योगसूत्र | पा. २/२९ |
| १०५. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ५० |
| १०६. | वही - डॉ. भगवानदास विवेचन | गा. २०९ |
| १०७. | व्यास योगसूत्र | पाद. २/४६ |
| १०८. | योगदृष्टि समुच्चय-डॉ. भगवानदास विवेचन | पृ. २०९ |
| १०९. | योगदृष्टि की सञ्ज्ञाय | गा. ३/१ |
| ११०. | योगदृष्टि समुच्चय-डॉ. के.के. दिक्षित विवेचन | पृ. ४९ |
| १११. | आनंदधन सञ्ज्ञाय | गा. १, २ |
| ११२. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ५१, ५२ |
| ११३. | समकित्त सतसठ बोल की सञ्ज्ञाय (उ. यशो.कृ.) | ढाल २/२ |
| ११४. | आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय | ढाल ३/२ |
| ११५. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ५४ से ५६ |
| ११६. | वही | १५ |
| ११७. | वही | गा. ५७ |
| ११८. | वही-डॉ. के.के. दिक्षित विवेचन | पृ. १४३ |
| ११९. | वही-डॉ. भगवानदास विवेचन | पृ. २५५ |
| १२०. | आठ दृष्टि की सञ्ज्ञाय (उ. यशो.कृत) | ढाल ४/२ |
| १२१. | पातञ्जल योगसूत्र | पा. २/२९ |
| १२२. | योगदृष्टि समुच्चय टीका | गा. ५७ |

| | | |
|------|---------------------------------------|-------------------------|
| १२३. | वही-पं. धीरूभाई कृत विवेचन | गा. ५७ पृ. २२४ |
| १२४. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ५८ से ६२ |
| १२५. | अध्यात्मसार | प्रबन्ध-१, अधिकार ४ गा. |
| १२६. | पुण्य प्रकाश स्तवन | ढाल ४/१, २ |
| १२७. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. ६३ से ६५ |
| १२८. | वही | गा. ८८ से ९० |
| १२९. | वही | गा. ९८ से १०० |
| १३०. | वही | गा. १४३ से १५२ |
| १३१. | वही | गा. १५ |
| १३२. | वही | गा. ५४ से ५७ |
| १३३. | योगसूत्र पातञ्जल | पा. २/२९ |
| १३४. | वही | पा. २/५४ |
| १३५. | व्यास योगसूत्र | पा. २/५४ |
| १३६. | योग एज फिलोसोफी एन्ड रिलीजन दासगुप्ता | पृ. १४७ |
| १३७. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. १६० |
| १३८. | वही | गा. १५ |
| १३९. | वही | गा. १६२ से १६६ |
| १४०. | पातञ्जल योगदर्शन | पा. ३/१ |
| १४१. | व्यास योगसूत्र | पा. ३/१ |
| १४२. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. १७० से १७२ |
| १४३. | पातञ्जल योगसूत्र | पा. २/२९ |
| १४४. | वही | पा. ३/२ |
| १४५. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. १७५, १७७ |
| १४६. | वही | गा. १५ |
| १४७. | वही | गा. १७८, १७९ |
| १४८. | वही | गा. १८१ से १८६ |
| १४९. | योगसूत्र पां. | पा. ३/३ |
| १५०. | योग एज फिलोसोफी एन्ड रिलीजन दासगुप्ता | पृ. १४७, १४८ |
| १५१. | योगशतक मूल तथा टीका | गा. ८३ |
| १५२. | वही | गा. ८४ |
| १५३. | योगसूत्र पातञ्जल | पा. ३/५१ |
| १५४. | योगशतक टीका | गा. २४ |
| १५५. | पातञ्जल योगसूत्र | पा. ३/४६ |
| १५६. | आवश्यक निर्युक्ति | गा. ७७९, ७८० |
| १५७. | योगदृष्टि समुच्चय | गा. २०५ |
| १५८. | योगविन्दु | गा. २ |

7

सप्तम अध्याय

आचार्य हरिभद्र के दर्शन में अन्य दर्शनों की अवधारणाएँ

- * सत् के सन्दर्भ में।
- * आत्मा के सन्दर्भ में ।
- * योग के सन्दर्भ में ।
- * मोक्ष के सन्दर्भ में ।
- * कर्म के सन्दर्भ में ।
- * प्रमाण के सन्दर्भ में ।
- * सर्वज्ञ के सन्दर्भ में ।
- * अन्य के सन्दर्भ में ।



सप्तम अध्याय

आचार्य हरिभद्र के दर्शन में अन्य दर्शन की अवधारणाएँ

आचार्य हरिभद्र एक ऐसे जैन आचार्य हुए हैं, जिन्होंने जैन दर्शन की भव्यता के साथ अन्य भारतीय दर्शनों के बीच एक सेतु का कार्य किया है। वे एक ऐसे उदारवादी दार्शनिक आचार्य माने जाते हैं जिनका किसी से वैर-विरोध या राग-आसक्ति नहीं है। इसीलिए उनकी दार्शनिक कृतियों में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख देखा जा सकता है। यहाँ विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिसकी प्रस्तुति किसी न किसी रूप में उनके दर्शन में देखी जाती है।

(१) सत् के सन्दर्भ में - सत् दर्शन जगत् का एक मूलभूत तत्त्व है। सत्वाद दार्शनिक जगत् का पुरातन प्रमेय तत्त्व रहा है। इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने इनको सूत्ररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है - 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' वाचकवर उमास्वाति ने सत् को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से सन्दर्भित किया है।

सत् शब्द का प्रयोग प्रशस्त कार्य के लिए माना गया है। सद्भाव में साधुभाव में सत् शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ है। यज्ञ में, तप में और दान में सत् की स्थिति रही हुई है। यज्ञ, तप और दान के लिए ही जो कार्य किया जाता है, वह सत्संज्ञा से संबोधित रहता है। इसलिए सत् का स्थान इसमें भी है और परलोक में भी है। श्रद्धा से युक्त कार्य सत् कहलाता है। वह सत् तप भी हो, जप भी हो, दान भी हो, चाहे स्वाध्याय भी हो, ये सभी पावन परंपरा के पथिक हैं। इस प्रकार सत् शब्द का उपयोग श्री भगवद् गीता में किया गया है।

सत् विषयक आचार्य हरिभद्र का गहनतम मन्तव्य एवं मन्थन है, जो उमास्वाति के मन्तव्य का ही अनुकरण है। आचार्य हरिभद्र उमास्वाति के अनुयायी होते हुए अन्य दार्शनिकों के जगत् सम्बन्धी सत् विरोधी सिद्धान्त का प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं -

शास्त्रकारों का श्रम इस जगत् को सत्वाद स्वरूप से ही निरूपण करने में रहा है।

वैदिक जगत् में सत् को ही ब्रह्म स्वरूप से स्वीकृत किया गया है - 'सदविशिष्टमेव सर्व।'।

बौद्ध वाङ्मय में सत् को अर्थक्रियाकारक कहा गया है।

न्यायदर्शन में सत् को सत्ता नामक पर सामान्य से लक्षित किया गया है।

सांख्यदर्शन के प्रथम आचार्य कपिल ने सत् को चैतन्यात्मक घोषित किया है। सत्त्व को त्रिगुणात्मक भी कहा है।

उपनिषदों की परिभाषा में सत् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महत्तर निर्दिष्ट किया गया है।

ऋग्वेदकालीन सत् को इतना महत्त्व दिया है कि उसका (सत्) भी अस्तित्व है, क्योंकि नामोल्लेख ही

अस्तित्व को सिद्ध करता है।

पुरातन पुराणों के प्रखर वक्ता श्री व्यास ने सत् को नित्य और अविनाशी कहा है।

आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने उपमेय भाव से सत् विषय को आलोडित किया है और साथ में युक्तिसंगत एवं उचित कहा है। जिस प्रकार एक ही दूध, दही, नवनीत और घी के स्वरूप को धारण करता है, वैसे ही एक ही सत् अनेक उत्पादात्मक, व्ययात्मक एवं ध्रुवात्मक रूप से परिणत होता है।

सत्, सत् रूप में रहता हुआ भी अनंत धर्मात्मक है, ऐसी मान्यता याकिनीतनय हरिभद्र की है।

इस प्रकार सत् का अस्तित्व इतिहास मान्य है। समाज स्वीकार्य है। और सभी दार्शनिकों का स्पष्ट सम्बोध है कि सत् एक अस्तित्ववान् सत्त्व है और वह तत्त्व भी है। सत्त्व क्यों है, कि वह आत्मवाद से अभिन्न है और तत्त्व क्यों है, कि वह दार्शनिक विचारश्रेणी का नवनीत पीयूष है।

सत्त्व रहित चिन्तन दार्शनिक जगत में स्थान प्राप्त नहीं कर सकता है, इसलिए ससम्मान सत्त्व को ईश्वरवाद से भी पृथग् नहीं बनाया जा सकता।

ज्ञान को भी नानाभाव वाला कहकर विभक्तों में भी अविभक्त रहनेवाला ऐसा सत्त्वमय नानाभावों से युक्त होता हुआ भी स्वयं में सत्त्ववान् है।

इस प्रकार सत् सम्बन्धी विचारणाएँ, विवेचनाएँ जो मिली है, वे सभी उपयुक्त है और उचित है, क्योंकि सत् के बिना कोई भी स्वयं के अस्तित्व का आविर्भाव नहीं कर सकता है। अतः आविर्भाव के लिए और अस्तित्व के लिए सत् की सत्ता को समयोचित स्वीकार कर लीया जाता है, वह पदार्थ भी सत्त्ववान् गिना जाता है और व्यक्ति भी सत्त्ववान् कहलाता है।

यह सत् प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनंत है। परंतु व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा से अनित्य है, क्योंकि सत् सर्वथा शक्तिमान होता हुआ सापेक्षित दृष्टि से विवेचित हुआ। आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने दर्शन ग्रन्थों में सत् विषयक अन्यदर्शन की अवधारणाओं का विस्तृत विवेचन अभिव्यक्त किया है।

आत्मा के सन्दर्भ में - आत्मा का अस्तित्व प्रायः सभी धर्मों में मान्य होकर भी आत्मा की परिभाषा को शब्दावली में बांधना बड़ा कठिन कार्य है। वस्तुतः आत्मा नाम की वस्तु आँखों से अदृश्य कानों से अश्राव्य तथा मन से अननुभाव्य होने से परिभाषा करने में अत्यन्त कठिनाता महसूस होती है। फिर भी श्रेष्ठ विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी है।

आर्य संस्कृति आत्मवादिता पर अपना अस्तित्व रखती है। यह संस्कृति आत्मा के अस्तित्व को सम्मानित रखनेवाली परमात्मवाद की ओर ढलती हुई मिलती है। आत्मवाद, परमात्मवाद, कर्मवाद और लोकवाद इन सभी का अवगाहन, अनुसंधान आत्मवाद ही कर सकता है। अतः आत्मा को सश्रद्धाभाव से स्वीकृत करने में श्रमण संस्कृति ने अग्रेसरता अपनाई है।

आत्मतत्त्व सदा से अरूपी रहा है, अगोचर बना है। परोक्ष का रूप धारण करता है। फिर भी प्रत्यक्षवत्

कार्य करने में कृत्कृत्य मिलेगा। परोक्षता की परम अनुमानिता अधिकृत करती हुई यह आत्मवादिता अभी तक सश्रद्धेय रही है। अतः आत्मवाद को अनेक आचार्यों ने सम्मानित रखा। साहित्य की भूमि पर इसको विस्तृत बनाने में वाङ्मयी धाराएँ प्रवाहित रही हैं।

दर्शन जगत के अगणित अनेक आर्ष पुरुषों ने आत्मवाद की घोषणा करने में उच्चता अपनाई है। संस्कृति का सुपरिचय ही आत्मवाद की उपलब्धियों से है। दार्शनिकता का दिव्य दृष्टिकोण आत्मवाद के अध्यायों से उज्वल है, उल्लिखित है। अतः आत्मवाद को यदि हम स्वीकार कर लेते हैं, तो पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष की मान्यताएँ महत्त्वपूर्ण लगती हैं। आत्मवाद से इहलोक और परलोक के ताने-वाने जुड़े हुए हैं, क्योंकि आत्मा में कारकत्व धर्म है। अतः कर्मफल भोक्ता है। इसलिए आत्मवाद के बिना दर्शन जगत में दार्शनिकता को सम्मान नहीं मिलता है।

दर्शनवादिता के दिव्य दृष्टिकोण को दूरदर्शिता से सुदृढ़ पूर्वक प्रस्तुत करने में आत्मवाद ही प्रमुख रहा है। वो आचार्यों को भी अपनाता है और विचारों को भी पनपाता है। आचार और विचार दोनों ही आत्मवाद के अमूल्य निधि हैं, जो जीवन विधि को जीवित रखते हुए जगत में अद्यावधि सुरक्षित हैं।

आत्मा संबंधी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न दर्शन में विविध प्रकार से मिलती हैं। आस्तिक दर्शन प्रायः करके सभी आत्मा को स्वीकार करते हैं, चाहे वो किसी भी रूप में माने। लेकिन एक नास्तिक दर्शन चार्वाक ही आत्मा के अस्तित्व स्वीकारने को तैयार नहीं है। शास्त्रवार्त्ता समुच्चय में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए आचार्य हरिभद्र ने चार्वाक दर्शन को युक्तियों से समझाया है और अन्त में कहा कि उक्त युक्तियों से आत्मा की सिद्धि हो जाने पर अनात्मवादी चार्वाक का मुँह यदि म्लान दिख पड़ता है तो उस म्लानता का कारण हम आत्मवादी नहीं हैं किन्तु अप्रमाणिक अनात्म के प्रति उसकी दुराग्रहपूर्ण निष्ठा ही कारण है।^१

चार्वाक मत में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और महुआ आदि के सड़ने पर शराब में मादक शक्ति की भाँति भूतों में ही चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिस तरह जल में बुलबुले उत्पन्न होते हैं और विलीन होते रहते हैं, उसी तरह जीव भी इन्हीं भूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में विलीन हो जाता है। चैतन्य विशिष्ट शरीर का नाम ही आत्मा है।^२

चार्वाक की अपेक्षा बौद्ध परिष्कृत बुद्धि वाले होते हैं। अतः उनकी मान्यता यह है कि दृश्यमान नश्वरदेह आत्मा नहीं है, किन्तु क्लेश विविध वासनाओं से युक्त नित्य मन ही 'अहम्' इस ज्ञान का विषय है, उसी का नाम आत्मा है, उससे भिन्न कोई शाश्वत आत्मा नहीं है।

अत्रापि वर्णयन्त्येके सौगताः कृतबुद्ध्यः।

क्लिष्टं वर्णयन्त्येके सौगताः कृतबुद्ध्यः ॥^३

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल आचार्य पुरुष को ही आत्म मानते हैं तथा उस आत्मा को चोवीस तत्त्वों से भिन्न, अकर्त्ता, निर्गुण भोक्ता तथा नित्य चैतन्यशाली स्वीकारते हैं। जैसे कि -

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रिय ।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिला दर्शने ॥^४

सांख्य दर्शन में आत्मा अमूर्त है, चेतन है, भोक्ता है, नित्य है, सर्वगत है, निष्क्रिय है, अकर्ता है, निर्गुण है तथा सूक्ष्म है।

‘योगबिन्दु’ में सांख्यप्रणीत आत्मा का स्वरूप इस प्रकार मिलता है। श्री कपिलदेव प्रणीत सांख्य दर्शन के सिद्धान्तवेदी पण्डित कहते हैं कि पुरुष अर्थात् आत्मा को वस्तु स्वरूप में देखते हैं तो वह प्रकृति के संबंध से रहित शुद्ध स्वरूप में विकार रहित ही है। तथा सर्वत्र ब्रह्मांड व्यापक है तथा नित्य एक स्वरूप में रहनेवाला है।

‘स्वस्वरूपात् किञ्चिदप्रच्यवमानो नित्य एव सन्नित्यर्थः’ - आत्मा (पुरुष) स्व स्वरूप से जरा भी च्युत हुए बिना नित्य एक स्वरूप में अवस्थित रहता है। कहा भी है - ‘अच्युतानुत्पन्न स्वरूपो हि नित्यः।’ - जो नाश नहीं है, उत्पन्न नहीं होता है और नित्य एक स्वभाव में रहता है वह नित्य कहलाता है। सांख्यमत में अविकारी नित्य ऐसा आत्मा पुरुष माना गया है। वह आत्मा अपने स्वरूप का बुद्धि को अर्थात् मन को ज्ञान कराती है, उससे मनरूप जो बुद्धि वह यद्यपि अचेतन जड़ है। फिर भी महत् तत्त्वरूप प्रकृति विकारवाली होने से मैं आत्मा चैतन्य ऐसे परिणाम को धारण करती है। कारण कि वह आत्मा यानि पुरुष के सानिध्य में रही हुई होने से उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यहाँ सांख्य दर्शनकार उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि - जिस प्रकार स्फटिकरत्न के पास पद्मराग, लालरत्न, जुड़पुष्प आदि का संयोग होने पर स्फटिकरत्न उसी प्रकार का रंग, रूप, आकार को धारण करता है। उसी प्रकार सूर्य, चंद्र के किरणों का स्पर्श होने पर उस प्रकार के प्रतिबिम्ब को अपने स्वरूप में धारण करता है तथा वैश्वानल तथा जलकांत रत्न के संपर्क से उस स्वरूप का भान कराता है। अर्थात् लालपुष्प के संपर्क में लालस्वरूप को कालापुष्प के संयोग में काले स्वरूप को, पीला पुष्प के संपर्क में पीले स्वरूप को प्राप्त हुआ अपने को जिस प्रकार बताता है उसी प्रकार बुद्धि भी आत्मपुरुष के संपर्क में रहकर स्वयं चेतन रूप ज्ञात करवाती है, साथ-साथ उस बुद्धिरूप मन इन्द्रिय के संयोगद्वारा बाह्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि विषयों के संयोग संबंध से विषयों का भोग करती हुई ‘मैं आत्मा हूँ’ उन-उन सभी विषयों की ग्राहक हूँ, ऐसा अभिमान धारण करती है, उससे पारमार्थिक रूप से आत्मा निर्विकारी होने पर भी बुद्धि में पतित अन्य प्रतिबिम्ब के साथ आत्मा बिंबित बना हुआ उपाधि रूप में एकत्वभाव को प्राप्त करता है। वस्तुतः आत्मा-बुद्धि, मन और महत् तत्त्वरूप प्रकृति से सर्वथा भिन्न होने से अविकारी पुष्कर पुष्प के समान निर्लेप ही है। ऐसा सांख्य दर्शन का मानना है।^५

वैशेषिक मत का मानना है कि आत्मा-जीव यह अमूर्त तथा व्यापक होकर भी अनेक है। उनका यह स्पष्ट कथन है कि - आत्मा-जीवोऽनेकोनित्योऽमूर्ता विभुर्द्रव्यं च।^६

मीमांसक में उत्तरमीमांसावादी वेदान्ती मात्र अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। उनका कथन है ‘सर्वमेतदेवं

ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्मरूप है। अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इस अद्वैत को युक्तियों से सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते हैं। उनका कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों के शरीर में भासमान होता है। कहा भी है 'एक ही भूतात्मा सिद्ध ब्रह्म प्रत्येक भूत प्राणी आदि में रम रहा है। एक रूप से तथा अनेक रूप से जल में चन्द्रमा की तरह चमचमाता है।' जो कुछ हो चुका है तथा जो कुछ होनेवाला है वह सब ब्रह्म ही है।^{१०}

लोक व्यवहार में आत्मवाद आस्थेय है। परंतु दार्शनिक दृष्टिकोणों से चर्चित भी है। इस आत्मवाद चर्चा में बौद्धदर्शन उभयपक्षीय वातावरण से कुछ विसंगत जैसा बन जाता है। एक तरफ आत्मवाद के विषय में सर्वथा मौन है, जबकि स्वयं तथागत बुद्ध एक प्रसंग में मुखर नजर आते हैं। उन्होंने आत्मा के कर्म-विपाक का फल भी स्वीकारा है। जो कि पाद विद्ध कंटक के उदाहरण में स्पष्ट झलकता है। अतः बौद्ध दर्शन में आत्मवाद अमान्य नहीं बन सकता।

चार्वाकों ने भी आत्मवाद को सर्वथा दूर रखा, लेकिन इसको चर्चित अवश्य बनाया है, पर स्वीकृत नहीं होने दिया।

अन्य दर्शनों में आत्मवाद पर अपूर्व आस्था नजर आई है। इसलिए भारतीय दर्शन में आत्मवाद मूर्धन्य रहा है।

ऐतिहासिक तथ्यों से आत्मवाद का विवेचन विविध रूप से जीव रूप में, ब्रह्म रूप में, चैतन्य रूप में, पुरुषरूप में परिगणित हुआ है। लेकिन आचार्य हरिभद्र महामना बनकर शास्त्रवार्ता समुच्चय में आत्मा पर अपना चिन्तन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।

संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥^६

जो ज्ञानावरण आदि विविध कर्मों को करता है तथा उन कर्मों का फलभोग करता है, एवं अपने कर्मों के अनुसार नरक आदि गतियों में जाता है और अपने कर्मों का ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य द्वारा नष्ट करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है, निश्चितरूप से वही आत्मा है। जो ऐसा न हो, किसी अन्य प्रकार का है, वह आत्मा नहीं हो सकता, जैसे वेदांती और सांख्य का कूटस्थ तथा नैयायिक वैशेषिक का विभु या अनात्मवादियों का देह, प्राण, मन आदि। किसी भी अनित्य पदार्थ को आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा के कर्तृत्व आदि उक्त लक्षण अनित्य पदार्थ में उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि जो कार्य के समय स्वयं नष्ट हो जायेगा वह कार्य का कारण नहीं हो सकता।

आत्मा का स्वरूप - लोकतत्त्व निर्णय में अन्य दर्शन के आत्मवादियों के मत में आत्मा के स्वरूप को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। जैसे कि - शास्त्र विद्यमान हो और उपदेशकों का संयोग भी विद्यमान हो फिर भी जो मनुष्य आत्मा को नहीं पहचानता है वे मनुष्य वास्तव में स्वयं के आत्मा से स्वयं ही घायल बने हुए के समान हैं। अर्थात् आत्मा के स्वरूप को ही नाश कर दिया है।

आत्मवादियों का यह प्राक्कथन है कि आत्मा में ही सभी देवों का निवास स्थान है, आत्मा स्वयं देवों से अधिष्ठित है साथ ही सम्पूर्ण जगत आत्मा में प्रतिष्ठित है तथा देहधारी प्राणियों के कर्म की जनक भी आत्मा ही है। अर्थात् सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा के सिवाय कुछ भी नहीं है।

आत्मा ही धाता और सुख-दुःख का विधाता भी आत्मा है, स्वर्ग तथा नरक भी आत्मा है, विशेष क्या कहे यह सम्पूर्ण जगत वह आत्मा ही है।^९

इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल आर्द्र नहीं बना सकता और हवा सुखा नहीं सकता। अतः यह आत्मा अछिद्य, अभेद्य, उपनाम रहित, नित्य निरंतर ज्ञान के द्वारा सभी पदार्थों में गति करनेवाला स्थिर, अचल और सनातन शाश्वत कहलाता है। यह आत्मा ही अक्षर पंचभूत रूप संप्रदायरूप, प्राणरूप, परब्रह्मरूप, हंस और पुरुष कहलाता है। इसलिए देखनेवाला, सुननेवाला, विचारकरनेवाला, कर्ता, भोक्ता और वक्ता आत्मा है। अन्य श्रेष्ठ कोई नहीं है। आत्मा सर्वश्रेष्ठ है।^{१०}

शास्त्रवार्ता समुच्चय में सांख्यदर्शन वाले आत्मा को व्यापार शून्य बताते हैं। उनका मत है कि पूरे जगत में कहीं भी आत्मा के व्यापार से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि आत्मा में कोई व्यापार ही नहीं होता है और जब उसमें कोई व्यापार ही होता तो उसका किसी वस्तु का जनक होना किसी भी प्रकार संभव नहीं हो सकता, क्योंकि किसी कार्य का जनन करने के लिए कारण को कुछ व्यापार करना पड़ता है। अतः जो किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकता वह किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता। इसीलिए सांख्य सिद्धान्त में पुरुष को अकारण माना है।^{११}

आत्मा के प्रकार - आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में मोक्ष मार्ग के पाँच श्रेष्ठ अंग बताये हैं। उसमें सर्व प्रथम अध्यात्म है। इस अध्यात्म योग के अन्तर्गत ही आत्मा के तीन प्रकार अवस्था के भेद से बताये हैं।

(१) बाह्यात्मा (२) अंतरात्मा (३) परमात्मा

(१) बाह्यात्मा - बाह्य अर्थात् पाँच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से उस प्रकार के क्षयोपशम से होने वाला विषय का बोध। उस बोध से जीवात्मा शारीरिक भोग के लिए पापारंभ करता हुआ देव, गुरु, धर्म, नीति, परभव आदि नहीं मानता। वर्तमान काल में भोग के लिए बहुत आसक्ति धारण करता है। कहा भी है कि -

स्त्री धन भाई भगिनि, पुत्र पुत्रिओ कुटुंब परिवार के तेना संगे राचतो

मोहे मुंझायो हो दुःख पामे अपार के, जिनवाणी चित्त आणीए।

देहने मारो मानतो भेद समझे नहि, तेह अजाण के बहिरात्मा ते जाणवो।

भेद पहेलो हो छंडो चतुर सुजान के जिनवाणी चित्त आणीए।

जब तक ऐसा बाह्यात्म भाव होता है तब तक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा अशुभ योग में जीव प्रवृत्ति करता है, ऐसा स्वभाववाला बहिरात्मा जानना।

(२) अंतरात्मा - जब अपूर्व प्रवृत्तिरूप वैराग्यमय परिणाम होते हैं तब अपूर्वकरण रूप परिणाम से ग्रंथी

भेद करके सम्यक्त्व रूप परिणाम पाकर सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना अप्रमत्त भाव से करते गुण श्रेणि में चढ़ते मोहनीय कर्म को नाश करने तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अंतरायरूप घाती कर्मों को घात करने जो प्रवृत्ति होती है वैसी आत्मा की अवस्था को अंतरात्मा कहा जाता है।

(३) परमात्मा - घाती कर्मों का नाश होने से सर्वज्ञता प्राप्त होती है और उसके द्वारा अंत में मोक्षपद प्राप्त हुए आत्मा को परमात्म भावदशा प्राप्त होती है और वही परमात्मा कहलाती है।^{१३}

आत्मा की अमरता - वास्तव में पुनर्जन्म सिद्धान्त को माननेवाला ही आत्मवादी है। जन्म-मरण आत्मा का परिवर्तनशील अर्थात् पर्यायवाला पक्ष है और जन्म-मरण की श्रृंखला के बीच उसकी नित्यता का बना रहना आत्मा का नित्यत्व पक्ष है। पर्याय बदलते रहने पर भी आत्मा नहीं बदलती है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से सदैव युक्त होता है।

द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा की नित्यता एवं पर्याय की अपेक्षा से पुनर्जन्म दोनों को प्रमाणित कर दिया है।

जो आत्मा को परलोकगामी नहीं मानते है, उनके सामने आचार्य हरिभद्रसूरि ने सप्रमाण युक्तियाँ देकर आत्मा की परलोकगामिता सिद्ध की है।

संतस्स नत्थि णासो, एगंतेण ण यावि उप्पातो।

अत्थि असंतस्स तओ, एसो परलोगगामि व्व (त्ति) ॥^{१४}

सत् वस्तु का एकान्त से नाश नहीं होता है और एकान्त से असत् का उत्पाद भी नहीं होता, अतः आत्मा परलोकगामी सिद्ध होता है।

एवं चैतन्यवानात्मा, सिद्ध सततभावतः।

परलोक्यपि विज्ञेयो, युक्त मार्गानुसारिभिः ॥^{१५}

उक्त युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का उपादान शरीर से भिन्न है, और वही आत्मा है। सतत विद्यमान होने से अर्थात् अविनाशी होने से वह परलोकगामी भी होता है। उसकी परलोकगामिता युक्तियों से विभूषित आगमशास्त्रों से अवगत होती है।

अर्थात् किसी नवोत्पन्न शरीर में जो धर्म सर्वतः प्रथम उपलक्षित होते है वे उस शरीर के निकटतम पूर्ववर्ति शरीर के धर्मों से ही उत्पन्न होते है।

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान जीवन से पूर्व और वर्तमान जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति ही आत्मवाद है। अर्थात् आत्मा की अमरता का सिद्धान्त है। इसके बिना कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म की सम्यक् रूप से व्याख्या करना सम्भव नहीं है। क्योंकि पुनर्जन्म सिद्धान्त का मूल यही है कि जो जैसा कर्म करता है वैसी ही योनि या जन्म प्राप्त करता है। गीता भी आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म स्वीकार करती है। न केवल भारतीय विचारक अपितु पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो भी कहता है कि-

The Soul always weaves her garment a new. The Soul has a natural strength which will hold out and be born many times.

इस प्रकार आत्मा की अमरता का सिद्धान्त अनेक विद्वान् स्वीकारते हैं क्योंकि इसके बिना जातिस्मरण, कर्मबन्ध, मोक्ष आदि कुछ भी घटेगा नहीं। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी सुन्दर युक्तियों से इसको सुदृढ बनाने का अपूर्व प्रयत्न किया है।

योग के सन्दर्भ में - आत्मा अवबोध को उच्चतम उपयुक्त बनाने में योग की अपेक्षा रखता है। इसीलिए योग शब्द कई भावों से भव्य है, जिससे योग्यता अत्युन्नत झलकती हो, चमकती हो और चेहरे पर दिव्यता दर्शाती हो उसको भी योग साधना के नाम से पुकारते हैं। जहाँ निर्विकारता निश्चल होकर निर्विघ्न रहती है, वहाँ योग की योग्यता बसी हुई मिलती है।

योग में दार्शनिकता भी है, दूरदर्शिता भी है और आत्मतत्त्व की स्पर्शिता भी है। जहाँ सुबोध स्पर्श करता हुआ स्वयं में प्रकाशवान् बन प्रकाशित हो जाता है, वहाँ योग अपने आप में आत्म निर्भर रहता हुआ एक अलौकिक तत्त्व का प्रकाश फैलाता है। वैसे योग विषयक कुछ नियम निर्धारित हुए, ग्रन्थ सर्जित हुए, योग ज्ञान की गुण गरिमा चर्चित बनी, कहीं अर्चित हुई। और कहीं-कहीं आचरित होकर अपने आप में योग की संज्ञा धारण करती गई।

अन्य दर्शनों में भी योग को सम्मान मिला है। स्थान मिला है। जैन दर्शन में भी योग की भूमिका पर अपना आत्म अभ्युदय उल्लिखित किया है। इसलिए योग हमारी संस्कृति का एक मूलाधार विषय बनकर साहित्य में स्थान पाया है।

आचार्य हरिभद्र भी योगविद् बनकर योगदर्शन के विवेचनकार विद्वान् हुए हैं। उनके स्वयं के योग-विंशिका, योगशतक, योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु आदि ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, क्योंकि ज्ञाता ही ज्ञेय को ज्ञापित करता है और उसकी ज्ञेयता के गौरव का उदाहरण देती ग्रन्थ रूप में गुम्फित हो जाती है, ऐसी ज्ञान की ग्रन्थमालाएँ अन्य दार्शनिकों ने भी गुंथी हैं; जिसमें महर्षि पतञ्जलि को प्रमुखता मिली है। महर्षि व्यास ने भी अनेक प्रसङ्गों में योग माहात्म्य और महत्त्व प्रदर्शित कर प्रशंसित बनाया है।

योग के विषय को परिचित कराने में आचार्य हरिभद्र को विशेष योगदान मिला है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में अन्यदर्शनकारों सम्बन्धी मान्यता भी व्यक्त की है। जो हमें उनके ग्रन्थों में स्थान स्थान पर मिलती है। जैसे कि-

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अध्यात्म भावना आदि योग के पाँच भेद बताये हैं। उन्हीं को अन्यदर्शनकारों ने भिन्न-भिन्न नामों से उल्लिखित किये हैं।

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं, सानुबन्धस्तथापरः।

सास्रवोऽनास्रवश्चेति, संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥^{१५}

तात्त्विकयोग, अतात्त्विकयोग, सानुबंधयोग, निरनुबंधयोग, सास्रवयोग, अनास्रवयोग इस प्रकार अन्यदर्शनकार संज्ञाभेद से योग को भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं।

योग का अधिकारी - श्रीमान् गोपेन्द्र योगीराज कहते हैं कि योगमार्ग में कौन प्रवेश कर सकता है,

क्योंकि सभी आत्मा को योग-प्रवेश पाना शक्य नहीं है। अतः जब सर्वथा पुरुष का प्रकृति के अधिकार से दूर नहीं होता, तब तक पुरुष को यथार्थ तत्त्वमार्ग में प्रवेश करने की इच्छा जागृत नहीं है। यह जैन मत की पुष्टि में ही उल्लेख किया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी निश्चय नय से सर्व विरति तथा देशविरति वाले आत्मा को ही योग के अधिकारी माने हैं, अपुनर्बन्धक, सकृद्बन्धक, द्विर्बन्धक को तो व्यवहार से माना है। तथा मार्गानुसारी में भी योग का बीज तो माना है। यह बात श्रीमान् गोपेन्द्र तथा अन्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

एवं लक्षणयुक्तस्य, प्रारम्भादेव चापरैः।

योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥^{६६}

पूर्व कथित अवग्रह, इहा, अपाय, धारणा अर्थात् यह वस्तु इस प्रकार कैसे संभव हो सकती है। वैसे तर्क बल से योग्य-अयोग्य का विचार जिस जीवात्मा को होता है, वह विचार युक्त लक्षण गुण से संयुक्त जो होता है वह ईहा कहलाता है। उस जीवात्मा को पूर्वसेवा, देवगुरु भक्ति, तप जप व्रतपालन आदि प्रारंभ से ही होते हैं। उस जीवात्मा को कर्ममल का जितने अंश में नाश होता है उतने अंश में सम्यग्मार्गानुसारीत्व होता है, और उतने अंश में मोक्ष मार्ग प्रवृत्त होता है। ऐसा योगशास्त्र के रचनाकार योगी श्रीमान् गोपेन्द्र भगवान तथा अन्य विद्वान् भी उनका कथन स्वीकार करते हैं।

योग की प्रियता - विद्वान् से लेकर आबालगोपाल तक सभी सामान्य लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि इस दुःषमकाल में भी योग की सिद्धि जिसको प्राप्त हुई है, उनका योगफल का लाभ रूप परम शांत स्वरूप दिखाई देता है। जैसे कि महायोगी आनंदघनजी, चिदानंदजी, देवचंद्रजी, यशोविजयजी आदि योगसिद्ध थे। उन्होंने जो शांति एवं समता की अनुभूति की है वैसी शांति करोडपति, अरबपति, राज, महाराजा भी अनुभव नहीं कर सकते। जब पंचम आरे में ऐसे योगी परम आनंद का अनुभव करते हैं, उससे यह समझना चाहिए कि चतुर्थ तृतीय आरे में तो परमात्मा ऋषभदेव के शासन में तो योग की साफल्यता सर्वथा सिद्ध है। तथा उस समय में उनके योग का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता था। जैसे कि - विष्णुकुमार, मुनिराज योगबल धर्मद्वेषी नमुचि को शिक्षा कर जैन संघ की योग्य समय में सेवा कर कर्म की महानिर्जरा की यह बात जगत के प्रत्येक व्यक्ति को मालूम है तथा अनार्य भी योग की सिद्धि का प्रभाव जानते हैं। तथा योग का जो विशेष फल आगम में बताया है, वह बात आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार मिलती है -

योगियों के शरीर का मेल मनुष्य के रोग का नाश करता है तथा योगियों के कफ, थूक, प्रसव स्वेद भी लोक की पीड़ा दूर करने में औषध है। उसीसे योगियों की उन शक्तियों को लब्धि नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार योग के अभ्यास से अनेक लब्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ऐसा आगम में, सिद्धान्त में आस पुरुषों ने समझाया है।

इसी कारण से भावयोगी में दिखता यह योग का माहात्म्य पृथिव्यादि भूत समुदाय में से मात्र उत्पन्न होता है यह तो बिल्कुल सिद्ध नहीं होता है, कारण कि यह माहात्म्य भूतों से उत्पन्न होता है ऐसा माने तो भूत

संघात से भिन्न स्वभाव करनेवाला कोई ज्ञात नहीं होने से तो जगत की विचित्रता जो दिखाई देती है वह कैसे सिद्ध होगी ? आत्मा, कर्म बन्धन, कर्म मुक्ति, संसार भ्रमण आदि परिणाम भूत से भिन्न आत्मा हो तो ही सिद्ध होती है। इसके द्वारा चार्वाक मत नष्ट हुआ।^{१७}

योग का माहात्म्य - आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के माहात्म्य का उल्लेख सुंदर भावों से किया। योग ही श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है, और योग ही उत्कृष्ट चिंतामणी है, योग ही सर्व धर्मों में प्रधान है, तथा योग अणिमादि सर्व सिद्धियों का स्थान है। योग जन्मबीज के लिए अग्नि समान है तथा जरा अवस्था के लिए जरा व्याधि समान है तथा दुःख का राज्यक्षमा है और मृत्यु का भी मृत्यु है। योग स्वरूप कवच जिन् आत्माओं ने धारण कर लिया उनके लिए कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्र भी निष्फल हो जाते हैं, अर्थात् योगी के चित्त को चंचल करने की शक्ति कामदेव के शस्त्रों में भी नहीं है।

निष्कर्ष रूप में तो आचार्य हरिभद्रसूरि ने यहाँ तक कह दिया कि 'योग' शब्द में इतनी महत्ता है कि जो विधिपूर्वक सुन लेता है, उच्चारण कर लेता है उसके सभी पाप कर्मों का क्षय हो जाता है।^{१८} आचार्य हरिभद्र ने चर्चित सभी योग सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

मोक्ष के सन्दर्भ में - जिस आत्मा में प्रेम स्थिर होता है, तो कभी भी वैराग्य संभव नहीं है। जब तक जीव रागवान् है, तब तक उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसे बौद्धों के सिद्धान्त को त्याग करना ही उचित है और उसको जलाञ्जली देना ठीक है ऐसा आचार्य हरिभद्र का मन्तव्य है।

आचार्य हरिभद्र का प्राक्कथन है कि - निरात्मदर्शन आत्मा के अत्यन्ताभाव को कहता है अथवा अनात्म के क्षणिकत्व को कहता है। ये दोनों बौद्ध दर्शन के विचार आत्म सिद्धि में सफल नहीं हैं। क्योंकि जो सर्वथा आत्मा का अभाव स्वीकार करते हो तो मुक्ति काम का संकल्प निरर्थक है।

यदि हम धर्मों की सत्ता विद्यमान देखते हैं तो धर्म की चिन्ता विचारणा करनी योग्य है। यही न्याय वार्ता हमारे दर्शन जगत में प्रसिद्ध है।

आचार्य हरिभद्र चुनौती रूप में बौद्ध दर्शन को ललकारते हैं। तुम्हारा यह नैरात्म दर्शन कब किसको हुआ ? इसका प्रतिपादक कौन ? ऐसा एकान्त-तुच्छ आत्मा का अभाव कैसे कर सकता है ?

ये सारी बातें बौद्ध दर्शन की कुमारी कन्या के पुत्र सुख की प्राप्ति तुल्य हैं।

योगबिन्दु में बौद्ध दर्शन सम्बन्धी मान्यता इस प्रकार मिलती है -

नैरात्मदर्शनादन्ये निबन्धनवियोगतः।

दोषग्रहणमिच्छन्ति, सर्वथा न्याययोगिनः ॥^{१९}

न्याय योगिराज कहते हैं कि उस आत्मा के निरात्म भाव दर्शन से मुक्तता होती है तथा दोषों के नाश होने से मुक्ति प्राप्त होती है। सर्वथा कर्म से मुक्त होते हैं।

'नैरात्मदर्शनात् मुक्तिः'

सर्वथा आत्मा का अभाव है। इस प्रकार का ज्ञान होने से मुक्ति प्राप्त होती है, कारण कि क्षण-क्षण में आत्मा नाश होने से क्षणिक ही है। उसमें भ्रान्ति से नित्यत्व दिखता होने से तृष्णा भोग की तीव्र इच्छाएँ होती है, उसीसे उस प्रकार का आत्म दर्शन दोष की परंपरा को बढ़ाते है। उसीसे श्रीमान् बुद्धदेव कहते है कि आत्मा नहीं है, मैं कुछ भी नहीं हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है। ऐसा निरात्म दर्शन होता है तब उसका नाश होता है। आत्म दर्शन के कारणों का जहाँ अभाव होता है, वहाँ दोषों का भी नाश ही होता है। ऐसा बौद्ध पण्डित प्रवर मानते है, तथा न्यायरूप प्रमाणों से युक्ति के बल धारण न्यायवादी सभी दोष की हानि होने से आत्मा मुक्त होती है ऐसा कहते है परन्तु ये विद्वान् पण्डित साँख्य दर्शन के वादी के समान केवल शास्त्रों के प्रमाण का शरण नहीं करते।

इस निरात्म दर्शन का जिसमें अनुभव होता है वह समाधिराज है ऐसा शास्त्रों में कहा हुआ है उसीसे वही तत्त्वदर्शन है और इस आग्रहरूप मूर्च्छा का नाश करता है, उसीसे समाधिराज श्रेष्ठ अमृत है।

जन्म-जन्म की उत्पत्ति का कारण जो तृष्णा है वह आत्म दर्शन से दृढ होती है। आत्म दर्शन के अभाव में तृष्णा का अभाव होने से मुक्ति प्राप्त होती है।

आत्मा को मैं हूँ ऐसे दर्शन का अभाव होने से किसी भी स्थान में स्नेह नहीं रहता है। उससे प्रेम का अभाव होने सुख के लिए इतः ततः भ्रमण नहीं करता। उसीसे शून्यरूप में स्थिर होता है। उससे वह मुक्त हो जाता है।^{२०} ये सभी बातें बौद्ध दर्शन की कुमारी कन्या के पुत्र सुख की प्राप्ति तुल्य है।

नैयायिकों का मानना है कि शरीर, इन्द्रिय, सुख, दुःख आदि का उच्छेद करके आत्मस्वरूप में स्थित होना मुक्ति है। न्यायसार में आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति करके नित्य अनुभव में आनेवाले विशिष्ट सुख की प्राप्ति को भी मुक्ति माना है।^{२१}

साँख्य दर्शनवाले कहते है कि - माठरवृत्ति में मुक्ति के विषय में ऐसा वर्णन मिलता है कि - खूब हँसो, मजे से पीओ, आनन्द करो, खूब खाओ, खूब मौज करो, हमेशा रोज-बरोज इच्छानुसार भोगों को भोगो। इस तरह जो अपने स्वास्थ्य के अनुकूल हो वह बेशक होकर करो, इतना सब करके भी यदि तुम कपिलमत को अच्छी तरह समझ लोगे तो विश्वास रखो कि तुम्हारी मुक्ति समीप है। तुम शीघ्र ही कपिल मत के परिज्ञानमात्र से सब कुछ मजा-मौज करते हुए भी मुक्त हो जाओगे।

दूसरे शास्त्रों में भी कहा है - साँख्य पच्चीस तत्त्वों को यथावत् जाननेवाला चाहे जिस आश्रम में रहे, वह चाहे शिखा रखे, मुंड मुंडावे या जटा धारण करे उसकी मुक्ति निश्चित है। साँख्य तत्त्वों के ज्ञाता बिना मोक्ष प्राप्ति करना संदेह है।^{२२}

प्रकृतिवियोग मोक्ष पुरुषस्य बतैतदन्तरज्ञानात्।^{२३}

प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है, यह प्रकृति तथा पुरुष में भेद विज्ञानरूप तत्त्वज्ञान से होता है।

प्रकृति और पुरुष में भेदज्ञान होने से जो प्रकृति का वियोग होता है वही मोक्ष है। जैसे - यह पुरुष वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप है। प्रकृति से अपने स्वरूप को भिन्न न समझने के कारण मोह से संसार में परिभ्रमण

करता रहता है। इसलिए सुख दुःख मोह स्वरूप वाली प्रकृति को जब तक आत्मा से भिन्न नहीं समझता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृति को आत्मा से भिन्न रूप में देखने पर तो प्रकृति की प्रवृत्ति अपने आप में रुक जाती है और प्रकृति का व्यापार रुक जाने पर पुरुष का अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है।

वैशेषिक मत में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न भावना, संस्कार और द्वेष इन आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यंत उच्छेद होना मोक्ष है।^{१४}

चार्वाक दर्शन तो मोक्ष को स्वीकारता ही नहीं, क्योंकि जब वह आत्मा, पुण्य, पाप कुछ भी नहीं स्वीकारता तो मोक्ष कैसे मानेगा। वह तो मृत्यु को ही मोक्ष मानता है। यह चार्वाक सिद्धान्त है - 'भरणमेवापवर्गः'

मोक्ष का अर्थ - मोक्ष अर्थात् मुक्त होना। मुक्ति दार्शनिकों ने स्वीकार की है। इस मोक्ष को जैन दर्शनकार सर्व कर्मों के क्षय से स्वीकृत करते हैं। जैसा कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु में कहा है -

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्ति-भोगसंक्लेशवर्जिता।

भवाभिनन्दिनामस्यां, द्वेषोऽज्ञाननिबन्धना ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्य कर्म एवं वेदनीय कर्म - इन आठों कर्मों के सम्पूर्ण दलिकों का आत्मा से अलग होना ही मुक्ति है। अर्थात् मुक्ति भोग और संक्लेश रहित होती है। जो भवाभिनन्दी जीव है, उनको अज्ञान, मिथ्यात्व आदि होने के कारण मोक्ष पर द्वेष होता है।

लोक तथा लौकिक शास्त्रों में मोहित बने हुए लोगों के अपलाप संत पुरुषों को तो सुनने भी अच्छे नहीं लगते। अर्थात् आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि हमने मूर्ख लोगों के मुख में से निकलते ऐसे अयोग्य प्रलाप सुने हैं कि जो सत्य पारमार्थिक मुक्ति की सिद्धि करनेवाले होते हैं उन वचनों का अत्यंत द्वेष करनेवाले अर्थात् तिरस्कार पूर्वक खंडन करनेवाले होते हैं। ऐसे वचन आत्मा का कल्याण करनेवाले नहीं होने से संत पुरुषों को जरा भी कर्णप्रिय नहीं लगते। उनका कथन इस प्रकार है -

जइ तत्थ नत्थि सीमंतिणीओ मणहर पियंगुवन्नाओ।

ता रे सिद्धन्तिय ! बन्धनं खु मोकखो न सो मोकखो ॥

यदि तत्र नास्ति सिमन्तनीका मनोहर प्रियंगुवर्णी।

तस्मात् रे सिद्धान्तिक ! बन्धनं मोक्षो न स मोक्षः ॥

मोक्ष में सुंदर प्रियंगु वर्ण को धारण करने वाली स्त्रियों के विषय भोग नहीं मिलने से वह सभी कर्म का अभाव रूप है। वह तात्त्विक रीति से मोक्ष नहीं है। लेकिन एक जैन सिद्धान्त के द्वारा स्वीकारा गया वह मोक्ष वास्तविक बंधनवाला कारागृह ही है। ऐसा विषयभोग में आसक्त बने गृध्र जैसी प्रकृतिवाले मूर्ख पंडित मानते हैं और उनके द्वारा रचित शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसी बात की पुष्टि में निम्नोक्त श्लोक दिया -

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्ट्वमाभिवाञ्छितम्।

न त्वेवाविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम ॥

सुंदरं ऐसे वृन्दावन में शियाल का जन्म लेने की इच्छा रखना श्रेष्ठ है। लेकिन जहाँ किसी प्रकार के विषयों का साधन नहीं वैसे मोक्ष की इच्छा हे गौतम ! कदापि नहीं करनी चाहिए। ऐसे महामोह से मोहित बने अकल्याणमय जीवनवाले पुरुष मोक्ष सम्बन्धी तत्त्वों पर द्वेष धारण करते हैं, वही उनकी संसार वृद्धि का कारण है। लेकिन जिस भव्यात्माओं को मोक्षादिक तत्त्व के प्रति द्वेष नहीं है वे पुरुष धन्य है। उसीसे भव-परंपरा का बीज मोह का त्याग करके कल्याण के सहभागी अवश्य बनते हैं। ऐसा शास्त्रकार भगवंत कहते हैं।

मोक्ष के उपाय - सद्ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य ये ही मुक्ति के उपाय हैं। ऐसा तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है। उसमें प्रवृत्ति करनेवाले भव्यात्माओं की आत्मगुण के नाश के लिए कोई चेष्टा नहीं होती है।

जिस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना का सर्वोत्कृष्ट फल मोक्ष है। वैसे ही कर्म मल महान् अनर्थकारी होने से उसका सर्वथा नाश करना वही मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय है। मुक्ति के प्रति द्वेष का अभाव वही मोक्ष प्राप्ति का तात्त्विक हेतु है।²⁴

मोक्ष के हेतु अन्य पंडितों के अभिप्राय - मुक्ति प्राप्त हो वैसे शुभ अथवा शुद्ध अध्यवसाय में जितनी मात्रा में विशेष प्रकार की स्थिरता होती है और उस ध्येय को सम्यक् प्रकार से लक्ष्य में रखकर क्रिया अनुष्ठान किये जाते हैं, वे मोक्ष के हेतु बनते हैं, ऐसा अन्य मतवाले भी मानते हैं।

विशेष बात करते हुए श्रीमान् कहते हैं कि कुछ अन्य मतवादी मुक्ति की प्राप्ति में ईश्वर का अनुग्रह मानते हैं तथा प्रधान प्रकृति के परिणाम को हेतु मानते हैं। इस प्रकार तत्त्व का वाद करनेवाले मुक्ति में अनेक भिन्न-भिन्न हेतुओं की कल्पना करते हैं।²⁵

मुक्त अवस्था में ज्ञान का सद्भाव - मुक्त अवस्था में चैतन्य परम शुद्ध होने से आत्मा को सभी पदार्थों का ज्ञान सिद्ध ही है, लेकिन सांख्य तंत्र में जो निषेध किया गया है वह प्राकृत इन्द्रिय ज्ञानवाले अज्ञानियों की अपेक्षा से कहा है। आत्मदर्शन से मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा सांख्य शास्त्र में न्याय से सिद्ध होता है। उससे मुक्त अवस्था में भी ज्ञान का सद्भाव शास्त्र की युक्ति से सिद्ध ही है।²⁶

मोक्ष में सुख है या नहीं - 'स्वर्ग में सुख होता है' - इस विषय में तो मतभेद नहीं है पर 'मोक्ष में भी सुख होता है' - इस बात में कोई प्रमाण न होने से मोक्ष सुख का अस्तित्व अमान्य है। इसका समाधान आचार्य हरिभद्रसूरि रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय में किया गया - मोक्षसुख के लिए प्रेक्षावान् विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति का होना निर्विवाद है, परन्तु मोक्ष में सुख का अस्तित्व न मानने पर यह प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति सुख प्राप्ति के लिए ही हुआ करती है। अतः मोक्ष में यदि सुख प्राप्ति होने की आशा नहीं होगी तो उसके लिए कोई भी विवेकी पुरुष प्रयत्नशील न होगा, इसलिए मोक्ष में सुख का अभाव होने पर उसके लिए विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति ही 'मोक्ष में सुख होता है' इस बात में प्राण है।²⁶

मोक्ष हमारा चरम लक्ष्य का नाम है। जहाँ से फिर आवागमन नहीं होता है। इसे सिद्धि नाम से भी

सम्बोधित किया गया है। भगवद्गीता में इसके लिए सम् उपसर्ग के साथ सिद्धि शब्द संसिद्धिशब्द का प्रयोग हुआ है। यथा-कर्कणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । अर्थात् कर्तव्यानुष्ठान से भी मोक्ष बताया है। किन्तु गीता में अन्यत्र 'ज्ञानान्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः' कहकर व 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्यमेति नान्यः विद्यतेऽयनाय' इस स्मृतिवाक्य से ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष बताया है। जैन शास्त्र 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' तथा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' से सम्यग्दर्शनमूलक ज्ञान एवं चारित्र क्रिया से ही मोक्ष बताया है जो ज्ञान-क्रिया शास्त्रवार्त्ता आदि ग्रन्थ से तत्त्वनिश्चय द्वारा सम्पन्न द्वेषशमन से सुलभ होते हैं। अतः यहाँ कहा - 'द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः।'^{३९}

मोक्ष शब्द को निर्वाण पद से सम्बोधित किया है। यह मोक्ष मानवीय जीवन से सुलभ है। देव जीवन के लिए इसे दुर्लभ कहा है, पर यह सर्व सुलभ नहीं है, क्योंकि सभी के लिए ममत्व रहित रहना, मोहशून्य बनना अशक्य है, फिर भी इसकी सत्यता का आश्वासन आप्त पुरुषों ने उच्चारित किया है।

यह आप्तवाणी से ही समझ में आता है, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य नहीं है। अनुमान से अनुसंधेय रहा है। फिर भी दर्शन जगत बार-बार मोक्ष शब्द को दोहराता आया है। मोक्षगत जीव मोक्ष का परिचय नहीं देते हैं। ये तो शास्त्रवचनों से ही बोधित रहा है। अतः मोक्ष मान्य विषय रहा है मतिमानों का। इसमें इतिहास की साक्षी भी है। शास्त्र की सन्मति भी है। समाज की अनुमति भी है। अतः मोक्ष रुढ़ भी है, रहस्यमय भी है, और परोक्ष भी है। प्रमाणनयों से इसका प्रस्तुतिकरण होता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं - मोक्षतत्त्व एक श्रद्धागम्य तत्त्व है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। उसे उपादेय रूप में स्वीकारा गया है। प्रत्येक जीवात्मा अत्यंत दुःख से निवृत्त होकर अत्यंत सुख की चाहना करता है। और यदि दुःख निवृत्ति मूलक सुख यदि कहीं हो तो वह मात्र मोक्ष में स्थित सिद्धात्माओं को संसार का कितना श्रेष्ठ कोटि का सुख क्यों न हो ? लेकिन वह दुःख मिश्रित ही होता है। जिससे जन्म-मरण की परंपरा चालू रहती है और वही सबसे बड़ा दुःख है। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने मोक्ष में ही अनुपम सुख है ऐसा धर्मसंग्रहणी में स्पष्ट रूप से कहा है-

तीनों लोक में स्थित भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन भावों के स्वभाव को प्रत्यक्ष जाननेवाले सर्वज्ञ भी सिद्धों के सुखों का वर्णन करने में शक्तिमान नहीं है, क्योंकि उसके लिए कोई उपमा जगत में नहीं मिलती जिससे उस सुख के साथ तुलना कर सके ऐसा अनंत सुख सिद्धों को है। यह बात अनुभव, युक्ति हेतु से घटती है और जिनेश्वर के वचन से सिद्ध है, श्रद्धेय है।^{४०}

कर्म के सन्दर्भ में - अपने चारों ओर निरीक्षण करने पर हमें दिखाई देता है कि विश्व में कुछ लोग बड़े-बड़े भूमि प्रदेशों के राज सिंहासन पर सुखासीन हैं, तो अन्य कुछ लोगों को पेटभर अन्न प्राप्त करने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी है। दुनिया में ये विषमताएँ क्यों दिखाई देती हैं। इन विरोध विषमताओं का मूलभूत कारण क्या होना चाहिए कि जो इसकी नींव है।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने कर्म को मान्यता प्रदान की है। संक्षेप में कुछ विरोध विषमताओं को छोड़कर सभी दर्शन कर्म-सिद्धान्त को स्वीकृत करते हैं।

महर्षि व्यास ने गीता उपनिषद् में कहा है - 'किं कर्मः किं अकर्मैति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

महर्षि व्यास के ये उद्गार कर्म की कसौटी के हैं। कर्म किसे कहना, अकर्म किसे कहना इस विषय में कविवर भी मुग्ध हैं। इसलिए मुग्धता का अपर नाम कर्म है। जो जीव को जड़ावस्था में जकड़ देता है।

वैदिक दर्शन कर्म के विषय में बहुत ही सुंदर एक परिभाषा देता है। 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि।'³²

ऐसी एक मान्यता है कि कर्म का उदय ब्रह्म से ही सम्भवित है।

कर्म जीवों के भावों को उत्पन्न करनेवाला विसर्ग नाम से संज्ञित हुआ है।³² अतः यह मान लिया जाता है कि कर्म त्याज्य भी बनता है, ग्राह्य भी होता है और ज्ञेय भी माना जाता है। जो ज्ञेय बनता है वही अभिधेय संज्ञा का धारक होता है। इसलिए कर्म-मीमांसा अनादि काल से आलोचनीय रही है। अंगीकार्य भी हुई है, क्योंकि कर्म बिना जीवन शून्य जैसा प्रतीत होता है। अतः कर्म को करते-करते सौ-सौ वर्षों तक जीवन जीने का अधिकार वैदिक महर्षियों ने मान्य किया है। उन्होंने तो यहाँ तक भी कह दिया है कि कर्म करने का जन्मजात अधिकार मनुष्य को मिला है। उस कर्म विपाक में तुम फल आकांक्षा रहित रहनेवाले बनो। केवल कर्म दायित्व पर अटल रहने की योग्यता तुम्हारे जीवन में शाश्वती रहे। इस प्रकार कर्म सम्बन्धी विचारणाएँ वैदिक दर्शन में उपलब्ध होती हैं।

बौद्ध दर्शन भी कर्म के प्रति अपेक्षित रहा है। उन्होंने भी कर्म-विपाक का सुन्दर सुखद विवरण अपने बौद्ध साहित्य में प्रसारित किया है। स्वयं बुद्ध ने भी कर्म फल की सत्यता को शिरोधार्य कर स्वीकृति दी है।

सांख्य दर्शन में भी कर्तृत्व भाव का समुल्लेख करते हुए निर्लिप्त रहने का निर्देश दिया है। जलकमलवत् जीवन जीवित रखते हुए कर्म करने का संकेत दिया है। कर्ता रहकर अकर्ता अपने आप में स्वीकार्य करना ऐसी सुंदर परिभाषा सांख्य दर्शन के सिवाय अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

पूर्व मीमांसाकार कर्म को ही महत्त्व देते हुए स्वर्ग काम की शुभेच्छा रखते हैं। अतः कर्म भारतीय दर्शन में एक अनुपम शैली से वर्णित मिलता है। भारतीय दर्शनवाद, आत्मवाद, परमात्मवाद और कर्मवाद को कोटि-कोटि वचनों से समलंकृत किया गया है।

कर्म का स्वरूप - बौद्ध मतानुसार विश्व के कार्य में कर्म ही कारणभूत है। जीव के पूर्व जन्म के अस्तित्व में किये गये पुण्य-पाप भाव ही वर्तमान की जीवदशा निश्चित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति आज जो सुख-दुःख का वेदन करता है वह उस-उस फल का कारण है। ऐसा स्वयं बौद्ध ने कहा है - पूर्वकृत कर्म के परिपाक से कर्म के फल की सुखादिरूप वेदना होती है। एक बार जब स्वयं बौद्ध भिक्षा के लिए जा रहे थे तब उनके पैर में एक कांटा गड़ गया। उस समय उन्होंने कहा था कि - 'हे भिक्षुओं आज से एकानवे कल्प में मैंने शक्ति छुरी से एक पुरुष का वध किया था उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैर में कांटा लगा है।'³³

कर्मवादि कहते हैं कि चेतन अपने अध्यवसायों से कर्म से बँधता है, उस कारण से आत्मा को संसार प्राप्त होता है और उन कर्म-बंध के अथवा संसार के अभाव से आत्मा परम पद को प्राप्त होता है। अतः आत्मा को कर्म से दीन दुःखी ऐसे स्वयं उद्धार करना और स्वयं को कर्म से दुःखी नहीं बनाना। कहा है कि - आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। अतः स्वयं का उद्धार करना या अधोगति करना स्वयं के हाथ में है। शास्त्रोक्त वचन है कि - जो मैंने पूर्व में वैसा सुख-दुःख सम्बन्धी कर्म नहीं किया तो अतितुष्ट बने हुए मित्र और अति क्रोधित बने हुए शत्रु मुझे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं बन सकते।

शुभाऽशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः।

स्वयमेवोपकुर्वन्ति दुःखानि च सुखानि च ॥

जीव शुभ अथवा अशुभ कर्म स्वयं ही करते हैं और उसीसे सुख-दुःख स्वयं भोगते हैं। वन में, रण में, शत्रु के समूह में, जल में, अग्नि में, महासमुद्र में अथवा पर्वत के शिखर पर स्थित जीव निद्राधीन, प्रमादी हो अथवा विषम स्थिति में हो तो भी पूर्व में किया हुआ पुण्य जीव का रक्षण करता है। किसी उपदेशक ने कहा- 'धन, गुण, विद्या, सदाचार, सुख तथा दुःख ये कुछ भी अपनी इच्छा से जीव को नहीं मिलते, उसी कारण से सारथी के वश से मैं यम की पालकी पर बैठकर दैव जिस मार्ग पर ले जाता है उस मार्ग में जाता है। अर्थात् कितना ही धन, गुण, विद्या, सदाचार, सुख, दुःख प्राप्त करो, परन्तु यह जीव पूर्वकृत कर्म के फल से बच नहीं सकता।

जैसे-जैसे पूर्वकृत कर्म का फल निधान में स्थित धन की भाँति प्राप्त होता है, वैसे-वैसे उन कर्म का यह फल है ऐसा सूचित करनेवाली भिन्न-भिन्न बुद्धि मानो हाथ में दीपक रखकर आर्य हो वैसी प्रवृत्त होती है। अर्थात् बुद्धि उसी प्रकार उत्पन्न होती है कि जीव को यह अमुक कर्म का फल ऐसा है यह स्पष्ट दिखाती है, कारण कि बुद्धि कर्म के अनुसार ही होती है।³² नैयायिक का कथन है कि कर्म अर्थात् पुण्य-पाप आत्मा के विशेष गुण है।

कर्ममल का स्वरूप - अत्युन्नत रोहणाचल पर्वत के शिखर से गिरना, विषयुक्त अन्न खाकर संतोष धारण करना, यह जैसे अनर्थ के लिए होते हैं वैसे ही कर्ममल भी आत्मा के लिए अनर्थकारी होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य के द्वारा कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करना चाहिए।³³

कर्म मूर्त्त अथवा अमूर्त्त - यह प्रधानरूप कर्म कि जिसे अपर दर्शनवादी भिन्न-भिन्न विशेषणों का उपचार करके एक दूसरे से अलग नाम देते हैं। जैसे कि - कुछ कर्म को मूर्त्त कहते हैं तो कुछ अमूर्त्त कहते हैं। यह स्वदर्शन का ही आग्रह है। फिर भी कर्म को संसार परिभ्रमण का कारण सभी दर्शनकार स्वीकारते हैं। उसमें जो भेद करते हैं वह विशेष प्रकार के ज्ञानाभाव के कारण ही, परन्तु बुद्धिमान को जिस प्रकार देवता विशेष के नामों में भेद होने पर भी अभेद दिखता है, उसी प्रकार कर्म विशेष में नामभेद होने पर भी संसार का हेतु कर्म वासना, पाश, प्रकृति विगरे में नाम भेद होने पर भी परमार्थ रूप से भेद नहीं होने से भेद मानना वह अवास्तविक है। क्योंकि कर्म मूर्त्त हो अथवा अमूर्त्त दोनों प्रकार के कर्म को दूर करना योग्य ही है। उसको दूर करके परम पद मोक्ष साधना करनी है।³⁴

निष्कर्ष रूप में आत्मा के साथ कर्म का अनादि काल का सम्बन्ध है और वह कर्म ही संसार परिभ्रमण का हेतु है। अतः कर्म क्षय के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रमाण - प्रत्येक दर्शन में प्रमाण के विषय में विशद विवरण मिलता है। क्योंकि प्रमेय की प्रामाणिकता के लिए प्रमाण अत्यंत उपादेय माना गया है। उसके बिना प्रमेय की सिद्धि संभव नहीं है, लेकिन प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी भिन्न मान्यताएँ होने के कारण प्रमाणों की संख्या में भी भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। आचार्य पुंगव श्री हरिभद्रसूरि ने अन्य दर्शन की विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख अपने दर्शन ग्रन्थों में किया-

(१) बौद्ध मत - अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इससे सौगत के मत से अविसंवादक ज्ञान ही प्रमाण की कोटि में आता है। जिस ज्ञान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं होती वह अविसंवादि नहीं हो सकता। जैसे कि केशोण्डुक ज्ञान।

स्वविषय का उपदर्शन कराने में दो ही प्रमाण सक्षम हैं, अतः बौद्ध दर्शन दो प्रमाण को ही मान्यता प्रदान करता है।

प्रमाणे द्वे च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने।

प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः ॥^{३५}

बौद्ध दर्शन में दो प्रमाण हैं, एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान। चूंकि सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकार का है, अतः प्रमाण दो ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। इससे यह सूचित होता है चार्वाक द्वारा निर्धारित प्रमाण प्रत्यक्षरूप एक साँख्या, नैयायिक आदि द्वारा मानी गयी प्रमाण की प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान रूप से तीन-चार आदि संख्याएँ इष्ट नहीं हैं। क्योंकि उनकी यह निश्चित धारणा है कि विसंवादि रहित सच्चा ज्ञान दो ही प्रकार का है। अतः प्रमाण भी दो ही हो सकते हैं। तथा विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दो ही प्रकार के हैं, इसलिए भी उन दो प्रकार के विषय को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकार का हो सकता है। बौद्ध के मत में क्षणिक परमाणु रूप विशेष स्वलक्षण तो प्रत्यक्ष का विषय होता है तथा बुद्धि प्रतिबिम्बित अन्यापोहात्मक सामान्य अनुमान का विषय होता है। इस तरह विषय की द्विधता से प्रमाण के द्वैविध्य का अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष सामान्य पदार्थ को तथा अनुमान स्वलक्षणरूप विशेष पदार्थ को विषय नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष से विषयभूत सभी अर्थ परोक्ष हैं, इस प्रकार विषयों के दो होने से उनका ग्राहक सम्यग्ज्ञान भी दो प्रकार का है। इनमें जो सम्यग्ज्ञान परोक्ष पदार्थ को विषय करता है, वह अनुमान में अन्तर्भूत होता है, क्योंकि वह अपने साध्यभूत पदार्थ से अविभाज्य रखनेवाले तथा नियतधर्मी में विद्यमान लिंग के द्वारा परोक्षार्थ का सामान्य रूप से अविशद ज्ञान करता है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं।

आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव आदि सभी का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण कर लेते हैं।

बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण - प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम्।^{३६}

कल्पनापोढ़ अर्थात् निर्विकल्पक तथा भ्रान्ति से रहित अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है।

प्रत्यक्ष अर्थात् जो इन्द्रियों के प्रतिगत आश्रित हो उसे प्रत्यक्ष कहते है। शब्दसंसर्गवाली प्रतीति को कल्पना कहते है। जो ज्ञान कल्पना रहित है, वह कल्पनापोढ़ अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञानों की प्रत्यक्षता का निरास हो जाता है।

प्रत्यक्ष चार प्रकार का है - (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष (२) मानसप्रत्यक्ष (३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (४) योगि-विज्ञान प्रत्यक्ष।

(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष - चक्षुरादि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले रूपादि पाँच बाह्य पदार्थों को विषय करनेवाले ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते है।

(२) मानस प्रत्यक्ष - इन्द्रिय ज्ञान के विषयभूत घटादि विषय के द्वितीय क्षण रूप सहकारी सहायता से इन्द्रियज्ञान रूप उपादान कारण जिस मनोविज्ञान को उत्पन्न करते है, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है।

(३) स्वसंवेदनज्ञान - चित्त अर्थात् केवल वस्तु को विषय करनेवाला ज्ञान तथा चैत अर्थात् विशेषों को ग्रहण करनेवाला ज्ञान सुख-दुःख उपेक्षारूप ज्ञान। समग्र चित्त और चैत के स्वरूप का संवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है।

(४) योगि प्रत्यक्ष - भूतार्थ वास्तविक क्षणिक निरात्मक आदि अर्थों की प्रकृष्ट भावना से योगिप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। प्रमाणसिद्ध पदार्थों की भावना-चित्त में बार-बार विचार जब प्रकृष्ट होता है तब उससे योगिज्ञान की समुत्पत्ति होती है।

अनुमान - पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीनों रूपवाले लिंग से होनेवाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है।

यह अनुमान दो प्रकार का होता है, स्वार्थ और परार्थ त्रिरूपलिंग को देखकर स्वयं लिंगी अर्थात् साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है। पर को साध्य का ज्ञान कराने के लिए त्रिरूप हेतु का कथन किया जाता है, तब उस हेतु से पर को होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है।

बौद्ध कार्य से कारण का अनुमान व्यभिचारी होने से नहीं मानते है। कारण के होने पर भी कभी कार्य नहीं देखा जाता। बौद्ध लोक जो इस को चखकर तत्समकालीन रूप का अनुमान तथा समग्र हेतु से कार्योपादका अनुमान मानते है।

नैयायिक मत - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्दिक (आगम) ये चार प्रकार के प्रमाण है। इनमें इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले, अव्यभिचारी, संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित व्यवसायात्मक-निश्चयात्मक तथा व्यपदेश यह रूप है, यह रस है, इत्यादि शब्द प्रयोगों से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। प्रत्यक्षपूर्वक उत्पन्न होनेवाला अनुमान ज्ञान पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से तीन प्रकार का है। अक्षपाद ने स्वयं न्यायसूत्र में कहा है कि 'इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला, अव्यपदेश्य,

अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है।

सन्निकर्ष - अर्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष अर्थात् समीपता, प्राप्ति, सम्बन्ध यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है।

(१) संयोग सन्निकर्ष (२) संयुक्त समवाय सन्निकर्ष (३) संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष (४) समवाय सन्निकर्ष (५) समवेत समवाय सन्निकर्ष (६) विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष।

(१) संयोग - चक्षुरादि इन्द्रियों का द्रव्य के साथ सन्निकर्ष होता है। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का तेजोद्रव्य रूप, रसनेन्द्रिय का जल द्रव्य रूप, घ्राणेन्द्रिय का पार्थिव तथा स्पर्शेन्द्रिय का वायु द्रव्य रूप इन द्रव्य रूप इन्द्रियों का द्रव्य के साथ संयोग संबंध होता है।

(२) संयुक्त समवाय - द्रव्य में रहनेवाले रूपादि गुणों के साथ संयोग सम्बन्ध होता है।

(३) संयुक्त समवेत समवाय - रूपादि में समवाय से रहनेवाले रूपत्वादि के साथ संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष है।

(४) समवाय - श्रोत्र के द्वारा शब्द का साक्षात्कार करने में समवाय सन्निकर्ष होता है। कर्ण शष्कुली में रहनेवाले आकाश द्रव्य को श्रोत्र कहते हैं।

(५) समवेत समवाय - शब्दत्व के साथ श्रोत्र का समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले शब्द में शब्दत्व का समवाय होता है।

(६) विशेषण-विशेष्यभाव - समवाय और अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार छः प्रकार का सन्निकर्ष होता है।^{३९}

नैयायिक के मत में प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। (१) अयोगि प्रत्यक्ष (२) योगि प्रत्यक्ष।

अयोगि प्रत्यक्ष - हम लोकों को जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है वह अयोगि प्रत्यक्ष है। यह निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप से दो प्रकार का है। वस्तु के स्वरूप मात्र का अवभास ज्ञान निर्विकल्पक है। यह इन्द्रिय सन्निकर्ष होते ही सबसे पहले उत्पन्न होता है। वाचक संज्ञा और वाच्य संज्ञा से सम्बन्ध का उल्लेख करके होनेवाला शब्द संसृष्ट ज्ञान के निमित्त सविकल्पक कहते हैं। जैसे यह देवदत्त है, यह दण्डी है। इत्यादि।

योगि प्रत्यक्ष - दूर देशवर्ती अतीतानागत कालवर्ती तथा सूक्ष्म स्वभाव वाले यावत् अतीन्द्रिय पदार्थों को जानना है। योगि प्रत्यक्ष स्वामी के भेद से दो प्रकार का होता है।

(१) युक्त योगि प्रत्यक्ष (२) वियुक्त योगि प्रत्यक्ष।

(१) युक्त योगि प्रत्यक्ष - समाधि से जिनका चित्त परम एकाग्रता को प्राप्त हुआ है उन युक्त योगियों को योगज धर्म तथा ईश्वरादि जिनमें सहकारी है ऐसे आत्मा तथा अन्तःकरण के संयोग मात्र से सम्पूर्ण पदार्थों का यावत् परिज्ञान होता है। वह युक्त योगि प्रत्यक्ष है। इसमें बाह्य अर्थों के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। यह

प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है। क्योंकि समाधि की एकाग्रता में विकल्पक की सम्भावना नहीं है। विकल्पक होते ही समाधि की एकाग्रता टूट जाती है। यह प्रत्यक्ष उत्कृष्ट योगियों को होता है सभी योगियों को होने का नियम नहीं है।

(२) वियुक्त योगि प्रत्यक्ष - समाधि रहित अवस्था में वियुक्त समाधि शून्य योगियों को आत्मा, मन बाह्य-इन्द्रियों तथा रूपादि पदार्थ इन चार के सन्निकर्ष से रूपादि का आत्मा, मन और श्रोत्र इन तीन के सन्निकर्ष से शब्द का तथा आत्मा और मन इन दो के सन्निकर्ष से सुखादि का ज्ञान होता है, वह वियुक्त योगि प्रत्यक्ष कहलाता है। यह निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों प्रकार का होता है। अनुमान नैयायिक मत में तीन प्रकार का बताया गया है। 'अनुमानं तु तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् पूर्ववच्छेषवच्चैव'। इत्यादि श्लोकांश में अनुमान का स्वरूप कहा गया है। श्लोक में आये हुए च और एव शब्द पूर्ववत् आदि पदों की अनेक व्याख्याओं को सूचना देते हैं।

जैसे कि - कोई इस प्रकार व्याख्यान करते हैं - कि प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है - वे भेद इस प्रकार हैं -

(१) पूर्ववत् - पूर्व अन्वय - व्यतिरेक के पहले अन्वय का ही ज्ञान होता है। अतः पूर्व शब्द से अन्वय का ग्रहण होता है। जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति मिलती है उसे पूर्ववत् अर्थात् केवलान्वयि अनुमान कहते हैं।

(२) शेषव्यतिरेक - जिस अनुमान की केवल व्यतिरेक व्याप्ति मिलती है वह शेषवत् अर्थात् केवल व्यतिरेक अनुमान है।

(३) अन्वयव्यतिरेक - सामान्य रूप से अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही व्याप्तियाँ जिसमें मिलती हो वह सामान्यतोदृष्ट अर्थात् अन्वय व्यतिरेकी अनुमान है।

अथवा त्रिविध-त्रिरूप-हेतु के तीन रूप होते हैं।

पूर्ववत् - सर्वप्रथम पक्ष का प्रयोग किया जाता है। अतः पक्ष को पूर्व शब्द से कहते हैं। पक्ष में रहनेवाले हेतु को पूर्ववत् अर्थात् पक्ष धर्मवाला कहते हैं।

शेषवत् - पक्ष से भिन्न सदृश धर्मी सपक्ष अर्थात् अन्वय दृष्टांत है जिस हेतु के शेष अन्वय दृष्टांत मिलता हो वह सदृश धर्मी सपक्ष अर्थात् सपक्ष सत्त्व वाला है।

सामान्यतोदृष्ट - यहाँ अकार का प्रश्लेष करके सामान्योदृष्ट हो जाता है। जो हेतु किसी भी विपक्ष में, किसी भी तरह नहीं रहता वह सामान्यतोऽदृष्ट विपक्षासत्त्व रूपवाला है।

इस तरह अनुमान सूत्र के भेद तथा स्वरूप की दृष्टि से व्याख्या की है। अब विषय दृष्टि से उसके तीन विषयों का निर्देश करने के लिए तीसरी व्याख्या इस प्रकार करते हैं।

तत्त्वपूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है।

(१) पूर्ववत् - जिस अनुमान में पूर्वकारण विद्यमान हो वह पूर्ववत् है। अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है वह पूर्ववत् अनुमान है। जैसे विशिष्ट काले और घने मेघों का उदय हो अर्थात् विशिष्ट

मेघोदय देखकर भविष्य काल में पानी बरसने का अनुमान। यहाँ कारण शब्द उन्नतत्व, घनत्व आदि धर्मों का सूचक है। जैसे कि - ये मेघ वृष्टि अवश्य करेंगे क्योंकि ये अत्यन्त घड़घड़ाकर गम्भीर गर्जना कर रहे हैं। बहुत काल तक स्थिर रहनेवाले हैं, शीघ्र ही हवा में उड़ने वाले नहीं हैं। तथा उन्नत और सघन हैं जो मेघ उक्त विशिष्टता रखते हैं वे अवश्य बरसते हैं। जैसे कि पहले देखे गये बरसने वाले मेघ, ये मेघ उसी प्रकार के हैं इसलिए अवश्य बरसेंगे।

(२) शेषवत् - शेष अर्थात् कार्य। कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहते हैं। जैसे नदी की बाढ़ देखकर ऊपरी देशों में हुई वृष्टि का अनुमान करना। यहाँ कार्य शब्द से कार्य के धर्मभूत का ग्रहण करना है। इसका प्रयोग इस प्रकार है - इस नदी के ऊपरी प्रदेश में वृष्टि हुई है क्योंकि इसका प्रवाह बहुत तेज है, फल, फेन तथा किनारे की लकड़ी आदि को बहाने वाला तथा पूर्ण है जैसे कि बाढ़वाली नदी।

(३) सामान्योदृष्ट - कार्य और कारण से भिन्न ऐसे किसी भी अविनाभावी साधन से साध्य का ज्ञान करना सामान्योदृष्ट है। जैसे बगुला को देखकर जल का अनुमान करना। प्रयोग - जिसमें बगुला सदा रहते हैं ऐसा यह प्रदेश जलवाला है। क्योंकि यहाँ बगुला पाये जाते हैं। जैसे कोई बगुला वाला जलाशय।

अथवा किसी वृक्ष ऊपर दिखाई देनेवाले सूर्य को कालान्तर में पर्वत आदि पर देखकर उसकी गति का अनुमान करना भी सामान्योदृष्ट है।

प्रयोग - समीपवर्ती वृक्ष पर दिखाई देनेवाले सूर्य का थोड़ी ही देर में दूरवर्ती पर्वत पर दिखाई देना गति का अविनाभावी है। अर्थात् वह गति के बिना नहीं हो सकता है। क्योंकि वह एक जगह देखी गयी वस्तु का अन्यत्र दर्शन है जैसे एक जगह देखे गये देवदत्त का अन्यत्र दिखाई देना।

कोई व्याख्याकार सामान्यतोदृष्ट का स्वरूप इस प्रकार भी कहते हैं कि रूप देखकर तत्समानकालवर्ती स्पर्श का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। यहाँ रूप न तो स्पर्श का कार्य ही है न कारण ही। प्रयोग - इस वस्त्र का अमुक स्पर्श होना चाहिए, क्योंकि इसमें अमुक रूप पाया जाता है, उस प्रकार के रूप-स्पर्शवाले अन्यवस्त्र की तरह अथवा - एक आम के वृक्ष को फलों से लदा हुआ देखकर जगत के सभी आमों के वृक्षों में बौर आ गये हैं। क्योंकि वे आम के वृक्ष हैं जैसे कि सामने दिखाई देनेवाला आम का वृक्ष।

(१) अथवा पूर्ववत् - पूर्व अर्थात् प्राक्कालीन व्याप्ति को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष के तुल्य विषयवाला अनुमान।

(२) शेषवत् - परिशेषानुमान - प्रसक्त अर्थात् जिनमें प्रकृत पदार्थ के रहने की आशंका हो सकती है उन पदार्थों का निषेध करने पर जब अन्य किसी अनिष्ट अर्थ की संभावना न रहे तब शेष बचे हुए इष्ट पदार्थ की प्रतिपत्ति करना परिशेषानुमान है।

(३) सामान्योदृष्ट - जहाँ धर्मों और हेतु तो प्रत्यक्ष हो तथा साध्य धर्म सदा अप्रत्यक्ष रहता हो वहाँ सामान्योदृष्ट अनुमान होता है। इस प्रकार कारण के भेद से तीन प्रकार का लिंग प्रत्यक्ष होकर लिंगी विषयक प्रमिति

को उत्पन्न करता है। अतः वह अनुमान है।

इन दो व्याख्याओं में पहली व्याख्या ही बहुत से अध्ययन आदि आचार्यों को मान्य है। इन अनेक व्याख्याओं के भेदों के जाल में शिष्य की बुद्धि उलझ न जाय, वह भटक न जाए इसलिए ग्रन्थकार स्वयं अन्य व्याख्याओं की उपेक्षा करके त्रिविध हेतुओं का विषय बताने के लिए पूर्ववत् आदि पदों की व्याख्या करते हैं।

उपमान लक्षण - प्रसिद्ध अर्थ सादृश्य से अप्रसिद्ध की सिद्धि करना उपमान प्रमाण है। जैसे गौ के समान गवय होता है।

प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य से साध्य की सिद्धि उपमान है। यह न्याय दर्शन का उपमान सूत्र है।

यहाँ भी यतः पद का अध्याहार करना चाहिए। अतएव प्रसिद्ध वस्तु गौ के साधर्म्य सादृश्य से गवय में रहनेवाले अप्रसिद्ध संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का साधन-प्रतिपत्ति यतः जिस सादृश्य ज्ञान से होती है वह सादृश्य ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है।

(४) आगम प्रमाण - आप्त के उपदेश को शाब्द-आगम प्रमाण कहते हैं। इस तरह चार प्रकार का प्रमाण होता है।^{१०}

सांख्य मत - सांख्य मत में तीन प्रमाण ही मान्य हैं। मानत्रितयं चात्र प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम्।

सांख्यमत में प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम ये तीन प्रमाण हैं।

प्रमाण - अर्थोपलब्धि में जो साधकतम कारण होता है उसे प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष - निर्विकल्पक श्रोत्रादि वृत्ति को प्रत्यक्ष कहते हैं। श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति-परिणमन व्यापार को श्रोत्रादिवृत्ति कहते हैं। सांख्य विषयाकार परिणत इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। नाम, जाति, कल्पना से रहित वृत्ति निर्विकल्पक है। ईश्वर कृष्ण ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है। प्रत्येक विषय के प्रति इन्द्रियों के अध्यवसाय व्यापार को दृष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

पूर्ववत् - शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट के भेद से तीन प्रकार का अनुमान है।

(१) पूर्ववत् - नदी में बाढ़ देखकर ऊपरी प्रदेश में मेघवृष्टि होने का अनुमान करना पूर्ववत्।

(२) शेषवत् - समुद्र के एक बूंद जल को खारा पाकर शेष समुद्र को खारा समझना तथा बटलोइ में पकते हुए अन्न के एक दाने को हाथ से मसलकर शेष अन्न को पका हुआ या कच्चा समझना, शेषवत्।

(३) सामान्यतोदृष्ट - जो सामान्य रूप से लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का अनुमान किया जाता है वह सामान्यतोदृष्ट है। जैसे बाहर तीन दण्डों को देखकर भीतर परिव्राजक है वह ज्ञान करना। अथवा लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध को ग्रहण कर लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान करना अनुमान प्रमाण है। यही सांख्यों का अनुमान का सामान्य लक्षण है।

आप्त और वेदों के वचन शाब्द प्रमाण है। राग द्वेष आदि से रहित वीतराग ब्रह्म सनत्कुमार आदि आज नहीं हैं और श्रुति अर्थात् वेद इन्हीं के वचन-आगम शब्द हैं।

वैशेषिक मत - वैशेषिक मत में दो ही प्रमाण है।

प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा

वैशेषिकमतस्येष संक्षेप परिकीर्तितः ॥^{१९}

वैशेषिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है। इन्द्रियज और योगज।

इन्द्रिय - श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों और मन के सन्निकर्ष से होनेवाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है - निर्विकल्पक और सविकल्पक। वस्तु स्वरूप की सामान्य रूप विचारणा करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक है। यह केवल सामान्य या मात्र विशेष को ही विषय नहीं करता। इसमें सामान्य की तरह विशेष आकार का भी भान होता है। इस तरह निर्विकल्प में सामान्य और विशेष दोनों का भान होने पर भी यह सामान्य है यह विशेष है; यह इसके समान है तथा इससे विलक्षण है, इस तरह सामान्य और विशेष का पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता है। इसमें सामान्य तथा विशेष सम्बन्धी अनुगत धर्म तथा व्यावृत्त धर्मों का परिज्ञान नहीं होता है। यही कारण है 'यह घड़ा है' इत्यादि शब्दात्मक व्यवहार नहीं है। सविकल्पक प्रत्यक्ष सामान्य और विशेष का पूरा-पूरा पृथक्करण करता है।

'यह उसके समान है यह उससे विलक्षण है। इस रूप से अनुगत और व्यावृत्त धर्मों का जाननेवाला आत्मा को इन्द्रियों से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है।

योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है - एक तो युक्त योगियों का और दूसरा वियुक्त योगियों का।

युक्त योगि - समाधि में अत्यन्त तल्लीन एकाग्रध्यानी योगियों का चित्त योग से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट धर्म के कारण शरीर से बाहर निकलकर अतीन्द्रियों पदार्थों से संयुक्त होता है। इस संयोग से जो उन युक्त-ध्यान मग्न योगियों को अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है उसे युक्तयोगि प्रत्यक्ष कहते हैं।

वियुक्त योगी - जो योगी समाधि जगाये बिना ही चिर कालीन तीव्र योगाभ्यास के कारण सहज ही अतीन्द्रिय पदार्थों को देखते हैं, जानते हैं वे विमुक्त कहलाते हैं। इन पुराने योगियों को दीर्घकाल के योगाभ्यास से ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे वे सदा अतीन्द्रिय पदार्थों को देखते हैं। उन्हें इसके लिए किसी समाधि आदि लगाने की आवश्यकता नहीं होती। इन विमुक्त समाधि में लीन न होकर भी विशिष्ट शक्ति रखनेवाले योगियों को आत्मा-मन इन्द्रिय पदार्थ के सन्निकर्ष से दूर देशवर्ती अतीत और अनागत कालीन तथा सूक्ष्म परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह वियुक्त योगि प्रत्यक्ष है। यह उत्कृष्ट योगियों को ही होता है। योगिमात्र को हो ऐसा नियम नहीं है।

अनुमान - लिंग को देखकर जो अव्यभिचारी-निर्दोष ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमिति कहते हैं। यह अनुमिति जिस परामर्श-व्याप्ति-विशिष्ट-पक्ष धर्मता ज्ञान आदि कारक समुदाय से उत्पन्न होती है। उस अनुमिति कारण को लैंगिक अनुमान कहते हैं। यह अनुमान कार्य-कारण आदि अनेक प्रकार का होता है।

मीमांसक मत - प्रमाण - अर्थात् 'नहीं जाने गये अनधिगत पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है।' अनधिगत - नहीं जाने गये खम्भा आदि बाह्य पदार्थों को संशय आदि का निराकरण कर अधिकता से विशेषता के साथ जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। जैमिनि मत में छः प्रमाण स्वीकारे गये हैं। वे इस प्रकार हैं -

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह।

अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिने ॥^{१२}

जैमिनि मुनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को माना है। प्रभाकर मिश्र अभाव को प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य मानकर अर्थापत्ति पर्यन्त पाँच ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। भट्ट अभाव को भी प्रमाण मानते हैं। इनके मत में छह ही प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष - विद्यमान पदार्थों से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर आत्मा को जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

जैमिनि मत में श्लोक में छन्द रचना के अनुरोध से प्रत्यक्ष के लक्षण शब्दों को बेसिलसिले निर्देश किया है पर वस्तुतः उनका क्रम इस प्रकार है 'सतां संप्रयोगे सति आत्मानोऽक्षाणां बुद्धि जन्म प्रत्यक्षम्।'

विद्यमान वस्तुओं के सम्बन्ध होने पर आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष है।

जैमिनि का प्रत्यक्ष सूत्र यह है - 'सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि जन्म तत्प्रत्यक्षम्' विद्यमान वस्तु से इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर पुरुष को जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

अनुमान - लिंग से उत्पन्न होनेवाले लैंगिक ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

शाबर भाष्य में अनुमान का पूरा लक्षण इस प्रकार बताया है - 'ज्ञान सम्बन्धस्यैक देशदर्शनादसंतिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्' साध्य और साधन के अविनाभाव का यथार्थ परिज्ञान रखने वाले पुरुष को एकदेश साधन के देखने से असन्निकृष्टपरोक्ष साध्य अर्थ का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है।

आगम - नित्य वेद से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को शाब्द-आगम कहते हैं। शाबर भाष्य में शब्द का लक्षण किया है 'शब्द ज्ञानदसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धि शाब्दम्' यह शब्द इस अर्थ का वाचक है इस संकेत ज्ञान को शब्द ज्ञान कहते हैं। इस संकेत ग्रहण के बाद शब्द सुनने पर जो परोक्ष अर्थ का भी ज्ञान होता है उसे शाब्द प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष भी घट-पटादि पदार्थों का शाब्द ज्ञान होता है।

उपमान प्रमाण - प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यदप्रसिद्धस्य साधनम्।

प्रसिद्ध अर्थ की सदृशता से अप्रसिद्ध अर्थ की सिद्धि करता उपमान है। जैसे कि - गौ आदि को अच्छी तरह से जानने वाले पुरुष को गवय - रोज को देखते ही गवय में रहनेवाली समानता से परोक्ष गौ में गवय के सादृश्य का ज्ञान उपमान है। यद्यपि गौ में गवय की समानता मौजूद थी परन्तु उपमान के पहले पुरुष को समानता का ज्ञान नहीं था। उपमान प्रमाण से 'गौ' इस गवय के समान है। यह सादृश्य ज्ञान हो जाता है।

अर्थापत्ति - दृष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति के बल से अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।

क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदास्ता ॥

प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों से प्रसिद्ध अर्थ के अविनाभाव से किसी अन्य अदृष्ट-परोक्ष पदार्थ की कल्पना जिस ज्ञान के बलपर की जाए वह अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति छः प्रकार से होती है।

(६) अभाव प्रमाण - वस्तु की सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

प्रमाण पञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तु सत्तावबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता ॥

वस्तु भावाभावात्मक है उसमें सदंश की तरह असदंश भी रहता है। प्रत्यक्षादि पाँचो प्रमाण वस्तु के सदंश को ही ग्रहण करते है असदंश को नहीं। प्रत्यक्षादि प्रमाण पंचक के अभाव में होनेवाला अभाव प्रमाण वस्तु के असदंश को ही जानता है सदंश को नहीं। कहा भी है - प्रमाणों के अभाव को अभाव प्रमाण कहते है। यह 'नास्ति' नहीं है इस अर्थ की सिद्धि करता है। इसे अभाव को जानने के लिए किसी प्रकार के सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती।

कोई आचार्य अभाव प्रमाण को तीन रूप से मानते है। (१) प्रमाण पंचक का अभाव (२) जिसका निषेध करना है उस पदार्थ के आधारभूत पदार्थ का ज्ञान (३) आत्मा का विषय ज्ञान रूप से परिणत ही न होना। वे इस श्लोक का यह अर्थ करते है प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस भूतल आदि आधार में घटादि रूप के आधेय को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त नहीं होते उस घटादि आधेय से शून्य शुद्ध भूतल को ग्रहण करने के लिए अभाव की प्रमाणता है। इस अर्थ से निषिध्यमान घट से भिन्न शुद्ध भूतल का ज्ञान ही अभाव प्रमाण होता है।^{५३}

चार्वाक मत - चार्वाक दर्शन मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। उनका मत इस प्रकार है-

एतानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रिय गोचरः ।

भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥^{५४}

जितना आँखो से दिखाई देता है, इन्द्रियों से गृहीत होता है उतना ही लोक है। जो मूर्ख लोग अनुमान की चर्चा करते है उन्हें भेडिये के पैर के कृत्रिम चिन्हों से उसकी व्यर्थता बता देनी चाहिए।

अर्थात् यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला मनुष्यलोक, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों के द्वारा ही विषय होनेवाले पदार्थों तक सीमित है। इनसे परे कोई अतीन्द्रिय वस्तु नहीं है। आस्तिकवादी जीव पुण्य-पाप उनके फल स्वर्ग नरक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को मानते है। वे वस्तुतः है ही नहीं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष-साक्षात्कार नहीं होता। यदि इस तरह काल्पनिक और अप्रत्यक्ष पदार्थों को मानने लगे, तो खरगोश के सींग तथा वन्ध्या के लड़के का सद्भाव मान लेना चाहिए। पाँच प्रकार की इन्द्रियों के विषयों को छोड़कर संसार में अन्य किसी अतीन्द्रिय पदार्थ का सद्भाव नहीं है।

आचार्य हरिभद्र प्रमाण के दो भेद ही मानते हैं तथा अन्य द्वारा माने गये तीन, चार, छः आदि प्रमाणों का इन दो में ही अन्तर्भाव स्वीकारते हैं। परवादी प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, प्रातिभ युक्ति और अनुपलब्धि आदि अनेक प्रमाण मानते हैं। इन में से जो उपमान, अर्थापत्ति आदि की तरह प्रमाण की कोटि में आते हैं, प्रमाणभूत साबित होते हैं। उनका इन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्ष में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जो विचार करने पर भी मीमांसक के द्वारा माने गये अभाव प्रमाण की तरह प्रमाण ही सिद्ध न हो उनके अन्तर्भाव या बहिर्भाव की चर्चा ही निरर्थक है, क्योंकि ऐसे ज्ञान तो अप्रमाण ही होंगे। अतः उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। षड्दर्शन समुच्चय की टीका अस्पष्ट अविश्ववादी ज्ञान को परोक्ष कहकर उनके पाँच भेद किये हैं। (१) स्मृति (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम।^{५५}

सर्वज्ञ के सन्दर्भ में - सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध है। शास्त्रीय प्रकरणों से परम चर्चित है। पूर्व मीमांसाकार कुमारिल भट्ट के अनुसार जैसे मनुष्यता में सर्वज्ञता का समुदाय संभव नहीं है। कोई मनुष्य सर्वज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। अतः सर्वज्ञता जैन दर्शन की एक मौलिक मान्यता है। जो शास्त्रों में सिद्ध है, प्रसिद्ध है और स्वयं सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा है ऐसी अटल श्रद्धा श्रमण वाङ्मय में प्रचलित है और इस विषय की प्ररूपणाएँ विभिन्न तर्कों का सामना करती हुई प्रत्युत्तर देती रही है।

इस उत्तरदायित्व को निभाने में निष्णात हरिभद्र सूरी अभिनन्दनीय हैं। इन्होंने स्वतन्त्र एक सर्वज्ञ-सिद्धि ग्रन्थ की रचना कर सर्वज्ञता को सभी दृष्टि से श्रेष्ठ किया है।

सर्वज्ञ-सिद्धि में वे कहते हैं -

स्वगते नैव सर्वशः, सर्वज्ञत्वेन वर्तते।

न यः परगते नापि स स इति उपपद्यते ॥^{५६}

वह सर्वज्ञ सर्वज्ञपना से ही संवर्धित है, इसमें कोई बाधा नहीं है। निराबाध सर्वज्ञपन सदा सिद्ध हुआ है।

ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वज्ञ स्वीकारते हैं और सर्वोपरि ईश्वरत्व की सिद्धि करते हैं, वह ईश्वर अवतार रूप से अवतरित होकर सर्वज्ञता की सर्व सिद्धि करता है। उस ईश्वर में सर्वज्ञता स्वतः सिद्ध स्वीकारी हुई भक्तजन देखते हैं। ईश्वरवादिता सर्वज्ञता से संपृक्त है, परंतु जैनदर्शन सर्वज्ञत्व को तीर्थंकरत्व में प्रतिष्ठित मानता है। वैसे ही ईश्वरवादी आम्नाय ईश्वर में सर्वज्ञत्व के संदर्शन कर लेता है। इस प्रकार सर्वज्ञत्व चिरन्तन शास्त्रगुम्फित ज्ञानगर्भित मान्य रहा है।

जैसे जैन आम्नाय तीर्थंकर में सर्वज्ञ की स्थापना करता है, वैसे ही बौद्ध परंपरा बुद्ध को सर्वज्ञ कहती है। बौद्ध कोषकार अमरसिंह ने 'सर्वज्ञ सुगतः बुद्ध' ऐसा संग्रह किया है। अतः बौद्ध परंपरा में सर्वज्ञता की सिद्धि स्वतः ही स्पष्ट है। प्रत्येक-आम्नाय ने अपने-अपने इष्ट देव को सर्वज्ञता की कोटि में रखा है, अन्य को नहीं। जैनों के तीर्थंकरों में बौद्ध की सर्वज्ञता दृष्टि क्षीण है। जैनों की सर्वज्ञता दृष्टि तथागत बुद्ध में स्थिर नहीं है। अतः यह विषमवाद आम्नायगत सर्वत्र मिलेगा। परंतु आचार्य हरिभद्रने सर्वज्ञ को सर्वदर्शी स्वीकार कर अपनी

लेखनी को धन्य बनाया है। यह उनका दार्शनिक चिन्तन दिव्यदर्शी सिद्ध हुआ है।

सांख्य दर्शन ईश्वरवाद पर इतना तत्पर नहीं है। वह कभी-कभी निरीश्वरवाद की कल्पना करता आया है। अतः सर्वज्ञता को उन्होंने चर्चित ही नहीं किया। वैसे ही चार्वाक दर्शन सर्वज्ञ-चर्चा से मुक्त है।

सर्वज्ञता में कर्तृत्ववाद का निरूपण नहीं रखते हुए ज्ञातृत्व भाव प्ररूपण प्रोन्नत स्वीकार करते हैं हरिभद्र। और अपने लोकतत्त्व निर्णय में सर्वज्ञत्व को सर्वविद् रूप में स्पष्ट करते हैं।

गुणवृद्धिहानिचित्रा कैश्चिन्न मही कृता न लोकश्च ।

इति सर्वमिदं प्राहुः त्रिष्वपि लोकेषु सर्वविदः ॥⁹⁹

आचार्य हरिभद्र लोक कर्तृत्ववाद को निरस्त करते हुए कहते हैं कि गुणवृद्धि और गुणहानि से विचित्र ऐसी इस पृथ्वी को न किसी ने बनाई है; नहि लोक का सर्जन किसी के द्वारा किया गया है। इस प्रकार इस लोक में दृश्य अथवा अदृश्य सभी पदार्थ छः प्रकार की गुण हानि से विचित्र है और न किसी ने बनाये हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवंत कहते हैं।

अन्य सन्दर्भ में - अन्य सन्दर्भ में मुख्य अनेकान्तवाद आता है जो एकांत के विरुद्ध आवाज उठाता है। सर्व दृष्टि से सन्तुलित शुद्ध ऐसा दृष्टिकोण दर्शित करना यह अनेकान्त का उद्देश्य है, इसमें न तो हठधर्मिता है न कदाग्रहता है, न किसी प्रकार की विसंगतियाँ हैं। एक ऐसी विशुद्ध धारा सर्व दृष्टि से सुमान्य वह है - अनेकान्त दृष्टिकोण, जिस अनेकान्त विषय को आचार्य हरिभद्र ने 'अनेकान्तजयपताका' के रूप में प्रतिष्ठित किया है। ऐसी अनेकान्तवादिता के आश्रय से हम आग्रह रहित अनुनयी बने रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्त दृष्टि से स्वीकार करते हुए निर्बन्ध रूप में निर्मल रहते हैं। निर्मलता ही निश्चय नय की भूमिका का भव्य दर्शन है। इनकी अभिव्यक्त शैली स्याद्वाद किसी को अनुचित रूप से उल्लिखित नहीं करता हुआ गुण-ग्राहिता से गौरव देता है, सर्वदर्शी सही बना रहता है।

इस स्याद्वाद की श्रेष्ठ भूमिका को भाग्यशालिनी बनाने में मल्लवादि आचार्य सिद्धसेन, आचार्य हरिभद्र आदि प्रमुख रहें हैं। इन्होंने अनेकान्त को जैन दर्शन का उच्चतर उज्वल दृष्टिकोण दर्शित कर दर्शन जगत को एक दिव्य उपहार दिया है। जब दार्शनिक संघर्ष सबल बन गया, तब श्रमण भगवान महावीर ने एक अभिनव दृष्टिकोण को आविर्भूत कर अनेकान्त का श्रीगणेश किया। जो हमारे जैन दर्शन का अभिनव अंग है। जिस पर अगणित ग्रन्थों की रचना हुई और स्याद्वाद सिद्धान्त की प्ररूपणा हुई।

इसी अनेकान्तवाद को सप्तभंगी रूप में समुपस्थित कर सर्वहित में एक शुद्ध शुभाशय अभिव्यक्त किया है। यह सप्तभंगी नय न्यायदाता है, और नवीनता से प्रत्येक को निरखने का नया आयाम है। सभी गुणों का संग्राहक होकर उसका सत्स्वरूप, असत्स्वरूप, वाच्यस्वरूप, अवाच्यस्वरूप, अभिव्यक्त करना यह सप्तभंगी का शुभ आशय रहा है।

इस आशय पर तीर्थंकर भगवंतों की स्तुतियाँ हुई, द्वात्रिंशिकाएँ बनी और ऐसी सुंदर लोकभाषा में

स्तवन बने। आनंदघन जैसे आध्यात्मिक पुरुषों ने सप्तभंगी को परमात्म स्तुति कर अभिवर्णित कर अपना भक्ति प्रदर्शन भावपूर्ण बनाया। इसी सप्तभंगी पर द्रव्यानुयोग की रचना हुई और गहनतम, गंभीर विषयों की विवेचनाएँ वर्णित हुई। इसी द्रव्यानुयोग का अध्ययन श्रमण परंपरा में प्रामाणिक माना गया। अतः अनेकान्तवाद आगमों के आधारों का आश्रय स्थल बना।

अनेकान्तवादी किसी भी दुराग्रह से दुःखित नहीं मिलेंगे। वे सभी के प्रति सन्यायवादी रहते हैं, और स्वयं में सुदृढ़ सुज्ञात स्पष्टवादी रहता हुआ, स्याद्वाद की भूमिका को निभाता है। इसलिए हमारी निर्ग्रन्थ परम्परा दर्शनवाद के दुराग्रह से सुदूर रहती हुई अनेकान्तवाद की उच्चभूमि पर अचल रहता है।

अन्यों से अनवरत आदर सम्मान सम्प्राप्त करने में सूरिवर हरिभद्र अद्वितीय रहे हैं। इनका दार्शनिक जीवन दिग्दिगन्त तक यशस्वी बना है। प्रत्येक दार्शनिक आम्नाय ने इनके मन्तव्यों को महत्त्व दिया है। और इनके सिद्धान्तों की सराहना की है। स्व-सिद्धान्त के निरूपण में आचार्यवर एक नैष्ठिक, निष्णात, निर्ग्रन्थ, नय के निपुणनर के रूप में उपस्थित हुए हैं। इन्होंने श्रमण सिद्धान्त को समन्वयता से सुयशस्वी बनाने का जो एक सूक्ष्म दृष्टि-कोण समुपस्थित किया है। वह शताब्दियों तक इनकी सराहना करता रहेगा। निर्विरोध और निर्वैरता से विपक्ष को विशेष सन्मान देते हुए स्वयं के प्ररूपण में पारदर्शी प्राप्त होते हैं। ऐसी इनकी अनुपमेय विद्वत्ता विद्वद् समाज को मार्ग दर्शन देती माध्यस्थ भाव में रहने का सुझाव देती है। इनकी यह माध्यमिकवृत्ति और प्रवृत्ति पुरातन प्रचंड प्रद्रोह को प्रनष्ट करती है। शालीनता से जीवन जीने की प्रेरणा देती है। प्रामाणिकता से अपने सिद्धान्त को सहजता से सुवाचित करते सुभाषित बनाते स्वयं की मेधा को मनोज्ञ बनाते रहे हैं। इनकी मेधा का मनोज्ञपन महाविरोधियों को भी विद्या विवेक का विमर्श देता रहा है। परों से पराजित नहीं हुए, अपरों से अनादृत नहीं बने ऐसा उनका विद्यामय व्यक्तित्व एक विशाल श्रमण-संस्कृति के संरक्षक रूप में समुपस्थित रहे हैं। प्रत्येक काल इनकी कृतियों का और इनकी आकृतियों का अर्चन करता, आदर करता और इनके अपार उदारता का समादर बढ़ाता संस्कृति साहित्य और समाज के ओजस् को और तेजस् को तपोनिष्ठ बनाता रहेगा।

हरिभद्र चले गये परन्तु हरिभद्रीय हितकारिणी प्रवृत्तियों का और उनकी लिखित कृतियों का पुण्योदय कभी भी न क्षीण होगा और न कोई क्षपित, क्षयित कर सकने का अधिकारी बनेगा।

वे शब्दानुशासन के एक अनुभवी आदर्श आचार्य थे। उनका विद्यायश सदा उनकी शोभा का प्राक्कथन करता रहेगा। वे एक नैयायिक रूप में, दार्शनिक स्वरूप में सिद्धान्त शिरोमणि सत्य से श्रमण संस्कृति के संयोजक, संवाहक और संचालक रहे हैं। यद्यपि उनका समय संघर्ष के चुनौती भरे वातावरण में व्यतीत हुआ, बौद्धों के साथ संघर्ष हुए। मातृहृदया याकिनी ने उनके विचारों को विवेकता दी है। विनयशीलता, पढ़ाई और विद्या समृद्धि के लिए उत्साह दिया। उसी का यह परिणाम है कि आज अन्य अपर विद्वान् भी नतमस्तक होकर आचार्य हरिभद्र की गुणगाथा गाते हैं।

स्वभाववाद - दार्शनिक जगत में स्वभाववाद की भी महत्ता चर्चित की है। स्वभाववाद किसी को कर्ता

मानने के लिए तैयार नहीं है। वे सम्पूर्ण कार्यों को सहज स्वभाव से परिलक्षित करते हैं और कहते हैं -

भौतिकानि शरीराणि विषयाः करणानि च ।

तथापि मंदैरन्यस्य, कर्तृत्वमुपदिश्यते ॥

यह शरीर, विषय तथा इन्द्रिय पंचभूतों से बना हुआ है। फिर भी जो मंदबुद्धि वाले लोग हैं वे यह मानते हैं कि इनको बनानेवाला अन्य कोई कर्ता है।

बहुश्रुत का शास्त्र में सम्मान है उनके वक्तव्य को प्रमाणभूत मानते हैं। जबकि नास्तिकमत के मनीषी पुरुष नेत्रगम्य को ही प्रत्यक्ष प्रमाणभूत मानते हैं। परोक्ष के विषय का परिहास करते इस प्रकार की बातें कहते हैं-
एतावानेव लोकोऽयं, यावनिन्द्रिय गोचरः ।

भद्रे वृकपदं ह्येतद्, यद्वदन्ति बहुश्रुताः ॥

जितना इस चक्षु से प्रत्यक्ष होता है इतना ही लोक है। फिर भी बहुश्रुत शास्त्रमर्मज्ञ नाम धारण करनेवाले जो इस लोक को बहुत बड़ा लोक कहते हैं वह तो हे भोली ! वरु के चरण के समान है।

जिस तप और संयम को श्रद्धेय और सम्माननीय स्वीकारा गया है। अग्निहोत्र कर्म को स्वर्ग का सुख मिलने वाला कहा गया है। उसके विषय में नास्तिक मत में मूर्धन्य महाप्राज्ञ कुछ इस प्रकार कहते हैं -

तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचनाः ।

अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव तभ्यते ॥

तप करना यह विचित्र प्रकार के कष्ट है, संयम को स्वीकारना यह भोगों को ठगना है तथा अग्निहोत्रादि क्रियाओं करना यह बालक्रीडा के समान व्यर्थ है।

नैयायिक मान्यता यह रही है कि कारणों से ही कार्यों की समुत्पत्ति सम्भवित रही है। परंतु कर्मवाद के विरोधी विज्ञान इस प्रकार कहते हैं।

कारणानि विभिन्नाति, कार्याणि च यतः पृथक् ।

तस्मात्त्रिष्वपि कालेषु, नैव कर्माऽस्ति निश्चयः ॥

कारणों से कार्य अलग रहे हैं। उस कारण से तीनों कालों में कर्म की सत्ता संभवित नहीं है। इस प्रकार अन्यान्य दर्शनों में लोक विषयक, कर्म विषयक, संयमविषयक एवं तप विषयक मान्यताएँ प्रचलित रही हैं।^{४८}

भाग्यवादियों की मान्यताएँ आश्चर्यकारिणी रही हैं- वे न धन को महत्ता देते हैं, न गुणों की गणना करते हैं, न विद्या की वर्चस्विता (महत्ता) करते हैं न धर्माचरण को शुभ मानते हैं, न सुख-दुःखों के स्वरूप को गिनते हैं। वे केवल समय के यान में बैठकर भाग्य जहाँ ले जाता है उस मार्ग से वे चलते हैं ऐसी भोली-भाली मान्यताएँ भाग्यवादियों की हैं। इसका समुल्लेख आचार्य हरिभद्र ने अपने लोकतत्त्व निर्णय में सुंदरता से समुल्लेख किया है।

स्वच्छंदतो नहि धनं न गुणो न विद्या नाप्येव धर्म चरणं न सुखं न दुःखम् ।

आरुह्य सारथिवशेन कृतान्तयानं, दैवं यतो नयति तेन पथा ब्रजामि ॥^{४९}

नियतिवादी उद्यम और पुरुषार्थ को जीवन में महत्त्व नहीं देते हैं। वे नियतिवाद का सहारा लेकर जीवन में उपलब्धियों को नियतिवाद का उपहार मानते हैं।

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणांशुभोऽशुभो वा ।

भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥^{५०}

नियतिवादी कहते हैं कि जो प्राप्त करने योग्य अर्थ है वह नियतिबल से मनुष्य को शुभ अथवा अशुभ अवश्य प्राप्त होता है। जीव बहुत प्रयत्न करने पर भी न होनेवाला कभी प्राप्त नहीं होता है।

नियति बल को निश्चित मानकर, कर्म हेतु को नगण्य समझकर नियतिवाद का निर्णय नितान्त निराधार बनता है। फिर भी भाग्यवाद के भरोसे जीवन जीनेवाले संसार में हैं।

परिणामवाद से जीवन के प्रति न्याय करनेवाले और पदार्थों, परिणामों को न्यायसंगत कहनेवाले परिणामवादी कभी पश्चात्ताप नहीं करते। उनका तो चिन्तन बड़ा ही सूझभरा समयोचित बतलाते हैं।

प्रतिसमयं परिणामः, प्रत्यात्मगतश्च सर्वभावानम् ।

संभवति नेच्छ्यापि, स्वेच्छा क्रमवर्तिनी यस्मात् ॥^{५१}

जीवन में इच्छाओं का महत्त्व है। परंतु परिणाम इच्छा के अनुरूप नहीं होते। अतः प्रस्तुत को, परिणाम को इच्छानुसार घटाना यह संभवित नहीं है। और कर्म से उन्हें अनुरूप बनाना दुःशक्य है। अतः परिणामवाद भारतीय दर्शन में अपना स्थान रखता है।

निष्कर्ष

अस्तु आचार्य हरिभद्र ने अनेक सिद्धान्तों तथा अन्य दर्शनों का अवगाहन आलोड़न करके एक-एक विषय को अनुभूति की वेदिका पर आरूढ़ करके साहित्य जगत को भेंट दी है।

आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन-समुच्चय की रचना कर अन्य दर्शनों की अवधारणाएँ समन्वयवादी के पुरोधे बनकर प्रस्तुत की जो अपने आप में एक अद्वितीय है।

दूसरी तरफ शास्त्रवार्त्ता जैसे महान् ग्रन्थ की रचना उनकी यश की विजय-पताका लहराने वाली बनी, क्योंकि इसमें उन्होंने प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्त की कसोटी पर तरासकर प्रत्येक दर्शन की समस्या का समाधान दिया है, जो दर्शनशास्त्रों के जिज्ञासुओं के लिए पठनीय, मननीय है।

आचार्य हरिभद्र ने जैन दर्शन एवं अन्यदर्शनों की युक्तियों का मंडण एवं खण्डन जिस शैली एवं उदारता से किया है वैसा शायद ही अन्य विद्वान् ने किया होगा।

आज साहित्य जगत में जो देन आचार्य हरिभद्र की है वह वास्तव में अविस्मरणीय रही है और रहेगी। उनकी असाधारण लेखनी आज उन्हें गौरवान्वित बनाये है।

वर्तमान युग में उनका साहित्य दार्शनिकता के साथ मनोवैज्ञानिकता को भी सिद्ध करता हुआ प्रसिद्ध हुआ।

आचार्य हरिभद्र के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य

वैशिष्ट्य को विलक्षित करने का विशेषाधिकार हरिभद्र के वाङ्मय में विविध विषयों से व्यवस्थित रहा हुआ है। हरिभद्र सूरि का व्यक्तित्व एक विद्वद् परम्परा में विशिष्टता से सम्मानित है। उनकी मान्यताएँ मनीषा जन्य मस्तिष्क की स्फुरणाओं से शोभनीय और हृदयग्राही है, तत्त्वों के विवेचन के लिए पर्याप्त है।

उनकी दार्शनिक विशेषताएँ सैद्धान्तिक संज्ञाएँ और पारम्परिक परिभाषाएँ हरिभद्र को उच्चतम श्रेणी में स्थिर करने की है। ऐसी उत्तमता आदर्श रूप में वाङ्मयी धारा से निराबाध निष्कलंक नित्य प्रवाहित करनेवाले प्रज्ञा पुरुष हरिभद्र सर्वजन हितकारी, उपकारी, उपदेशक और आध्यात्मिक योगी परिलक्षित हुए हैं।

विद्वत्ता स्वयं इनकी अनुरागिणी बनकर जीवन-जीवित रखने की शुभाशांसा चाहती रही है। जिन्होंने प्राकृत को परमोच्च भाव से शिरोधार्य कर गद्यबद्ध रूप से अनेक ग्रन्थों में प्राथमिकता दी।

संस्कृत और संस्कृति की धारा में एकदम धवलपन धुले हुए धुरन्धर दार्शनिक रूप में दिव्य दर्शन की पहेलियाँ प्रस्तुत करने में अपनी आत्म प्रतिभा को पुरस्कृत रखा है।

सिद्धान्त वादिता को साहचर्य भाव से सहयोगी सखारूप से स्वीकृत करते हुए अप्रतिम सिद्धान्तवादी रूप में स्पष्ट हुए हैं।

दार्शनिकता को दाक्षिण्यता से दायित्वपूर्ण दर्शित करते अपनी सुदूर दर्शिता का परिचय दिया है। शताब्दियों तक शोध के बोध के सुपात्रों को मार्गदर्शन देने में सिद्धहस्त सक्षम साहित्यकार रूप में उपस्थित हुए हैं। अपनी उपस्थिति को वाङ्मयी वसुमति पर विशेषता से व्यक्त करने का कौशल उनके दर्शन ग्रन्थों में दिव्य चमत्कार प्रगटित कर रहा है।

ऐसी अलौकिक क्षमता के धनी और समता के शिरोमणी रत्न और प्रशमता के प्राज्ञ पुरुष रूप में अपना आत्म परिचय विस्तृत करने में एक विशेष विद्वान् महाश्रमण हुए हैं। उन्होंने श्रामण्य भाव को साहित्य के धरातल पर शोभनीय बनाने का जो श्रेयस्कर सुपथ चुना है, यह चयन प्रक्रिया शताब्दियों तक इनके सुयश की गाथाएँ गाती रहेगी। विद्या गौरव के गीत जन-जन को सुनाती रहेगी। इस विद्या प्रिय पुरुष ने श्रमण संस्कृति की सेवा में जीवन को समर्पित कर अपनी धन्यता-मान्यता जो मनोरम बनाई है वह मनीषियों के मन को प्रभावित करती रहेगी।

समय स्वयं इनकी सराहना करता समाज को हारिभद्रीय दर्शन पथ का दिग्दर्शन देता रहेगा। ऐसे हरिभद्र को मेरा शत-शत नमन सदा होता रहे और मैं हारिभद्रीय के प्रज्ञान प्रमोद में प्रमेय के पुष्पों का चयन करती उनको वरमाला पहनाती रहूँ। यह ही मेरा हरिभद्र के प्रति हृदयोल्लास है। जो भ्रान्तों के भ्रमितों को भूले हुए को भवविरह पथ का दर्शन देते रहे हैं।

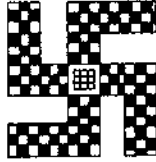
उस हरिभद्र की वैशिष्ट्य कला का मैं क्या वर्णन कर सकती हूँ। वे स्वयं अपनी वर्णता से वरेण्य हैं, विशिष्ट हैं, व्याख्यायित हैं और वाचित हैं। अतः मेरी वाच्य कला और लेखन कला उनके चरणों में समर्पित है।



सप्तम अध्याय की संदर्भ सूचि

| | |
|----------------------------------|------------------|
| १. शास्त्रवार्ता समुच्चय | स्तवक-१, गा. ८७ |
| २. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. |
| ३. शास्त्रवार्ता समुच्चय | स्तवक-१, गा. ८८ |
| ४. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. १५२ |
| ५. योगबिन्दु टीका | गा. ४४९ |
| ६. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ४०९ |
| ७. वही | पृ. ४३० से ४३१ |
| ८. शास्त्रवार्ता समुच्चय | श्लो. १० |
| ९. लोकतत्त्व निर्णय (आत्मतत्त्व) | श्लो. ३, ४, ५ |
| १०. वही | श्लो. ८ से १० |
| ११. शास्त्रवार्ता समुच्चय | स्त. ३, श्लो. २० |
| १२. योगबिन्दु टीका | गा. ३१ |
| १३. धर्मसंग्रहणी | गा. १३५ |
| १४. शास्त्रवार्ता समुच्चय | गा. ७८ |
| १५. योगबिन्दु | गा. १५ |
| १६. वही | गा. २०० |
| १७. वही | गा. ५५, ५६ |
| १८. वही | गा. ३७ से ४० |
| १९. वही | गा. ४५८ |
| २०. योगबिन्दु टीका | गा. ४५८ से ४६१ |
| २१. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. १३८ |
| २२. शास्त्रवार्ता समुच्चय | स्त. २, गा. ३७ |
| २३. षड्दर्शन समुच्चय | का. ४३ |
| २४. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ४०९ |
| २५. योगबिन्दु | गा. १३६ से १४० |
| २६. वही | गा. २९३, २९४ |
| २७. वही | गा. ४५६, ४५७ |
| २८. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका | स्त. १, गा. २ |
| २९. शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका | स्त. १, पृ. ३४ |
| ३०. धर्मसंग्रहणी | गा. १३८५, १३८६ |
| ३१. गीता | अ. ८/२ |

| | |
|-----------------------------------|------------------|
| ३२. वही | अ. ८/३ |
| ३३. षड्दर्शन समुच्चय टीका | पृ. ४१ |
| ३४. लोकतत्त्व निर्णय (कर्मतत्त्व) | गा. १२ से १८ |
| ३५. योगबिन्दु | गा. १४३ |
| ३६. वही | गा. ३०६ |
| ३७. षड्दर्शन समुच्चय | का. ९ |
| ३८. वही | का. १० पूर्वार्ध |
| ३९. षड्दर्शन समुच्चय टीका | का. १७ पृ. ८६ |
| ४०. षड्दर्शन समुच्चय | का. २१ से २५ |
| ४१. वही | का. ६७ |
| ४२. वही | का. ७२ |
| ४३. वही | का. ७३ से ७६ |
| ४४. वही | का. ८१ |
| ४५. षड्दर्शन समुच्चय टीका | का. ५५ पृ. ३२२ |
| ४६. सर्वज्ञ सिद्धि | श्लो. ६४ |
| ४७. लोकतत्त्व निर्णय (जैन मते) | श्लो. ३१ |
| ४८. वही | श्लो. ३२ से ३५ |
| ४९. वही | श्लो. १७ |
| ५०. वही | श्लो. २९ |
| ५१. वही | श्लो. ३१ |



उपसंहार

आचार्य हरिभद्र का व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं से विशिष्ट एवं विख्यात है तो उनका कृतित्व कोविदता और कर्मठता से आलोकित है। उनकी कृतियों में उनकी कुशाग्र बुद्धि एवं हृदय स्पर्श दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि उनका भौतिक देह कालक्रम से विलीन हो गया परन्तु उनकी कृतियाँ उनकी विद्यमानता की परिचायिका है।

वे एक ऐसे व्यक्तित्व के धनी थे, जिनका धन आज भी उनके कृतित्व से सुलभ हो रहा है। उनका व्यक्तित्व वाङ्मय की वसुधा पर वन्दनीय बना है।

शौर्यशील की जन्मभूमि राजस्थान की वसुंधरा है। आचार्य हरिभद्र जैसे निर्ग्रन्थ नरपुंगवों की माता बनने का सौभाग्य राजस्थान की भूमि को मिला है। उसमें चित्तौड़गढ़ को जन्मभूमि का गौरव देकर आचार्य हरिभद्र ने शाश्वत यश को जीवनदान दिया है।

जन्म से ही शिक्षा-संस्कारों की प्रणाली को पवित्र मानने वाले ब्राह्मण कुल को हरिभद्रने सम्पूज्य बनाकर वैदिक वाङ्मय का अगाध अध्ययन किया और ब्राह्मण कुल के शिक्षा संस्कारों को आत्मसात् करके आर्हत पथ पर प्रस्थित हो गये।

श्रमण जीवन में रहते हुए बौद्ध वाङ्मय, जैन वाङ्मय का तलस्पर्शी अभ्यास कर अनूठे, अनुभवी लेखक भी बने, वक्ता भी हुए।

आठवीं शताब्दी में इनके अस्तित्व के कुछ वाङ्मय उद्धरण उपलब्ध हो रहे हैं। पुरातन परिपाटी से ये छठी शताब्दी में भी गिने गए हैं। महापुरुष समयातीत होते हैं। केवल काल गणना कोविदों की अभ्यासमयी इतिहास कला है।

प्रतिज्ञाबद्ध जीवन प्रोन्नत रखने का दृढ-संकल्प आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व में मिलता है। ब्राह्मण होकर एक प्रतिज्ञाबद्ध नियम से तत्काल श्रमण बन जाते हैं। ऐसा उदाहरण इनके सिवाय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। क्योंकि उन्होंने ब्राह्मणत्व में जो राजकीय सम्मान पाया था उसको नगण्य बनाकर निर्ग्रन्थ के राहपर आने में विलम्ब नहीं किया, क्योंकि जिज्ञासा परिवर्तन लाने में पीछे नहीं रहती है।

इनके दीक्षा के विषय में मूलभूत महत्तरायाकिनी का योगदान रहा है। वह याकिनी महत्तरा शासन की सेवा में ऐसे सुधी को समर्पित बनाने में सजग रही, इसी सजगता का परिणाम एक दिन यह आया कि आचार्य हरिभद्र को जिनभद्र का दीक्षा शिष्य बना दिया।

दीक्षित मुनि अध्ययन करते-करते अपने आत्मजीवन को अनमोल बनाते एक दिन आचार्य पद के योग्य बन जाते हैं, शिष्य परिवार सहित।

अहिंसक जीवन में बौद्ध समुदाय के प्रति हिंसा के आशय को प्रायश्चित्त रूप में परिवर्तित करते हुए १४४४ ग्रन्थों का प्रणयन किया। याकिनी महत्तरा के आशयों को गुरुवर जिनभद्र के सदाशयों को सम्मान देते हुए अपने वैर के प्रतिशोध रूप में १४४४ ग्रन्थों की रचना की।

आचार्य हरिभद्र कृतज्ञता के प्रतीक थे। उन्होंने याकिनी महत्तरा के धर्म पुत्र बनकर उनके अविस्मरणीय जननीत्व को प्रसिद्ध किया। प्रत्येक ग्रन्थ की प्रशस्ति में अपना आत्म परिचय 'याकिनी महत्तरा सूनु' के रूप में प्रख्यात बनाया। प्रसव पीडा का माँ को अनुभव नहीं कराया और पुत्र प्रशंसा का पारितोषिक देने में प्राज्ञ रहे।

कृतियों में जो व्यक्तित्व को झलकाये वही तो विद्यवान् है। यही आचार्य हरिभद्र का आदर्श रहा।

समस्त दर्शनों के अवगाहन करने पर भी अपने अस्तित्व को जैन दर्शन से शोभायमान रखा। अनेकान्तवाद अणुगारों का उद्देश्य रहा है, परन्तु एकान्तवाद के उचित अनुशीलन बिना अनेकान्तवाद आभासित नहीं बनता।

आचार्य हरिभद्र विद्या वाङ्मयी की वसुधा पर कल्पतरु बनकर अन्त तक कोविद रहे। अनेक विरोधों के वैमनस्य में न डूबकर समन्वयवाद का शंख बजाते रहे।

आचार्य हरिभद्र की लेखनी में कपिल, पतञ्जली जैसे अन्य दार्शनिकों को भी महात्मा पद से सम्बोधित किया है। यह उनकी उदारता का प्रतीक है।

ज्ञान के आशय से इतने गम्भीर और गौरवान् थे कि अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों को ससम्मान समादर दिया। इनके सम्पूर्ण जीवन की कृतियों में अखिल वाङ्मय की वास्तविकता छापी हुई मिलेगी, जो इनकी शोभा को चार चाँद लगाती है।

योगियों के योग विषयों को भाषाबद्ध संकलन करने का श्रेय जैन साहित्य में आचार्य हरिभद्र को मिला है। यद्यपि संस्कृत समर्थ विद्वान् होते हुए भी निर्ग्रन्थ निगमगमों की पावनी प्राकृत भाषा को लेखनी से लिपीबद्ध किया।

श्रुत को कामधेनु स्वीकार कर इस प्रकार से दोहन किया, जो दुग्ध आज भी प्राज्ञजन पी रहे हैं। यही उनकी समदर्शिता का विपाक है। परिणाम है। इस प्रकार शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को उजागर करता है।

तत्त्व को संपूज्य श्रद्धेय स्वीकार करने का सदाचार हमारे संस्कृति में सदा से सनातन रहा है। तत्त्व को बुद्धि से तोलकर हृदय से शिरोधार्य कर हमारी संस्कृति चलती आ रही है और तत्त्व जगत के प्रकाश को प्रसारित करती रही है।

तत्त्व और सत्त्व इनको अवधारित करने की हमारी उज्वल परम्परा प्राचीन मिली है। पुरातन युग में तत्त्व की अवधारणाएँ सर्वोपरि सिद्ध रही है, प्रसिद्ध बनी है। इसीलिए प्राचीन काल से अद्यावधि तत्त्व मीमांसा की महत्ताएँ, मान्यताएँ जीवित रही है। इसीलिए द्वितीय अध्याय में आचार्य हरिभद्र की तत्त्व मीमांसा का चिन्तन हुआ है।

लोकवाद भी तत्त्व के महत्त्व को शिरोधार्य करता चल रहा है। इसी तत्त्व को द्रव्यगुण से गरिमान्वित बनाने का श्रेय द्रव्यानुयोग ने उपार्जित किया है। जो तत्त्व अस्तित्ववाद से आशान्वित हुआ है उसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय आदि घटित हुए हैं। यह मात्र जैन दर्शन की अपनी निराली देन है। काल की गणना अनस्तिकाय में की है। क्योंकि काल का समूह नहीं होता है। वर्तमान काल मात्र एक समय का होता है।

ये तात्त्विक विचार अनेकान्तवाद से उल्लिखित भी हुए हैं। यह अनेकान्तवाद तत्त्व के तेजोमय प्रकाश का एक प्रतिबिम्ब है। जिसको सर्वज्ञों ने भी स्वीकार कर सर्वजनहित में वाच्य बनाया है और वही महापुरुष सर्वज्ञता की सिद्धि के प्रणेता बने। इसलिए तत्त्व जैसे तिमिर रहित तेजोमय प्रकाश में हमारी संस्कृति, हमारा स्वाध्याय पथ और परलोक सम्बन्धी विमर्श, इहलोक सम्बन्धी मंतव्य तत्त्व के अन्तर्गत आलोकित मिले हैं।

आचार्य हरिभद्र ने भी तत्त्ववाद के उपर अपनी विशाल प्रज्ञा को प्रस्तुत कर तत्त्ववादिता का सार जगत को समझाया जिसका यह परिणाम है कि हम तात्त्विक और सात्त्विक बनते चले आ रहे हैं। यह चिरन्तनी तत्त्वमयी साधना उपासना के रूप में आज भी प्रतिष्ठित है, पूज्य है, परम आराध्य है।

युग के दृष्टिकोणों से तत्त्व की विभिन्न अवधारणाएँ बनती ही गई हैं। परन्तु वह तत्त्व एक ही है जो अनेक मंतव्यों से मान्य हुआ है।

‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं इह विद्यते।’ - ज्ञान के सदृश पवित्रतम अन्य कोई नहीं है। अतः यह अनुपमेय है। अतः तृतीय अध्याय में ज्ञान मीमांसा की विवेचना है। इसका उत्पत्ति स्थान आत्मा ही है, अतः इसको पाँच प्रकार से जैन दर्शन में प्रतिपादित किया है। ज्ञान स्वयं स्वप्रकाश स्वरूप है, इसे ही मति, श्रुत के भेद से सन्तुलित समन्वित किया गया है। अवधि, मनःपर्यवज्ञान जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण मान्य विषय रहा है। केवलज्ञान एक ऐसा ज्ञान है जहाँ मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यव सभी विराम लेकर केवलज्ञान में लीन हो जाते हैं।

मतिज्ञान सहित ही श्रुतज्ञान की महिमा बताई गई है। ‘जत्थ मइण्णाणं तत्थ सुयमाणं’ - जहाँ मतिज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान अवश्य रहता है। इन दोनों में कुछ समानताएँ पाई जाती हैं तो कुछ विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जिसके कारण मति श्रुत भिन्न-भिन्न स्वीकारा है। मति श्रुत के भेद प्रभेद भी अत्यधिक समुपलब्ध होते हैं।

केवलज्ञान अन्तिम इसलिए स्वीकृत किया गया है कि जिसमें अन्य सभी ज्ञान सम्पूर्ण अस्तित्व से एकीभूत हो जाते हैं। अन्य ज्ञानों की एकीभूतता का नाम ही केवलज्ञान है। इसलिए केवल का महत्त्व एवं मूल्यांकन विशेष रहा है।

ज्ञान लोकालोक की सीमाओं तक प्रकाशित रहता है और सर्वत्र प्रसरणशील बना रहता है। ज्ञान से ही ज्ञेय तत्त्व का प्रतिबोध होता है अन्यथा ज्ञेयता निर्मूल बन जाती है।

सिद्ध जीवों में ज्ञान का सद्भाव शाश्वत रहता है। अतः ज्ञान को विशिष्टता से व्याख्यायित किया गया है। इस ज्ञान का विशिष्टपन अपने आप स्वयं सिद्ध मान लिया गया है क्योंकि ज्ञान के बिना ज्ञाता होना अशक्य है। ज्ञानने सभी शक्यताओं को समुचित रूप से सही मार्ग-दर्शन दे दिया है।

विचारों की व्युत्पत्ति को विशेषता से व्यवहार में लाने का काम आचार है। कई बार विचारों को विधिवत् पवित्र बनाने में आचार के अगणित उत्तरदायित्व मिले हैं। इसीलिए आचार पारिभाषिक बना, परिपूजित रहा और प्राचीनतम होता गया। नित्य नवीनता को भी मार्गदर्शन देता रहा। आचार अपने आप में आत्म निर्भर रहा है और स्वयं में सक्षम रहने का दृढतम प्रयोग प्रारम्भ करता है। इसीलिए आचार की संहिता बनी, इसी आचार मीमांसा का उल्लेख चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

आचार आत्मज्ञान के सिवाय स्वयं में रहने की शक्ति नहीं रख सकता है। अतः आत्मज्ञान का और आचार का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। कई बार आचार देश, काल, आत्ममति विज्ञान से अनेक प्रकार के आकार को, प्रकार को, प्रसार को धारण करता है।

जैन दर्शन ने भी इसी आचार को मूर्धन्य मानकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को उल्लिखित किया है। साथ में साध्वाचार और श्रावकाचार में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत का स्थान रहा है। इसीसे श्रावक आचारवान् गिना जाता है।

श्रमणाचार में पाँच महाव्रतों का सत्रह प्रकार के संयम, पाँच चारित्र, बाईस परिषहों का पालन करने से श्रमण आचारवान् अभिभाषित किया गया है। इसलिए आचार को प्रथम धर्म के रूप में वैदिक विज्ञान ने घोषित किया है। “आचारः प्रथमो धर्मः” आचार ही धर्म-कर्म को प्रकाशित करता है। आचरण से ही उच्चारण का सौभाग्य खिलता है। इसीलिए कथनी और करनी की शुद्धता का नाम आचार है। आज आचार संहिता उपलब्ध होती है तो ऋषि-महर्षियों के विज्ञान का परिणाम है। आज हम बौद्ध दर्शन में भी आचार सम्बन्धी मान्यताएँ प्राप्त कर रहे हैं। इन्हीं आचार को विस्मृत कर लिया जाय तो आशयों का मूल्यांकन समाप्त हो जाएगा। इसलिए आचरण जीवन की गतिविधियों की गरिमा को धारण करनेवाला आचार है। आचार से ही अभिजातपन अवभासित होता है। अतः उपादेय है, आदृत है और आचरणीय है। यदि आचार रहित विचार जीवित रहते हैं तो वे कारागार जैसे कठघरे में अवरूढ़ हैं। निर्विरोध नित्य संचार करनेवाला वायु आचार स्वरूपवान् होकर समक्ष में आता है और परोक्ष की विश्वासभूत बातें विदित करवाता है। विदित करवाने में विचारों की श्रृंखला को आचार ने ही सुरुप दिया है, इसलिए आचार एक उत्तम आचरण का स्थान है। जिनको इतिहास भी शिरोधार्य कर चल रहा है। साहित्य भी स्वान्तकरण में सम्मानित करता जीवित रह रहा है। समाज भी आचारों से उदित और मुदित रह सकता है। इसलिए आचार प्रधान जीवन का संविधान स्पष्ट हुआ है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने आचार एवं आचारवान् में कुछ अभिन्नता दिखाकर दार्शनिक तत्त्व स्याद्वाद को उजागर किया है जो जैन दर्शन का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक तत्त्व है। साथ ही उन्होंने आचार का आधार आत्मज्ञान

बताकर यह सूचित किया है कि आचार के द्वारा ही आत्म-संयम की प्राप्ति होती है तथा आत्मज्ञानी ही आचारों का सुसमाहित बनकर पालन कर सकता है, जिससे सर्वश्रेष्ठ मोक्षपद की प्राप्ति भी शक्य है।

उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि आचार ही मोक्ष उपाय का साधन है तथा प्रवचन का सार भी है। अतः अन्य दर्शनों के आचारों की अपेक्षा जैन दर्शन के श्रमण-श्रमणियों, श्रावक-श्राविकाओं के लिए कठोर कष्ट से भरपूर आचारों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है।

वर्तमान युग में आचार चुस्तता का पालन अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि भौतिकवाद के युग में अपने जीवन को निर्मल, स्वच्छ एवं उज्वल बनाने के लिए यह एक सुंदर उपाय है। ऐसा आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं।

क्योंकि यह बात उन्होंने अपने जीवन में अनुभव की थी। उनका स्वयं का जीवन याकिनी महत्तरा के आचार शुद्धि को विनय, विवेकशीलता को देखकर ही परिवर्तित हुआ था। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थों में आचार को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

कर्म क्रियाओं से परिभाषित बनता है। स्वरूपता में ढलता है, अर्थात् क्रियाओं से ही कर्म स्वरूपवान् रहता है। कर्म स्वरूप स्थिति में रहता हुआ भी पौद्गलिकता परिणाम में ढला हुआ, पला हुआ जडवत् स्वीकारा गया है। इसीलिए बंध की प्रक्रिया जटिल बनती है। क्योंकि स्वबोध से शून्य है, अतः जैन दर्शनकारों ने कर्म को स्वभाववान् मानकर भी चेतनाशून्य गिना है। यही कर्म भिन्न-भिन्न नाम रूप को धारण करता आठ प्रकार के आचारों में परिगणित हुआ है। इस प्रकार कर्म भेदों से, प्रभेदों से इतना विस्तृत बन गया है कि आत्मा जैसे चैतन्यवान् को भी आच्छादित कर बैठा है। इसी महत्त्वपूर्ण कर्म सिद्धान्त की मीमांसा पंचम अध्याय में दी गयी है।

मूर्त का अमूर्त पर उपघात यह विधिवत् हमें मिलता है, क्योंकि कर्तृत्व भाव और कर्मभाव परस्पर सापेक्ष है। इनकी सापेक्षता की चर्चा कर्म मीमांसाओं में वर्णित मिलती है। यही कर्म जडवत् होता हुआ भी जन्मान्तरीय संगति का त्याग नहीं करता है। इसीलिए जीव और कर्म की अनादि संगति शास्त्रों में वर्णित है और कर्म विपाक जैसे अंगसूत्रों का उदय हुआ।

शास्त्रकार भगवंतों ने कर्म बन्ध के प्रतिपक्ष स्वरूप को भी सुवर्णित कर जीव को सावधान बनाया है। अनेक उद्यमों से, उपायों से कर्मबन्ध रहित रहने का निर्देश दिया है। और अन्त में सर्वथा कर्मबन्ध रहित रहने का उपदेश और उदाहरण देकर सत्यता को स्पष्ट किया है। कर्म को सर्वथा समाप्त करने में गुणस्थानों की गणना की गई है। उसमें कर्म स्थितियों पर, परिस्थितियों पर पुनः पुनः विचार कर, कर्म के स्वामीपन का, कर्म के विशिष्टपन का विवेचन आचार्य हरिभद्रने किया है। आचार्य हरिभद्र का व्युत्पन्न वैदुष्य कर्मवाद की मीमांसा में विशेष रहा है। उन्होंने 'समराइच्च कहा' 'कर्मस्तववृत्ति' आदि में कर्मवाद को पुष्ट किया है।

इस प्रकार कर्म की भूमिका जीव के साथ शाश्वत है। इसे जैन दर्शन ने स्वीकार की है और बन्ध मुक्त के उपायों का अन्वेषण कर उपादेय तत्त्वों की विचारणाएँ विविध भांति से कर्मग्रन्थों में मिलती है।

कर्मवाद की स्पष्ट विवेचनाएँ पूर्वों में भी मान्य हुई है जैसे कर्मप्रवाद आदि पूर्व इसके परिचायक है। अतः कर्ममुक्त होने के उपाय वाचकवर उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट किये है - 'कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः'।

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय की भूमिका का नाम मोक्ष है। मोक्ष ही कर्मबन्ध रहित रहनेवाला ऐसा स्थान है, जहाँ कर्म स्वयं सुदूर रहता है।

कर्म की परिभाषाओं को, कर्म के स्वरूप को और कर्म पौद्गलता को प्रस्तुत कर कर्मशास्त्र की निपुणता अभिव्यक्त की है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया का परिपूर्ण अध्ययन करके कर्मों का स्वभाव, कर्मों के भेद-प्रभेद आदि का विवेचन चेतोहरा किया है। कर्तृत्वभाव और कर्मभाव परस्पर सापेक्ष रहे हैं। कर्म और पुनर्जन्म की गहन ग्रन्थियों पर विशेष प्रकाश डाला है। कर्म और जीव के अनादि सम्बन्ध का स्वरूप चित्रित कर कर्म के विपाक को विवेचित किया है। कर्म का नाश कैसे किया जाय, गुणस्थानों में कर्म का स्वरूप, कर्म का वैशिष्ट्य व्यवस्थित रूप से विवेचित किया।

छठे अध्याय में योग सिद्धान्तों की विवेचना हुई है। योग अपने आप में निष्पन्न व्युत्पन्न, ज्ञान गुणवाला रहा है, फिर भी इसके उद्गम, उदय एवं आविर्भाव के विषय में काल गणनाएँ हुई हैं। यह योग शब्द चिरन्तन साहित्य में भी आया है और योग क्रिया के विषय में मान्यताएँ, महत्ताएँ प्रज्वलित बनी हैं। किसी-किसी ने तो चित्र बुद्धि आत्मतत्त्व के संयम को योग कहा है, किसी ने निरोध को योग कहा है। अवरोध और अवबोध का सम्बन्ध घटाकर योग का जन्म सिद्ध किया है। योग सचमुच एक ऐसा मौलिक महान् साधनामय सुमार्ग है, जिसमें निरोध से अवबोध प्रकट होने का अवसर दिया है।

हम योग की परिभाषाएँ श्रमण वाङ्मय में भी पढ़ते रहे हैं। बौद्ध वाङ्मय भी योग की विचारणाओं से भरा पड़ा है वैदिक वाङ्मय योग की उपासनाओं का चित्रण करता रहा है। इस प्रकार योग आर्य संस्कृति का आध्यात्मिक आधार स्तम्भ गिना गया है।

योग में श्रमणधारा और वैदिक विचारणाएँ एकीभूत मिलती हैं। इसीलिए पतञ्जली के योगसूत्रों पर उपाध्याय यशोविजयजी ने टीका लिखी। योग एक ऐसा श्रेष्ठ साधनामय सुपथ है जहाँ एकीभूत होकर रहने का सुअवसर समुपलब्ध होता है।

योग को व्यवहार नय से और निश्चय नय से निरूपित करने का निश्चल निर्णय निर्ग्रन्थ वाङ्मय में समुपलब्ध होता है। एक तरफ आध्यात्मिक विज्ञान दूसरी तरफ जीवन व्यवहार का विज्ञान दोनों योग क्रियाओं से सर्वथा सन्दर्भित है। व्यवहार योग की देशनाओं का प्रदर्शन करता, परिपालन करता चलता रहता है। निश्चय आत्मवाद के उच्चतत्त्वों पर अस्खलित रूप से चलता हुआ जीवन प्रगति की परिपाटी परिणत करता है। अतः व्यवहार और निश्चय से भी एकदम अधिगम्य अवबोधित होता है।

योग एक ऐसे अधिकारों को आविर्भूत करता है जो व्यक्ति को आत्मानुशासन में, शब्दानुशासन में सुसंयमित रहने का विधान सिखाता है। योग के अधिकारी वे भी रहे हैं, जिन्होंने निरोधों को, निग्रहों को, परिग्रहों को परिचित बनाया है। हेय, उपादेय के विज्ञान से विवेचित रखा है। यही लोग कर्मशुद्धि के उपायों का आश्रय केन्द्र है। जिनको योग सूत्रकारों ने योग विषयक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विवेचनाओं से विवेचित कर विबुध जगत को योग विद्या का अनुदान दिया है।

योग साधना का महत्त्व हमारे वाङ्मयी वसुधा का कल्पतरु है। इस योग साधना को सुसाधित करनेवाले योगीजन निश्चलता से आत्म निखार लाते हुए निर्बन्ध अवस्था में नित्य अप्रमत्त रहते हैं। यह अप्रमत्तता योग की उच्च भूमिका स्वरूप है।

योग का स्वीकार कर योग के लक्षण, योग की परिभाषाएँ, योग के अधिकारी, योग के साधक तत्त्व, योग के बाधक तत्त्व और योग के सदनुष्ठान चर्चित कर आशयशुद्धि, योग की दृष्टियाँ दिखाते हुए आचार्य एक विशिष्ट योगी रूप में परिलक्षित हुए हैं। इन योग के प्रायः सभी विषय में आचार्य हरिभद्र ने अन्यदर्शनों का समन्वय दिखाया है, जैसे कि - 'मोक्षेण योजनाद् योग' - यह योग का एक ऐसा लक्षण है कि इसमें समस्त दर्शनकारों के योग लक्षण का समावेश हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक दर्शनकारों का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है और वह अकुशलप्रवृत्ति के निरोध से ही संभव है।

साथ ही उन्होंने योग के अधिकारी अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति कहकर वैदिक परंपरा में प्रस्तुत चार आश्रमों का समन्वय स्पष्ट दिखाया है।

महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि अनेक ग्रन्थों का परिशीलन योगदृष्टि समुच्चय में दृष्टिगोचर होता है। गीता के परिशीलन की छाप हरिभद्र के मानस-पटल पर अंकित हुई है। उन्होंने गीता में स्थित संन्यास शब्द को मान्यता प्रदान करते हुए योगदृष्टि में धर्म संन्यास एवं योग संन्यास सामर्थ्य योग के दो भेदों का उल्लेख किया है यह उनकी समन्वयवादी प्रवृत्ति को ही उजागर करते हैं।

अन्त में आचार्य हरिभद्रसूरि जिनका अपना मौलिक चिन्तन योग की आठ दृष्टियाँ है उसका भी समन्वय पातञ्जल योग-दर्शन के यम-नियम आदि आठ योगांगों के साथ किया।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र के योग-सिद्धान्तों में स्थान-स्थान पर अन्य दर्शनों के योगों का समन्वय दिखाई देता है।

आचार्य हरिभद्र अन्य दर्शनों के सम्पूर्ण ज्ञाता बनकर उनकी अवधारणाएँ उच्चता से हृदयंगत करते हुए अपनी दार्शनिक धरातल पर अपराजित रहते हैं। अन्य दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को सम्मान स्वीकृत करते हुए अपनी मान्यता का मूल्यवान् मूल-सिद्धान्त प्रगटित करते हुए पराजयता को स्वीकार नहीं करते हैं और न आत्मविजयता का अभिमान व्यक्त करते हैं। उनका यह समन्वयवाद श्रमण संस्कृति का मूलाधार बना है। श्रमण वही जो क्षमा को, क्षमता को आजीवन पालता रहे।

आचार्य हरिभद्र इसी के उदाहरण है। उन्होंने आत्म क्षमता को वाङ्मय में विराजित कर अन्य की अवधारणाओं को अनाथ होने नहीं दिया। अन्यो की मान्यताओं का मूल्यांकन करने में मतिमान रहे। ऐसी शोभनीय सुमतिवाले आचार्य हरिभद्र का दार्शनिक जीवन सभी को सुमान्य हुआ क्योंकि उनकी आवाज अवरोधमयी नहीं थी। अपमानमयी नहीं थी, परंतु एक आदर्शमयी थी। अतः उनके ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों को बहुमान मिला है जिसका उल्लेख सप्तम अध्याय में किया गया है।

श्रमणवाद को सहिष्णुता का आदर्शवाद उपस्थित करने में आचार्य हरिभद्र एक प्रगट-प्रभावी पुरुषवर थे।

बौद्धों के बुद्धिगम्य संबोधों को स्वीकार करते हुए स्वात्म सिद्धान्त की धारणाओं को ध्वंस होने नहीं दिया। यह इनकी अलौकिक साधना श्रमण संस्कृति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित की जायेगी।

हरिभद्र का दर्शन अन्य दर्शनों की अवधारणाओं से गर्भित है, गुम्फित है। फिर भी स्वयं की दार्शनिकता जीवित मिलती है। दर्शन ग्रन्थों में जहाँ अन्य अवधारणाएँ अवसान तुल्य बन जाती है। सम्मान देकर स्वयं को स्वदर्शन में प्रतिष्ठित रखने का हरिभद्र का प्रयास प्रशंसनीय रहा है। तत्काल प्रचलित दर्शनवादों का अनुशीलन करते हुए अनुनय पूर्वक अपने ग्रन्थ सन्दर्भों में सम्मान देते हुए स्वयं में सुदृढ़ रहते है। ऐसी अद्भुत दार्शनिकता का दर्शन हरिभद्र-के वाङ्मय में दर्शित होता है।

सत् का स्वरूप और सम्बन्ध सर्वथा उपादेय है। सत् के बिना शास्त्रीय मीमांसा चरितार्थ नहीं होती है।

आत्मतत्त्व अखिल दर्शन का सार है जो सर्वत्र सन्मान्य है। योग का स्वरूप आध्यात्मिक जगत का एक प्रतीक श्रेष्ठ स्वरूप है।

मोक्ष सभी को मान्य है और मोक्ष की उपादेयता सभी ने अंगीकृत की है। अतः मोक्ष मान्य है और श्रद्धेय भी है।

कर्म विज्ञान इतना विवेचित विवक्षित है कि उसका तत्त्वावबोध सभी के लिए अनिवार्य है।

प्रमाण सहित प्रमेय का महत्त्व मान्य बना रहा है। इसलिए सप्रमाण प्रस्तुति करण का उपयोग शास्त्रमान्य रहा है। सर्वज्ञ स्वयं में सत्प्रतिशत सफल सत्य है, जो त्रिकाल में भी तिरोहित नहीं बन सकता।

अन्यान्य सन्दर्भों से सर्वज्ञ की सर्वोत्तमता सभी को सन्मान्य है। आचार्य हरिभद्र ने 'सर्वज्ञ सिद्धि' ग्रन्थ में सर्वज्ञ की सुन्दर, सुगम्य सिद्धि करके सर्वज्ञ को सर्वोत्कृष्ट कोटि में रख दिया।

उपरोक्त बिन्दु के सिवाय भी आचार्य हरिभद्र ने अपनी लेखनी चलाई है। जो पारमार्थिक रूप से श्रद्धा का सम्बल है। उन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थों को श्रद्धागम्य बताया है, तो विचारों को आचार गम्य दिखाया है।

उन्होंने एकान्त के साथ अनेकान्त को जोड़कर विश्व के सामने स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रदर्शित कर दी जो अनेक प्रकार के वैर-विरोध, वाद-विवाद से हटकर समन्वयवादी की पुरोध्या बनी। अन्त में सभी दार्शनिकों को उन्होंने अपने ग्रन्थों में जीवन्त किया है।

शिष्यहिता टीका एवं नन्दीसूत्र टीका में जो ज्ञान का अनुपम रहस्य उद्घाटन किया है। वैसा अन्य दर्शनों में अप्राप्य है। ज्ञान उनके जीवन का एक अंग बन गया था। उन्होंने विषयों को सुंदर ढंग से सजाकर साहित्य जगत् को समर्पित किया है। साथ में अपने विषय प्रतिपादन के साथ पूर्वपक्ष को आदर सहित स्थान प्रदान किया है। अन्य दर्शनों की अवधारणाओं को अपने साहित्य में अवतरित करके कई स्थानों पर खण्डन न करते हुए मण्डन का रूप प्रदान किया है। इसका सर्व श्रेष्ठ साक्षी ग्रन्थ 'षड्दर्शन समुच्चय' ग्रन्थ है। अल्प श्लोकों में अथाह भावों को भर दिया। 'गागर में सागर' कहेंगे तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनकी उदारता, विराटता, विशालता यहाँ भी प्रस्तुत होती है।

आचार्य हरिभद्र अपने आप में एक अप्रतिम आचार्यवर हुए।

उनका व्यक्तित्व वाङ्मय के विशाल कलेवर में कृतज्ञ है। उनकी कृतियाँ उनके जीवन चरित्र शाश्वत का आयुष्य देती रही है। उनका वैदुष्य विशाल विवेक सम्पन्न विगतमय विद्याप्रवाद से परिपूर्ण रहा। वे युग-युगों तक सदैव स्मरणीय सेवनीय रहेंगे।

अन्यान्य दर्शनों में दर्शनकारों ने भी हरिभद्र की प्रतिभा का पूजन किया है। उन्होंने जितने भी ग्रन्थों की रचना की है, इतनी किन्हीं आचार्यों की नहीं मिलती है। अपने अद्भुत व्यक्तित्व से वाङ्मय को विशाल रूप देने में महाविद्यावान् सिद्धहस्त एक सफल टीकाकार हुए।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य इतना विपुल एवं विशेष विद्यमान है जिसको तत्त्वमीमांसा से आत्मसात् किया जा सकता है। अनेकान्तवाद की भूमिका से भव्य देखा जा सकता है। सर्वज्ञ सिद्धि के सोपान पर जाने का सहज मार्ग समुपलब्ध हो सकता है। ये सारी बातें ज्ञानमयी धारणा से स्वपर प्रकाशक बन सकती है। पंचज्ञान की सिद्धि के लक्षण, प्रकार का प्रस्तुतिकरण आचार्य हरिभद्र का अनूठा रहा है।

इस प्रकार ज्ञान के वैशिष्ट्य से जिनका वैदुष्य युग-युगों तक आदर्शता की कथा कहता रहेगा। पंचाचार की प्रवीणता परम उत्कर्ष रूप से उपस्थित करने में अपना अनुभव उच्चता से प्रस्तुत किया है।

आचार के बल पर आचार्य पद की गरिमा को गौरव देने का प्रयास प्रशंसनीय बनाया है।

अन्य दार्शनिकों की दृष्टि में आचार्य हरिभद्र का दार्शनिक ज्ञान आस्थेय बना है। उन्होंने आत्मा, योग, मोक्ष, कर्म जैसे असामान्य विषयों पर अपनी सिद्ध हस्त लेखनी चलाई है। जो युग-युगों तक इनके यशस्काय को मान्यता देती रहेगी।

इनका सर्वज्ञवाद समुचित रूप से, सुव्याख्येय बनकर विद्वद् समाज में सर्वमान्य रहा है। इस प्रकार उन्होंने आजीवन सहस्रवार्ताओं में अपना अमूल्य समय अर्पित कर वाङ्मय को विशाल विशारद रूप दिया ऐसा कहना उपयुक्त होगा।



प्रशस्ति

श्री जैन शासन विश्व प्रांगण, परम शुद्ध अनंत है।
वीर पटाम्बर विभूषित, श्रमण संघ महंत है ॥
सुधर्म जम्बू प्रभव आदि जगत में जयवंत है।
विमल पावन गड्ढा क्रम से नित्य प्रति प्रणमंत है ॥ १ ॥

सोहम परंपर में हुए है, त्यागी तपस्वी सूरीश्वरा।
जगच्चंद्र सूरीश तदनु, रत्नसूरीश मुनीश्वरा ॥
वीर वाणी के प्रकाशक, क्षमासूरीश दीनेश्वरा।
देवेन्द्रसूरि कल्याणसूरि, पट्टधर हितेश्वरा ॥ २ ॥

प्रमोदसूरि प्रातापी जगमें, सिद्धि साधक संत थे।
प्रभू सूरि राजेन्द्र जगमें, परम दीप्तिवंत थे ॥
साहित्य सर्जक पूज्यवर थे, ज्ञान सागर गुरुवरा।
उत्कृष्ट साधवाचार पालक, जैनशासन जयकरा ॥ ३ ॥

पट्टधर धनचंद्रसूरि, चर्चा चक्री सोहता।
श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरि, पट्ट पर मन मोहता ॥
सूरिवर यतीन्द्र थे, गंभीर गणनिधि गणधरा।
सूरि विद्याचन्द्र तसपट, शान्त मूर्ति कविवरा ॥ ४ ॥

जयन्तसेन सूरीश सांप्रत, काल में है गणपति।
तस आणपालक श्रमणीवर्या, मान कंचन गुणवती ॥
लावण्य श्रीजी गुरुणी शिष्या, शान्त श्री कोमललता।
शिष्या अनेकान्तलताश्री यह शोध ग्रन्थ आलेखिता ॥ ५ ॥

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|-------------------------------|-----------------------------------|----------------|---|
| १. | अभिधान राजेन्द्र कोष ७ भाग | राजेन्द्र सूरीश्वरजी | ई. १९८६ | अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था अहमदाबाद |
| २. | अध्यात्म उपनिषद् | यशोविजयजी | वि.सं. २०५४ | करमचन्द जैन पौषधशाला, अंधेरी, मुंबई |
| ३. | अनुयोगमलधारीय वृत्ति | मलधारी हेमचन्द्रसूरि | वि.सं. २०४५ | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ४. | अनुयोग द्वारा सूत्रम् | श्रीमत्पथविर | वि.सं. १९७६ | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ५. | अनेकान्त व्यवस्था प्रकरणम् | यशोविजय गणि | वि.सं. २५१४ | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ६. | अनुयोग द्वार टीका | हरिभद्रसूरि | वी.सं. २४४१ | श्रीमति आगमोदयसमिति, सुरत |
| ७. | अनेकान्त वाद प्रवेश | हरिभद्रसूरि | वी.सं. २४४६ | शाह लहेरचन्द भोगीलाल अणहिल्ल पत्तनम् |
| ८. | अनेकान्तजयपताका | आ. हरिभद्रसूरि | वि.सं. १९४० | Oriental Institute, Baroda |
| ९. | अष्टक प्रकरण | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २०४० | पंचाशक प्रकाशन समिति, सिसोदरा |
| १०. | अभिधम्मत्थ संग्रह | अनुरुद्धाचारिय | वि.सं. १९७९ | श्री मोहनलाल मगनलाल तुररिवआ ट्रस्ट, श्री दिगम्बर जैन समाज, राजकोट |
| ११. | आवश्यक निर्युक्ति टीका | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २०३८ | कोठरी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई |
| १२. | आवश्यक सूत्र निर्युक्ति | भद्रबाहु स्वामी | वी.सं. २४९१ | निर्णय सागर मुद्रणालय, मुंबई |
| १३. | आचारांग सूत्रम् | सुधर्मास्वामी | इ. १९३६ | धनपतसिंह बहादुर आगम संग्रह, कलकत्ता |
| १४. | आनन्द धन ग्रन्थावली | महताबचन्द खारैड | सं. २०३१ | विजयचन्द जरगड, जयपुर |
| १५. | आप्तमीमांसा | स्वामी समन्त भद्राचार्य विशारद | | प्रथम आवृत्ति निर्णय सागर प्रेस, बम्बई |
| १६. | आवश्यकसूत्र व चूर्णि | श्री भद्रबाहुस्वामी | वि.सं. २०२१ | भावनगरस्थया श्री जैन आत्मानन्द सभा |
| १७. | आचारांग टीका | श्री शीलांकाचार्य | सन् १९३५ | श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई |
| १८. | इतिवृत्तक | भिक्षु धर्मरत्न | बुद्धाब्द २४९९ | महा बोधि सभा सारनाथ, बनारस |
| १९. | उत्पादादि सिद्धि विवरण | यशो विजयजी गणि | वी.सं. २४७० | श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा राजनगर (अहमदाबाद) |

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|-------------------------------|-------------------------------|--------------------------|--|
| २०. | उत्पादादि सिद्धि नामधेयं टीका | यशोविजयजी गणि | वी.सं. २४७० | श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा राजनगर (अहमदाबाद) |
| २१. | उपमिति भव प्रपंच | सिद्धर्षि गणि | | राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर |
| २२. | उत्तराध्ययन सूत्र | भद्रबाहु स्वामी | वि.स. २०४६ | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| २३. | उपासक दशांग सूत्र | श्री कन्हैयालालजी स. | वि.स. २०१७ | श्री अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट |
| २४. | उपदेश पद | हरिभद्रसूरी | वि.सं. १९६५ | जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग, पालीताणा |
| २५. | उपदेश माला | धर्मदास गणी | वि.सं. २०५८ | दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका |
| २६. | ऋग्वेद | अपौरुषेय | सन् १९४० | वैदिक संशोधन मण्डल, पूना |
| २७. | औपपातिक सूत्र | मुनि उमेशचन्द्रजी | ई. १९६३ | श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति |
| २८. | अंगुत्तर निकाय | अनुवादक भदन्त कौशल्यायन | | महाबोधि सभा, कलकत्ता |
| २९. | कर्मग्रन्थ | देवेन्द्र सूरी | ई. १९३९ | श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा |
| ३०. | कर्म प्रकृति | महोपाध्याय यशोविजयजी | वि.सं. २०६० | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ३१. | कथारत्न कोष | देवभद्र सूरी | वि. २००० | जैन आत्मनंद सभा, भावनगर |
| ३२. | कठोपनिषद् | आद्य शंकराचार्य | वि. २०२८ | चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी |
| ३३. | कल्पसूत्र बालावबोध | श्री राजेन्द्रसूरी | वि.सं. २०५५ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, मुंबई |
| ३४. | कुवलयमाला | श्री उद्योतनसूरी | वि.सं. २०१५ | सिंधी जैन शास्त्रपीठ भारतीय विद्याभवन, मुंबई |
| ३५. | गोम्मत सार | नेमिचन्द्र | ई. १९७२ | श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल, आगास |
| ३६. | चतुःशतकम् | प्रो. भागचन्द्र जैन भास्कर | स. २००७ द्वि. संस्करण | सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर |
| ३७. | चरक संहिता | महर्षिणा भगवताप्रिवेशेन | स. १९४८ | मोतीलाल बनारसीदास, बनारस |
| ३८. | जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति | अज्ञातपूर्वधर स्थविर | वि. २०५४ | हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखाबावल |
| ३९. | जीव विचार | श्री शांतिसूरीजी | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|----------------------------|---------------------------|-------------|--|
| ४०. | जीवाजीवाभिगम सूत्रम् | श्री मलयगिरीजी | वि.सं. २५१७ | जिन शासन आराधना ट्रस्ट भुलेश्वर, मुंबई |
| ४१. | जैन तर्क भाषा | यशोविजयजीगणि | वि.सं. २०५३ | दिव्य दर्शन प्रकाशन ट्रस्ट, धोलका |
| ४२. | तत्त्वार्थ सूत्र | वाचक उमास्वाति | वि. २०५३ | राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, आहमदाबाद |
| ४३. | तत्त्वार्थ भाष्य | सिद्धसेन गणि | ई. १९८० | देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, मुंबई |
| ४४. | तत्त्वार्थ हारिभद्रीय टीका | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २४६२ | ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था |
| ४५. | तत्त्वार्थ राजवार्तिक | श्रीमद्भट्टाकलंक | ई. १९१५ | श्री पन्नालाल जैन चन्द्रप्रभा प्रेस, बनारस |
| ४६. | दशवैकालिक सूत्र | आ. शय्यभवसूरि | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, आहमदाबाद |
| ४७. | दशवैकालिक टीका | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २०४६ | श्री जिन शासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ४८. | दशाश्रुतस्कंध | श्री भद्रबाहुस्वामी | वि.सं. २०६३ | श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ शोफाली एपार्टमेंट, वासणा, पालडी, अहमदाबाद |
| ४९. | देववन्दन माला | श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि | वि.सं. २०६० | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ५०. | दंडक | गजसार मुनि | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ५१. | द्रव्यास्तिकाय | आ.कुन्द कुन्द | वि.सं. २०२५ | श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम, आगास |
| ५२. | द्रव्य गुण पर्याय का रास | यशो विजयजी | वि.सं. २०६० | जैनधर्म प्रसारण ट्रस्ट, सूरत |
| ५३. | द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका | सिद्धसेन दिवाकर | सं. १९७७ | विजय लावण्य सूरेश्वर ज्ञान मन्दिर, बोटाद |
| ५४. | धर्मसंग्रहणी | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २०४८ | दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका |
| ५५. | धूर्ताख्यान | हरिभद्र सूरि | सं. २००२ | सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद |
| ५६. | ध्यान शतक | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २०३० | दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद |
| ५७. | नयरहस्य | उपा. यशोविजयजी | वि.सं. २००३ | जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद |

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|---------------------|------------------------|--------------|---|
| ५८. | श्रीनन्दी सूत्रम् | आत्मा रामजी | वि.सं. २०२२ | आचार्य श्री आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति लुधियाना |
| ५९. | नन्दीवृत्ति | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २४४१ | श्रीमति आगमोदय समिति, सूरत |
| ६०. | नवतत्त्व प्रकरण | पूर्वाचार्य | वि.सं. २५१४ | श्री जैन श्रेयस्कर मंडल |
| ६१. | त्रिशीथ चूर्णि | विसाहगणि महत्तर | ई. १९६० | सन्मति ज्ञानपीठ लोहामण्डी, आगरा |
| ६२. | न्याय विनिश्चय | श्रीमन्द्रहाकलङ्कदेव | वि.सं. २००५ | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| ६३. | न्याय मञ्जरी | श्रावक-नगीन जे. शाह | वि.सं. १९८४ | दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद |
| ६४. | न्याय सूत्र | अक्षपाद | वि.सं. १९५२ | ग्रंथमाला विजयनगरम् संस्कृत सीरिज |
| ६५. | न्याय प्रवेशिका | हरिभद्र सूरि | वि.सं. १९३० | Oriental Institute, Baroda |
| ६६. | पक्षी सूत्र | पूर्वाचार्य | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ६७. | पञ्चाध्यायी | कविवर पं. राजमलजी | वि.सं. २४७६ | श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, बनारस |
| ६८. | पञ्चसूत्रम् | पूर्वाचार्य | वि.सं. २०५३ | राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ६९. | पंच संग्रह | चंद्रर्षि महतर | वि.सं. २०४२ | श्री यशोविजयजी जैन पाठशाला मेहसाणा |
| ७०. | पञ्च सूत्र टीका | हरिभद्रसूरि | वि. १९७० | श्री जैन आत्मा नंद सभा, भावनगर |
| ७१. | पञ्चवस्तुक ग्रन्थ | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २०४५ | जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ७२. | पञ्चवस्तुक टीका | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २०४५ | जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ७३. | पञ्चाशक प्रकरण | हरिभद्र सूरि | वि.सं. १९९७ | श्री ऋषभ देवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम |
| ७४. | पञ्चाशक टीका | हरिभद्र सूरि | वि.सं. १९९७ | श्री ऋषभ देवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम |
| ७५. | पञ्चास्तिकाय | आचार्य कुन्द कुन्द | | भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली |
| ७६. | पातञ्जलमहाभाष्य | पतञ्जली ऋषि | | चौखम्बा विद्याभवन चौक, बनारस |
| ७७. | पातञ्जल योगसूत्र | हरिहरानन्द आरण्य | १९९१ | मोतीलाल बनारसी दास, मुंबई |
| ७८. | प्रमाण नय तत्त्वलोक | वादिदेव सूरि | १९८९ | दीपचन्द बांठिया, उज्जैन |
| ७९. | प्रभावक चरित्र | श्री प्रभाचन्द्राचार्य | १९४० | सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद |
| ८०. | प्रवचन पराग | आ. पद्मसागरजी | वि. सं. २०४९ | अरुणोदय फाउन्डेशन |
| ८१. | प्रबन्धकोष | राज शेखर सूरि | १९७७ | हेमचंद्राचार्य जैन सभा, पाटण |

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|----------------------------------|------------------------|-------------|--|
| ८२. | प्रश्न व्याकरण | श्री ज्ञानविमल सूरी | वि.सं. १९९५ | श्री मुक्ति विमलजी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद |
| ८३. | प्रशमरति | श्रीमद् उमास्वाति | १९५० | श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास |
| ८४. | प्रज्ञापना सूत्र | युवाचार्य मधुकर मुनि | वि.सं. २५२७ | श्री आगम प्रकाशन समिति |
| ८५. | प्रज्ञापना टीका | हरिभद्रसूरी | वि.सं. २००६ | श्री जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सुरत |
| ८६. | प्रमाणवातिलंकार | योगीन्द्रानंदजी स्वामी | ई.स. १९९४ | चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी |
| ८७. | प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती टीका | पं. दुर्गनाथ झा | वि.सं. २०३४ | संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी |
| ८८. | बृहत्संग्रहणी | मल्लधारी हेमचन्द्रसूरी | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ८९. | बृहद् द्रव्य संग्रह | श्रीमन्नेमिचन्द्र | वि.सं. २५२५ | श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल |
| ९०. | बौद्धदर्शन मीमांसा | पं. बलदेव उपाध्याय | इ.स. १९५४ | चौखम्बा विद्याभवन चौक, बनारस |
| ९१. | ब्रह्मवर्त पुराण | वेद व्यास | १९४६ | गंगाविष्णु क्षेमराज गुप्त, मुंबई |
| ९२. | भगवती सूत्र | सुधर्मास्वामी | वि.सं. १९७९ | सनातन जैन मुद्रणालय, राजकोट |
| ९३. | भगवती टीका | श्री अभयदेव सूरी | वि.सं. १९७९ | सनातन जैन मुद्रणालय, राजकोट |
| ९४. | महाभारत | वेद व्यास | वि.सं. १९९६ | भिक्षु अखंडानंद |
| ९५. | माध्यमिकावृत्ति | पांडेय रघुनाथ | ई. १९८८ | मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली |
| ९६. | मीमांसा श्लोक वार्तिका | कुमारिल भट्टपादली | वि.सं. १९५५ | चौखंबा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी |
| ९७. | योगविशिका | हरिभद्रसूरी | वि.सं. २०५७ | जैनधर्म प्रसारण ट्रस्ट, सुरत |
| ९८. | योग शतक | हरिभद्रसूरी | वि.सं. २०५० | जैनधर्म प्रसारण ट्रस्ट, सुरत |
| ९९. | योग दृष्टि समुच्चय | हरिभद्रसूरी | वि.सं. २०५६ | जैनधर्म प्रसारण ट्रस्ट, सुरत |
| १००. | योग बिन्दु | हरिभद्रसूरी | वि.सं. २००७ | श्री बुद्धिसागरसूरी जैन ज्ञानमंदिर |
| १०१. | योग शास्त्र | हेमचन्द्राचार्य | वि.सं. २०३३ | श्री मुक्तिचंद्र श्रमण आराधना ट्रस्ट |
| १०२. | योगवासिष्ठ उत्पत्तिकरण | वाल्मीकि मुनि | वि.सं. १९९८ | त्रिभुवन दास के ठक्कर संस्था साहित्य मुद्रणालय अहमदाबाद |
| १०३. | लघु क्षेत्र समास | रत्नशेखरसूरी | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| १०४. | ललित विस्तरा वृत्ति | हरिभद्रसूरी | वि.सं. २०१६ | दिव्य दर्शन साहित्य समिति, अहमदाबाद |
| १०५. | लोकतत्त्व निर्णय | हरिभद्रसूरी | वि.सं. १९९५ | श्री जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, भावनगर |
| १०६. | विशेषावश्यक भाष्य | जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण | वि.स. २०३९ | दिव्यदर्शन ट्रस्ट गुलाल वाडी, मुंबई |
| १०७. | विनयपिटक | बुद्ध भगवान | ई. १९९८ | विपश्यना उतरविनिच्छय, इगतपुरी |

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|----------------------------|---|-------------|--|
| १०८. | विशुद्धिमग्ना | अनुं. भिक्षुधर्मरक्षित | वि.सं. १९५६ | महाबोधि सभा सारनाथ बनारस |
| १०९. | विंशतिविंशिका | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २०५४ | कमल प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ११०. | वीतराग स्तोत्र | हेमचन्द्राचार्य | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| १११. | वेदांत सूत्र | अपौरुषेय | वि. १९७० | पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद |
| ११२. | वदितामूत्र | पूर्वाचार्य | वि.सं. २०५१ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ११३. | शान्त सुधारस | विनय विजयजी | वि. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| ११४. | शास्त्र वार्ता समुच्चय | हरिभद्रसूरि | ई. १९७७ | चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, वाराणसी |
| ११५. | शास्त्र वार्ता समुच्चयटीका | यशोविजयगणी | ई. १९७७ | चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, वाराणसी |
| ११६. | शिष्य हितानामावश्यक टीका | हरिभद्र सूरि | | जिन शासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| ११७. | षड्द्रव्यविचार | प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सुरीश्वरजी म.सा. | वि.सं. २०४९ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद श्री राजेन्द्रसूरि चौक, रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद |
| ११८. | षड्दर्शन समुच्चय | हरिभद्र सूरि | ई. २००० | भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली |
| ११९. | षड्दर्शन समुच्चय टीका | गुणरत्न सूरि | ई. २००० | भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली |
| १२०. | षोडशक प्रकरण | हरिभद्र सूरि | वि.सं. २०५७ | दिव्य दर्शन ट्रस्ट धोलका |
| १२१. | षोडशक टीका | यशोविजयजी | वि.सं. २०५७ | दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका मुद्रणालय अहमदाबाद |
| १२२. | समदर्शी आचार्य हरिभद्र | सुखालालजी संघवी | वि.सं. २०१६ | राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर |
| १२३. | सर्वज्ञ सिद्धि | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २०२० | श्री जैन साहित्य वर्धक सभा, शिरपुर |
| १२४. | सवासो गाथा का स्तवन | यशोविजयजी | वि.सं. २५२९ | श्री जैन धर्म प्रसारण ट्रस्ट, सुरत |
| १२५. | सम्यक्त्व सप्ततिका | हरिभद्रसूरि | | जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| १२६. | समकित सदसठ बोल की सज्जाय | यशोविजयजी | वि.सं. २०५६ | श्री जैन धर्म प्रसारण ट्रस्ट, अडाजन पाटीया, सुरत |
| १२७. | सर्वार्थ सिद्धि | पूज्य पाद | शकाब्द १८२५ | कलाप्या निटेव, कोल्हापूर |
| १२८. | समराइच्च कहा | हरिभद्रसूरि | २०२२ | श्री चन्द्रकान्त साकेरचन्द झवेरी, मुंबई |
| १२९. | समवायांग सूत्र | मधुकरमुनि | सन् १९६२ | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर |
| १३०. | समवायांग टीका | मधुकरमुनि | सन् १९६२ | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर |

| क्रम | ग्रन्थ का नाम | लेखक / सम्पादक | संस्करण | प्रकाशक |
|------|---------------------------------|----------------------------|-------------|--|
| १३१. | सन्मति तर्क | सिद्धसेनदिवाकर | १९३२ | श्री पूंजीभाई जैन ग्रन्थमाला, |
| १३२. | सागरधर्माभृत स्व. टीका | पंडित आशाधर | वि.सं. १९७२ | माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति |
| १३३. | सुत्तनिपात | भिक्षुधर्मरत्न | सं. १९५१ | भिक्षुसंगरत्न महाबोधि सारनाथ, वाराणसी |
| १३४. | सूत्र कृतांग | सं. चन्द्रसागर गणी | वि.सं. २४७६ | श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर संस्था, मुंबई |
| १३५. | सूत्र कृतांग टीका | सं. मुनि जम्बूविजयजी | सं. १९७८ | मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिकल ट्रस्ट, बंगलोरुड, जवाहरनगर, दिल्ली |
| १३६. | संयुक्त निकाय | भिक्षु धर्मरक्षित | सं. १९५४ | महाबोधि सभा सारनाथ बनारस |
| १३७. | संबोध प्रकरण | हरिभद्रसूरि | १९७२ | जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद |
| १३८. | संबोध सित्तिरि | श्री जयशेखर | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| १३९. | सांख्य कारिका | श्री कपिल | | चौखम्बा सीरिज काशी |
| १४०. | स्याद्वाद मञ्जरी | मल्लिषेणसुरी | १९७९ | श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास |
| १४१. | स्थानांग सूत्र | मधुकरमुनि | वि.सं. २५७७ | श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर |
| १४२. | स्थानांग वृत्ति | मधुकरमुनि | वि.सं. २५२७ | श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर |
| १४३. | श्राद्धविधि प्रकरण | श्री रत्नशेखरसूरि | वि.सं. २०६१ | गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल |
| १४४. | श्रावक प्रज्ञप्ति | हरिभद्रसूरि | २००० | भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली |
| १४५. | श्रावक धर्म विधि प्रकरणम् | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २०४५ | जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई |
| १४६. | श्रीमद् भागवत | महर्षि वेदव्यास | वि.सं. २०२१ | मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपूर |
| १४७. | श्रीमद् भागवद् गीता | श्री कृष्ण | २०५० | गीताप्रेस, गोरखपूर |
| १४८. | ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र | सं.पं. शोभाचन्द्र भारिह | सन् १९६४ | श्री त्रिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पार्थरिडि, अहमदाबाद |
| १४९. | ज्ञान मञ्जरी | देवचंद्र | १९७१ | आत्मानंद जैन सभा, भावनगर |
| १५०. | ज्ञानसार | यशोविजयजी | वि.सं. २०५३ | श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद |
| १५१. | ज्ञानार्णव | यशोविजयजी | वि.सं. २०५८ | दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका |
| १५२. | श्री हरिभद्र सूरि ग्रन्थ संग्रह | हरिभद्रसूरि | वि.सं. २४६५ | श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद |

सम्यक् ज्ञान अर्थात् देदीप्यमान
प्रकाशपुञ्ज

अज्ञान अर्थात् घनघोर अंधकार

जिस समय चारों तरफ पृथ्वी
पटल पर घने अंधकार की छटा व्याप्त
हो ऐसे समय में अपने गंतव्य स्थान
पर पहुंचना अशक्य है।

परन्तु उस समय यदि दीपक का
सहारा मिल जाय तो व्यक्ति अपने
इष्ट मंजिल को सरलता से प्राप्त कर
सकता है।

बस उसी प्रकार अज्ञान के तिमिर
में आकंठ निमज्जित बनी आत्मा भव
सागर में भ्रमित बन जाती है। लेकिन
उसे मिल जाय सम्यक् ज्ञान का प्रकाश
पुञ्ज तो वह उस दिव्य आलोक से
आलोकित बन अपने लक्ष्य को सहजता
से साध सकता है।

आओ तब....

हम सभी मिलकर उस अद्भुत
अलौकिक ज्ञान सुधा का पान करने
के लिए समन्वयवाद के शिल्पी, साहित्य
के शिरोमणी, शोमुषी के शोवधि
आचार्य हरिभद्रसूरि के दार्शनिक ग्रन्थों
के अवगाहन स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ का
सहावलोकन कर सम्यक्श्रद्धा को
अस्थिमज्जावत् बनाए।

इसी शुभेच्छा के साथ

-सा. डॉ. अनेकान्तलताश्री

आचार्य हरिभद्र कौन थे ?

समदर्शी आचार्य हरिभद्र का वाङ्मय दार्शनिकता का दिव्यदान है प्राग् ऐतिहासिक काल की पृष्ठ भूमि है ।

आचार्य हरिभद्र संस्कृत-प्राकृत भाषा की प्राञ्जलता को श्रमण संस्कृति साहित्य की धरोहर सिद्ध करने में सिद्धहस्त लेखक थे ।

आचार्य हरिभद्र बहुमुखी प्रतिभा संपन्न थे ।

आचार्य हरिभद्र एक मर्यादित मेधावी महाश्रमण थे ।

आचार्य हरिभद्र उत्कृष्ट व्यक्तित्व एवं विशिष्ट कृतित्व के धनी थे (संप्रचारक थे)

आचार्य हरिभद्र शिष्टाचार के संपालक थे ।

आचार्य हरिभद्र १४४४ ग्रन्थों की विशाल ज्ञानवाशी के प्रणेता थे ।

आ. हरिभद्र ने श्रुतों का संकोहन समदर्शित्व रूप से किया है ।

आ. हरिभद्र भवविरह बनने का संकल्प समुद्घोषित करनेवाले धीतराग विहित सिद्धान्तमय व्यक्तित्व के प्रतीक थे ।